विशुद्ध

अथ प्रथम

(हिन्दीभाष्य-'अनुशी

[सृष्टि-उत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति विष

मनुस्मृति के प्रवचन की भूमिका (१.१ से १.४ तक

महर्षियों का मनु के पास आगमन—

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन्॥ १॥ (१)

(महर्षयः) महर्षि लोग, **(एकाग्रम्+आसीनम्)** एकाग्रतापूर्वक बैठे हुए **(मनुम्)** मनु=स्वायम्भुव मनु के **(अभिगम्य)** पास आकर, और उनका **(यथा-न्यायम्)** यथोचित **(प्रतिपूज्य)** सत्कार करके **(इदम्)** यह **(वचनम्)** वचन **(अब्रुवन्)** बोले॥ १॥

महर्षियों का मनु से वर्णाश्रम-धर्मों के विषय में प्रश्न—

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि॥ २॥ (२)

(भगवन्) हे भगवन्! आप **(सर्ववर्णानाम्)** सब वर्णों=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र (च) और **(अन्तरप्रभवाणाम्)** सभी वर्णों के अन्तर्गत स्थिति वाले आश्रमों=ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के [वर्णानां अन्तरे प्रभवः=उत्पत्तिः, स्थितिः येषां ते अन्तरप्रभवाः=आश्रमाः] **(धर्मान्)** धर्मों-कर्त्तव्यों को **(यथावत्)** ठीक-ठीक रूप से और **(अनुपूर्वशः)** क्रमानुसार अर्थात् वर्णों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के क्रम से तथा आश्रमों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के क्रम से **(नः)** हमें (वक्तुम्) बतलाने में **(अर्हसि)** समर्थ=

---

१. [**प्रचलित अर्थ**—हे भगवन्! सब वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) और 'अम्बष्ठादि' अनुलोमज,

मनुस्मृति

मोऽध्यायः

लन'-समीक्षा सहित)

य १.५ से १.१४४ (२.२५) तक]

)

योग्य हैं ॥ २ ॥ (इस दूसरे श्लोक के प्रश्न की पूर्ति १.३ में होगी)[1]

अनुशीलन—मनुस्मृति एक धर्मशास्त्र है [**धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः** (१।१२९) २।१०]। तदनुसार इसमें धर्मों का ही प्रतिपादन है। मनुस्मृति में धर्म के स्वरूप तथा इस श्लोक में आये आधारभूत शब्द '**अन्तर-प्रभवाणाम्**' पर यहाँ सप्रमाण विशेष विचार किया जाता है—

(१) **धर्म का स्वरूप**—(क) व्याकरण की दृष्टि से '**धृञ्-धारणे**' धातु से '**अर्तिस्तुसुहुसृध०**'[उणादि १।१४०] सूत्र से प्राप्त 'मन्' प्रत्यय के योग से धर्म शब्द सिद्ध होता है। '**धारणात् धर्म इत्याहुः**' '**ध्रियते अनेन लोकः**' आदि व्युत्पत्तियों के अनुसार 'जिसे आत्मोन्नति और उत्तम सांसारिक सुख के लिए धारण किया जाये' अथवा 'जिसके द्वारा परिवार एवं समाज को धारण किया जाये अर्थात् व्यवस्था या मर्यादा में रखा जाये', उसे धर्म कहते हैं। इस प्रकार व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और आत्मा की उन्नति करनेवाला, मोक्ष या उत्तम व्यावहारिक सुख देनेवाला धारण करने योग्य सदाचरण और सामाजिक सुख, शान्ति एवं उन्नति करने वाला कर्त्तव्य, श्रेष्ठ विधान (कानून), नियम, मर्यादा आदि धर्म है।

(ख) मनुस्मृति में धर्म को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। स्थूल रूप से उसे दो अर्थों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

'सूत' आदि प्रतिलोमज, तथा 'भूर्जकण्टक' आदि संकीर्ण जातियों के यथोचित धर्मों को क्रमशः कहने के लिये आप योग्य हैं (अतः उन्हें कहिए) ॥ २ ॥]

१. मुख्य अर्थ (आध्यात्मिक उद्देश्य-साधक)
२. गौण अर्थ (लौकिक व्यवहार-साधक)

आध्यात्मिक क्षेत्र में, आत्मा के उपकारक, नि:श्रेयससिद्धि अर्थात् मोक्षप्राप्ति और इस जन्म तथा परजन्म में स्वर्ग=सुख प्राप्त कराने वाले 'आचरण' को 'धर्म' कहते हैं। यह धर्म का मुख्य अर्थ है। यही धर्म सार्वभौमिक, सार्वकालिक एवं सार्वजनीन है। इसी का प्रतिपादन करना धर्मशास्त्रों का प्रमुख उद्देश्य है। मनु ने इस धर्म का वर्णन निम्न श्लोक में किया है—

वेदाभ्यासः, तपः, ज्ञानम्, इन्द्रियाणां च संयमः।
धर्मक्रिया, आत्मचिन्ता च निःश्रेयसकरं परम्॥
(१२.८३)

निम्न प्रमाणों से भी उक्त अर्थ की सिद्ध होती है—

(अ) **धर्मं शनैः संचिनुयात्......परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्॥** (४.२३८)

(आ) **धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति सुदुस्तरम्॥**
(४.२४२)

(इ) **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।**
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(६.९२)

मनुस्मृति में धर्मपालन के परिणामस्वरूप जो फल-प्राप्ति दिखाई है, वह भी इस अर्थ की मुख्यता की ओर संकेत करती है—

(ई) **एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम्।**
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम्॥
(१२.११६)

(उ) **अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रवित्।**
व्यपेत कल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते॥
(४.२६०)

इस अर्थ की सिद्धि के लिए प्रमाणरूप में १.१२८; २.१३४ [२.१५९]; २.२२४ [२.२४९]; ४.१३८; १५६, १७५, २३८, २३९, २४२, २४३, २६०; ८.१६, १७, ८३ आदि श्लोक भी द्रष्टव्य हैं।

व्यावहारिक क्षेत्र में, त्रिविध=आत्मिक, मानसिक, शारीरिक उन्नति करानेवाले, मानवत्व और देवत्व का विकास करनेवाले, धारण करने योग्य उत्तम सुखसाधक

श्रेष्ठ व्यावहारिक एवं सामाजिक कर्त्तव्य, मर्यादाएँ और विधान (कानून) धर्म कहलाते हैं। ये व्यावहारिक क्षेत्र के होने के कारण कर्म हैं, जिनमें देश-काल-परिस्थितिवश कुछ परिवर्तन भी आ जाते हैं। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

(अ) **न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्॥** (४.१३८)
(आ) **योषितां धर्ममापदि॥** (९.५६)
(इ) **एष धर्मः स्त्रीपुंसयोः॥** (९.१०१, १०३)
(ई) **द्यूतधर्मं निबोधत॥** (९.२२०)
(उ) **दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥** (७.१८)
(ऊ) **राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि॥** (७.१)
(ए) विवाह—'**ब्राह्मो धर्मः**', '**दैवं धर्मम्**', '**आर्षः धर्मः**', '**आसुरः धर्मः**'। (३.२७-३१) आदि-आदि।

दर्शनशास्त्रों में धर्म के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। उनके अनुसार धर्म की परिभाषा निम्नलिखित है—

(ऐ) **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।**
(वैशेषिक १.१.२)

अर्थात्—जिसके आचरण से **(अभ्युदयः)** मनुष्य की त्रिविध=आत्मिक, मानसिक व शारीरिक उन्नति और व्यावहारिक उत्तम सुख की प्राप्ति एवं वृद्धि हो तथा **(निःश्रेयससिद्धिः)** मोक्षसुख की सिद्धि हो **(सः धर्मः)** वह आचरण या कर्त्तव्य धर्म है।

(ओ) ''**चोदनालक्षणो धर्मः**'' (पूर्वमीमांसा १.१.२)

अर्थात्—**(चोदनालक्षणः)** वेदों में मनुष्यों को करने के लिए जो कर्त्तव्य विहित किये हैं, वह (धर्मः) धर्म है।

(२) **'अन्तरप्रभवाणाम्' पद का मनुसम्मत अर्थ—** इस श्लोक में मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट और उनके अनुयायी सभी टीकाकारों ने '**अन्तरप्रभवाणाम्**' पद का—'संकीर्ण जातियों या वर्णसङ्करों के' यह अशुद्ध अर्थ किया है। इस पद का अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिये। इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियाँ और प्रमाण हैं—

(क) इस संस्करण के अनुसार १.१३७ (अन्यत्र २।१८) में '**अन्तरप्रभवाणाम्**' के पर्यायवाची रूप में '**सान्तरालानाम्**' शब्द का प्रयोग किया है। जैसे यहाँ वर्णों के साथ '**अन्तरप्रभवाणाम्**' शब्द का प्रयोग है, वैसे ही उक्त श्लोक में भी वर्णों के कथन के साथ-साथ '**सान्तरालानाम्**' शब्द का प्रयोग है। उस श्लोक में

'**सान्तरालानाम्**' शब्द का अर्थ 'आश्रम' है, अतः यहाँ भी उसके पर्यायवाची शब्द '**अन्तरप्रभवाणाम्**' शब्द का अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिए। यद्यपि २.१८ [१.१३७] श्लोक में भी टीकाकारों ने '**सान्तरालानाम्**' शब्द का अर्थ 'संकीर्ण जाति' या 'वर्णसङ्कर' किया है, किन्तु वह मनु की सम्पूर्ण व्यवस्था और मान्यता के विरुद्ध है। यतो हि, उस श्लोक में धर्म के चार मूलाधारों में से एक आधार '**सदाचार**' [२.६, १२ या १.१२५, १३१] का लक्षण किया है, और बताया है कि ''ब्रह्मावर्त देश के निवासी वर्णों और आश्रमों का, जो परम्परागत श्रेष्ठ आचरण है, वह 'सदाचार' कहलाता है।'' उस श्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसङ्कर' या 'संकीर्ण जाति' अर्थ इसलिए ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि वर्णसङ्करों का आचरण 'सदाचार' के अन्तर्गत ही नहीं माना जा सकता और न ही उनके आचरण को उन तत्सम्बन्धी श्लोकों में 'सदाचार' माना है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वर्णसङ्करों के धर्मवर्णन-प्रसंग में अनेक स्थानों पर उनके आचरण को पापपूर्ण, निन्दनीय और गर्हित कहा है। उस प्रसङ्ग में संकीर्ण जातियों के लिए प्रयुक्त विशेषणों में कुछ इस प्रकार हैं—''**मातृदोषविगर्हितान्**''='माता के दोष से निन्दित जन्म वाले' [१०.६], '**क्रूराचारविहारवान्**'='क्रूर आचार-व्यवहार वाले' [१०.९], ''**अधमो नृणाम्**''= 'मनुष्यों में नीच' [१०.१२], ''**अव्रतांस्तु यान्**''= 'व्रतहीन' [१०.२०], ''**पापात्मा भूर्जकण्टकः**''= 'पापी आत्मा वाले भूर्जकण्टक' [१०.२१], ''**ततोऽप्यधिकदूषितान्**''='उनसे भी अधिक दूषित आचरण वाले' [१०.२९] ''**जनयन्ति विगर्हितान्**''='निन्दित सन्तानों को जन्म देते हैं' [१०.२९]। इसी प्रकार संकीर्ण जातियों का 'अपसद' (नीच) 'अपध्वंसज' (पतितोत्पन्न) आदि शब्दों द्वारा नामकरण करना भी यह सिद्ध करता है कि रचयिता इन्हें धर्मविरुद्ध निन्दित आचरण वाला मानता है। इनके अतिरिक्त उस प्रसंग में वर्णसंकरों के जो पशुहिंसा आदि धर्म बतलाये हैं, वे मनु के मत में धर्म न होकर दुष्कर्म या पाप हैं, जिनकी मनु ने स्थान-स्थान पर निन्दा की है। फिर उनके आचरण को 'सदाचार' कैसे कहा जा सकता है? और न उन्हें 'धर्म' कहा जा सकता है। इससे

यह बोध होता है कि उक्त श्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसंकर' अर्थ करना कदापि संगत नहीं है, और मनु की मान्यता के विरुद्ध भी है। अत: वहाँ उसका 'आश्रम' अर्थ होना चाहिए। उसके पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होने से इस श्लोक में '**अन्तरप्रभव**' का '**आश्रम**' अर्थ ही युक्ति-प्रमाण-संगत है।

(ख) मनुस्मृति में वर्णों के धर्मों के साथ-साथ विस्तृत और विशिष्ट रूप से आश्रमों के धर्मों का ही कथन है, वर्णसंकरों के धर्मों का नहीं। यह भी ध्यान देने की बात है कि इस श्लोक में जिस क्रम से वर्णों और आश्रमों के धर्मों को बतलाने की इच्छा व्यक्त की है, ठीक उसी क्रम से ही मनुस्मृति में उसका उल्लेख है। आश्रमों और वर्णों का क्रम साथ-साथ चलता है, जैसे, द्वितीय अध्याय में—ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन है, तृतीय से पञ्चम तक गृहस्थ का, षष्ठ में वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम का वर्णन है। साथ-साथ छठे अध्याय तक ब्राह्मण के कर्त्तव्य भी उक्त हो जाते हैं। फिर क्षत्रियों के शेष कर्त्तव्यों का वर्णन ७.१ से ९.३२५ तक है। वैश्य के अतिरिक्त कर्त्तव्यों का कथन ९.३२६ से ३३३ [इस संस्करण में १०.१-६] तक, तथा शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन ९.३३४-३३५ [इस संस्करण में १०.७-८] में है। यदि '**अन्तरप्रभवाणाम्**' का 'आश्रम' अर्थ न करके 'वर्णसंकर' अर्थ लिया जाये, तो प्रश्न उठेगा कि जब प्रारम्भ में आश्रमों के धर्म पूछने का प्रश्न ही नहीं है, तो इतने विस्तृत और प्रधान रूप से आश्रमों के धर्मों का विधान क्यों किया गया है ? और यदि 'वर्णसंकरों' के विषय में प्रश्न है तो सभी अध्यायों में साथ-साथ उनके कर्त्तव्यों का उल्लेख क्यों नहीं है ? वर्णों और आश्रमों के धर्मों का साथ-साथ और प्रधानतापूर्वक वर्णन करने की मनु की यह शैली भी यह संकेत देती है कि इस श्लोक में वर्णों और आश्रमों के विषय में प्रश्न है, वर्णसंकरों के विषय में नहीं, अत: यहाँ '**अन्तरप्रभव**' का '**आश्रम**' अर्थ ही मनुसम्मत है।

(ग) मनुस्मृति में सर्वत्र वर्णों के साथ आश्रमों का उल्लेख करने की शैली परिलक्षित होती है, वर्णसंकरों की नहीं। १२.९७ में भी वर्णों के साथ आश्रमों का उल्लेख है—"**चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोका: चत्वारश्चाश्रमा: पृथक्**"।

इसी प्रकार ७.३५ में भी राजा को वर्णों और आश्रमों के धर्मों का रक्षक कहा है, वहाँ वर्णसंकरों का उल्लेख ही नहीं है। स्पष्ट है कि वर्णसंकरों का कथन मनु का प्रतिपाद्य ही नहीं है। देखिये—

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥ (७.३५)

इस वर्णनशैली के अनुसार भी यहाँ वर्णों के साथ प्रयुक्त '**अन्तरप्रभव**' शब्द का अर्थ '**आश्रम**' ही सिद्ध होता है।

(घ) मनुस्मृति में, दशम अध्याय को छोड़कर, वर्णों के साथ अथवा स्वतन्त्र रूप से कहीं भी वर्णसंकरों की चर्चा या उल्लेख नहीं है। नामकरण संस्कार [२.१-१० या २। २६-३५], विवाहविधि [३.२०] शिक्षा, दण्डविधि आदि प्रसङ्गों में, जहाँ शूद्रों के लिए भी विधान किये हैं, वहाँ भी इनका उल्लेख नहीं है। दशम अध्याय में भी जो इनका वर्णन है, वह वस्तुतः मौलिक न होकर प्रक्षिप्त है (विस्तृत जानकारी के लिए दशम अध्याय के श्लोकों की समीक्षा देखिए)। यतो हि, वह विषय प्रसंगविरुद्धरूप से वर्णित है। मनु की विषय-संकेत-शैली से भी दशम अध्याय का वर्णसंकरों का प्रसंग प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। वर्णों के धर्म-कथन का विषय प्रारम्भ करते हुए वे कहते हैं—''**वर्ण-धर्मान्निबोधत**'' १.१४४ [अन्य संस्करणों में २.२५]। इसी प्रकार इस विषय की समाप्ति का संकेत करते हुए कहा—''**एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः**'' १०.१४२ [अन्य संस्करणों में १०.१३१]। दोनों ही स्थानों पर वर्णों के धर्मों के वर्णन का कथन है। वहाँ बीच में वर्णसंकरों के वर्णन करने का न तो प्रसंग था और न ही अभीष्टता, किसी ने इस वर्णन को बलात् तब मिलाया है जब समाज में वर्णसंकरों का अस्तित्व जातिवाद के कारण स्वीकार किया जाने लगा।

इसी प्रकार १०.१५ [अन्यत्र १०.४] में स्पष्ट शब्दों में मनु ने उद्घोषित किया है कि **आर्यों के समाज में केवल चार वर्ण हैं, पाँचवा कोई वर्ण नहीं है।** इनसे भिन्न सभी दस्यु हैं, चाहे वे आर्य भाषाएँ बोलते हों अथवा म्लेच्छ भाषाएँ [१०.५६ (अन्यत्र १०.४५)]। वहाँ वर्णसंकरों का कोई उल्लेख नहीं। इससे वर्णसंकरों का

वर्णन [१०.५-७३] मनुस्मृतिसम्मत या मौलिक सिद्ध नहीं होता। जब यह मनुस्मृतिसम्मत ही सिद्ध नहीं होता, तो इस ग्रन्थ में किसी शब्द से 'वर्णसंकर' अर्थ ग्रहण करना ही अनुपयुक्त एवं मनुविरुद्ध है। अतः यहाँ भी '**वर्णसंकर**' अर्थ न होकर '**आश्रम**' अर्थ ही मनुस्मृति-सम्मत है।

(ङ) मनु ने संक्षिप्त भूमिका के रूप में १।८७-९१ श्लोकों में एक-एक वर्ण का नामोल्लेख तथा उनका कर्मवर्णन किया है। उससे यह स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि मनु मनुष्य-समाज में चार वर्णों के अतिरिक्त कोई वर्ण नहीं मानते। इन श्लोकों से यह भी संकेत मिलता है कि मनुस्मृति में मनु को केवल इन्हीं चार वर्णों के धर्मों का कथन करना अभीष्ट है, अन्य किसी वर्णसंकर आदि का नहीं। अतः यहाँ भी 'अन्तरप्रभव' का अर्थ वर्णसंकर आदि करना मनु की मौलिकता के विरुद्ध है, इसका 'आश्रम' अर्थ ही प्रकरणसंगत है।

(च) पुराणों में भी केवल वर्णाश्रमों के धर्मों के प्रवक्ता के रूप में स्वायम्भुव मनु की प्रसिद्धि है, वहाँ वर्णसंकरों के धर्मकथन का उल्लेख नहीं है। बाह्यसाक्ष्य का यह महत्त्वपूर्ण प्रमाण है—

यः पृष्टो मुनिभिः प्राह धर्मान् नानाविधान् शुभान्।
नृणां वर्णाश्रमाणां च सर्वभूतहितः सदा।
एतद् आदिराजस्य मनोश्चरितमद्भुतम्।

(भागवतपुराण ३, २५, ३८, ३९)

यही कथन अन्य पुराणों में उपलब्ध है (द्रष्टव्य है, ब्रह्माण्डपुराण २.१३, १०५; मत्स्यपुराण ३.४४.५, ४.१४.९०; वायुपुराण ३.२.३५, ३.२३.४७ आदि)

(३) जातिवादकालीन प्रक्षेप—प्रतीत होता है कि जब वर्णसङ्करों के प्रसंग का प्रक्षेप हुआ, तो उन लोगों ने तदनुसार ही '**अन्तरप्रभव**' और '**सान्तराल**' शब्दों के अर्थों को भी परिवर्तित करके 'वर्णसंकर' अर्थ प्रचलित कर दिया अथवा ये शब्द किसी अन्य शब्द के स्थान पर किये गये पाठभेद हैं। यही नहीं, अपने आशय के अनुसार ऐसे लोगों ने इन शब्दों के स्थान पर भी पाठभेद करने का भी प्रयास किया है। तीन-चार हस्तलिखित प्रतियों में '**अन्तरप्रभवाणाम्**' पद के स्थान पर '**संकरप्रभवाणाम्**'

पाठभेद भी मिलता है। यह पाठभेद वर्णसंकर सम्बन्धी प्रक्षिप्त श्लोकों को मौलिक सिद्ध करने का एक प्रयास था। यह प्राठभेद तो प्रचलित नहीं हो पाया, किन्तु इस पाठभेद के अनुसार अर्थ की भ्रान्ति अवश्य प्रचलित हो गई।

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो॥ ३॥

(३)

(**हि**) क्योंकि (**प्रभो**) वेदज्ञ होने से धर्मोपदेश में समर्थ हे विद्वन्! (**अस्य सर्वस्य**) इस [१.५—१.१४४ (२.२५) में वर्णित] समस्त जगत् के, (**अचिन्त्यस्य**) जिनका चिन्तन से पार नहीं पाया जा सकता अथवा जिनमें असत्य कुछ भी नहीं है, और (**अप्रमेयस्य**) जिनमें अपरिमित सत्यविद्याओं का वर्णन है, अनन्त ज्ञान निहित है, उन (**स्वयम्भुवः विधानस्य**) स्वयम्भू [१.६] परमात्मा द्वारा रचित [१.२३] विधानरूप वेदों के (**कार्य-तत्त्वार्थवित्**) कार्य=कर्त्तव्यरूप धर्मों या प्रतिपाद्य विषयों के, तत्त्वार्थवित्=यथार्थरूप अथवा उनके रहस्यों को, और [द्वितीयार्थ में] वेदार्थों को जाननेवाले (एकः त्वम्) वर्तमान में एक आप ही हैं [अर्थात् इस समय धर्मों के विशेषज्ञ विद्वान् आप ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं, अतः आपके पास ही जिज्ञासा लेकर हम आयें हैं, आप ही उन्हें कहिये]॥

[यह श्लोक १.२ का पूरक वाक्य है। दूसरे श्लोक में वर्णाश्रम धर्मों का प्रश्न है, अतः इसमें उन्हीं का ज्ञाता बताकर मनु की प्रशंसा की है। यही मनुस्मृति का प्रतिपाद्य विषय है—'धर्मों का कथन'] ॥ ३ ॥[1]

ऋषि अर्थ—"स्वयम्भू जो सनातन वेद हैं, जिनमें असत्य कुछ भी नहीं और जिनमें सब सत्यविद्याओं का विधान है, उनके अर्थ को जाननेवाले केवल आप ही हैं।" (ऋ०भा०भू०, वेदविषय०)

---

१. [**प्रचलित अर्थ**—क्योंकि हे प्रभो! एक आप ही इस सम्पूर्ण अपौरुषेय, अचिन्त्य तथा अप्रमेय वेद के अग्निष्टोमादि यज्ञकार्य और ब्रह्म के जाननेवाले हैं॥ ३॥]

अनुशीलन—मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट आदि प्रायः सभी टीकाकारों ने इस श्लोक का अपूर्ण या त्रुटिपूर्ण अर्थ किया है। उनके अर्थों में निम्न त्रुटियाँ हैं—

(१) 'अस्य सर्वस्य' सर्वनामों को वेद के साथ जोड़ कर अर्थ किया है।

(२) कुल्लूकभट्ट ने 'कार्य' का 'अग्निष्टोम आदि यज्ञकार्य' तथा—

(३) 'तत्त्वार्थवित्' का 'ब्रह्म के ज्ञाता' ये असंगत, सीमित और मनुस्मृति से असम्मत अर्थ किये हैं।

इन निष्कर्षों की पुष्टि के लिए विस्तृत विचार करना आवश्यक है—

(१) **'अस्य सर्वस्य' पदों की सही संगति**—(क) यहां '**अस्य सर्वस्य**' पदों का अर्थ 'इस सब जगत् के' होना उपयुक्त एवं प्रासंगिक है। '**अस्य**' या '**इदम्**' शब्दों का जब स्वतन्त्र रूप से प्रयोग होता है, तो मुख्य रूप से उसके तीन अभिप्राय होते हैं—(१) उपस्थित या निकट की वस्तु की ओर संकेत, (२) निकट रूप से स्थित जगत्, (३) पूर्वापर विषय या वस्तु की ओर संकेत। इन तीनों ही अर्थों के आधार पर यदि इन पदों को परखा जाये, तो इनका वेद के साथ सम्बन्ध न होकर 'जगत्' अर्थ ही व्यञ्जित होता है। यतोहि अगला वक्ष्यमाण विषय या अग्रिम प्रसङ्ग जगत् का है, अतः वेद के साथ इन पदों को नहीं जोड़ा जा सकता। 'अस्य' 'इदम्' आदि पदों का प्रयोग स्वतन्त्ररूप से 'जगत्' के लिए करने की संस्कृत भाषा की सदैव प्रवत्ति रही है। १.५ में ''**आसीत् इदम्**'' का प्रयोग भी 'जगत्' भी 'जगत्' के लिए ही किया है।

(ख) इसके अतिरिक्त सृष्टि-उत्पत्ति के इसी प्रसंग में दो अन्य स्थानों पर भी इन पदों का प्रयोग 'जगत्' अर्थ में ही किया है। यथा—सृष्टि-उत्पत्ति के पूर्ण होने पर— ''**सर्वस्य अस्य तु सर्गस्य**'' [१.८७], इस विषय को समाप्त भी इन्हीं पदों के स्वतन्त्र प्रयोग से किया है— ''**संभवश्च अस्य सर्वस्य**'' [इस सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति कही। २.२५, इस संस्करण में १.१४४]।

(ग) शैली के आधार पर भी इन पदों का यहाँ 'जगत्' अर्थ सिद्ध होता है। १.५ से मनु ने जो सृष्टि-उत्पत्ति

का विषय आरम्भ किया है, वह इन पदों के ही अनुसार है। इस श्लोक में कथन है कि 'इस जगत् के विधान=वेद के आप ज्ञाता हैं'। मनु ने इसीलिए धर्मों का कथन करने से पूर्व 'जगत्' के स्वरूप को बतलाना प्रारम्भ किया, जिससे धर्मोत्पत्ति, धर्म की आवश्यकता, महत्त्व एवं स्वरूप का परिज्ञान होकर उसके प्रति प्रेरित हो सकें। मनु ने यहाँ साङ्गोपाङ्ग शैली अपनायी है। '**अस्य सर्वस्य**' पदों के द्वारा ही १.५ से प्रारम्भ होने वाले सृष्ट्युत्पत्ति-विषय का संकेत है, और इन्हीं पदों के प्रयोगपूर्वक इस विषय को समाप्त किया है—"**संभवश्च अस्य सर्वस्य**" [२.२५ या १.१४४]।

(घ) इस श्लोक में 'विधान' शब्द का वेदों के लिए जो प्रयोग किया है वह भी साभिप्राय होने से सार्थक है, तथा निमित्त-निमित्ती भाव-द्योतनार्थ प्रयुक्त है। वेद 'विधान' हैं और विधान किसी निमित्त से विहित होता है, अतः '**अस्य सर्वस्य**' पदों से संकेतित जगत् उनका निमित्ती है। 'वेद जगत् के लिए एक विधान है' यह भाव मनु ने अन्य स्थानों पर भी प्रकट किया है, १२। ९४ में वेदों को पितृदेव-मुनष्यों का सनातन 'चक्षु' कहा है **पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्**। यहाँ वेद के लिए '**चक्षु**' शब्द का प्रयोग लगभग 'विधान' के समान अर्थ देनेवाला है। जैसे 'चक्षु' कहने से यह बोध होता है कि यह इन्द्रिय प्राणियों को दिखाने के लिए है, उसी प्रकार 'विधान' कहने से भी यह बोध होता है कि यह किन्हीं के मार्गदर्शन के लिए है और '**विधानस्य**' के साथ प्रयुक्त '**अस्य तु सर्गस्य**' पदों से 'जगत्' अर्थ का ही संकेत मिलता है अर्थात् वेद समस्त जगत् के समस्त व्यवहारों के ज्ञानार्थ उपयोगी हैं।

(२-३) 'कार्यतत्त्वार्थवित्' का संगत अर्थ—

(क) 'कार्य' का 'अग्निष्टोम आदि यज्ञकार्य' अर्थ करना, और 'तत्त्व' का अर्थ 'ब्रह्म' करना भी अप्रासंगिक और मनुस्मृति से असम्मत है। 'कार्य' से इस श्लोक में अभिप्राय 'कर्त्तव्यों, प्रतिपाद्य विषयों' या 'समस्त व्यावहारिक तत्त्वों' अर्थात् 'धर्मों' से है। मनुस्मृति [१.२] में जिज्ञासा और प्रश्न का विषय 'धर्म' है, तो उसका प्रतिपाद्य या उत्तर का विषय भी 'धर्म' होगा। केवल यज्ञ

या ब्रह्म का वर्णन करना, मनुस्मृति का प्रतिपाद्य नहीं है, और न इनके बारे में स्वतन्त्र रूप से जिज्ञासा ही प्रकट की गयी है। यज्ञादि धर्म के अङ्ग हैं, और स्वतः धर्मों के अन्तर्भूत हो जाते हैं। केवल यज्ञों और ब्रह्म को ही वेदों का कार्य या साध्य मान लेने से वेदों की उपयोगिता सीमित हो जाती है, जब कि मनु की मान्यता इसके विपरीत व्यापक है। मनु केवल यज्ञ या ब्रह्म के लिए ही वेदों की प्रकटता नहीं मानते, अपितु संसार के समस्त श्रेष्ठ व्यवहारों=धर्मों और ज्ञान-विज्ञान आदि का साधक मानते हैं। 'वेद धर्म, ज्ञान, विज्ञान आदि विषयक समस्त विद्याओं के ज्ञापक ग्रन्थ हैं' मनु के इस मत का समर्थक प्रमाण अतीव स्पष्ट है—''**श्रुति-प्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशते वै**'' [२.८]। वेद का प्रतिपाद्य यदि 'वर्णाश्रम धर्म' आदि विद्याओं के लिए नहीं मानेंगे तो मनु का यह विधान ही व्यर्थ हो जायेगा। मनु का स्वयं किया कथन तो हमें मानना ही चाहिये। इसकी पुष्टि के लिए निम्न अन्य अनेक श्लोक प्रमाण रूप में द्रष्टव्य हैं—

(अ) १.२१ में वेदों के द्वारा ही समस्त पदार्थों का नामकरण, उनके कर्मों का विधान, स्थितियों का विभाजन बताकर वेदों की बहुमुखी और व्यापक उपयोगिता को स्वीकार किया है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥

(आ) १२.९७ में चारों वर्णों, आश्रमों, तीनों लोकों एवं तीनों कालों का ज्ञान वेदों से माना है—

''**चातुवर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।**
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥''

(इ) शब्द, स्पर्श आदि सूक्ष्म शक्तियों का वैज्ञानिक ज्ञान वेदों द्वारा ही माना है—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः॥ (१२.९८)

(ई) १२.९९ में समस्त व्यवहारों का सर्वोपरि साधक-शास्त्र वेद को ही कहा है—

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥

(उ) राजनीति आदि अनेक विद्याओं की शिक्षा

देनेवाला [७.४३, १२.१००], धर्माधर्म का ज्ञान देनेवाला [१२.१०९-११३] जगत् के श्रेष्ठ व्यवहारों का साधक [१.२३] शास्त्र वेद ही को कहा है। देखिये कुछ प्रमाण—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीविद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां च वार्तारम्भाश्च लोकतः॥
(७.४३)

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ (१२.१००)

(ऊ) १२.९४ में वेदों को पितृ-देव-मनुष्यों का 'चक्षु' (धर्म-अधर्म, ज्ञान-विज्ञान आदि का दर्शाने वाला) कहा है—''**पितृदेवमनुष्यमाणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।**''

(ए) इस श्लोक में वेदों के विशेषण हैं—''**अचिन्त्यस्य-अप्रमेयस्य**''। वेदों के लिए इन्हीं विशेषणों का प्रयोग १२.९४ में भी किया है—''**अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः।**'' इसका भी भाव यही है कि वेद अनन्त विद्याओं की निधि हैं और उन सब का ज्ञान देने के लिए हैं। अतः कुल्लूकभट्ट आदि द्वारा केवल यज्ञ या ब्रह्म को ही वेदों का कार्य कहना मनु के प्रतिपाद्य के प्रतिकूल है।

(ख) मनुस्मृति उपनिषदों की भाँति केवल आध्यात्मिक ग्रन्थ ही नहीं है जिसमें केवल यज्ञ और ब्रह्म का ही दिग्दर्शन कराया गया हो, अपितु व्यक्ति, परिवार, समाज का संविधान और धर्मशास्त्र भी है। यही कारण है कि मनुस्मृति में इनका वर्णन अंगीरूप में न होकर अंगरूप में है। १.१२५-१३४ [२.६-१५] श्लोकों में मनु ने धर्म का निकास वेद से माना है। मनु का प्रमुख वचन है—**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्** (१.१२५)। यज्ञ और ब्रह्मप्राप्ति का इसके अन्दर स्वतः ही अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि ये भी मनुष्यों के धर्म हैं। इस प्रकार टीकाकारों का प्रचलित अर्थ मनुस्मृति-प्रतिपाद्य के अनुरूप नहीं है।

(ग) टीकाकारों का चर्चित अर्थ अप्रासंगिक भी है। १.२ में मनु से वर्णों और आश्रमों के धर्मों के विषय में प्रश्न किया है। श्लोकों की संगति ध्यान देने योग्य है—'आप वर्णों और आश्रमों के सब धर्मों को बतलाने में समर्थ हैं' [१.२] तथा जगत् के विधानरूप वेदों के कर्त्तव्यरूप धर्मों को जाननेवाले आप ही एकमात्र व्यक्ति हैं [१.३]।

इस प्रकार जो यहाँ प्रश्न रूप में प्रष्टव्य है, उसके मनु वेदज्ञ होने से ज्ञाता हैं, और जिसके वे ज्ञाता हैं, वही उनसे प्रष्टव्य हो सकता है। वही मनुस्मृति में प्रतिपादित है। मनुस्मृति में धर्मों का प्रतिपादन है। उसी का प्रश्न है। उसी प्रश्न के उत्तर के मनु ज्ञाता हैं, इसीलिए उनसे वह प्रश्न किया गया है। स्मृति में मनु से प्रश्न तो धर्मों का किया है, जबकि इन टीकाकारों द्वारा उन्हें विशेषज्ञ विद्वान् बताया जा रहा है केवल यज्ञों और ब्रह्म का! और मनुस्मृति में प्रतिपादन है मुख्य रूप से धर्मों का! यह विसंगति पूछे गये प्रश्न और आगे प्रतिपादित विषय की एकरूपता से ही दूर हो सकती है। वस्तुतः यहाँ मनु को 'वेदों के अर्थों का ज्ञाता और वेद के प्रतिपाद्य या वेद में विहित धर्मों को समझनेवाला' कहना ही अभिप्रेत है। इसकी पुष्टि बारहवें अध्याय के १०८-११४ श्लोकों से भी हो जाती है, जिनमें वेदवेत्ता को ही धर्म का उपदेश करने का आदेश है, अन्य को नहीं। इसी योग्यता के कारण ही महर्षि लोग मनु के पास जिज्ञासा लेकर पहुँचे हैं। और उन्हीं धर्मों को समझने की योग्यता का वे वर्णन कर रहे हैं। इस प्रकार इस भाष्य में प्रस्तुत अर्थ अधिक संगत, युक्तियुक्त और मनुसम्मत है, टीकाकारों के अर्थ एकांगी और मनुविरुद्ध हैं।

मनु का महर्षियों को उत्तर—

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति॥ ४॥

(४)

(**तैः**) उन (**महात्मभिः**) महर्षि लोगों द्वारा (**सम्यक्**) भलीभांति अर्थात् श्रद्धा-सत्कारपूर्वक (**तथा**) उपर्युक्त प्रकार से (**पृष्टः**) पूछे जाने पर, (**सः अमितौजाः**) वह अत्यधिक ज्ञानसम्पन्न महर्षि मनु (**तान् सर्वान् महर्षीन्**) उन सब महर्षियों का (**अर्च्य**) यथाविधि सत्कार करके (**श्रूयताम् इति**) 'सुनिए' ऐसा (**प्रत्युवाच**) उत्तर में बोले॥ ४॥

अनुशीलन—प्रथम चार श्लोकों की मौलिकता पर विचार—यद्यपि १-४ श्लोक मनुप्रोक्त अन्य श्लोकों की भांति मौलिक नहीं हैं, तथापि ये शैली, घटना और प्रश्न के आधार पर मौलिक ही स्वीकार किये गये हैं,

क्योंकि मनुस्मृति के प्रवचन की भूमिका के रूप में इनका उल्लेख है। (क) मनुस्मृति की शैली से यह विदित होता है कि मनु के भावों (जो प्रवचन के रूप में थे) का संकलन भृगु या किसी अन्य शिष्य ने प्रवचन के बाद किया है। संकलयिता ने इन श्लोकों के द्वारा मनु के पास महर्षियों के आने की घटना और उनके प्रश्न का भूमिका के रूप में उल्लेख किया है। (ख) घटना मौलिक है। (ग) प्रश्न भी मौलिक है, अतः संकलन-शैली के अनुसार ये श्लोक मौलिक ही माने जायेंगे। जैसा कि कुछ टीकाकारों ने पांचवें श्लोक से मौलिक मनुस्मृति का प्रारम्भ माना है, उनका यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है। मनुस्मृति संकलित शैली का ग्रन्थ है, इस दृष्टि से ये चारों श्लोक परिचयात्मक भूमिका के रूप में मौलिक संकलन ही हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी उपयोगी होगा कि इस शैली के आधार पर टीकाकारों ने उन सभी श्लोकों को मौलिक मान लिया है जिनमें मनु के नामपूर्वक वर्णन है (**'महर्षिर्मनुना भृगुः'** १.६०, **'उक्तवान् मनुः'** १.११८, **'मनुना परिकीर्तितः'** १.१२६, **'मनुरब्रवीत्'** ८.३३९ आदि)। उनका कहना है कि मनु के भावों के आधार पर भृगु ने मनुस्मृति को रचा है, अतः इस प्रकार के श्लोक असंगत नहीं लगते। यह विचार भी भ्रांतिपूर्ण है। क्योंकि, (१) मनुस्मृति मनु के भावों को लेकर रचा ग्रन्थ नहीं है, अपितु मनु के प्रवचनों का यथावत् उसी शैली में संकलन है। (२) संकलन में मौलिक अंशों के बीच में संकलयिता की ओर से कोई बात नहीं कही जाती; अतः **'मनूक्तवान्'** आदि पद वाले श्लोक संकलयिता की ओर से कहे होने के कारण प्रक्षिप्त हैं, मौलिक नहीं। (३) १.४ में **'श्रूयताम्'** कहकर मनु उत्तर देना आरम्भ करते हैं। इस शैली से सिद्ध है कि इस श्लोक के बाद मनु के द्वारा कहे विचारों का उत्तमपुरुष की शैली के माध्यम से जो कथन है, वही मौलिक संकलन है, अन्य द्वारा नामोल्लेखपूर्वक प्रदर्शित वर्णन प्रक्षिप्त है। अतः उन सभी श्लोकों को मूल संकलन से परवर्ती माना जाना चाहिए जो उत्तमपुरुष की शैली में नहीं हैं।

जगदुत्पत्ति-विषय (१.५ से १०७, १४४)

उत्पत्ति से पूर्व जगत् की स्थिति—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥५॥ (५)

(**इदम्**) यह सब दृश्यमान जगत् (**तमोभूतम्**) सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व प्रलयकाल में तम अर्थात् मूल प्रकृति रूप में एवं अन्धकार से आच्छादित था, (**अप्रज्ञातम्**) स्पष्ट-प्रकट रूप में जाना जाने योग्य कुछ नहीं था, (**अलक्षणम्**) सृष्टि का कोई लक्षण=चिह्न उस समय नहीं था, (**अप्रतर्क्यम्**) न कुछ अनुमान करने योग्य था, (**अविज्ञेयम्**) सब कुछ अज्ञात था, (**सर्वतः प्रसुप्तम्-इव**) मानो सब ओर, सब कुछ सोया-सा पड़ा था॥५॥

ऋषि-अर्थ—''यह सब जगत् सृष्टि से पहले प्रलय में अन्धकार से आवृत्त-आच्छादित था।....उस समय न किसी के जानने, न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त जानने योग्य होता।'' (स०प्र०, समु० ८)

अनुशीलन—(१) वेदोक्त भाव पर आधारित श्लोक—श्लोकोक्त भाव निम्नलिखित वेदमन्त्र में इस प्रकार प्राप्त होता है—

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥
(ऋग्० १०.१२९.३)

अर्थ—प्रलयकाल में यह जगत् मूल प्रकृति के रूप में था, यह अन्धकार में विलीन था, कुछ भी जानने योग्य नहीं था, सब ओर सलिल=अवकाश रूप था। तुच्छ्य= सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मा से यह जगत् व्याप्त था। उसको परमात्मा ने अपने सामर्थ्य से कारण रूप से कार्यरूप में परिणत करके सृष्टि रूप बना दिया।

(२) मनुस्मृति के प्रश्न और उत्तर की संगति—प्रायः सभी टीकाकारों ने यहाँ यह शंका उठायी है कि महर्षियों ने धर्मविषयक प्रश्न किया था [१.२], किन्तु मनु ने सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन अप्रासंगिक रूप से क्यों किया? कुछ आलोचकों ने इस वर्णन को विशृंखलित

माना है और कुछ अनु-सन्धाताओं ने इसे प्रक्षिप्त ही घोषित कर डाला। वस्तुत: यह वर्णन न तो अप्रासंगिक है, न विश्रृंखलित और न प्रक्षिप्त। मनुस्मृति की शैली को पहचानने के पश्चात् यह निश्चित हो जाता है कि यह वर्णन प्रासंगिक, शृंखलाबद्ध एवं मौलिक है। इसकी सिद्धि में निम्न युक्तियाँ एवं प्रमाण हैं—

मनुस्मृति की शैली—मनुस्मृति कुछ प्रमुख विषयों में विभाजित है और इसकी यह शैली है कि जब कोई भी विषय प्रारम्भ होता है तो उसके प्रारम्भ, अन्त अथवा दोनों स्थानों पर उसका संकेत होता है। यहाँ भी **'अस्य सर्वस्य'** [१.३] से अगले वक्ष्यमाण विषय जगदुत्पत्ति के प्रारम्भ का संकेत किया और १.१४४ (२.२५) में **'संभवश्चास्य सर्वस्य'** कहकर इस विषय का समापन संकेत भी दिया है। उसी श्लोक में फिर साथ ही अगले विषय का संकेत भी है। इस प्रकार इस विषय का प्रारम्भ और समापन का संकेत मनु ने स्वयं ही दे दिया है, और इस तरह यह विषय पृष्ट प्रश्न से और अगले विषय से शृंखलावत् जुड़ा हुआ है। इस स्थिति में इसे अप्रासंगिक या विश्रृंखलित नहीं कहा जा सकता।

(३) शैली के आधार पर इस प्रसंग के व्यवस्थित और प्रासंगिक सिद्ध हो जाने के पश्चात् अब यहाँ प्रश्न उठता है कि आलोचकों अथवा टीकाकारों को इस प्रसंग को अप्रासंगिक, विश्रृंखलित एवं प्रक्षिप्त कह देने की भ्रान्ति कैसे हुई? और मनु ने ऋषियों द्वारा धर्मों की जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन क्यों प्रारम्भ किया? इसके उत्तर में निम्न स्पष्टीकरण दिये जा सकते हैं—

(क) मनु ने प्रश्न के अनुसार ही उत्तर के विषय को चुना है और यह वर्णन २-३ श्लोकों के प्रश्न में निहित अवान्तर जिज्ञासाओं के समाधान के लिए प्रारम्भ किया गया है, जो पूर्णत: व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध है। टीकाकारों द्वारा प्रश्न-वर्णन करनेवाले २-३ श्लोकों का सही और संगत अर्थ न समझने के कारण ही यह भ्रान्ति और शंका उत्पन्न हुई है। टीकाकारों ने द्वितीय श्लोक को तो एकमात्र स्वतन्त्र प्रश्न माना है और तृतीय श्लोक को स्वतन्त्र प्रशंसा-वाक्य। संगति की दृष्टि से दोनों को असम्बद्ध रखते हुए उन्होंने इनका अर्थ निम्न प्रकार किया है—

द्वितीय श्लोक—''हे भगवन्! ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों और अम्बष्ठ आदि अनुलोमज, 'सूत' आदि प्रतिलोमज तथा 'भूर्जकण्टक' आदि संकीर्ण जातियों के यथोचित धर्मों को क्रमशः कहने के लिए आप योग्य हैं (इसलिये उनको कहिये)।''

तृतीय श्लोक—''क्योंकि हे प्रभो! एक आप ही सम्पूर्ण अपौरुषेय, अचिन्त्य तथा अप्रमेय वेद के अग्निष्टोम आदि यज्ञकार्य के और ब्रह्म के जानने वाले हैं।''

टीकाकारों द्वारा ऊपर प्रदर्शित अर्थ करने से यहाँ विषय-वर्णन की संगति का क्रम नहीं बन पाता। द्वितीय श्लोक में मनु से प्रश्न तो धर्मों के विषय में है और तृतीय श्लोक में उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें विद्वान् बताया जा रहा है—वेद में विहित अग्निष्टोम आदि यज्ञों का और ब्रह्म का। संगत बात तो तभी मानी जा सकती है जब जिस विषय का प्रश्न किया हो, उस समय उसी विषय में उसकी विद्वत्ता की प्रशंसा की जाये। यह क्या कि मनु से प्रश्न किसी अन्य विषय का किया जा रहा है और उनको विद्वान् किसी अन्य विषय का बताया जा रहा है!

(ख) इसी प्रकार एक त्रुटि यह हुई कि तृतीय श्लोक के '**अस्य सर्वस्य**' सर्वनामों को वेदों का विशेषण मानकर अर्थ किया है, जबकि ये 'जगत्' अर्थ के संकेतक हैं।

वस्तुतः ये दोनों ही श्लोक सम्बद्ध और एकवाक्यात्मक हैं। तृतीय श्लोक, द्वितीय श्लोक के वाक्य का पूरकवाक्य है। उनमें द्वितीय श्लोक में किये गये प्रश्न के सन्दर्भ में कारणपूर्वक मनु की प्रशंसा है कि 'हम आपके पास ही जिज्ञासा लेकर आये हैं' तृतीय श्लोक में जाकर यह वाक्य पूर्ण होता है—'क्योंकि आप ही इस विषय के सर्वोच्च विद्वान् हैं।' फिर चतुर्थ-पञ्चम श्लोकों से मनु जो उत्तर देना आरम्भ करते हैं, वह उन्होंने इन्हीं श्लोकों के '**अस्य सर्वस्य**' पदों के अनुसार ही किया है। इन श्लोकों का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—

''हे भगवन्! आप सब वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों को ठीक-ठीक और क्रमशः बतलाने में समर्थ हैं, क्योंकि, हे प्रभो! इस जगत् के विधानरूप अपौरुषेय, अचिन्त्य और अपरिमितज्ञानयुक्त वेदों के प्रतिपाद्य अथवा व्यावहारिक तत्त्व अर्थात् धर्मों और वेदार्थों के ज्ञाता एकमात्र आप ही

हैं, (अतः हमें वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों का प्रवचन कीजिए)।'' इस प्रकार वेदों में जिन बातों को धर्म बतलाया है, उनको या वेदों में विहित धर्मों को जानने वाले विशिष्ट विद्वान् मनु हैं। अथवा वेदों का प्रतिपाद्य धर्म भी है, यतोहि १.१२५, १३१ (२.६, १२) श्लोकों में धर्म का मूलस्रोत वेद को ही माना है, इसलिए भी मनु इस विषय के विद्वान् हैं। इसी विषय का मनु को प्रवचन करना है और इसी विषय में उनसे प्रश्न किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि जो पृष्ट-विषय है, उसी के सन्दर्भ में मनु की प्रशंसा है, जो प्रशंसित एवं पृष्ट-विषय है उसी का मनुस्मृति में प्रतिपादन है, यह सुसंगति बन जाती है।

(ग) इन श्लोकों में संक्षेप में मनु से यह कहा है कि 'इस जगत् के विधानरूप अपौरुषेय वेदों के अन्तर्गत वर्णित धर्मों को जानने वाले आप हैं, अतः हमें वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों को कहिए।' मनु ने श्लोकों में अन्तर्निहित जिज्ञासाओं के अनुसार ही अपने उत्तर को प्रारम्भ किया— 'यह जगत्, जिसके लिए वेदों को विधानरूप में रचा, इसकी क्या स्थिति है? (१.५-८७), वेद जगत् के विधानरूप कैसे हैं? क्योंकि वे ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं और उन्हीं से कर्मों, नामों का विभाजन तथा निर्धारण किया गया है (१.२१, २३, ८७-९१) वेदों से धर्म की उत्पत्ति कैसे होती है और यह धर्म किन लक्षणों वाला है? (१.१२०-१४४ या २.१-२५)' इस प्रकार तृतीय श्लोक से उद्भावित होने वाली जिज्ञासाओं का १.१४४ (२.२५) तक कथन करके फिर द्वितीय श्लोक के मुख्य प्रश्न 'धर्मों के वर्णन' पर आते हैं और १.१४४ (२.२५) में '**वर्णधर्मान् निबोधत**' कहकर उनका वर्णन आरम्भ करते हैं। इस प्रकार तृतीय श्लोक के असंगत अर्थ के कारण इस वर्णन को अप्रासंगिक कहने की भ्रान्ति हुई है। (विस्तृत जानकारी के लिए १.३ श्लोक पर 'अनुशीलन' नामक समीक्षा देखिए)।

(४) १.५ से १.१४४ (अन्य संस्करणों के अनुसार २.२५) श्लोकों का यह वर्णन मनुस्मृति की भूमिका-रूप है, और जिस प्रकार भूमिका में लेखक अपने विषय से सम्बद्ध सभी आवश्यक सम्भावित बातों की जानकारी दिया करता है, इसी प्रकार मनु ने धर्मों से सम्बद्ध

आवश्यक सम्भावित जिज्ञासाओं के समाधान के लिए इस वर्णन को प्रारम्भ किया है। विषय की दृष्टि से यह आवश्यक भी था। मनु ने इस वर्णन में जिन बातों का संक्षेप में वर्णन किया है, धर्मों का अध्ययन करते समय वे शंकाएँ सभी के मन में उठनी स्वाभाविक हैं, अतः भूमिका के वर्णन में, मनु ने पहले ही उनके विषय में अपना मत प्रकट कर दिया है। जैसे—मनुस्मृति में जिन धर्मों का वर्णन किया जा रहा है उनकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? (१.१२९ या २.१०) उस धर्म का क्या लक्षण है ? [१.१२५, १३१ या २.६, १२) जिस जगत् में धर्म की आवश्यकता है उसकी क्या स्थिति है ? जगत् और धर्म दोनों का सम्बन्ध क्या है ? जगत् में धर्म और कर्मानुसार जीवों की गतियाँ किस प्रकार हैं ? (१.५-८७, १.४२-५०) जिनको जानकार व्यक्ति धर्म के प्रति प्रेरित हो सके। धर्मोत्पत्ति जगदाश्रित है, इसलिए धर्मोत्पत्ति से पूर्व जगदुत्पत्ति का वर्णन है। वेदों को धर्म का स्रोत इसलिए माना है क्योंकि वे अपौरुषेय हैं (१.२१-२३)। इस जगत् का उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमात्मा है, वही वेदों और वेदों के द्वारा धर्मों का विधान करने वाला है, अतः उस ईश्वर द्वारा विहित धर्मों का मनुष्यों को पालन करना चाहिए, इत्यादि बातों की जानकारी के लिए ही मनु ने यह वर्णन भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया है।

(५) **मनुस्मृति की साङ्गोपाङ्ग शैली**—मनु ने सांगोपांग शैली अपनायी है। प्राचीन शास्त्रों में इस शैली का प्रचलन था यथा—'**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' '**जन्माद्यस्य यतः**' (वेदान्त १.१-२)। इस शैली की यह पद्धति है कि सबसे महान् तत्त्व परमेश्वर के वर्णन को प्रारम्भ करके क्रमानुसार अपने विषय पर लाया जाता है। इससे दो बातों का संकेत मिलता है कि उस शास्त्र का चरमप्रयोजन ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करना है और उस विषय का उस परमतत्त्व से सम्बन्ध है। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी धर्मों का सम्बन्ध ईश्वर से दर्शाया है, क्योंकि धर्म वेदों के माध्यम से ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट हैं, और इन धर्मों का पालन करके मोक्षप्राप्ति या आत्मज्ञान प्राप्त करने योग्य बनाना इन शास्त्रों का चरम-उद्देश्य है। जैसे कहा भी है—

''**ब्राह्मीयं क्रियते तनुः**'' [२.२८ (२.३)]।

जगदुत्पत्ति और उसका क्रम—

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ ६ ॥(६)

(**ततः**) तब सृष्टि-उत्पत्ति के समय (**स्वयम्भूः**) अपने कार्यों को करने में स्वयं समर्थ, किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला (**अव्यक्तः**) स्थूल रूप में प्रकट न होने वाला (**तमोनुदः**) 'तम' रूप मूल प्रकृति का प्रेरक=उसको प्रकटावस्था की ओर अभिमुख करने वाला (**महाभूतादि वृत्तौजाः**) अग्नि, वायु आदि महाभूतों को, 'आदि' शब्द से महत् अहङ्कार आदि को भी (१.१४-१५) उत्पन्न करने की महान् शक्ति वाला (**भगवान्**) परमात्मा (**इदम्**) इस समस्त संसार को (**व्यञ्जयन्**) प्रकटावस्था में लाते हुए (**प्रादुरासीत्**) प्रकट हुआ अर्थात् अव्यक्त-सूक्ष्म परमात्मा के अस्तित्व और सक्रियता का प्रकटीकरण जगत् की प्रकटता के रूप में हुआ॥ ६ ॥[१]

अनुशीलन—(१) **स्वयम्भू का सही अर्थ**—यहाँ मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट आदि टीकाकारों ने 'स्वयम्भूः' का अर्थ 'स्वेच्छा से शरीर धारण करने वाला।' (स्वेच्छया शरीरपरिग्रहं करोति) यह विरुद्ध अर्थ किया है। इसी श्लोक में परमात्मा के लिए 'अव्यक्तः' विशेषण प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है—'जो कभी स्थूल रूप में प्रकट नहीं होता।' इससे स्पष्ट है कि परमात्मा सदा सूक्ष्म रूप में ही रहता है, कभी शरीरधारण नहीं करता। इसके विरुद्ध होने से मेधातिथि, कुल्लूक आदि का उक्त अर्थ अमान्य है।

इस प्रसंग में महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदत्त 'स्वयम्भू' शब्द की व्युत्पत्ति उल्लेखनीय है—''(भू सत्तायाम्) 'स्वयम्' पूर्वक इस धातु से 'स्वयम्भू' शब्द सिद्ध होता

---

१. **प्रचलित अर्थ**—तब स्वयम्भू (स्वेच्छा से शरीर धारण करने वाले), अव्यक्त=इन्द्रियों के अगोचर (नेत्र आदि इन्द्रियों से नहीं किन्तु योग से प्रत्यक्ष होने योग्य), अपरिमित सामर्थ्य वाले और अन्धकार दूर करने वाले (प्रकृति प्रेरक), भगवान् आकाश आदि महाभूतों को व्यक्त करते हुए प्रकट हुए॥ ६ ॥

है। 'यः स्वयं भवति स स्वयंभूरीश्वरः' जो आप से आप ही है, किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, इससे उस परमात्मा का नाम 'स्वयम्भू' है।" (स०प्र०प्र०समु० १) प्रमाण रूप में आगे इसी श्लोक की समीक्षा में वेदमन्त्र 'ग' भाग देखिए।

(२) **परमात्मा की प्रकटता से अभिप्राय**—परमात्मा के प्रकट होने से भी यहाँ तात्पर्य 'जगत् को प्रकटावस्था में लाते हुए ही प्रकट होने' से है, अव्यक्त-सूक्ष्म परमात्मा का यही प्रकटीकरण है, उसका कोई स्थूल रूप नहीं है। इसी भाव की ओर इंगित करने के लिए ही मनु ने **'व्यञ्जयन् इदम्'** पाठ का प्रयोग किया है। यदि मनु को स्वतन्त्र रूप से अथवा बिना जगत् की प्रकटता के ही परमात्मा की प्रकटता अभीष्ट होती तो वे परमात्मा की प्रकटता के साथ जगत् की व्यापकता वर्णित नहीं करते, अपितु पहले स्वतन्त्र रूप से परमात्मा की उत्पत्ति दर्शाते, परमात्मा की उत्पत्ति के बाद फिर जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करते। जगत् की प्रकटता को देखकर ही परमात्मा की सत्ता प्रतीत होती है। जगत् को प्रकटावस्था में लाना ही परमात्मा की प्रकटता या उत्पत्ति है, जगत् को प्रलयावस्था में लाना उसकी अप्रकटता है। १.५२-५४ श्लोकों में परमात्मा की इन्हीं अवस्थाओं को क्रमशः **'जाग्रत'** और **'सुषुप्ति'** कहा है। इन श्लोकों से उक्त बातों की पुष्टि भलीभांति हो जाती है। अतः इस श्लोक से किसी शरीरधारी के रूप में परमात्मा की उत्पत्ति प्रदर्शित करना, अशुद्ध एवं मनुस्मृति के विरुद्ध है।

(३) **सृष्ट्युत्पत्ति विषयक वेदमन्त्रों के प्रमाण**—नीचे प्रमाण रूप में वेदों के सृष्ट्युत्पत्ति एवं पुरुषसूक्त के कुछ ऐसे मन्त्र उद्धृत किये जा रहे हैं, जिनसे सृष्ट्युत्पत्ति विषय पर प्रकाश पड़ता है। इनमें परमेश्वर को निराकार, अजन्मा आदि दर्शाया गया है। मनु ने इन्हीं भावों को १.५-६ श्लोकों में संकलित किया है—

(क) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीत् गहनं गभीरम्॥ (ऋ० १०.१२९.१)

(**नासदासीत्**) जब यह कार्यसृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का

कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी, उस समय (**असत्**) शून्यनाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता सो भी नहीं था, क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था (**नो सदासीत् तदानीं०**) उस काल में सत् अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण मिलाके जो प्रधान कहाता है, वह भी नहीं था (**नासीद्रजः**) उस समय परमाणु भी नहीं थे तथा (**नो व्योमा०**) विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था (**किमाव०**) जो यह वर्त्तमान जगत् है, वह भी शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढक सकता जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढक सकता। उस जल से नदी प्रवाह नहीं चल सकता, और न कभी वह गहरा और उथला हो सकता। इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है और जो यह उसका बनाया जगत् है सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है।'' (ऋ०भा०भू० सृष्टिविद्या विषय)

(ख) ''**प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।**'' (यजुः० ३१.१९)

''जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, सो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है।'' (ऋ०भा०भू० ११३)

(ग) निम्न वेदमन्त्र में परमेश्वर को '**स्वयम्भू**' विशेषण से अभिहित करते हुए सूक्ष्म, अन्तर्यामी, शरीररहित, जन्म-मरण रहित और सृष्टि तथा वेदार्थों का प्रकाशक कहा है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ (यजुः० ४०.८)

प्रकृति से महान् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति—

उद्बबर्हाऽऽत्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम्॥ १४॥ (७)
महान्तमेव चाऽऽत्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां ग्रहीतृणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च॥ १५॥
(८)

(**च**) और फिर उस परमात्मा ने (**आत्मनः एव**)

स्वाश्रयस्थित प्रकृति से (**सद्-असद्+ आत्मकम्**) जो प्रलय में कारणरूप में विद्यमान रहे और विकारी अंश से कार्यरूप में जो अविद्यमान रहे, ऐसे स्वभाव वाले (**मनः**) 'महत्' नामक तत्त्व को (**च**) और (**मनसः अपि**) महत्तत्त्व से (**अभिमन्तारम्**) 'मैं हूँ' ऐसा अभिमान करनेवाले (**ईश्वरम्**) सामर्थ्यशाली (**अहंकारम्**) 'अहंकार' नामक तत्त्व को (**च**) और फिर उससे (**सर्वाणि त्रिगुणानि**) सब त्रिगुणात्मक पाँच तन्मात्राओं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को (१.१९, २७) (**च**) तथा (**आत्मानम् एव महान्तम्**) आत्मोपकारक अथवा निरन्तर गमनशील 'मन' इन्द्रिय को (**च**) और (**विषयाणां ग्रहीतॄणि**) विषयों को ग्रहण करने वाली (**पञ्चेन्द्रियाणि**) दोनों वर्गों की इन्द्रियों अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियों—आँख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा एवं पाँच कर्मेन्द्रियों—हाथ, पैर, वाक्, उपस्थ, पायु को (२.६४-६६) (**शनैः**) यथाक्रम से (**उद्बबर्ह**) उत्पन्न कर प्रकट किया॥ १४, १५॥ [शेष उत्पत्ति अगले श्लोक में है][१]

अनुशीलन—'**१४-१५ श्लोकों के अर्थ में भ्रान्ति और सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया**—इन दोनों श्लोकों के अर्थ को सही रूप में न समझने के कारण टीकाकारों एवं आलोचकों को भ्रान्ति का शिकार होना पड़ा है। टीकाकारों ने सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया का यहाँ प्रतिक्रम से वर्णन माना है और '**मनः सदसदात्मकम्**' का संकल्प-विकल्पात्मक मन अर्थ किया है, और फिर 'मन से पूर्व अहंकार, अहंकार से पूर्व महत्' इत्यादि रूप में अर्थ किया है।

---

१. **प्रचलित अर्थ**—ब्रह्मा ने परमात्मा से सत्-असत् आत्मा वाले 'मन' की सृष्टि की तथा मन से पहले 'अहम्=मैं' इस अभिमान से युक्त एवं अपने कार्य को करने में समर्थ अहंकार की सृष्टि की॥ १४॥ अहंकार से पहले आत्मोपकारक 'महत्' तत्त्व=बुद्धि की तथा सम्पूर्ण त्रिगुण (सत्त्व, रजस् और तमस् से युक्त) विषयों की और रूप-रस आदि विषयों को ग्रहण करने वाली नेत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रियों की तथा पांच शब्दतन्मात्रा आदियों की सृष्टि की॥ १५॥

लेकिन वह 'प्रतिक्रम' भी क्रमबद्ध रूप से नहीं सिद्ध हो पाया; क्योंकि १५वें श्लोक में महत्तत्त्व के बाद इन्द्रियों का वर्णन आ गया। इस अर्थ की भ्रान्ति के कारण आलोचकों ने इन श्लोकों को विशृंखलित और भ्रामक घोषित कर दिया। वस्तुतः इन श्लोकों के अर्थ को सही रूप में नहीं समझा गया है। मनुस्मृति का और सांख्यदर्शन का सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम मिलता है—'**सत्त्वरजस्तमसां-साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः, अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियम्। पञ्च-तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः॥** (सांख्य १.६१)

(**सत्त्व**) शुद्ध (**रज**) मध्य (**तमः**) जाड्य अर्थात् जड़ता, तीन वस्तु मिलकर जो एक संघात है उसका नाम प्रकृति है। उससे महत्तत्त्व=बुद्धि, उससे अहंकार, उससे पाँच तन्मात्रा, सूक्ष्मभूत और दश इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन, पाँच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूत ये चौबीस, और पच्चीसवां पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है। इनमें से प्रकृति अविकारिणी और महत्तत्त्व, अहंकार तथा पाँच सूक्ष्मभूत प्रकृति का कार्य और इन्द्रियों, मन तथा स्थूलभूतों का कारण है। पुरुष न किसी की प्रकृति=उपादानकारण और न किसी का कार्य है'' (स०प्र०, समु० ८)। यही क्रम यहाँ है।

(२) 'महत्तत्त्व' और 'मन' से अभिप्राय—'मन', 'महत्', 'बुद्धि' इन शब्दों का पर्यायवाची रूप में प्रयोग विभिन्न शास्त्रों में मिलता है। यहाँ प्रथम पंक्ति में पठित 'मन' शब्द से अभिप्राय 'महत्' नामक आद्य कार्यतत्त्व से है। 'मन' इन्द्रिय प्रथमकार्य हो ही नहीं सकता। प्रकृति का प्रथम विकार 'महत्' है, अतः यहाँ उसे ही 'मन' शब्द से व्यवहृत किया है। इसमें सांख्यदर्शन का प्रमाण भी है— ''**महत् आख्यम् आद्यं कार्यं तन्मनः**'' (१.७२) अर्थात् प्रकृति का जो सर्वप्रथम कार्य है, उसे 'महत्' कहते हैं और उसे 'मन' भी कहा जाता है। इस प्रकार इन दोनों शब्दों का प्रयोग पर्याय के रूप में हुआ है।

१५वें श्लोक की प्रथम पंक्ति में पठित '**महान्तम्**' से अभिप्राय '**मन**' इन्द्रिय से है। इसकी पुष्टि '**आत्मानम्**' विशेषण से ही हो जाती है। 'मन' इन्द्रिय का ही आत्मा

के साथ सम्बन्ध रहता है। 'अत् सातत्यगमने' धातु के अनुसार 'आत्मानम्' का अर्थ 'निरन्तर गमनशील' बनता है। मन का यही स्वभाव है। इस प्रकार दोनों श्लोकों का अर्थ निर्भ्रान्त और उचितक्रमयुक्त बन जाता है। चरकशास्त्र में, शारीरस्थान के १.६२-६६ श्लोकों में भी इसी प्रक्रिया के अनुसार वर्णन किया है।

(३) **'आत्मनः उद्बबर्ह' का अर्थ**—यहाँ **'आत्मनः उद्बबर्ह'** पद प्रयोग से यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि मन आदि तत्त्व परमात्मा के किसी अंश से बने हैं, जैसा कि नवीन वेदान्त में माना जाता है। मनु० १२.२४ में प्रकृति के पर्यायवाची रूप में 'आत्मा' पद का प्रयोग किया है। यह 'आत्मा' नामक प्रकृति सत्त्व-रज-तम युक्त है, और इसका प्रथम विकार 'महान्' है। यहाँ श्लोक का अभिप्राय है—'इन तत्त्वों को अपने आश्रय या स्वाश्रयस्थित प्रकृति से उत्पन्न कर प्रकट किया।' ''जो जिससे सूक्ष्म होता है, वही उसकी आत्मा है अर्थात् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है, जैसे लोहे में अग्नि प्रविष्ट होके उसके सब अवयवों में व्याप्त होता है'' (ऋ०भा०भू० ४१)। इस प्रकार महत् आदि की 'प्रकृति' आत्मा है, अतः यहाँ **'आत्मनः'** से अभिप्राय **'प्रकृति'** से है। इसकी पुष्टि में १.५३, ५४ और ५७ श्लोक प्रमाण हैं। वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि प्रलयावस्था के समय यह समस्त जगत् अपने प्रकृतिरूप में होकर सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय में लीन हो जाता है। पुनः उत्पत्ति के समय परमात्मा उन्हें अपने आश्रय से निकाल कर जिलाता है, प्रकृति के तत्त्वों को संयुक्त करता है।

पञ्चमहाभूतों की सृष्टि का वर्णन—

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम्।
सन्निवेश्याऽऽत्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे॥ १६॥
(९)

(**तेषां तु**) ऊपर [१४-१५ में] वर्णन किये गये उन तत्त्वों में से (**अमित-औजसाम्**) अत्यधिक शक्तिवाले (**षण्णाम्+अपि**) छहों तत्त्वों के (**सूक्ष्मान् अवयवान्**) सूक्ष्म अवयवों=शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्राएं तथा छठे अहंकार के सूक्ष्म

अवयवों को (**आत्ममात्रासु**) उनके आत्मभूत तत्त्वों के विकारी अंशों अर्थात् कारणों में मिलाकर (**सर्व-भूतानि**) सब पाँचों सूक्ष्म महाभूतों—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी की (**निर्ममे**) सृष्टि की॥ १६ ॥[1]

अनुशीलन—(१) पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहा-भूतों की उत्पत्ति—जो जिससे सूक्ष्म होता है, वह उससे उत्पन्न स्थूल की आत्मा होता है। अहंकार से पञ्च-तन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई है; अत: अहंकार पञ्चतन्मात्राओं का आत्मा कहलायेगा। इस प्रकार पञ्चभूतों की रचना की प्रक्रिया का क्रम यह बना—पञ्चतन्मात्राओं के आत्मरूप तत्त्व अहंकार के विकारी अंश और आकाश के सूक्ष्म अवयवों=शब्द-तन्मात्राओं के मिलने से 'आकाश' नामक सूक्ष्म महाभूत की रचना हुई। वायु के आत्मभूत तत्त्व आकाश के विकारी अंश तथा वायु के सूक्ष्म अवयवों स्पर्शतन्मात्राओं के मिलने से 'वायु' नामक महाभूत की रचना हुई। अग्नि के आत्मभूत तत्त्व वायु के विकारी अंश के साथ अग्नि के सूक्ष्म अवयव अर्थात् रूपतन्मात्राओं के संयोग से 'अग्नि' नामक महाभूत की रचना हुई। जल के आत्मभूततत्त्व अग्नि के विकारी अंश के साथ जल के सूक्ष्म अवयव अर्थात् रसतन्मात्रा के संयोग से 'जल' नामक महाभूत बना और पृथिवी के आत्मभूत तत्त्व जल के विकारी अंश के साथ पृथिवी के सूक्ष्म अवयव अर्थात् गन्धतन्मात्रा के संयोग से 'पृथिवी' नामक सूक्ष्म महाभूत की रचना हुई। (द्रष्टव्य १.७५-७८ श्लोक)

(२) १६वें श्लोक का संगत अर्थ—सभी टीकाकारों ने इस श्लोक का त्रुटिपूर्ण और असंगत अर्थ किया है। (१) टीकाकारों ने इसमें **'सर्वभूतानि निर्ममे'** सब प्राणियों की सृष्टि की यह अर्थ किया है। यहाँ यह अर्थ करने की न तो संगति ही है और न प्राणियों की उत्पत्ति कह देने से उत्पत्ति का प्रसंग समाप्त हो जाता है।

---

१. **प्रचलित अर्थ**—अनन्त शक्ति वाले उन छह (अहंकार, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) के सूक्ष्म अवयवों को उन्हीं के अपने-अपने विकारों में मिलाकर सब प्राणियों की सृष्टि की॥ १६ ॥

पुनः १९, २० श्लोकों में समग्र जगत् की जो एकसाथ उत्पत्ति दर्शायी है, वह पुनरुक्ति ही हो जाती है; और छह सूक्ष्म अवयवों से प्राणिजगत् की उत्पत्ति मानने से १९वें श्लोक के सात अवयवों द्वारा जगत्-रचना के कथन से भिन्नता आती है। यहाँ संगत अर्थ पञ्चभूतों की उत्पत्ति का ही है। अभी सृष्टि-उत्पत्ति के मूलतत्त्वों के वर्णन का प्रसंग चल रहा है। १५वें श्लोक में इन्द्रियों की उत्पत्ति कह दी है। उसके पश्चात् पञ्चभूतों का क्रम आता है, उनका संकेत इस श्लोक में है। इस प्रकार सभी तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रमबद्ध वर्णन पूरा हो जाता है। इसकी पुष्टि १.७४-७८ श्लोकों से होती है। इन श्लोकों में पञ्चभूतों की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन ठीक इसी प्रकार किया है। इस तरह अर्थ करने से संगति तथा क्रमबद्धता आ जाती है और विरोध आदि त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं।

(३) सृष्टि-उत्पत्ति विषय में शास्त्रों में अविरोध या विरोध—प्रसंग से यहाँ यह जिज्ञासा पैदा होती है—

प्रश्न—सृष्टि-विषय में वेदादि-शास्त्रों का अविरोध है, वा विरोध ?

उत्तर—अविरोध है।

प्रश्न—जो अविरोध है तो—

''**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥**'' यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन है [ब्रह्म० वल्ली। अनु० १]॥

उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश=अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से आकाश उत्पन्न-सा होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि विना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें ? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है।

यहां आकाशादि क्रम से, और '**छान्दोग्य**' में अग्न्यादि, '**ऐतरेय**' में जलादि क्रम से सृष्टि हुई मानी है। वेदों में कहीं पुरुष, कहीं हिरण्यगर्भ आदि से; '**मीमांसा**'

में कर्म [से], '**वैशेषिक**' में काल [से], '**न्याय**' में परमाणु [से], '**योग**' में पुरुषार्थ [से], '**सांख्य**' में प्रकृति [से] और '**वेदान्त**' में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। अब किसको सच्चा और किसको झूठा मानें?

उत्तर—इसमें सब सच्चे [हैं], कोई झूठा नहीं। झूठा वह है जो विपरीत समझता है; क्योंकि परमेश्वर निमित्त और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। जब महाप्रलय होता है, उसके पश्चात् आकाशादि क्रम [से], और जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है [तब] अग्न्यादि क्रम से, और जब विद्युत्=अग्नि का भी प्रलय (नाश) नहीं होता तब जलादि क्रम से सृष्टि होती है, अर्थात् जिस-जिस प्रलय में जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है, वहाँ-वहाँ से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। 'पुरुष' और 'हिरण्यगर्भ' आदि सब नाम परमेश्वर के हैं।

विरोध उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्ध वाद होवे। छः शास्त्रों में अविरोध, देखो इस प्रकार है—**मीमांसा में**—ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्मचेष्टा न की जाय। **वैशेषिक में**—समय लगे विना, बने ही नहीं। **न्याय में**—उपादानकारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता। **योग में**—विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाय, तो नहीं बन सकता। **सांख्य में**—तत्त्वों का मेल न होने से, नहीं बन सकता। और—**वेदान्त में**—बनानेवाला न बनावे, तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न हो न सके। इसलिये सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। इसलिये उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छः पुरुष मिलके एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें, वैसे ही सृष्टिरूप एक कार्य की व्याख्या छः शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है।" (स०प्र० समु० ८)

सूक्ष्म-शरीर से आत्मा का संयोग—

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम्॥ १८॥

(१०)

(**तदा**) तब जगत् के स्थूल महाभूत आदि तत्त्वों की सृष्टि होने पर (**सह कर्मभिः**) अपने-अपने कर्मों

के साथ (**महान्ति भूतानि**) शक्तिशाली सभी सूक्ष्म महाभूत (**च**) और (**सूक्ष्मैः अवयवैः मनः**) समस्त सूक्ष्म अवयवों अर्थात् इन्द्रियादि के साथ मन (**सर्व-भूतकृत्+अव्ययम्**) सब भौतिक प्राणि-शरीरों को जन्म=जीवनरूप देने वाले अविनाशी आत्मा को [क्योंकि जीवात्मा के संयोग से ही समस्त शरीरों में जीवन आता है और उसके वियोग से समाप्त हो जाता है] (**आविशन्ति**) आवेष्टित करते हैं [और इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की रचना होती है] ॥ १८ ॥[१]

अनुशीलन—(१) पञ्चमहाभूतों के कर्म—पञ्चमहाभूतों में आकाश का कर्म अवकाश देना है, वायु का गति, तेज का पाक, जल का एकत्रीकरण और पृथिवी का कर्म धारण करना है।

(२) १८वें श्लोक का संगत अर्थ—प्रायः सभी टीकाकारों ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—'विनाश-रहित एवं सब भूतों के कर्त्ता उस ब्रह्म से अपने-अपने कर्मों से युक्त पञ्चमहाभूत आकाश और सूक्ष्म अवयवों के साथ मन की सृष्टि हुई।' इस अर्थ में निम्न त्रुटियाँ आती हैं—

(क) १.१४-१५ में मन की उत्पत्ति स्पष्ट रूप से कही जा चुकी है, दो श्लोकों के बाद पुनः मन की उत्पत्ति कहने की आवश्यकता नहीं थी। इस प्रकार यह अनावश्यक पुनरुक्ति बन जाती है।

(ख) टीकाकारों के इन अर्थों से वर्णन की कोई क्रमबद्ध संगति नहीं जुड़ती। १४-१५ श्लोकों में मन आदि तत्त्वों की उत्पत्ति वर्णित कर दी। १६वें सब प्राणियों की उत्पत्ति दिखा दी। १७वें में परमात्मा के प्रकृति रूपी शरीर का निर्वचन दिखा दिया। फिर १८वें में पुनः मन आदि की उत्पत्ति कह दी। १९वें में फिर एक बार समस्त जगत् की उत्पत्ति दर्शा दी। इस प्रकार कोई क्रम नहीं बनता।

(ग) मनु ने जब सृष्ट्युत्पत्ति का विषय प्रारम्भ करके

---

१. **प्रचलित अर्थ**—विनाशरहित एवं सब भूतों के कर्त्ता उस ब्रह्म से अपने-अपने कर्मों से युक्त पञ्चमहाभूत आकाश आदि और सूक्ष्म अवयवों के साथ मन की सृष्टि हुई ॥ १८ ॥

सभी तत्त्वों की उत्पत्ति दर्शायी है, तो यह भी आवश्यक है कि उन तत्त्वों का आत्मा के साथ संयोग भी प्रदर्शित होना चाहिए। जीव के साथ तत्त्वों का संयोग प्रदर्शित न करने पर उत्पत्ति-वर्णन अधूरा ही रह जाता है, और मनुस्मृति में तो इस बात का वर्णन और भी आवश्यक है, क्योंकि मानव धर्म ही मनुस्मृति का अभीष्ट विषय है। केवल स्थूल जगत् की उत्पत्ति दर्शाना इसका मुख्य विषय नहीं है, किन्तु प्रचलित टीकाओं में श्लोक के अर्थ जिस प्रकार किये गये हैं, उनमें कहीं यह प्रसङ्ग नहीं आता। इस प्रकार यह अभाव पाठकों को खटकता है।

इस भाष्य में प्रस्तुत अर्थों के अनुसार ये सब त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं तथा अन्य शास्त्रों की भांति सृष्ट्युत्पत्ति-वर्णन में पूर्णता और क्रमबद्धता भी बनी रहती है।

(घ) सूक्ष्म शरीर के घटक—''पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि इन सत्रह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्मशरीर' कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है।'' (स०प्र० नवम समु०)। पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और पांच सूक्ष्मभूत १.१४-१५ में परिगणित हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान ये पांच प्रमुख प्राण हैं।

समस्त विनश्वर संसार की उत्पत्ति—

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद् व्ययम्॥
१९॥ (११)

इस प्रकार (**अव्ययात्**) विनाशरहित परमात्मा से और द्वितीयार्थ में सृष्टि के मूल कारण अविनाशिनी प्रकृति से (**तेषां तु**) उन्हीं (१४-१६, १८ में वर्णित) (**महौ-जसाम्**) महाशक्तिशाली (**सप्तानां पुरुषाणाम्**) सात तत्त्वों—महत्, अहंकार तथा पांच तन्त्राओं के (**सूक्ष्माभ्यः मूर्तिमात्राभ्यः**) जगत् के पदार्थों का निर्माण करने वाले सूक्ष्म विकारी अंशों से (**इदम् व्ययम्**) यह दृश्यमान विनाशशील विकाररूप जगत् (**सम्भवति**) उत्पन्न होता है॥ १९॥

अनुशीलन—यह समस्त विनाशशील जगत् संक्षेप में निम्न प्रक्रिया से प्रकटरूप में आता है। गत श्लोकों में

यही प्रक्रिया और क्रम बतलाया है—

(१) सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम—''जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परमसूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परमसूक्ष्म प्रकृति कारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्तत्त्व, और जो उससे कुछ स्थूल होता है, उसका नाम अहंकार और अहंकार से भिन्न-भिन्न पांच—सूक्ष्मभूत, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण पांच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, ये पांच कर्मेन्द्रियाँ है और ग्यारहवाँ मन, ये कुछ स्थूल उत्पन्न होते हैं। और उन पंचतन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पांच स्थूलभूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की औषधियाँ, वृक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है, परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी सृष्टि नहीं होती, क्योंकि जब स्त्री-पुरुषों के शरीर परमात्मा बनाकर उनमें जीवों का संयोग कर देता है, तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है।'' (स०प्र० समु० ८)

(२) पुरुष के महत्तत्त्व आदि अर्थ—निरुक्त (२.१) में पुरुष की व्युत्पत्ति दी है—''**पुरिशयः= पुरुषः।**'' इस आधार पर अपने कार्यपदार्थों में सूक्ष्मरूप से शयन करने अर्थात् स्थित रहने से महत्तत्त्व आदि सूक्ष्म तत्त्व 'पुरुष' कहलाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में 'वायु' और 'अग्नि' महाभूत को 'पुरुष' संज्ञा से अभिहित किया है। (१३.६.२.१; १०.४.१.६)।

(३) सृष्टि में मनुष्यों की उत्पत्ति—

प्रश्न—मनुष्य की सृष्टि प्रथम हुई, वा पृथिवी आदि की ?

उत्तर—पृथिवी आदि की; क्योंकि पृथिव्यादि के विना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता।

प्रश्न—सृष्टि के आदि में एक-दो मनुष्य उत्पन्न किये थे, वा अनेक ?

उत्तर—अनेक; क्योंकि जिन जीवों के कर्म ऐश्वरी सृष्टि में उत्पन्न होने के थे, उनका जन्म ईश्वर ने आदिसृष्टि में किया। क्योंकि—''**साध्या ऋषयश्च ये**''॥ ''**ततो मनुष्या अजायन्त**'' यह यजुर्वेद [और उसके ब्राह्मण] में लिखा है। [यजु० ३१।९; शत० ब्रा० कां० १४।प्रपा०

४। ब्रा० २। कं० ५] इन प्रमाणों से यही निश्चय है कि आदि में अनेक अर्थात् सैकड़ों-सहस्त्रों मनुष्य उत्पन्न हुए। और सृष्टि में देखने से भी निश्चित होता है कि मनुष्य अनेक मां-बाप के सन्तान हैं। (स०प्र० समु० ८)

पञ्चमहाभूतों के गुणों का कथन—

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः॥ २०॥
(१२)

(**एषाम्**) इन [१६वें में चर्चित] पञ्चमहाभूतों में (**आद्य+आद्यस्य गुणं तु**) पूर्व-पूर्व के भूतों के गुण को (**परः परः**) परला-परला अर्थात् उत्तरोत्तर बाद में उत्पन्न होने वाला भूत प्राप्त करता है (**च**) और (**यः**) जो-जो भूत (**यावतिथः**) जिस संख्या पर स्थित है (**सः सः**) वह-वह (**तावद्गुणः**) उतने ही अधिक गुणों से युक्त (**स्मृतः**) माना गया है॥ २०॥

अनुशीलन—पञ्च महाभूतों का क्रम और गुण— जैसे, पञ्च महाभूतों का निश्चित क्रम है—१. आकाश, २. वायु, ३. अग्नि, ४. जल, ५. पृथिवी। उनमें आकाश प्रथम स्थान पर है, इस प्रकार उसका केवल एक अपना 'शब्द' गुण ही है। वायु द्वितीय स्थान पर है, अतः उसके दो गुण हैं—एक अपने से पहले वाले आकाश का 'शब्द' तथा दूसरा अपना 'स्पर्श' गुण। इसी प्रकार तृतीय स्थानीय अग्नि में दो अपने से पहले वाले आकाश और वायु नामक भूतों के क्रमशः शब्द, स्पर्श गुण हैं, तीसरा अपना 'रूप' गुण। चतुर्थ स्थानीय जल के इस प्रकार चार गुण हैं— शब्द, स्पर्श, रूप और अपना 'रस' गुण। पञ्चम-स्थानीय पृथिवी में पांच गुण हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और अपना 'गन्ध' गुण। (द्रष्टव्य १.१६ श्लोक की समीक्षा भी)

वेदशब्दों से नामकरण एवं विभाग—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥ २१॥
(१३)

(**सः**) उस परमात्मा ने (**सर्वेषां तु नामानि**) सब पदार्थों के नाम [यथा—गो-जाति का 'गौ', अश्व-

जाति का 'अश्व' आदि] (**च**) और (**पृथक्-पृथक् कर्माणि**) भिन्न-भिन्न कर्म [यथा—ब्राह्मण के वेदाध्यापन, याजन; क्षत्रिय का रक्षा करना; वैश्य का कृषि, गोरक्षा, व्यापार आदि (१.८७-९१) अथवा मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के अहिंस्र-हिंस्र आदि कर्म (१.२८-३०)] (**च**) तथा (**पृथक् संस्थाः**) पृथक्-पृथक् विभाग [जैसे—प्राणियों में मनुष्य, पशु-पक्षी आदि (१.४२-४९)] या व्यवस्थाएँ [यथा—चार वर्णों की व्यवस्था (१.३१, ८७-९१)] (**आदौ**) सृष्टि के प्रारम्भ में (**वेदशब्देभ्यः एव**) वेदों के शब्दों से ही (**निर्ममे**) बनायीं अर्थात् वेदमन्त्रों के द्वारा यह ज्ञान दिया॥ २१ ॥[1]

अनुशीलन—(१) इस श्लोक के अर्थ पर वेद का प्रमाण देते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है—

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ (यजुः० ४०.८)

अर्थात् अनादि सनातन जीवरूप प्रजा के लिए वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है" (स०प्र० समु० ८)

(२) **सृष्टि के प्रारम्भ में नामकरण**—अभिप्राय है कि सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम वेदशब्दों के द्वारा ही मनुष्यों को नाम, कर्म, विभाग आदि का ज्ञान हुआ। परमात्मा ने वेदशब्दों में यह सब ज्ञान दिया। 'निर्ममे' से यहाँ भाव, नाम, कर्म, विभाग आदि का ज्ञान वेदशब्दों में अन्तर्निहित करके लोगों को अवगत कराने से है।

(३) **२१वें श्लोक के क्रम पर विचार**—प्रतीत होता है कि यह श्लोक मूलक्रम से खण्डित होकर आगे-पीछे हो गया है। इस श्लोक का किसी प्रक्षेप की प्रवृत्ति से या

---

१. **प्रचलित अर्थ**—हिरण्यगर्भ उसी ब्रह्मा ने सबों के नाम (यथा—'गो' जाति का 'गौ' और 'अश्व' जाति का 'अश्व') और कर्म (यथा—'ब्राह्मणों का वेदाध्ययन आदि, क्षत्रियों का वेदाध्ययन तथा रक्षण आदि) तथा लौकिक व्यवस्था (यथा—कुम्हार का घट आदि बनाना, बुनकर का कपड़ा बुनना, नापित का क्षौर करना आदि) को पहले वेद-शब्दों से ही जानकर पृथक्-पृथक् बनाये॥ २१ ॥

प्रक्षिप्त प्रसंग से कोई सम्बन्ध न होने के कारण इसे प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता। यह श्लोक क्रम की दृष्टि से २३वें (**अग्निवायुरविभ्यस्तु....**) के पश्चात् होना चाहिए। प्रसंग और क्रम की दृष्टि से वहीं ठीक बैठता है, क्योंकि वेदों की रचना होने के बाद ही उनसे नाम, कर्म आदि का ज्ञान होगा, पूर्व नहीं। वेदों की रचना का होना २३वें श्लोक में कहा जा रहा है और उनसे नाम आदि का निर्माण पहले ही वर्णित हो गया। इस प्रकार उचित क्रम नहीं बनता।

इसके अतिरिक्त वर्तमान प्रतियों में जो यह २१वें श्लोक के रूप में है, यहाँ पूर्वापर प्रसंग उत्पत्ति की प्रक्रिया का है; इस श्लोक से वह भंग हो रहा है। २०वें में सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया है, २२वें में उस प्रसंग का उपसंहार रूप में संक्षिप्त एकत्र कथन है। इन कथनों में वेदों के द्वारा नाम, कर्म आदि का ज्ञान होने का कथन करना असंगत है। इस क्रम में यह आपत्ति भी है। किन्तु इससे इसे प्रक्षिप्त नहीं समझ लेना चाहिए, यतो हि इस श्लोक का प्रक्षिप्त प्रसंग या प्रवृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। अत: यह स्थान-भ्रष्ट मात्र प्रतीत होता है।

(४) **२१वें श्लोक का संगत अर्थ**—कुल्लूकभट्ट आदि ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए व्यवस्थाओं के उदाहरण में—'कुम्हार का घड़ा बनाना, जुलाहे का कपड़ा बनाना' ये उदाहरण मनु की व्यवस्था के विरुद्ध दिये हैं। यहां व्यवस्थाओं से अभिप्राय है जैसे—चार वर्णों की व्यवस्था। इसे १.३१ में मनु ने कर्मानुसार परमात्मा-निर्मित माना है। इसी प्रकार राज्यव्यवस्था आदि भी हो सकती है। मनु ने केवल चार वर्णों को माना है। उनके मत में कुम्हार, जुलाहा आदि कोई जाति-उपजाति नहीं है, और न ही ये जातियाँ या उनके ये कार्य ईश्वर-रचित हैं। मनु के अनुसार तो 'शिल्पकार्य' वैश्य का कार्य है; चाहे वह किसी भी प्रकार का शिल्पकार्य करे वैश्य ही कहलायेगा; कुम्हार या जुलाहा नहीं। मनु की व्यवस्था के अनुसार जो व्यक्ति आज बर्तन बनाने का कार्य कर रहा है, वह कल कपड़े बनाने का कार्य भी कर सकता है, परसों कोई अन्य; फिर भी वह वैश्य ही कहलायेगा, कुम्हार या जुलाहा नहीं, क्योंकि मनु ने ऐसी जातियों और नामों का निर्धारण ही नहीं किया। जाति-उपजाति की कल्पनाएँ वर्णव्यवस्थाओं

की शिथिलता के पश्चात् कार्यरूढ़ि के आधार पर अवर समाज द्वारा की गई हैं। अतः उन्हें ईश्वररचित व्यवस्था मानकर मनु के श्लोक में उदाहरण-रूप में देना गलत एवं मनु की व्यवस्था के विरुद्ध है।

उपसंहार रूप में समस्त जगत् की उत्पत्ति का वर्णन—

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्॥ २२॥
(१४)

[इस प्रकार १.५-२० श्लोकों में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार] (**सः प्रभु**) उस परमात्मा ने (**कर्मात्मनां च देवानाम्**) कर्म ही स्वभाव है जिनका ऐसे सूर्य, अग्नि, वायु आदि देवों के (**प्राणिनाम्**) मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सामान्य प्राणियों के (**च**) और (**साध्यानाम्**) साधक कोटि के विशेष विद्वानों के (**गणम्**) समुदाय को [१.२३ में वर्णित] (**च**) तथा (**सनातनं सूक्ष्मं यज्ञम् एव**) सृष्टि-उत्पत्ति काल से प्रलय काल तक निरन्तर प्रवाहमान सूक्ष्म संसार अर्थात् महत् अहंकार पञ्चतन्मात्रा आदि सूक्ष्म रूपमय और सूक्ष्मशक्तियों से युक्त संसार को (**असृजत्**) रचा॥ २२॥[1]

अनुशीलन—(१) **२२वें श्लोक का संगत अर्थ**—कुल्लूकभट्ट आदि टीकाकारों ने '**साध्य**' का अर्थ '**सूक्ष्मम्**' विशेषण को उसके साथ जोड़कर 'सूक्ष्म देवयोनि-विशेष' किया है। यह मिथ्या कल्पना मात्र है, क्योंकि मनुष्यों से भिन्न कोई देवयोनि जगत् में नहीं होती। १.४३-४९ श्लोकों में मनु ने सभी योनिगत प्राणियों का दिग्दर्शन कराया है। उनमें ऐसी कोई योनि उल्लिखित नहीं है। इस प्रकार की कल्पना मनु के उक्त श्लोकों के विरुद्ध जाती है। वस्तुतः, मनुस्मृति में जहाँ कहीं भी प्राणियों में देव, ऋषि, पितर आदि का उल्लेख आता है, वे मनुष्यों के स्तरविशेष हैं। योग्यता एवं स्तरविशेषानुसार ये मनुष्यों

---

१. **प्रचलित अर्थ**—उस ब्रह्मा ने देव (इन्द्रादि), कर्मस्वभाव, प्राणी, अप्राणी पत्थर आदि, साध्यगण और सनातन यज्ञ (अग्निष्टोम आदि की सृष्टि की॥ २२॥]

की ही संज्ञाएं हैं।

(२) **'सूक्ष्मम्' का अर्थ**—यहाँ **'सूक्ष्मम्'** विशेषण को भी साध्यों के साथ जोड़ना संगत नहीं है। सृष्टि-उत्पत्ति-प्रक्रिया का वर्णन करने के उपरान्त उस सम्पूर्ण प्रसंग का इस श्लोक में उपसंहार किया है, और एकत्र रूप में यह संकेत दिया है कि इस प्रकार परमात्मा ने जड़-चेतन, सूक्ष्म और स्थूल, विशेष और सामान्य आदि विभिन्न रूपों में समस्त संसार को रचा है।

(३) **'साध्यों' से अभिप्राय**—यहाँ प्राणियों से पृथक् साध्यों की पृथक् से गणना उनकी विशिष्टता की ओर इंगित करने के लिए की है। सृष्टि के प्रारम्भ में सभी प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं, उनमें साधक कोटि के विशिष्ट संस्कारी व्यक्ति भी होते हैं। मनुस्मृति के श्लोक में इस शब्द को समझने के लिए साध्यकोटि के व्यक्तियों में जैसे अग्नि, वायु, रवि आदि ऋषियों का नाम उद्धृत किया जा सकता है। ये भी साधक कोटि के अत्यन्त विशिष्ट संस्कारी जीव थे। तभी तो अनेक मनुष्यों में केवल इन्हीं को वेदज्ञान प्रकट करने का श्रेय मिला। निरुक्तकार ने **'ऋषि'** शब्द के निर्वचन के प्रसंग में आचार्य औपमन्यव के मत का उल्लेख करते हुए इन तपस्वी साधकों को तपस्या में लीन रहने की साधना के परिणामस्वरूप वेदज्ञान की प्राप्ति का कथन किया है। उससे इनके साध्यकोटि के व्यक्ति होने की बात और पुष्ट हो जाती है। तथा—

''ऋषिः दर्शनात्। स्तोमान् ददर्श इति औपमन्यवः। तद्यदेनांस्तपस्यामानान्ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते।'' (नि० २.३.१२)

अर्थात् वेदमन्त्रों का अर्थ-दर्शन करने से ऋषि होता है, ऐसा औपमन्यव का मत है। प्रारम्भिक अग्नि आदि ऋषियों को तपस्या करते हुए अपौरुषेय वेदों का साक्षात्कार हुआ, अतः वे ऋषि प्रसिद्ध हुए।

इन तपस्वी साधकों को साधना में लीन रहते हुए वेदज्ञान-प्राप्ति होने की चर्चा ब्राह्मणग्रन्थों में भी आती है—

(अ) **''तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त, अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः।''** (शत० ११.५.२.३)

(आ) **''अजान्ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभू-अभ्यानर्षत्तदृषयोऽभवन्।''** (तै०आ० २.८)

अगले ही श्लोक में मनु ने भी इनका उल्लेख किया है। इस साधक कोटि में अन्य अनेक व्यक्तियों को भी माना जाता है। इसमें कुछ अन्य प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(इ) ''**साध्याः देवाः, साधनात्**'' (निरुक्त १२.४०)

(ई) ''**साध्याः नाम देवाः (=विद्वांसः) आसन्**''

(ताण्ड्य ब्रा० ८.३.५)

इस प्रकार 'साध्य' का अर्थ 'साधक कोटि के विद्वान् विशेष' ही है। और मनुस्मृति की भी अन्तःसाक्षी है—''**पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः**'' (१२.४९) अर्थात् जो मध्यम सत्त्वगुणी जीव हैं, वे पितर व साध्य=कार्यसिद्धि के लिए सेवन करने योग्य अध्यापकादि का जन्म पाते हैं। वेदों का ज्ञान देने वाले प्रारम्भिक ऋषि भी संसार के प्रथम अध्यापक=शिक्षक थे।

साध्यकोटि के विद्वानों का वर्णन और सृष्टि के प्रारम्भ में साध्यकोटि के व्यक्तियों के उत्पन्न होने का उल्लेख वेद के पुरुषसूक्त में भी आता है—

(उ) ''**यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**'' (यजुः० ३१.१६)

(ऊ) ''**तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।**
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥''

(यजुः० ३१.९)

(ए) ''**यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।**''

(यजुः० ३१.१४)

''जो ब्रह्माण्ड का रचन-पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है, उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं। पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ है।'' (ऋ०भा० भू०, सृष्टिविद्या विषय)

(४) **यज्ञ का व्यापक अर्थ और वेदों का उद्देश्य**—इसी प्रकार प्रचलित टीकाओं में किया गया यज्ञ शब्द का अर्थ भी संकुचित है। इस श्लोक में यज्ञ शब्द का 'हवन' यह सीमित अर्थ न होकर व्यापक अर्थ 'जगत्' है। इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियाँ दी जा सकती हैं—(क) मनु ने केवल होम-सम्पादन के लिए ही वेदों की उत्पत्ति नहीं स्वीकार की है, अपितु संसार के समस्त ज्ञान-विज्ञान, धर्म, व्यवहार आदि की सिद्धि के लिए वेदों की उत्पत्ति मानी है। मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर उन्होंने ऐसे आशय दिये हैं। कुछ प्रमाणों से यह बात पुष्ट हो जाएगी।

(अ) १२.९७ में चारों वर्णों, आश्रमों एवं तीनों कालों का ज्ञान वेदों से ही माना है।

(आ) शब्द, स्पर्श आदि सूक्ष्म शक्तियों की वैज्ञानिक सिद्धि वेदों द्वारा ही मानी है। (१२.९८)

(इ) संसार के समस्त व्यवहारों का सर्वोत्तम साधकग्रन्थ वेद को कहा है। (१२.९९)

(ई) १२.९४ में वेद को पितृ, देव, मनुष्यों का 'चक्षु' अर्थात् धर्म-अधर्म, ज्ञान-विज्ञान आदि का दर्शानेवाला कहा है।

(उ) इसी प्रकार राजनीति की शिक्षा देने वाला (७.४३; १२.१००) शास्त्र भी वेद ही है।

(ऊ) वेद सभी धर्मों का स्रोत एवं आधार है। (२.६-१५)

(ए) १.२१ में वेदों के द्वारा ही संसार के समस्त पदार्थों का नामकरण, विभाग, कर्मनिर्धारण करना यह सिद्ध करता है कि वेदों की उत्पत्ति केवल होम-सम्पादन के लिए ही नहीं, अपितु जगत् में समस्त ज्ञानात्मक सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए है।

(ऐ) १.३ में वेदों को सब सत्यविद्याओं का विधान करने वाला ग्रन्थ कहना, अथवा जगत् का संविधान और समस्त व्यवहारों का साधक ग्रन्थ कहना भी वेदों की उपयोगिता को व्यापक सिद्ध करता है।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वेदों की उपयोगिता के विषय में मनु की व्यापक दृष्टि है, यदि उसे केवल होम तक ही सीमित किया जायेगा तो उक्त मान्यताओं से उस का विरोध आयेगा। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि १.२३ में प्रयुक्त '**यज्ञ-सिद्ध्यर्थम्**' पद का अर्थ भी 'होमसिद्धि के लिए' न होकर 'जगत् के समस्त व्यवहारों, धर्मों और ज्ञान-विज्ञान की सिद्धि के लिए' अथवा 'जगत् की सिद्धि के लिए' यह अर्थ होगा। इसी प्रकार यहाँ भी यज्ञ का व्यापक अर्थ 'जगत्' ही ग्रहण होगा। इसमें दोनों श्लोकों की यह सुसंगति भी बन जाती है कि 'परमात्मा ने संसार को रचा (१.२२) और उस संसार की सिद्धि के लिए अथवा संसार में समस्त ज्ञानात्मक सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए

वेदों को रचा (१.२३)।' (ख) पुरुषसूक्त (यजुः० ३१) में भी इसी शैली में ब्रह्माण्डरूपी यज्ञ की उत्पत्ति का वर्णन है। यज्ञ के 'जगत्' अर्थ में निम्न प्रमाण हैं—
(ओ) "**यज्ञो वै भुवनम्**" (तै०सं० ३.३.७.५)
(औ) "**विराट् (संसारः) वै यज्ञः**" (श० १.१.१.२२)
(अं) "**वैराजः यज्ञः**" (गो०पू० ५.२४; गो०उ० ६.१५)

(ग) यहाँ '**यज्ञम्**' के साथ '**सनातनम्**' विशेषण का प्रयोग भी 'जगत्' अर्थ का पोषक है। क्योंकि, यज्ञ की क्रिया के रूप में सनातनता कभी नहीं हो सकती, अतः यह विशेषण हवन अर्थ में जुड़ता ही नहीं। न जुड़ने के कारण टीकाकारों ने खींचातानी करके इसे जोड़ने का प्रयास किया कि—'वेदोक्त कर्म होने से अथवा कल्पान्तर में भी यज्ञों का व्यवहार होने के कारण यज्ञ सनातन हैं।' लेकिन इस प्रकार तो सभी वेदोक्त क्रियाएँ सनातन हैं, यज्ञों की ही उनसे क्या विशिष्टता होगी? अतः यह प्रयास निष्फल ही है। इसके अतिरिक्त मनु ने १.५७ में 'सनातन' के बिल्कुल पर्यायवाची शब्द के रूप में '**अजस्त्रम्**' (**सञ्जीवयति चाजस्त्रम्**) विशेषण का प्रयोग 'जगत्' के लिए किया है, जो यहाँ भी यज्ञ के साथ 'सनातनम्' शब्द का प्रयोग 'जगत्' अर्थ का पोषक है।

वेदों का आविर्भाव—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ २३॥
(१५)

उस परमात्मा ने (**यज्ञसिद्ध्यर्थम्**) जगत् में समस्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि व्यवहारों की सिद्धि के लिए अथवा जगत् की सिद्धि अर्थात् जगत् के समस्त रूपों के ज्ञान के लिए [यज्ञे जगति प्राप्तव्या सिद्धिः यज्ञसिद्धिः, अथवा यज्ञस्य सिद्धिः यज्ञसिद्धिः] (**अग्निः-वायु-रविभ्यः तु**) अग्नि, वायु और रवि नामक ऋषियों से अर्थात् उनके माध्यम से क्रमशः (**ऋग्यजुः सामलक्षणं त्रयं सनातनं ब्रह्म**) ऋग्=ज्ञान, यजुः=कर्म, साम=उपासना रूप त्रिविध ज्ञान वाले ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद नामक नित्य वेदों को

(दुदोह) दुहकर प्रकट किया॥ २३॥[1]

ऋषि-अर्थ—''जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा से ऋग्, यजु, साम और अथर्व का ग्रहण किया।'' (स०प्र० समु० ७) (अन्य व्याख्यात ऋ०भा०भू०, वेदोत्पत्ति०)

अनुशीलन—(१) प्रस्तुत श्लोक में यज्ञ शब्द का 'जगत्' अर्थ है। इसकी पुष्टि के लिए १.२२ की समीक्षा देखिए।

(२) **वेदोत्पत्ति विषयक वेदादि के प्रमाण**—महर्षि मनु ने अपनी स्मृति का मूलस्रोत वेदों को माना है। वे वेदों को अपौरुषेय मानकर इस श्लोक में परमेश्वर से ही वेदोत्पत्ति मानते हैं। मनु ने यह मान्यता वेदों से ही ग्रहण की है। देखिए स्वयं वेद भी इस मान्यता को वर्णित कर रहे हैं—

(क) **तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।**
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥
(यजुः० ३१.७)

अर्थ—उस सच्चिदानन्दस्वरूप, सब स्थानों में परिपूर्ण, जो सब मनुष्यों द्वारा उपास्य और सब सामर्थ्य से युक्त है, उस परब्रह्म से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और छन्दांसि=अथर्ववेद ये चारों वेद उत्पन्न हुए।

(आ) **यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।**
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमःस्विदेव सः॥
(अथर्व० १०.४.२०)

अर्थ—जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, उसी से (**ऋचः**) ऋग्वेद (**यजुः**) यजुर्वेद (**सामानि**) सामवेद (**आङ्गिरसः**) अथर्ववेद, ये चारों उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद

---

१. **प्रचलित अर्थ**—उस ब्रह्मा ने यज्ञों की सिद्धि के लिए अग्नि, वायु और सूर्य से नित्य ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को क्रमशः प्रकट किया॥ २३॥

लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान, और ऋग्वेद प्राण के समान है (**ब्रूहि कतमःस्विदेव सः**) चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौन-सा देव है ? उसको तुम मुझसे कहो, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि (**स्कम्भं तम्**) जो सब जगत् का धारणकर्त्ता परमेश्वर है, उसका नाम स्कम्भ है, उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो।

(ऋ०भा०भू० वेदोत्पत्ति विषय)

ब्राह्मण ग्रन्थों ने भी इस मान्यता को यथावत् स्वीकार किया है—

(इ) **एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्।**
यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥

(शत० १४.५)

अर्थात् उस महान् शक्तिशाली परमात्मा के निश्वास रूप में प्रकट ये चारों वेद हैं, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अङ्गिरा से प्रकट अथर्ववेद के नाम से प्रसिद्ध हैं।

(ई) **तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त, अग्नेर्ऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात्सामवेदः।**" (श० ११.५.२.३)

अर्थात् उन तपस्वी ऋषियों के माध्यम से परमात्मा ने अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद इस प्रकार त्रयीविद्यारूप वेद प्रकट किये।

(३) **वेदोत्पत्ति की मान्यता का अन्यत्र वर्णन**—मनु ने वेदों को अपौरुषेय माना है, जैसा कि इस श्लोक में वर्णन है। अपनी इस मान्यता की पुष्टि मनु ने अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर की है, द्रष्टव्य हैं—१.३, २१, ११.२६४-२६५, १२.९४ श्लोक।

धर्म-अधर्म, सुख-दुःख आदि का विभाग—

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः॥ २६॥

(१६)

(**च**) और फिर (**कर्मणां विवेकार्थम्**) कर्मों के विवेचन के लिए (**धर्म-अधर्मौ**) धर्म-अधर्म का (**व्यवेचयत्**) विभाग किया (**च**) तथा (**इमाः प्रजाः**) इन प्रजाओं को (**सुखदःखादिभिः द्वन्द्वैः**) सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों [=दो विरोधी गुणों या अवस्थाओं के जोड़ों] से (**अयोजयत्**) संयुक्त

किया ॥ २६ ॥

अनुशीलन—धर्म-अधर्म के विभाग की चर्चा निम्न वेदमन्त्र में आती है। वही भाव यहाँ मनु ने ग्रहण किया है—''**दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः**''

(यजुः० १९.७७)

(**प्रजापतिः**) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है सो (**सत्यानृते**) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है (**व्याकरोत्**) उनको ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक-ठीक विचार से देखके सत्य और झूठ को अलग-अलग किया है। (ऋ०भा०भू०, वेदोक्तधर्म विषय)

सूक्ष्म से स्थूल के क्रम से सृष्टि का वर्णन—

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः॥ २७॥

(१७)

(**दशार्धानां तु**) दश के आधे अर्थात् पांच महाभूतों की ही (**याः**) जो (**विनाशिन्यः**) विनाश-शील अर्थात् अपने अहंकार कारण में लीन होकर नष्ट होने के स्वभाव वाली (**अण्व्यः मात्राः स्मृताः**) सूक्ष्म तन्मात्राएँ कही गई हैं (**ताभिः**) उनके (**सार्धम्**) साथ अर्थात् उनको मिलाकर ही (**इदं सर्वम्**) यह समस्त संसार (**अनुपूर्वशः**) क्रमशः—सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से स्थूलतर, स्थूलतर से स्थूलतम के क्रम से (**सम्भवति**) उत्पन्न होता है॥ २७॥

अनुशीलन—**२७वें श्लोक के क्रम पर विचार**—प्रतीत होता है कि मूलप्रति में खण्डित हो जाने के कारण यह श्लोक स्थानभ्रष्ट हो गया है। प्रसंग और क्रम की दृष्टिसे यह १९वें के पश्चात् होना चाहिए—(क) ''**कर्मणां च विवेकार्थम्**'' इस श्लोक के पश्चात् इसका कोई क्रम नहीं जुड़ता। यहाँ प्रसंग को भंग करता है। (ख) भूतों और तन्मात्राओं की उत्पत्ति और उनसे जगत् की उत्पत्ति का क्रम तथा प्रसंग १९वें तक पूर्ण हो जाता है। इस दृष्टि से भी यहाँ संगत है। (ग) २०वें श्लोक में '**एषाम्**' कहकर तन्मात्राओं व पञ्चभूतों का ही वर्णन है। इस प्रयोग से यह संकेत मिलता है कि उससे पूर्व तन्मात्राओं के वर्णन का श्लोक होना चाहिए, जो प्रचलित पाठ में नहीं है। और

इस प्रसंग में ऐसा और कोई दूसरा श्लोक है नहीं, जिसमें पञ्चतन्मात्राओं का वर्णन हो। यही एक श्लोक ऐसा है जिसमें पञ्चतन्मात्राओं का वर्णन है। इस प्रकार २०वें श्लोक के '**एषाम्**' पद से प्राप्त होने वाले एक श्लोक के अभाव का संकेत और इस श्लोक का २७वीं संख्या पर असंगत होना, ये दोनों बातें इस श्लोक का उपयुक्त स्थान १९वें के पश्चात् नियत करती हैं। अतः यह इसी क्रम से रखा जाना चाहिए। इसके मूल में प्रक्षेप की कोई भी प्रेरक-प्रवृत्ति न होने के कारण इसे प्रक्षिप्त नहीं माना है।

जीवों का कर्मों से संयोग—

यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥ २८॥
(१८)

(**सः प्रभुः**) उस परमात्मा ने (**प्रथमम्**) सृष्टि के आरम्भ में (**यं तु**) जिस प्राणी को (**यस्मिन् कर्मणि**) जिस कर्म में (**न्ययुङ्क्त**) लगाया (**पुनः पुनः**) प्रत्येक सृष्टि-उत्पत्ति समय में [१.८०] (**सः**) वह फिर (**सृज्यमानः**) उत्पन्न होता हुआ अर्थात् जन्म धारण करता हुआ (**तदेव**) उसी कर्म को ही (**स्वयम्**) अपने आप (**भेजे**) प्राप्त करने लगा॥ २८॥

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्॥ २९॥
(१९)

(**हिंस्र+अहिंस्रे**) हिंसा [सिंह, व्याघ्र आदि का] अहिंसा [मृग आदि का] (**मृदु-क्रूरे**) दयायुक्त और कठोरतायुक्त (**धर्म+अधर्मौ**) धर्म तथा अधर्म (**अनृत-ऋते**) असत्य और सत्य (**यस्य**) जिस प्राणी का (**यत्**) जो कर्म (**सर्गे**) सृष्टि के प्रारम्भ में (**सः अदधात्**) उस परमात्मा ने धारण कराना था (**तस्य तत्**) उस को वही कर्म (**स्वयम्**) परमात्मा की व्यवस्था से अपने आप ही (**आविशत्**) प्राप्त हो गया॥ २९॥

अनुशीलन—जगदुत्पत्ति-प्रयोजन एवं कर्म-फल—सृष्टि के आरम्भ में प्राणियों के कर्मों की भिन्नता के कारण और जगत्-रचना के प्रयोजन पर प्रकाश डालते

हुए महर्षि-दयानन्द लिखते हैं—

''**प्रश्न**—जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—.......प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के किये पाप-पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता है, और जीव क्योंकर भोग सकते थे ?'' (स०प्र०समु० ८)

''**प्रश्न**—ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंह आदि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण, गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि कृमि, कीट, पतंग आदि जन्म दिये हैं; इससे परमात्मा में पक्षपात आता है ?

उत्तर—पक्षपात नहीं आता, क्योंकि उन जीवों के पूर्व सृष्टि में किये हुए कर्मानुसार व्यवस्था करने से जो कर्म के विना जन्म देता तो पक्षपात आता।'' (स०प्र०समु० ८)

यथर्तुलिंगान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः॥ ३०॥
(२०)

(**यथा**) जैसे (**ऋतवः**) ऋतुएं (**ऋतुपर्यये**) ऋतु-परिवर्तन होने पर (**स्वयम्+एव**) अपने आप ही (**ऋतुलिंगानि**) अपने-अपने ऋतुचिह्नों—जैसे, वसन्त आने पर कुसुम-विकास, आम्रमञ्जरी आदि को (**अभिपद्यन्ते**) प्राप्त करती है (**तथा**) उसी प्रकार (**देहिनः**) देहधारी प्राणी भी (**स्वानि स्वानि कर्माणि**) अपने-अपने कर्मों को प्राप्त करते हैं अर्थात् अपने-अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं॥ ३०॥

चार वर्णों की व्यवस्था का निर्माण—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरूपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥ ३१॥
(२१)

[फिर उस परमात्मा ने] (**लोकानां तु**) प्रजाओं अर्थात् समाज की (**विवृद्ध्यर्थम्**) विशेष वृद्धि= शान्ति, समृद्धि एवं प्रगति के लिए (**मुखबाहु-ऊरू-पादतः**) मनुष्यों के मुख, बाहु, जंघा और पैर के गुणों की तुलना के अनुसार क्रमशः (**ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं च शूद्रम्**) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण को

(**निरवर्तयत्**) निर्मित किया, अर्थात् सामाजिक चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का निर्धारण किया॥ ३१ ॥[१]

अनुशीलन—(१) **चातुर्वर्ण्यव्यवस्था का निर्माण वेदों से**—वेद में पुरुषसूक्त में चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन आया है। मनु ने इस श्लोक में ठीक उसी प्रकार वर्णों की उत्पत्ति दर्शायी है। इन मन्त्रों से मनु का भाव और स्पष्ट हो जाता है तथा ब्रह्मा के अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति की भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाता है। जैसा कर्मों-गुणों के आधार पर आलंकारिक वर्णन वेद में है, वैसा ही मनुस्मृति में है। मन्त्र निम्न हैं—

(अ) **यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।**
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते॥
(यजुः० ३१.१०)

(**यत्पुरुषं०**) पुरुष उसको कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है (कतिधा व्य०) जिसके सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि उसमें चित्रविचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है, अनेक कल्पनाओं से जिसका कथन करते हैं (**मुखं किमस्यासीत्**) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है (**किं बाहू**) बल वीर्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से किसकी उत्पत्ति हुई है (**किमूरू**) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किसकी उत्पत्ति होती है? (**पादा उच्येते**) सबको वहन करने आदि गुणों से किसकी उत्पत्ति होती है। इन चारों प्रश्नों के उत्तर ये हैं कि—

(आ) **ब्रह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।**
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(यजु० ३१.११)

(**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या, सत्यभाषण आदि उत्तम गुण और श्रेष्ठकर्मों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है (**बाहू राजन्यः कृतः**) और ईश्वर ने बल-पराक्रम आदि

---

१. **प्रचलित अर्थ**—लोक-वृद्धि के लिए ब्रह्मा ने मुख, बाहु, ऊरू और पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की॥ ३१ ॥

पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है (**ऊरू तदस्य०**) खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्य वर्ण सिद्ध होता है (**पद्भ्यां शूद्रो०**) जैसे पग सबसे नीच अङ्ग है वैसे मूर्खता आदि नीच[१] गुणों से शूद्रवर्ण सिद्ध होता है।'' (ऋ०भा०भू०, सृष्टिविद्या विषय)

(२) इस आलंकारिक वर्णन की पुष्टि के लिए वेदों के व्याख्यानग्रन्थ ब्राह्मणों के प्रमाण भी उपलब्ध हैं। निम्न वचनों में ब्राह्मण वर्ण को समाज या मनुष्यों का मुखरूप बताया है, मुख से उत्पन्न हुआ नहीं—

(इ) **ब्राह्मणो मनुष्याणां मुखम्।** (तां० १.६.१)

ब्राह्मण वर्ण मनुष्यों का मुख है।

(ई) **अस्य सर्वस्य ब्राह्मणो मुखम्।** (श० ३.९.१.१४)

इस समाज या जगत् का ब्राह्मण वर्ण मुखरूप है अर्थात् सर्व प्रमुख एवं दायित्व वाला है।

(३) **वर्णोत्पत्ति-विषयक भ्रान्त कल्पना**—इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कुल्लूकभट्ट आदि ने एक अत्यन्त अविश्वसनीय कल्पना की है, और उसे उसी प्रकार के अन्धविश्वास से पुष्ट किया है। उन्होंने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—'ब्रह्मा ने अपने मुख से ब्राह्मण को पैदा किया, बाहुओं से क्षत्रिय को, जंघाओं से वैश्य और पैर से शूद्र को पैदा किया है।' इस कल्पना पर कभी किसी का विश्वास न बने, शायद इसलिए उन्होंने यह वाक्य भी जोड़ा—''**दैव्या च शक्त्या मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिनिर्माणं ब्रह्मणो न विशङ्कनीयं श्रुतिसिद्धत्वात्। तथा च श्रुतिः—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**'' (ऋ० १०.९०.१२)। अर्थात्—ब्रह्मा के मुख आदि से ब्राह्मण आदि का निर्माण दिव्यशक्ति से हुआ है, इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह बात वेदों

---

१. यहाँ महर्षि दयानन्द द्वारा डेढ शती पूर्व प्रयुक्त 'नीच' शब्द 'उच्च' का विलोमार्थक है, जो संस्कृत 'निम्न' का पर्यायवाची है, यह आजकल की भाषा और व्यवहार में प्रयुक्त घृणार्थक 'नीच' अर्थ में नहीं है। इसका अर्थ है—'गुणों के अनुपात में निम्न गुणों वाला।' जैसे—नीची आवाज, ऊंची आवाज; नीचा स्थान, ऊंचा स्थान; नीचे की ओर, ऊपर की ओर; नीचा पर्वत, ऊंचा पर्वत आदि प्रयोग।

से सिद्ध है, वेद में कहा है—'ब्राह्मण इस परमात्मा का मुख हुआ।' वस्तुतः यहाँ आलंकारिक वर्णन है, जिसका अर्थ इस प्रकार बनता है कि परमात्मा ने मुख, बाहु, जंघा और पैर के गुणों के साम्य के अनुसार क्रमशः चारों वर्णों का निर्माण किया है। जैसे—७.४ में इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, चन्द्र आदि आठ वस्तुओं के अंश से राजा का निर्माण होना कहा है। स्पष्ट है कि इनसे राजा की रचना नहीं हो सकती, किन्तु आलंकारिक रूप में यहाँ राजाओं में इनके गुणों का होना अभिप्रेत है। ठीक उसी प्रकार यहाँ भी गुणों के साम्य के आधार पर वर्णों की रचना का कथन है। कुल्लूक ने जिस पद को प्रमाण रूप में दिया है उसका अर्थ भी 'उत्पन्न होना' नहीं बनता, अपितु आलंकारिक रूप में 'ब्राह्मण मुखस्थानीय रूप में था, यह अर्थ ही संगत होता है। दिव्य शक्ति भी अपनी एक निश्चित प्रक्रिया में काम करती है। दिव्य शक्ति होने का अभिप्राय यह नहीं कि वह सृष्टिक्रम-विरुद्ध रूप में कुछ भी कर डाले, अतः कुल्लूक आदि का यह विश्वास भी बुद्धिसंगत नहीं है।

शैली और प्रसंग के अनुसार भी यदि विचार किया जाये तो इसका आलंकारिक ही अर्थ बनता है और उक्त टीकाकारों का अर्थ असंगत सिद्ध होता है—(क) सृष्टि-उत्पत्ति क्रम में १.१६, १९, २२ में मनुष्यादि प्राणियों की उत्पत्ति का होना कहा जा चुका है और उसके पश्चात् ऋषियों से वेदज्ञान की प्रकटता (१.२३), प्रजाओं की सुख-दुःखादि से संयुक्ति (१.२६) आदि भी दिखायी जा चुकी है, फिर दोबारा उत्पत्ति कैसी? (ख) मनुस्मृति में ब्रह्मा की उत्पत्ति का प्रसंग प्रक्षिप्त है, अतः उसका नाम जोड़कर अर्थ करना भी उचित नहीं (इसके लिए १.७-१३ पर समीक्षा देखिए) परमात्मा सूक्ष्म, अव्यय होने से शरीर धारण नहीं करता, अतः उसके मुखादि की कल्पना भी नहीं हो सकती, उनसे उत्पत्ति आदि की कल्पना का तो फिर प्रश्न ही नहीं। (ग) यदि ब्रह्मा के माध्यम से यह उत्पत्ति मानी जाये, तो उस प्रसङ्ग से भी यह कल्पना सिद्ध नहीं होती, यतो हि, ब्रह्मा के प्रसङ्ग में सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम—'ब्रह्मा से विराट्, विराट् से मनु और मनु से अन्य सृष्टि'—[१.३२-४१] इस रूप में उल्लिखित है। उससे भी अनेक प्रकार से विरोध आता है—(घ) मनु की

उत्पत्ति बाद में हुई दर्शायी गई है और ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति पहले ही दिखा दी। (ङ) जब उक्त ब्रह्मा की वंश-परम्परा से सारी सृष्टि की उत्पत्ति मानी है, तो ब्राह्मण आदि पहले ही क्यों और किससे पैदा हुए? (च) यदि ब्राह्मण आदि को पहले उत्पन्न कर दिया था तो फिर विराट्, मनु आदि की उत्पत्ति की ब्रह्मा को क्या आवश्कता थी? सृष्टि तो उन्हीं से चल जाती। (छ) यदि मुख आदि से ब्राह्मण आदि की रचना मानें तो फिर 'विराट् को भी क्यों न किसी अंग से बनाया? उनके जन्म के लिए पहले स्त्री-रचना की क्यों आवश्यकता हुई? (१.३२)। इस प्रकार अनेक युक्तियों से कुल्लूकभट्ट और उनके अनुसरणकर्त्ताओं की कल्पना गलत और असंगत सिद्ध होती है, अतः आलंकारिक अर्थ ही मनु-अभिप्रेत है और यहाँ वर्णस्थ व्यक्तियों की नहीं अपितु वर्णों की उत्पत्ति प्रदर्शित है।

प्राणियों की उत्पत्ति का प्रकार—

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम्।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि॥ ४२॥
(२२)

(**इह**) इस संसार में (**येषां भूतानाम्**) जिन मनुष्यों का=वर्णस्थ मनुष्यों का (**यादृशं कर्म**) जैसा कर्म (**कीर्तितम्**) वेदों में कहा है (**तत्**) उसे (**तथा**) वैसे ही (१.८७-९१) (**च**) और (**जन्मनि**) उत्पन्न होने में (**क्रमयोगम्**) जीवों की जो एक निश्चित प्रक्रिया रहती है, उसे (**वः**) आप लोगों को (**अभि-धास्यामि**) कहूँगा॥ ४२॥

अनुशीलन—४२वें श्लोक की शैली एवं अर्थ पर विचार—(१) सृष्टि-उत्पत्ति का प्रसंग समाप्त होकर वह प्रसंग कर्मों के वर्णन की ओर चला गया था, किन्तु सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें अभी शेष रह गई थीं, जिनसे अवगत कराना, मनु को आवश्यक लगा। इसलिए वे प्रसंग को बदलकर पुनः सृष्टि-उत्पत्ति पर लाये हैं, जिससे शेष अग्रिम बातों की जानकारी दे सकें। पहले उस प्रसंग को बदलने का संकेत कर दिया है। मनु की यह एक शैली है कि जब भी वे कोई भिन्न प्रसंग शुरू करते हैं, उसका संकेत देते हैं। इस कारण प्रसंग-भिन्नता का दोष नहीं

आता। (२) यहाँ '**कीर्तितम्**' से 'वेदों में कहा है' यह भाव अभिप्रेत है। १.३, २१, ८७ श्लोकों से यह पुष्ट होता है। इन श्लोकों में मनु ने यह भाव प्रकट किया है कि—परमात्मा ने जो भी कर्म आदि बनाये, उनका ज्ञान वेदों के द्वारा करवाया। यहाँ वेदों में कहे कर्मों को ही मनु बतायेंगे, यतो हि १.३ में मनु को '**कार्यतत्त्वार्थवित्**' कह कर उनसे वेदों द्वारा प्रतिपादित धर्म-अधर्मों को ही जानने की इच्छा प्रकट की थी। (३) '**क्रमयोगम्**' से यहाँ क्रमानुसार अर्थ लेना उचित नहीं है। जीवों के उत्पन्न होने में जो एक निश्चित प्रकार की प्रक्रिया या कालावधि रहती है, जैसे—मनुष्यादि जरायुज से पैदा होते हैं, पक्षी, सर्प आदि अण्डों से, इत्यादि। यहाँ '**क्रमयोगं च जन्मनि**' का इसी से अभिप्राय है।

जरायुज-जीव—

पशवश्च मृशाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः॥ ४३॥
(२३)

(**पशवः**) ग्राम्यपशु गौ आदि (**मृगाः**) अहिंसक वृत्ति वाले वन्यपशु हिरण आदि (**च**) और (**उभयोदतः व्यालाः**) दोनों ओर दांत वाले हिंसक वृत्ति वाले पशु सिंह, व्याघ्र आदि (**च**) तथा (**रक्षांसि**) राक्षस (**पिशाचाः**) पिशाच (**च**) तथा (**मनुष्याः**) मनुष्य (**जरायुजाः**) ये सब 'जरायु' अर्थात् झिल्ली से पैदा होने वाले हैं॥ ४३॥

अनुशीलन—राक्षस और पिशाच का लक्षण ३.३३, ३४ श्लोकों की समीक्षा में द्रष्टव्य है।

अण्डज-जीव—

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च॥ ४४॥
(२४)

(**पक्षिणः**) पक्षी (**सर्पाः**) सांप (**नक्राः**) मगरमच्छ (**मत्स्याः**) मछलियाँ (**च**) तथा (**कच्छपाः**) कछुए (**च**) और (**यानि**) अन्य जो (**एवं प्रकाराणि**) इस प्रकार के (**स्थलजानि**) भूमि

पर रहने वाले (**च**) और (**औदकानि**) जल में रहने वाले जीव हैं, वे सब (**अण्डजाः**) '**अण्डज**' अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होने वाले हैं ॥ ४४ ॥

स्वेदज-जीव—

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किञ्चिदीदृशम्॥४५॥
(२५)

(**दंशमशकम्**) डंक से काटने वाले डांस और मच्छर आदि (**यूका**) जूँ (**मक्षिक**) मक्खियाँ (**मत्कुणम्**) खटमल (**यत् च अन्यत् किञ्चित् ईदृशम्**) जो और भी कोई इस प्रकार के जीव हैं, जो (**ऊष्मणः**) ऊष्मा अर्थात् सीलन और गर्मी से (**उपजायन्ते**) पैदा होते हैं, वे सब (**स्वेदजम्**) '**स्वेदज**' अर्थात् पसीने या सीलन से उत्पन्न होने वाले कहाते हैं ॥ ४५ ॥

अनुशीलन—संस्कृत के शब्दकोशों के अनुसार, और जैसा कि इस श्लोक से भी ज्ञात होता है, यहाँ 'स्वेद' शब्द का अर्थ व्यापक है। प्राकृतिक पदार्थों में उत्पन्न क्लिन्नता=सीलन या तापयुक्त सीलन, प्राणियों के शरीर से उत्पन्न पसीना और नवमेघ कृत सेचन, ये सब 'स्वेद' कहलाते हैं। इन स्वेदरूपों से श्लोकोक्त तथा अन्य बहुत से लघु जीव उत्पन्न होते हैं। वे सब '**स्वेदज**' कहलाते हैं।

उद्भिज्ज जीव और ओषधियाँ—

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥
(२६)

(**बीजकाण्डप्ररोहिणः**) बीज और शाखा-खण्ड से उत्पन्न होने वाले (**सर्वे स्थावराः**) सब स्थावर जीव [एक स्थान पर टिके रहने वाले] वृक्ष आदि (**उद्भिज्जाः**) '**उद्भिज्ज**'—भूमि को फाड़कर उगने वाले कहाते हैं। इनमें—(**फलपाकान्ताः**) फल आने पर पककर सूख जाने वाले और (**बहुपुष्पफलोपगाः**) जिन पर बहुत फूल-फल लगते हैं। (**ओषध्यः**) वे '**ओषधि**' कहलाते हैं ॥ ४६ ॥

वनस्पति तथा वृक्ष—

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः॥ ४७॥
(२७)

(**ये अपुष्पाः फलवन्तः**) जिन पर बिना फूल आये ही फल लगते हैं, (**ते**) वे (**वनस्पतयः स्मृताः**) '**वनस्पतियाँ**' कहलाती हैं। [जैसे—बड़=वट, पीपल, गूलर आदि] (**च**) और (**पुष्पिणः फलिनः एव**) फूल लगकर फल लगने वाले (**उभयतः**) दोनों से युक्त होने के कारण (**वृक्षाः**) वे उद्भिज्ज स्थावर जीव '**वृक्ष**' कहलाते हैं॥ ४७॥

गुल्म, गुच्छ, तृण, प्रतान तथा बेल—

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च॥ ४८॥
(२८)

(**विविधम्**) अनेक प्रकार के (**गुच्छ**) जड़ से गुच्छे के रूप में बनने वाले 'झाड़' आदि (**गुल्मम्**) एक जड़ से अनेक भागों में फूटने वाले 'ईख' आदि (**तथैव**) उसी प्रकार (**तृणजातयः**) घास की सब जातियाँ, (**बीजकाण्डरुहाणि**) बीज और शाखा से उत्पन्न होने वाले (**प्रतानाः**) उगकर फैलने वाली 'दूब' आदि (**च**) और (**वल्ल्यः**) उगकर किसी का सहारा लेकर चढ़ने वाली बेलें (**एव**) ये सब स्थावर भी '**उद्भिज्ज**' कहलाते हैं॥ ४८॥

वृक्षों में अन्तश्चेतना—

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥ ४९॥
(२९)

(**कर्महेतुना**) पूर्वजन्मों के बुरे कर्मफलों के कारण (**बहुरूपेण तमसा**) बहुत प्रकार के अज्ञान आदि तमोगुण से (**वेष्टिताः**) आवेष्टित=घिरे हुए या भूरपूर (**एते**) ये स्थावर जीव (४६-४८) (**सुख-दुःख-समन्विताः**) सुख और दुःख के भावों से संयुक्त हुए (**अन्तःसंज्ञाः भवन्ति**) आन्तरिक चेतना वाले होते हैं।

अर्थात् इनके भीतर चेतना तो होती है, किन्तु चर प्राणियों के समान बाहरी क्रियाओं में प्रकट नहीं होती। अत्यधिक तमोगुण के कारण चेतना और भावों का प्रकटीकरण नहीं हो पाता है ॥ ४९ ॥

अनुशीलन—वृक्षों की चेतनता पर विचार—मनु ने यहाँ वृक्षादि में चेतना तो स्वीकार की है, किन्तु वह चेतना, बाह्यरूप में प्रकट होने वाली न होकर केवल आन्तरिक मानी है। दूसरी बात यह है कि ये अत्यधिक तमोगुण से वेष्टित हैं।

यद्यपि सुख-दु:ख के भावों से युक्त चेतना इनमें है, किन्तु तमोगुणाधिक्य के कारण उनकी प्रकटता इनमें नहीं है। जैसे मूर्च्छित प्राणी में चेतना होते हुए भी सुख-दु:ख का ज्ञान नहीं होता। अत: वृक्षों के साथ सुख-दु:ख का व्यवहार नहीं होता है। सुख-दु:ख की अनुभूति उसी को होती है जो पञ्चेन्द्रियों से संयुक्त होता है, और उन इन्द्रियों के साथ उनके विषय का सम्बन्ध होता है, अन्यथा नहीं। सांख्यदर्शन में कहा है—

पञ्चावयवयोगात्सुखसंवित्तिः ॥ ५.२७ ॥

''जब पांचों इन्द्रियों का पांच विषयों के साथ सम्बन्ध होता है, तभी सुख वा दु:ख की प्राप्ति जीव को होती है। जैसे बधिर को गाली प्रदान, अन्धे को रूप वा आगे से सर्प, व्याघ्रादि भयदायक जीवों का चला जाना, शून्य बहिरी वालों को स्पर्श, पिन्नस रोग वाले को गन्ध और शून्य जिह्वा वाले को रस प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार उन जीवों की भी व्यवस्था है।'' (स०प्र० समु० १२)

इसी प्रकार वृक्षों को पीड़ा की अनुभूति नहीं होती और इसी कारण वृक्षों के काटने आदि में हिंसा तथा हिंसाजन्य पाप नहीं होता। पाप न होने में दूसरा कारण यह भी है कि उनके फल आदि का भक्षण करना ईश्वरीय व्यवस्था है और ईश्वरीय व्यवस्था के पालन में कभी पाप नहीं होता। उस व्यवस्था का कोई विकल्प भी नहीं है।

परमात्मा की जाग्रत एवं सुषुप्ति अवस्थाएँ—

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ ५२ ॥

(**यदा**) जब (**सः देवः**) वह परमात्मा [१.६ में वर्णित] (**जागर्ति**) जागता है अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति के लिए प्रवृत्त होता है (**तदा**) तब (**इदं जगत् चेष्टते**) यह [१.४२-४९ में वर्णित] समस्त संसार चेष्टायुक्त [प्रकृति से समस्त विकृतियों की उत्पत्ति पुनः प्राणियों का श्वास-प्रश्वास चलना आदि चेष्टाओं से युक्त] होता है, (**यदा**) और जब (**शान्तात्मा**) यह शान्त आत्मा वाला सभी कार्यों से शान्त होकर (**स्वपिति**) सोता है अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति, स्थिति के कार्य से निवृत्त हो जाता है (**तदा**) तब (**सर्वम्**) यह समस्त संसार (**निमीलति**) प्रलय को प्राप्त हो जाता है॥५२॥

परमात्मा की सुषुप्ति अवस्था में जगत् की प्रलयावस्था—

तस्मिन्स्वपिति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति॥५३॥
(३१)

(**सुस्थे**) सृष्टि-कर्म से निवृत्त हुए (**तस्मिन् स्वपिति तु**) उस परमात्मा के सोने पर (**कर्मात्मानः**) कर्मों—श्वास-प्रश्वास, चलना-सोना आदि कर्मों में लगे रहने का स्वभाव है जिनका, ऐसे (**शरीरिणः**) देहधारी जीव भी (**स्वकर्मभ्यः, निवर्तन्ते**) अपने-अपने कर्मों से निवृत्त हो जाते हैं (**च**) और (**मनः**) 'महत्' तत्त्व (**ग्लानिम्**) उदासीनता=सब कार्य-व्यापारों से विरत होने की अवस्था को या अपने कारण में लीन होने की अवस्था को (**ऋच्छति**) प्राप्त करता है॥५३॥

अनुशीलन—मन शब्द से यहाँ 'महत्तत्त्व' अर्थ अभिप्रेत है। इसकी पुष्टि के लिए १.१४-१५ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि।
तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः॥५४॥
(३२)

(**तस्मिन् महात्मनि**) उस सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय में (**यदा**) जब (**युगपत् तु प्रलीयन्ते**) एक

साथ ही सब प्राणी चेष्टाहीन होकर लीन हो जाते हैं (**तदा**) तब (**अयं सर्वभूतात्मा**) यह सब प्राणियों का आश्रयस्थान परमात्मा (**निर्वृतः**) सृष्टि-संचालन के कार्यों से निवृत्त हुआ-हुआ (**सुखं स्वपिति**) सुखपूर्वक सोता है ॥ ५४ ॥

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम्।
सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥
(३३)

(**सः अव्ययः**) वह अविनाशी परमात्मा (**एवम्**) इस प्रकार [५१-५४ के अनुसार] (**जाग्रत्-स्वप्नाभ्याम्**) जागने और सोने की अवस्थाओं के द्वारा (**इदं सर्वं चर-अचरम्**) इस समस्त जड़-चेतन जगत् को क्रमशः (**अजस्रं सञ्जीवयति**) प्रलयकाल तक निरन्तर जिलाता है (**च**) और फिर (**प्रमापयति**) कारण में लीन करता है अर्थात् प्रलय करता है ॥ ५७ ॥

अनुशीलन—मान्यता एवं भावसाम्य के लिए इसकी पुष्टि में १२.११८-१२५ श्लोक भी द्रष्टव्य हैं।

निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त और दिन-रात का काल-परिमाण—

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥
(३४)

(**दश च अष्टौ च**) दश और आठ मिलाकर अर्थात् अठारह (**निमेषाः**) निमेषों [=पलक झपकने का समय] की (**काष्ठा**) एक काष्ठा होती है (**ताः त्रिंशत्तु**) उन तीस काष्ठाओं की (**कला**) एक कला होती है (**त्रिंशत्कलाः**) तीस कलाओं का (**मुहूर्त्तः स्यात्**) मुहूर्त्त [४८ मिनट का] होता है, और (**तावतः तु**) उतने ही अर्थात् ३० मुहूर्त्तों के (**अहोरात्रम्**) एक दिन-रात होते हैं ॥ ६४ ॥

अनुशीलन—(१) **प्राचीन काल-परिमाण की आधुनिक काल परिमाणों से तुलना**—आधुनिक काल-विभाग के अनुसार इस समय को निम्न प्रकार बांटा जा

सकता है—८/४५ सैकेण्ड का निमेष, ३.१/५ सैकेण्ड की १ काष्ठा, १ मिनट ३६ सैकण्ड की कला, ४८ मिनट का १ मुहूर्त्त और २४ घण्टे के एक दिन-रात होते हैं।

(२) **६४वें श्लोक की शैली पर विचार**—यहाँ पाठकों को यह शंका हो सकती है कि जब मनु की शैली किसी भी विषय और प्रसंग के प्रारम्भ, अन्त अथवा दोनों स्थानों पर उसका संकेत देने की है, तो यह काल-प्रमाण का प्रसंग बिना संकेत के क्यों प्रारम्भ कर दिया गया? इसके उत्तर में स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा कि यह सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बद्ध प्रसंग है, जो पूर्व श्लोकों से वर्णित चला आ रहा है। ५२-५७ श्लोकों में परमात्मा की जाग्रत और सुषुप्ति अवस्थाओं की प्रसंग से चर्चा की थी। उसी से यह कालप्रमाण का प्रसंग सम्बद्ध है। वे श्लोक इसकी भूमिकावत् हैं। आलंकारिक वर्णन करते समय सृष्टिकाल को परमात्मा की जाग्रत अवस्था माना है और सुषुप्ति को प्रलय अवस्था। ये अवस्थाएँ दिन और रात की अपेक्षा रखती हैं, अतः परमात्मा का दिन कितना और रात कितनी होती है, यह बतलाना आवश्यक हुआ। उसे ही कहने के लिए प्रारम्भ में मानुष-दिन-रात का वर्णन करते हुए (६४-६५) ६८वें श्लोक में परमात्मा के दिन-रात का वर्णन करने का संकेत दे दिया है, और ७३वें श्लोक में इस चर्चा को समाप्त किया है। इस प्रकार इन श्लोकों के प्रसंग की कड़ी सुनिश्चित क्रम के पूर्वापर प्रसंगों से जुड़ी हुई है।

सूर्य द्वारा दिन-रात का विभाग—

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः॥ ६५॥

(३५)

(**सूर्यः**) सूर्य (**मानुष-दैविके**) मानुष=मनुष्य आदि प्राणियों के और दैवी=देवों के (**अहोरात्रे**) दिन-रातों का (**विभजते**) विभाग करता है, उनमें (**भूतानां स्वप्नाय रात्रिः**) मनुष्य आदि प्राणियों के सोने के लिए 'रात' है और (**कर्मणां चेष्टायै अहः**) कामों के करने के लिए 'दिन' होता है॥ ६५॥

दैवी दिन-रात उत्तरायण-दक्षिणायन—

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम्॥ ६७॥
(३६)

(**वर्षम्**) मनुष्यों का एक वर्ष (**दैवे रात्रि-अहनी**) एक दैवी 'दिन-रात' मिलकर होते हैं (**तयोः पुनः प्रविभागः**) उन दैवी 'दिनरात' का भी फिर विभाग है—(**तत्र+उदगयनम् अहः**) उसमें सूर्य की भूमध्य रेखा से उत्तर की ओर स्थिति अर्थात् 'उत्तरायण' 'दैवी-दिन' कहलाता है, और 'दक्षिणायन' 'दैवी-रात' है॥ ६७॥

अनुशीलन—(१) **उत्तरायण-दक्षिणायन का विवेचन**—इस श्लोक में दैवी दिन-रातों का वर्णन किया गया है। यहाँ देव शब्द से कोई लौकिक-अलौकिक प्राणिविशेष अभिप्रेत नहीं है, अपितु जड़-देवता सूर्य का आलंकारिक वर्णन है। ६५वें श्लोक में स्पष्ट शब्दों में सूर्य को मानुष और दैवी दिन-रातों का विभागकर्त्ता बतलाया गया है। उसी के क्रम से यहाँ उत्तरायण और दक्षिणायन रूपी दिन-रातों का वर्णन है। सूर्य के ये दोनों अयन छह-छह मास निम्न प्रकार से होते हैं—

१. उत्तरायण

१. भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर सूर्य की स्थिति का काल।
२. मकर रेखा से उत्तर कर्करेखा की ओर स्थिति का काल।
३. माघ, फाल्गुण, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़—इन छह मासों का समय।
४ शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतु का काल।

२. दक्षिणायन

१. भूमध्यरेखा से दक्षिण की ओर सूर्य की स्थिति का काल।
२. कर्करेखा से दक्षिण मकररेखा की ओर स्थिति का काल।
३. श्रावण, भाद्रपद, अश्विन, कार्तिक, आग्रहायण, (मार्गशीर्ष), पौष—इन छह मासों का समय।
४. वर्षा, शरद्, हेमन्त ऋतुओं का काल।

मानुष दिन उज्ज्वल एवं तीव्र प्रकाशमय होता है और

रात्रि अनुज्ज्वल एवं मन्द प्रकाश (तारे चन्द्र आदि का प्रकाश) वाली होती है। इसी प्रकार उत्तरायण के समय ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के प्रकाश और ताप में तीव्रता की अधिकता होती है, अतः यह 'अयन' दिन के समान है। दक्षिणायन के समय हेमन्त ऋतु में सूर्य के प्रकाश और ताप में स्वल्पता एवं मन्दता होती है, अतः वह अयन रात्रि के समान है। इस प्रकार दैवी दिन-रातों का आलंकारिक वर्णन है।

(२) सूर्य जड़ देवता है—निरुक्त में 'देव' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार दी है—"**देवो द्वानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा।**" (७.४.१५) अर्थात्—'दान देने वाले, प्रकाशित करने वाले, प्रकाशित होने वाले या द्युस्थानीय को देवता कहते हैं।' सूर्य द्युस्थानीय है और अपने प्रकाश से सब मूर्तिमान् द्रव्यों को प्रकाशित करता है, अतः देव या देवता है।

शतपथ ब्राह्मण में देवताओं पर प्रकाश डालते हुए जड़ और चेतन रूप में ३३ देवता परिगणित किये हैं। उनमें वसुसंज्ञक देवताओं में 'सूर्य' को भी परिगणित किया है—

'स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयत्रिंशत् इति? अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशत्' इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिशाविति।

कतमे वसव इति? अग्निश्च, पृथिवी च, वायुश्च, अन्तरिक्षं च, आदित्यश्च, द्यौश्च, चन्द्रमाश्च, नक्षत्राणि च, एते वसवः।

कतमे रुद्रा इति? दशेमे पुरुषे प्राणाः (प्राणः, अपानः, व्यानः, समानः, उदानः, नागः, कूर्म, देवदत्तः, धनञ्जयश्च) आत्मा-एकादशस्ते।

कतम आदित्या इति? द्वादश मासाः संवत्सरस्य एते आदित्याः।

कतम इन्द्रः, कतमः प्रजापतिरिति। स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति।

तदाहुः। यदयमेक इव पवते। कतम एको देव इति? स ब्रह्मेत्यादित्याचक्षते। (शत०कां० १४, प्रपा० १६)

(३) इसके अतिरिक्त दिव्यगुण और दिव्य कर्म वाले व्यक्ति भी देव कहाते हैं यथा—"**मातृदेवो भव,**

पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव।'' (तैत्तिरीयोपनिषद् प्रपा० १.११) देवों का देव महादेव अर्थात् परमात्मा है। इन सबको चेतन देव कहते हैं। [विस्तृत समीक्षा ३.८२ पर द्रष्टव्य है]।

ब्रह्म के दिन-रात का वर्णन—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत॥ ६८॥
(३७)

[मनु महर्षियों से कहते हैं कि] (**ब्राह्मस्य तु क्षपा+अहस्य**) ब्राह्म=ब्रह्म के रात-दिन का (**तु**) तथा (**एकैकशः युगानाम्**) एक-एक युगों का (**यत् प्रमाणम्**) जो कालपरिमाण है (**तत्**) उसे (**क्रमशः**) क्रमानुसार और (**समासतः**) संक्षेप से (**निबोधत**) सुनो॥ ६८॥

अनुशीलन—ब्राह्मदिन व ब्राह्मरात्रि का विशेष परिमाण (१.७२) में द्रष्टव्य है।

सत्ययुग का परिमाण—

चत्वार्याहुः सहस्त्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य यावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः॥
६९॥ (३८)

(**तत् चत्वारि सहस्त्राणि वर्षाणां कृतं युगम् आहुः**) उन दैवी [६७वें श्लोक में जिनके दिन-रातों का वर्णन है] चार हजार दिव्य वर्षों का एक 'सत्ययुग' कहा है। (**तस्य**) इस सत्ययुग की (**यावत्+शती सन्ध्या**) जितने दिव्य सौ वर्ष की अर्थात् ४०० वर्ष की 'सन्ध्या' होती है और (**तथाविधः**) उतने ही वर्षों का अर्थात् ४०० वर्षों का (**सन्ध्यांशः**) 'सध्यांश' का

दिव्यवर्ष+	संध्यावर्ष+	संध्यांशवर्ष	=	कुल दिव्यवर्ष,
४००० +	४०० +	४००	=	४८०० ×
३००० +	३०० +	३००	=	३६०० ×
२००० +	२०० +	२००	=	२४०० ×
१००० +	१०० +	१००	=	१२०० ×
१००००+	१०००+	१०००	=	१२०००×

समय होता है ॥ ६९ ॥

अनुशीलन—चार युगों का परिमाण—किसी भी युग के पूर्वसन्धिकाल को 'संध्या' और उत्तरसन्धि काल को 'संध्यांश' कहा जाता है। श्लोक के अनुसार सत्ययुग का कालपरिमाण—४०००+४०० (संध्यावर्ष)+४०० (संध्यांशवर्ष)=४८०० दिव्यवर्ष बनता है। इसे मानुषवर्षों में बदलने के लिए ३६० से गुणा करना पड़ेगा। इस प्रकार ४८००+३६०=१२७२८००० मानुष वर्षों का एक सत्ययुग होता है। त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का परिणाम—

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्त्राणि शतानि च॥ ७० ॥
(३९)

(**च**) और (**इतरेषु त्रिषु**) शेष अन्य तीन—त्रेता, द्वापर, कलियुगों में (**ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु**) 'सन्ध्या' नामक कालों में तथा 'संध्यांश' नामक कालों में (**सहस्त्राणि च शतानि एक-अपायेन**) क्रमशः एक-एक हजार और एक-एक सौ घटा देने से (**वर्तन्ते**) उनका अपना-अपना कालपरिमाण निकल आता है, अर्थात् ४८०० दिव्यवर्षों का सत्ययुग होता है, उसकी संख्या में से एक सहस्र वर्ष और उसकी संध्या वर्ष ४०० व संध्यांश वर्ष ४०० में से एक-एक सौ घटाने से ३००० दिव्यवर्ष+३०० संध्यावर्ष+३०० संध्यांश-वर्ष=३६०० दिव्यवर्षों का त्रेता युग होता है। इसी प्रकार वेता के कालमान में से द्वापर के कालमान में से १०००+१००+१०० घटाने पर एक हजार और एक सौ वर्ष दिव्यवर्षों का द्वापर और १०००+१००+ १००=१२०० दिव्यवर्षों का कलियुग होता है ॥ ७० ॥

गुणा करने से	मानुषवर्ष	युगनाम
३६० =	१७,२८,०००	सत्ययुग
३६० =	१२,९६,०००	त्रेतायुग
३६० =	८,६४,०००	द्वापरयुग
३६० =	४,३२,०००	कलियुग
३६० =	४३,२०,०००	एकचतुर्युगी

देवयुग का परिमाण—

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्त्रं देवानां युगमुच्यते॥ ७१॥(४०)

(**यद्+एतत्**) जो यह (**आदौ**) पहले [६९-७०में] (**चतुर्युगम्**) चारों युगों का (**परिसंख्यातम्**) कालपरिमाण गिनाया है (**एतद्**) यह (**द्वादश-साहस्त्रम्**) बारह हजार दिव्य वर्षों का काल [=मनुष्यों का एक चतुर्युगी का काल] (**देवानाम्**) देवताओं का (**युगम्**) एक 'युग' (**उच्यते**) कहा जाता है॥ ७१॥

अनुशीलन—चार युगों के परिमाण की तुलना तालिका—१२००० दिव्यवर्षों की एक चतुर्युगी होती है। उसे मानुष वर्षों में बदलने के लिए ३६० से गुणा करने पर १२०००×३६०=४३,२०,००० मानुष वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। दोनों श्लोकों के कालपरिमाण को तालिका के रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

ब्रह्म के दिन-रात का परिमाण—

दैविकानां युगानां तु सहस्त्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च॥ ७२॥(४१)

(**दैविकानां युगानाम् तु**) देवयुगों को (**सहस्त्रं परिसंख्यया**) हजार से गुणा करने पर जो काल-परिमाण निकलता है, जैसे—चार मानुषयुगों के दिव्य-वर्ष १२००० होते हैं, उनको हजार से गुणा करने पर १,२०,००,००० दिव्यवर्षों का (**ब्राह्मम्**) परमात्मा का (**एकं अहः**) एक 'दिन' (**च**) और (**तावतीं रात्रिम्**) उतने ही दिव्यवर्षों की उसकी एक 'रात' (**ज्ञेयम्**) समझनी चाहिए॥ ७२॥

अनुशीलन—चार मानुष युगों के दिव्यवर्ष—१२०००×१०००=१,२०,००,००० दिव्यवर्षों का ब्रह्म का एक दिन अथवा रात्रि हुई। यह १,२०,००,०००×३६०=४,३२,००,००,००० मानुषवर्षों का काल-परिमाण बनता है। चार अरब बत्तीस करोड़ मानुष वर्षों का सृष्ट्युत्पत्ति काल है, जो परमात्मा की जाग्रत अवस्था (सृष्टि में प्रवृत्त रहना) का दिन है। इतना ही काल सुषुप्ति

अवस्था (सृष्टिकार्यों से निवृत्त होकर प्रलय रखना) का रात्रि-काल है (यही १.५२-५७ श्लोकों में आलंकारिक रूप से वर्णित है)।

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ ७३॥
(४२)

जो लोग (**तत् युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यम्+ अहः**) उस एक हजार दिव्य युगों के परमात्मा के पवित्र दिन को (**च**) और (**तावतीम् एव रात्रिम्**) उतने ही युगों की परमात्मा की रात्रि को (**विदुः**) समझते हैं (**ते वै**) वे ही (**अहोरात्रविदः जनाः**) वास्तव में दिन-रात=सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय के काल-विज्ञान के वेत्ता लोग हैं॥ ७३॥

अनुशीलन—कालगणना पद्धति—महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में मनु के १.६८ से ७३ श्लोकों को उद्धृत करके वेदोत्पत्ति-काल के प्रसंग में काल गणना को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है। यह कालगणना विक्रम संवत् १९३३ और ईसवी सन् १८७६ के अनुसार है—

प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं?

उत्तर—एक वृन्द छानवे करोड़ आठ लाख बावन हज़ार नव सौ छहत्तर अर्थात् (१,९६,०८,५२,९७६) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं और यह संवत् सतहत्तरवाँ वर्त्त रहा है।

प्रश्न—यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं।

उत्तर—यह जो वर्तमान सृष्टि है, इसमें सातवें (७) वैवस्वत मनु का वर्त्तमान है, इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं। स्वायम्भुव १, स्वारोचिष २, औत्तमि ३, तामस ४, रैवत ५, चाक्षुष ६, ये छः तो बीत गये हैं और सातवाँ वैवस्वत वर्त्त रहा है और सावर्णि आदि ७ मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ मन्वन्तर होते हैं। और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है। सो उसकी गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख, अट्ठाईस हज़ार वर्षों का नाम सतयुग रक्खा है।

(१२९६०००) बारह लाख छानवे हज़ार वर्षों का नाम त्रेता, (८६४०००) आठ लाख चौंसठ हज़ार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख बत्तीस हज़ार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है। तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है। और इन चारों युगों के (४३२००००) तियालीस लाख, बीस हज़ार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है। एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हज़ार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है, और ऐसे-ऐसे छह मन्वन्तर मिलकर अर्थात् (१,८४,०३,२०,०००) एक अरब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हज़ार वर्ष हुए, और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हज़ार, नव सौ, छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४,२७,०२४) चार लाख, सत्ताईस हजार, चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है। जानना चाहिए कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़, पाँच लाख, बत्तीस हज़ार, नव सौ, छहत्तर वर्ष तो वैवस्वतमनु के भोग हो चुके हैं और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़, एकसठ लाख, सतासी हज़ार, चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इनमें से यह वर्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवाँ है, जिसको आर्य लोग विक्रम का (१९३३) उन्नीस सौ तैतीसवाँ संवत् कहते हैं।

जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं, उन एक हज़ार चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा रक्खी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जाननी चाहिए। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इसको बना रखता है, इसी का नाम 'ब्राह्मदिन' रक्खा है, और हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटा के प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है उसका नाम 'ब्राह्मरात्रि' रक्खा है। अर्थात् सृष्टि के वर्त्तमान होने का नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है। यह जो वर्त्तमान ब्राह्मदिन है इसके (१९६०८५२९७६) एक अरब, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हज़ार, नव सौ, छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में व्यतीत हुए हैं, और

(२,३३,३२,२७,०२४) दो अरब, तैतीस करोड़, बत्तीस लाख, सत्ताईस हज़ार, चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं। इनमें से अन्त का यह चौबीसवाँ वर्ष भोग रहा है। आगे आने वाले भोग के वर्षों में से एक-एक घटाते जाना और गत वर्षों में क्रम से एक-एक वर्ष मिलाते जाना चाहिए, जैसे आज पर्यन्त घटाते बढ़ाते आये हैं।

(ऋ०भा०भू०, वेदोत्पत्तिविषय)

सुषुप्तावस्था से जागने पर सृष्टि-उत्पत्ति का प्रारम्भ—

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम्॥ ७४॥

(४३)

(**सः प्रसुप्तः**) वह प्रलय-अवस्था में सोया हुआ-सा [१.५२-५७] परमात्मा (**तस्य अहर्निशस्य+अन्ते**) उस [१.६८-७२] दिन-रात के बाद (**प्रतिबुध्यते**) जागता है=सृष्ट्युत्पत्ति में प्रवृत्त होता है (**च**) और (**प्रतिबुद्धः**) जागकर (**सद्-असद्+आत्मकम्**) जो कारणरूप में विद्यमान रहे और जो विकारी अंश से कार्यरूप में अविद्यमान रहे, ऐसे स्वभाव वाले (**मनः**) '**महत्**' नामक प्रकृति के आद्यकार्यतत्त्व की (**सृजति**) सृष्टि करता है॥ ७४॥

अनुशीलन—(१) यहाँ सृष्टि-उत्पत्ति का नया प्रसंग प्रारम्भ नहीं किया गया है, अपितु पूर्वोक्त प्रसंग में [१.१४-१६] तत्त्वों की उत्पत्ति के साथ भूतों की उत्पत्ति-प्रक्रिया का वर्णन नहीं हो पाया था, उसी शेष वर्णन को यहाँ विस्तार से दर्शाया है। '**तस्य**' प्रयोग इसको पूर्वप्रसंग से सम्बद्ध कर रहा है।

(२) इस श्लोक में मन का अर्थ 'महत्तत्त्व' है, जो सृष्टि-उत्पत्ति में प्रकृति का प्रथम कार्य है। इसकी पुष्टि के लिए विस्तृत समीक्षा १.१४-१५ के अनुशीलन में देखिए।

सूक्ष्म पञ्चभूतों की उत्पत्ति के क्रम में आकाश की उत्पत्ति—

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः॥ ७५॥

(४४)

(**सिसृक्षया**) सृष्टि को रचने की इच्छा से फिर

वह परमात्मा (**मनः सृष्टिं विकुरुते**) महत्तत्त्व की सृष्टि को विकारी भाव में लाता है अर्थात् अहंकार के रूप में उत्पन्न करता है (**तस्मात्**) फिर उस 'अहंकार' के विकारी अंश से (**चोद्यमानम्**) प्रेरित हुआ-हुआ (**आकाशं जायते**) 'आकाश' उत्पन्न होता है। (**तस्य**) उस आकाश का (**गुणं शब्दं विदुः**) गुण 'शब्द' को मानते हैं॥ ७५॥

वायु की उत्पत्ति—

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः॥ ७६॥
(४५)

(**आकाशात् तु विकुर्वाणात्**) उस आकाश के विकारोत्पादक अंश से (**सर्वगन्धवहः**) सब गन्धों का वहन करने वाला (**शुचिः**) शुद्ध और (**बलवान्**) शक्तिशाली (**वायुः**) 'वायु' (**जायते**) उत्पन्न होता है (**सः वै**) वह वायु निश्चय से (**स्पर्शगुणः**) 'स्पर्श' गुणवाला (**मतः**) माना गया है॥ ७६॥

अग्नि की उत्पत्ति—

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णुः तमोनुदम्।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते॥ ७७॥(४६)

(**वायोः+अपि**) उस वायु के भी (**विकुर्वाणात्**) विकारोत्पादक अंश से (**विरोचिष्णुः**) उज्ज्वल (**तमोनुदम्**) अन्धकार को नष्ट करने वाली (**भास्वत्**) प्रकाशक (**ज्योतिः+उत्पद्यते**) 'अग्नि' उत्पन्न होती है (**तत्+रूप गुणम्+उच्यते**) उसका गुण '**रूप**' कहा है॥ ७७॥

जल और पृथिवी की उत्पत्ति—

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणा स्मृताः।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः॥ ७८॥
(४७)

(**च**) और (**ज्योतिषः विकुर्वाणात्**) अग्नि के विकारोत्पादक अंश से (**रसगुणाः आपः स्मृताः**) 'रस' गुण वाला जल उत्पन्न होता है और (**अद्भ्यः**)

जल से (**गन्धगुणा भूमिः**) 'गन्ध' गुण वाली भूमि उत्पन्न होती है (**इति+एषा सृष्टिः+आदितः**) यह इस प्रकार प्रारम्भ (१.१४) से लेकर यहाँ तक वर्णित सृष्टि उत्पन्न होने की प्रक्रिया है ॥ ७८ ॥

अनुशीलन—७५ से ७८ तक के श्लोकों की प्रक्रिया को और स्पष्ट रूप से समझने के लिए १.१६ पर 'अनुशीलन' में संख्या १ समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

मन्वन्तर के काल-परिमाण—

यत्प्राग्द्वादशसाहस्त्रमुदितं दैविकं युगम्।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते॥ ७९ ॥ (४८)

(**प्राक्**) पहले श्लोकों में [१.७१] (**यत्**) जो (**द्वादशसाहस्त्रम्**) बारह हजार दिव्यवर्षों का (**दैविकं युगम्+उदितम्**) एक 'देवयुग' कहा है (**तत्+एक-सप्ततिगुणम्**) उससे इकहत्तर गुणा समय अर्थात् १२०००×७१=८,५२,००० दिव्यवर्षों का अथवा ८,५२,००० दिव्यवर्ष × ३६०=३०,६७,२०,००० मानुष-वर्षों का (**इह मन्वन्तरम् उच्यते**) यहाँ एक 'मन्वन्तर' का कालपरिमाण माना गया है ॥ ७९ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥(४९)

(**परमेष्ठी**) वह सबसे महान् परमात्मा (**असंख्यानि मन्वन्तराणि**) असंख्य 'मन्वन्तरों' को (**सर्गः**) सृष्टि-उत्पत्ति (**च**) और (**संहारः एव**) प्रलय को (**क्रीडन् इव**) खेलता हुआ-सा (**पुनः पुनः**) बार-बार (**कुरुते**) करता रहता है ॥ ८० ॥

अनुशीलन—सृष्टि प्रवाह से अनादि कैसे ?

प्रश्न—कभी सृष्टि का प्रथमारम्भ है, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है, इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे सृष्टि, [यह] अनादिकाल से चक्र चला आता है। इसका आदि वा अन्त नहीं, किन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ और अन्त देखने में आता है, उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय

का आदि-अन्त होता रहता है; क्योंकि जैसे परमात्मा, जीव, जगत् का कारण, ये तीन स्वरूप से अनादि हैं, वैसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं। जैसे, नदी का प्रवाह वैसा ही दीखता है, कभी सूख जाता, कभी

मनुप्रोक्त काल-परिमाण की तालिव

पलक गिरने का समय	१ निमेष
१८ निमेष	१ काष्ठा
३० काष्ठा	१ कला
३० कला	१ मुहूर्त्त
३० मुहूर्त्त	१ दिनरात
१५ दिनरात	१ पक्ष (मानव)
२ पक्ष	१ मास (मानव)
६ मास	१ अयन (मानव (उत्तरायण या दक्षिणा
२ अयन (१२ मास)	१ वर्ष (मानव)
३६० दिनरात (दिव्य)	३६० वर्ष (मानव)
४००० दिव्यवर्ष ×३६०	= १४,४०,००० मानव
४०० ,, ,,	= १,४४,००० ,,
४०० ,, योग ,,	= १,४४,००० ,,
४८०० ,, ,,	= १७,२८,००० ,,
३,००० ,, ,,	= १०,८०,००० ,,
३०० ,, ,,	= १,०८,००० ,,
३०० ,, योग ,,	= १,०८,००० ,,
३,६०० ,, ,,	= १२,९६,००० ,,
२,००० ,, ,,	= ७,२०,००० ,,
२०० ,, ,,	= ७२,००० ,,
२०० ,, योग ,,	= ७२,००० ,,
२,४०० ,, ,,	= ८,६४,००० ,,
१,००० ,, ,,	= ३,६०,००० ,,
१०० ,, ,,	= ३६,००० ,,
२०० ,, ,,	= ३६,००० ,,
१,२०० ,, योग ,,	= ४,३२,००० ,,
१२,००० दिव्यवर्ष × ३६०	= ४३,२०,००० ,,
१२,००० × ७१ ,, × ३६०	= ३०,६७,२०,०००

नहीं दीखता, फिर बरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता, ऐसे व्यवहारों को प्रवाहरूप जानना चाहिये। (स०प्र०समु० ८)

का (श्लोक १.६४ से १.८० तक वर्णित)

८/४५ सैकेण्ड
३.१/५ सैकेण्ड
१ मिनट ३६ सैकेण्ड
४८ मिनट या दो घड़ी
२४ घण्टे या ६० घड़ी

१ दिन या रात (दिव्य)
यन)
१ दिन-रात (दिव्य)
१ वर्ष (दिव्य)

वर्ष	सत्ययुग का प्रमुखकाल-परिमाण
	सत्ययुग का सन्ध्याकाल
	सत्ययुग का सन्ध्यांशकाल
	सत्ययुग का पूर्ण काल-परिमाण
	त्रेता का प्रमुख काल-परिमाण
	त्रेता का सन्ध्याकाल
	त्रेता का सन्ध्यांशकाल
	त्रेता का पूर्ण काल-परिमाण
	द्वापर का प्रमुख काल-परिमाण
	द्वापर का सन्ध्याकाल
	द्वापर का सन्ध्यांशकाल
	द्वापर का पूर्ण काल-परिमाण
	कलि का प्रमुख काल-परिमाण
	कलि का सन्ध्याकाल
	कलि का सन्ध्यांशकाल
	कलि का पूर्ण काल-परिमाण
	एक चतुर्युगी (मानव) का समय या देवों का एक युग
,,	एक मन्वन्तर का समय

१,२०,००,०००   ,,   × ३६० = ४,३२,००,००,०००
  (१००० दिव्य युग)
२,४०,००,००० दिव्यवर्ष ×३६० = ८,६४,००,००,०००

चारों वर्णों के कर्मों का निर्धारण—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरूपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्॥ ८७॥
(५०)

(**अस्य सर्वस्य सर्गस्य**) इस [५-८० पर्यन्त श्लोकों में वर्णित] समस्त संसार की (**गुप्त्यर्थम्**) गुप्ति अर्थात् सुरक्षा, व्यवस्था एवं समृद्धि के लिए (**सः महाद्युतिः**) महातेजस्वी परमात्मा ने (**मुख-बाहू-उरु-पद्-जानाम्**) मुख, बाहु, जंघा और पैर के गुणों की तुलना से निर्मित वर्णों के अर्थात् क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के (**पृथक् कर्माणि+ अकल्पयत्**) पृथक्-पृथक् कर्म वेदों के माध्यम से [२.२१] निर्धारित किये॥ ८७॥

अनुशीलन—'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति कर्मणा वर्णव्यवस्था की सूचक—(क) मनु ने वेदों के आधार पर वर्णव्यवस्था का विधान किया है। ऋग्० १०.९०.११-१२ और यजुः० ३१.१०-११ में जो वर्णव्यवस्था प्रदर्शित की है, मनु ने उसी को यथावत् प्रस्तुत किया है। यह व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा है। इस श्लोक में और १.३१ में भी यह स्पष्ट किया है कि समाज में चारों वर्णों का निर्माण मुख, बाहु, ऊरू और पैर के गुणों की तुलना के अनुसार हुआ है, और तदनुसार ही कर्मों का निर्धारण किया है (१.८८-९१)। जो व्यक्ति जिन-जिन कर्मों का पालन करेगा, वह उस-उस वर्ण का अधिकारी होगा। (विस्तृत विश्लेषण के लिए १.३१ की अनुशीलन समीक्षा और १.९२-१०७, २.११-१३, १०.६५ की अन्तर्विरोध शीर्षक समीक्षा द्रष्टव्य है)।

(ख) स्वयं 'वर्ण' शब्द इस व्यवस्था को कर्माधारित व्यवस्था सिद्ध करता है। निरुक्त में वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति दी है—**'वर्णो वृणोतेः'** (२.१.४) अर्थात् कर्मानुसार

,, ब्रह्म का एक दिन या एक रात का काल-परिमाण अर्थात् सृष्टि की समयावधि या प्रलय की समयावधि।
,, ब्रह्म का एक दिनरात का काल अर्थात् एक सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय की कुल कालावधि

जिसका वरण किया जाये वह 'वर्ण' है। इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

''**वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद् वरणीया वरीतुमर्हाः गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः।**'' (ऋ०भा०भू० वर्णाश्रमधर्मविषय)

अर्थात्—'गुण-कर्मों को देखकर यथायोग्य अधिकार जिसको दिया जावे, वह 'वर्ण' है।' किसी भी कुल में उत्पन्न बालक या व्यक्ति किसी भी वर्ण की दीक्षा-शिक्षा ले सकता है और उस वर्ण के गुण-कर्म ग्रहण करके उस वर्ण का कहला सकता है।

(ग) वर्णों के नामों की व्युत्पत्ति से भी वर्णों के कर्मों का बोध होता है। वर्णनाम में जो भाव है, वही उस वर्ण का प्रमुख कर्म है। उन कर्मों को अपनाने से ही व्यक्ति उस वर्ण का अधिकारी बनता है। (विस्तृत विश्लेषण १.८८-९१) श्लोकों के अनुशीलन में देखिए)।

ब्राह्मण वर्णस्थों के कर्म—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ ८८॥
(५१)

(**ब्राह्मणानाम्**) ब्राह्मण वर्ण को धारण करने वाले मनुष्यों के लिए (**अध्ययनम्, अध्यापनम्**) पढ़ना-पढ़ाना (**तथा**) तथा (**यजन याजनम्**) यज्ञ करना-कराना, (**दानं च प्रतिग्रहः एव**) श्रेष्ठों को और श्रेष्ठ कार्यों में दान देना [४.१८७-१९६, २२७] और लेना, ये छह कर्म (**अकल्पयत्**) निर्धारित किये हैं॥ ८८॥

ऋषि-अर्थ—''(**एक**) निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें (**दो**)—पूर्ण विद्या पढ़ें, (**तीन**)—अग्निहोत्रादि यज्ञ करें, (**चार**)—यज्ञ करावें, (**पांच**)—विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें, (**छठा**)—न्याय से

धनोपार्जन करने वाले गृहस्थों से दान लेवें भी।''
''इनमें से तीन कर्म पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, धर्म में; और तीन कर्म पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका है। परन्तु—''**प्रतिग्रहः प्रत्यवरः**'' (मनु० १०.१०९)

जो दान लेना है, वह नीच कर्म है। किन्तु पढ़ाके और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है।'' (सं०वि०, गृहस्थप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र० समु० ४)

अनुशीलन—'ब्राह्मण' नाम कर्मणा वर्ण-व्यवस्था का सूचक—वर्णों के नामों की व्याकरणानुसारी रचना और व्युत्पत्ति से भी यह बात सिद्ध होती है कि मनु ने कर्मानुसार ही वर्णों का नामकरण किया है, और नामों से वर्णों के कर्मों का भी बोध होता है।'ब्रह्मन्' प्रातिपदिक से 'तदधीते तद्वेद' (अष्टा० ४.२.५९) अर्थ में 'अण्' प्रत्यय के योग से 'ब्राह्मण' शब्द बनता है। इसकी व्युत्पत्ति है—'**ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्य उपासनेन च सह वर्तमानो विद्यादि उत्तमगुणयुक्तः पुरुषः**' अर्थात् वेद और परमात्मा के अध्ययन और उपासना में तल्लीन रहते हुए विद्या आदि उत्तम गुणों को धारण करने से व्यक्ति 'ब्राह्मण' कहलाता है। मनु ने भी इन्हीं कर्मों को ब्राह्मण के प्रमुख कर्मों के रूप में वर्णित किया है।

ब्राह्मणग्रन्थों के वचनों में भी वर्णों के कर्मों का वर्णन पाया जाता है। निम्न वचनों में ब्राह्मण के कर्त्तव्य उद्दिष्ट हैं—
(अ) **आग्नेयो ब्राह्मणः** (तां० १५.४.८)। **आग्नेयो हि ब्राह्मणः** (काठ० २९.१०)

=यज्ञाग्नि से सम्बन्ध रखने वाला अर्थात् यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण होता है।

(आ) **ब्राह्मणो व्रतभृत्** (तै०सं० १.६.७.२)। **व्रतस्य रूपं यत् सत्यम्** (श० १२.८.२.४)।

=ब्राह्मण श्रेष्ठ व्रतों=कर्मों को धारण करने वाला होता है। सत्य बोलना व्रत का एक रूप है।

(इ) **गायत्रो वै ब्राह्मणः** (ऐ० १.२८)। **गायत्री यज्ञः** (गो०पू० ४.२४)। **गायत्री वै बृहस्पतिः** (तां० ५.१.१५)।

=ब्राह्मण गायत्र होता है। गायत्र वेद, यज्ञ और परमात्मा को कहते हैं।

क्षत्रिय वर्णस्थों के कर्म—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥८९॥

(५२)

(**प्रजानां रक्षणम्**) प्रजाओं की सभी प्रकार की रक्षा करना, (**दानम्**) दान देना, (**इज्या**) यज्ञ करना-करवाना, (**अध्ययनम्-एव**) और वेदादि शास्त्रों को पढ़ना (**च**) तथा (**विषयेषु-अप्रसक्तिः**) विषयों में आसक्त न रहकर जितेन्द्रिय रहना, (**क्षत्रियस्य समासतः**) ये संक्षेप से क्षत्रिय वर्ण धारण करने वाले मनुष्यों के कर्त्तव्य हैं॥८९॥

ऋषि अर्थ—"न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सबका पालन दान, विद्या धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना वा कराना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़ाना और विषयों में न फंसकर जितेन्द्रिय रहके सदा शरीर आत्मा से बलवान् रहना।" (स०प्र० समु० ४) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि० गृहाश्रम०)

अनुशीलन—**'क्षत्रिय' नाम कर्मणा वर्णव्यवस्था का सूचक**—(क) क्षणु—हिंसा अर्थ वाली (तनादि) धातु से 'क्तः' प्रत्यय के योग से 'क्षतः' शब्द की सिद्धि होती है और 'क्षत' उपपद में त्रैङ्=पालन करने अर्थ में (भ्वादि) धातु से **'अन्येष्वपि दृश्यते'** (अष्टा० ३.२.१०१) सूत्र से 'डः' प्रत्यय, पूर्वपदान्त्याकारलोप होकर 'क्षत्र' शब्द बना। 'क्षत्र एव क्षत्रियः' स्वार्थ में 'इयः' प्रत्यय होने से क्षत्रियः अथवा क्षत्रस्य-अपत्यं वा, 'क्षत्राद् घः' (अ० ४.१.१३८) सूत्र से जन्म लेने अर्थ में 'घः' प्रत्यय होकर क्षत्रिय शब्द बना। **'क्षदति रक्षति जनान् क्षत्रः'** जो जनता की रक्षा का कार्य करता है अथवा, **क्षण्यते हिंस्यते नश्यते पदार्थो येन स 'क्षतः'= घातादिः, ततस्त्रायते रक्षतीति क्षत्रः**=आक्रमण, चोट, हानि आदि से लोगों की रक्षा करने वाला होने से क्षत्रिय को 'क्षत्रिय'

कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में—**क्षत्रं राजन्यः** (ऐ० ८.२; ३.४) **क्षत्रस्य वा एतद्रूपं यद् राजन्यः** (श० १३.१.५.३)= क्षत्रिय '**क्षत्र**' का ही रूप है, जो प्रजा का रक्षक होता है।

(ख) यहाँ अपत्यार्थ में '**इय्**' आदेश के योग से क्षत्रिय आदि शब्द बनाने में यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या मनु जन्म के आधार पर वर्ण मानते हैं? इस शंका के निराकरण के लिए पुष्ट समाधान है। वंश केवल जन्म से ही नहीं अपितु विद्याजन्म से भी वंश चलता है। अष्टाध्यायी २.१.१९ में '**संख्यावंश्येन**' सूत्र में विद्या से जन्म माना है। मनुस्मृति २.११९-१२३ श्लोकों में स्पष्टतः विद्या के आधार पर जन्म माना है। इस प्रकार गुणग्राहिता, कार्यकारणभाव, विद्या के आधार पर भी अपत्य आदि सम्बन्ध होते हैं। जैसे सूर्य, वरुण आदि की कोई पत्नी, अपत्य आदि नहीं होते, किन्तु फिर भी कार्य-कारण और गुणग्राहिता आदि के आधार पर अदिति का पुत्र आदित्य, सूर्य की पत्नी-सूर्या आदि तथा वरुणानी, मैत्रावरुणः आदि प्रयोग होते हैं। विस्तृत चर्चा 'मनुस्मृति-अनुशीलन' में देखिए।

(ग) क्षत्रिय वर्ण के विस्तृत कर्त्तव्यों का वर्णन ७.१ से ९.२२५ श्लोकों में है।

वैश्य वर्णस्थों के कर्म—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ ९०॥
(५३)

(**पशूनां रक्षणम्**) पशुओं की सब प्रकार से रक्षा करना, (**दानम्**) श्रेष्ठों को और श्रेष्ठ कार्यों के लिए दान देना [४.१८७-१९६, २२७] (**इज्या**) यज्ञ करना-करवाना, (**च अध्ययनम्+एव**) और वेदादि शास्त्रों को पढ़ना (**वणिक्पथम्**) सब प्रकार का उत्तम व्यापार करना [९.३२६-३३३], (**च कुसीदम्**) और नियमानुसार ब्याज लेना [८.१४०], (**च**) और (**कृषिम्+एव**) खेती करना-करवाना, (**वैश्यस्य**) ये वैश्यवर्ण को धारण करने वाले व्यक्तियों के कर्त्तव्य हैं॥ ९०॥

ऋषि-अर्थ—''(**पशुरक्षा**) गाय आदि पशुओं

का पालन-वर्धन करना (**दानम्**) विद्या-धर्म की वृद्धि करने कराने के लिए धनादि का व्यय (**इज्या**) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (**अध्ययन**) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (**वणिक्पथ**) सब प्रकार के व्यापार करना (**कुसीद**) एक सैकड़े में चार, छह, आठ, बारह, सोलह वा बीस आनों से अधिक ब्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और न देना (**कृषि**) खेती करना (**वैश्यस्य**) ये वैश्य के कर्म हैं॥'' (स०प्र० समु० ४) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि० गृहाश्रम०)

''सवा रुपये सैकड़े से अधिक, चार आने से न्यून ब्याज न लेवे, न देवे। जब दूना धन आ जाये, उससे आगे कौड़ी न लेवे, न देवे। जितना न्यून ब्याज लेवेगा उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे। (सं०वि० गृहाश्रम०)

अनुशीलन—**'वैश्य' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक**—(क) **''विशः मनुष्यनाम''** (निघं० २.३) उससे भावार्थ में 'यत्', उससे स्वार्थ में 'अण्'। अथवा 'विश्' प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में 'यञ्' छान्दस प्रत्यय से 'वैश्य' शब्द बना। **''यो यत्र तत्र व्यवहारविद्यासु प्रविशति सः 'वैश्यः' व्यवहारविद्याकुशलः जनो वा''** =जो विविध व्यावहारिक व्यापारों में प्रविष्ट रहता है या विविध व्यावहारिक विद्याओं में कुशल जन 'वैश्य' होता है।

(ख) ब्राहमण ग्रन्थों में—**''एतद् वै वैश्यस्य समृद्धं यत् पशवः''** (तां० १८.४.६) **''तस्मादु बहुपशुर्वैश्वदेवो हि जागतो (वैश्यः)''** (तां० ६.१.१०)=पशुपालन से वैश्य की समृद्धि होती है, यह वैश्य का कर्त्तव्य है।

(ग) वैश्य वर्णस्थ व्यक्तियों के कर्त्तव्यों का विस्तार से वर्णन द्रष्टव्य है ९.२२५-३३३ में।

शूद्र वर्णस्थों के कर्म—

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ ९१॥
(५४)

(**प्रभुः**) परमात्मा ने (**शूद्रस्य एकम्+एव कर्म**) शूद्र वर्ण को धारण करने वाले मनुष्यों का एक ही कर्त्तव्य (**समादिशत्**) निर्दिष्ट किया है, वह यह है कि (**एतेषाम्+एव वर्णानाम्**) इन्हीं चार वर्णों का (**अनसूयया शुश्रूषा**) ईर्ष्या-निन्दा रहित रहकर सेवा-कार्य करना॥ ९१ ॥

ऋषि-अर्थ—''परमेश्वर ने जो विद्याहीन, जिसको पढ़ने से विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की, निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना, यही एक कर्म करने की आज्ञा दी है।'' (संस्कारविधि गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र० समु० ४)

अनुशीलन—**'शूद्र' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक**—(क) शुच्—शोकार्थक (भ्वादि) धातु से '**शुचेर्दश्च**' (उणा० २.१९) सूत्र से '**रक्**' प्रत्यय, उकार को दीर्घ, च को द होकर 'शूद्र' शब्द बनता है। किसी भी कुल में उत्पन्न अशिक्षित रहा व्यक्ति शूद्र वर्ण का रहता है। '**शूद्रः थु द्रवति, आयु द्रवति**' अर्थात् जो अशिक्षित होने के कारण नियोक्ता के आदेशानुसार इधर-उधर जाने-आने के, सेवा और श्रम के कार्य करता है, क्योंकि प्रशिक्षित न होने से वह उच्च वर्णों के कार्य करने में सक्षम और योग्य नहीं होता। **शूद्रः**= **शोचनीयः शोच्यां स्थितिमापन्नो वा, सोवायां साधुर् अविद्यादिगुणसहितो मनुष्यो वा**=शूद्र वह व्यक्ति होता है जो किसी भी कुल में उत्पन्न होने के बाद अपनी अशिक्षा के कारण किसी उन्नत वर्ण की स्थिति को नहीं प्राप्त कर पाया, और जिसे अपनी निम्न स्थिति होने की तथा उसे उन्नत करने की सदैव चिन्ता बनी रहती है अथवा स्वामी के द्वारा जिसके भरण-पोषण की चिन्ता की जाती है, ऐसा सेवक मनुष्य। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यही भाव मिलता है—''**असतो वा एष सम्भूतो यत् शूद्रः**'' (तै० ३.२.३.९) **असतः**=अविद्यातः। अशिक्षा से जिसकी निम्न जीवनस्थिति रह जाती है, जो केवल सेवा आदि कार्य ही कर सकता है, ऐसा अशिक्षित मनुष्य शूद्र होता है। वह जीवन में पुनः कभी भी किसी उच्च वर्ण की शिक्षा-दीक्षा लेकर उस उच्च वर्ण में दीक्षित हो सकता

है [१०.६५]

(ख) शूद्र के कर्त्तव्यों के प्रसंग में, शूद्र के प्रति मनु की धारणा क्या है, इस बात पर भी प्रकाश पड़ जाता है। मनु ने वहाँ शूद्र के लिए **शुचिः**='पवित्र' (शरीर एवं मन से), **उत्कृष्ट शुश्रूषुः**='उत्तम सेवा करने वाला' जैसे विशेषणों का प्रयोग किया है। [९.३३५] इससे स्पष्ट होता है कि मनु की शूद्र के प्रति हीन या अस्पृश्य की भावना नहीं है। सब कुलों में रहकर सबकी सेवा करने वाला व्यक्ति अपवित्र या अस्पृश्य कैसे कहा जा सकता है? मनु शूद्र को अस्पृश्य नहीं मानते। मनु के मतानुसार चार वर्णों के अन्तर्गत होने से शूद्र सवर्ण है और आर्य है [१०.४, ४५, ५७]।

(ग) शूद्र जन्मना नहीं होता, किन्तु वह व्यक्ति शूद्र होता है, जो उपनयन में दीक्षित होकर ब्रह्मजन्म अर्थात् वेदाध्ययन रूपी द्वितीय जन्म को प्राप्त नहीं कर सका। द्विजों को द्विज इसलिए कहा जाता है कि उनका अध्ययन-प्रशिक्षणरूपी दूसरा ब्रह्मजन्म उपनयन के समय होता है "**द्विर्जायते इति द्विजः।**" शूद्र का यह दूसरा जन्म न होने से उसका पर्यावाची शब्द '**एकजातिः**'=एक जन्म वाला है। इससे सिद्ध हुआ कि मनु जन्मना नहीं, व्यक्ति को कर्मणा शूद्र मानते हैं। देखिए मनु ने यह मान्यता १०.४ में प्रकट की है—"**चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः।**"

सब अंगों में मुख की श्रेष्ठता एवं तद्वत् ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और महत्ता का वर्णन—

धर्मोत्पत्ति विषय (१.१०८ से ११० तक)

सदाचार परमधर्म—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्त्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥
१०८॥ (५५)

(**श्रुति+उक्तः च स्मार्तः+एव**) वेदों और स्मृतियों में भी कहा हुआ जो (**आचारः**) सदाचरण है (**परमः धर्मः**) वही सर्वश्रेष्ठ धर्म हैं, (**तस्मात्**) इसीलिए (**आत्मवान् द्विजः**) आत्मोन्नति चाहने वाले द्विज को चाहिए कि वह (**अस्मिन्**) इस श्रेष्ठाचरण के पालन

में (**सदा नित्यं युक्तः स्यात्**) सदा निष्ठापूर्वक प्रयत्नशील रहे ॥ १०८ ॥

ऋषि-अर्थ—''कहने सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने का फल यही है कि जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करना। इसलिये धर्माचार में सदा युक्त रहे।'' (स०प्र०, समु० ३) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र० समु० १०)

आचारहीन को वैदिक कर्मों की फलप्राप्ति नहीं—

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्॥ १०९ ॥
(५६)

(**विप्रः**) जो कोई द्विज (**आचारात्-विच्युतः**) सदाचार से रहित है वह (**वेदफलं न अश्नुते**) वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त पुण्य-फल को प्राप्त नहीं कर पाता, (**तु**) और (**आचारेण संयुक्तः**) सदाचार से जो युक्त है अर्थात् सदाचारी है वह (**सम्पूर्णफल-भाक्-भवेत्**) सम्पूर्ण पुण्य फल को प्राप्त करता है [४.१५६-१५९] ॥ १०९ ॥

ऋषि-अर्थ—''जो धर्माचरण से रहित है वह वेद-प्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता, और जो विद्या पढ़के धर्माचरण करता है वही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है ॥'' (स०प्र०, समु० ३)

अनुशीलन—१०९ श्लोक की अन्यत्र पुष्टि—ऋषियों की मान्यताएँ श्रृंखलावत् एक संगति में जुड़ी होती हैं और वे प्रसंगवश, उन वचनों की पुष्टि स्वयं कर देते हैं। मनु ने इस श्लोक की मान्यता की पुष्टि अन्य श्लोकों में भी की है। उनसे इसकी व्याख्या पर भी प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए देखिए इस श्लोक के भाव का अन्य श्लोकों में स्पष्टीकरण—

(क) **यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।**
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥
१.१३५ (२.१६०) ॥

(ख) **वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।**
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥

२.७२ (२.६९) ॥

इन श्लोकों में कहा है कि वेदोक्त कर्मों से हीन व्यक्ति को सिद्धि नहीं मिलती, आचारवान् को मिलती है। इस प्रकार सदाचार से ही धर्म में गति होती है।

सदाचार धर्म का मूल है—

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥ ११०॥
(५७)

(**एवम्**) इस प्रकार (**आचारतः**) श्रेष्ठाचरण= धर्माचरण से ही (**धर्मस्य**) धर्म की (**गतिम्**) प्राप्ति, सिद्धि एवं अभिवृद्धि (**दृष्ट्वा**) देखकर (**मुनयः**) मुनियों ने (**सर्वस्य तपसः परं मूलम्**) सब तपस्याओं का श्रेष्ठ मूल आधार (**आचारम्**) श्रेष्ठाचरण=धर्माचरण को ही (**जगृहुः**) स्वीकार किया है॥ ११०॥

विद्वानों द्वारा सेवित धर्म का वर्णन-प्रारम्भ—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥ १२०॥
[२.१] (५८)

(**अद्वेषरागिभिः सद्भिः विद्वद्भिः नित्यं सेवितः**) राग-द्वेष से रहित सदाचारवान् विद्वानों के द्वारा सदा आचरण में लाया जानेवाला (**यः हृदयेन+ अभ्यनुज्ञातः**) जिसको हृदय अर्थात् आत्मा में धारण करने योग्य माना है अर्थात् जो आत्मानुकूल है [१.१२५, १३१] (**तं धर्मं निबोधत**) उस धर्म को तुम सुनो और मानो॥ १२०॥

ऋषि-अर्थ—''जिसको सत्पुरुष रागद्वेषरहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं, उसी पूर्वोक्त को तुम लोग धर्म जानो।'' (सं०विधि गृहाश्रम०) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०समु० १०)

सकामता-अकामता विवेचन कर्मपालन के विषय में—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥१२१॥
[२.१] (५९)

(**इह**) इस संसार में (**कामात्मता न प्रशस्ता अस्ति**) अत्यन्त आसक्ति भाव होना श्रेयस्कर नहीं है, (**च**) किन्तु (**न अकामता**) अत्यन्त निष्काम भाव होना भी श्रेयस्कर नहीं है (**हि**) क्योंकि (**वेदाधिगमः**) वेदाध्ययन एवं उससे प्राप्त ज्ञान-विज्ञान (**च**) और (**वैदिकः कर्मयोगः**) वेदोक्त धर्म-कर्म (**काम्यः**) काम्य हैं और कामनापूर्वक पालन करने योग्य होते हैं॥ १२१ ॥

ऋषि अर्थ—''क्योंकि इस संसार में अत्यन्त कामात्मता और निष्कामता श्रेष्ठ नहीं है। वेदार्थज्ञान और वेदोक्त कर्म, ये सब कामना से ही सिद्ध होते हैं।'' (स०प्र०, समु० १०) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०समु० ३)

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्मांश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः॥ १२२॥
[२.३] (६०)

क्योंकि (**वै**) निश्चय से (**कामः संकल्पमूलः**) प्रत्येक कामना के मूल में संकल्प=इच्छाशक्ति होती है, (**यज्ञाः संकल्पसम्भवाः**) सभी प्रकार के यज्ञ संकल्प=इच्छाशक्ति से ही सम्पन्न होते हैं, (**व्रतानि च यमधर्माः**) सत्यभाषण आदि व्रत और यम-नियम आदि धर्माचरण [४.२०४] (**सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः**) सभी श्रेष्ठ कार्य संकल्प=इच्छाशक्ति से ही सम्पन्न होने वाले माने गये हैं॥ १२२ ॥

ऋषि अर्थ—''जो कोई कहे कि मैं निष्काम हूँ वा हो जाऊँ तो वह कभी नहीं हो सकता, क्योंकि सब काम, यज्ञ, सत्यभाषणादि व्रत, यम-नियम रूपी धर्म आदि संकल्प से ही बनते हैं। (स०प्र०, समु० १०)

अनुशीलन—यम और नियम ४.२०४ की समीक्षा में द्रष्टव्य हैं।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ १२३॥
[२.४] (६१)

(**हि**) क्योंकि (**इह**) इस जीवन और संसार में

(**कर्हिचित्**) कभी भी (**अकामस्य क्रिया न दृश्यते**) कामनारहित=इच्छारहित से कोई क्रिया होती दिखाई नहीं पड़ती, (**यत्-यत् किंचित् कुरुते**) मनुष्य जो-जो कुछ भी क्रिया करता है (**तत्-तत् कामस्यचेष्टितम्**) वह सब कामना से ही किया गया होता है ॥ १२३ ॥

ऋषि अर्थ—''क्योंकि जो-जो हस्त, पाद, नेत्र, मन आदि चलाये जाते हैं वे सब कामना से ही चलते हैं। जो इच्छा न हो तो आंख का खोलना और मींचना भी नहीं हो सकता।'' (स०प्र०, समु० १०) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र० समु० ३)

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।
यथा सङ्कल्पितांश्चैव सर्वान्कामान्समश्नुते॥ १२४॥
[२.४] (६२)

(**तेषु**) उन वेदोक्त यज्ञ, यम-नियम, सत्याचरण आदि कर्मों में (**सम्यक् वर्तमानः**) अच्छी प्रकार संलग्न रहने वाला व्यक्ति (**अमरलोकतां गच्छति**) मोक्ष को प्राप्त करता है (**च**) और (**यथा संकल्पितान् सर्वान् एव कामान्**) संकल्प की गई सभी कामनाओं को, लक्ष्यों को (**समश्नुते**) भलीभांति प्राप्त करता है ॥ १२४ ॥

अनुशीलन—वूलर द्वारा घोषित प्रक्षिप्तता पर विचार—वूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने १२१ से १२४ श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है। उनकी युक्ति है कि यहाँ सकामता और निष्कामता का कोई प्रसंग नहीं है, अतः ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध हैं। उनकी युक्ति मान्य नहीं है, क्योंकि इन दोनों कथनों का पूर्वापर श्लोकों से सम्बन्ध है। १२० और १२५ श्लोकों में धर्म का लक्षण कहा है और उनमें वेद का सर्वप्रथम एवं प्रमुख स्थान है। ये श्लोक अगले श्लोकों की भूमिका के रूप में हैं, १२१वें श्लोक में जो '**वेदाधिगमः**' शब्द का प्रयोग किया है, उससे यह संकेत मिलता है। अर्थात् धर्मों और वेदोक्त कर्मों में अत्यन्त निष्कामता स्वीकार्य नहीं है। मनूक्त मार्ग मध्यमार्ग है। इस प्रकार इनमें प्रसंगविरोध नहीं आता।

धर्म के मूलस्रोत और आधार—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ १२५ ॥

[२.६] (६३)

(**अखिलः वेदः**) सम्पूर्ण वेद (**च**) और (**तद् विदाम्**) उन वेदों के पारंगत [जिन्होंने २.१ से २.२२४ में प्रोक्त विधिपूर्वक वेदाध्ययन किया है] (**स्मृति-शीले**) विद्वानों के रचे हुए स्मृतिग्रन्थ अर्थात् वेदानुकूल धर्मशास्त्र और वेदोक्त श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न शील (**च**) और (**साधूनाम् एव आचारः**) वेद-शास्त्रोक्त श्रेष्ठ-सत्याचरण करने वाले पुरुषों का 'सदाचरण' (**च+एव**) और ऐसे ही श्रेष्ठ-सदाचरण वाले व्यक्तियों की (**आत्मनः—तुष्टिः**) अपनी आत्मा की सन्तुष्टि एवं सात्त्विक ज्ञान एवं गुणयुक्त अनुकूलता अर्थात् जिस काम के करने में आत्मा में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न न हो, अपितु सन्तुष्टि और प्रसन्नता का अनुभव हो [१२.३७], ये चार (**धर्ममूलम्**) धर्म के मूलस्रोत= उत्पत्तिस्थान या जानने के आधार हैं॥ १२५ ॥[१]

ऋषि अर्थ—''इसलिये सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषिप्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार और जिस-जिस कर्म में अपना आत्मा प्रसन्न रहे अर्थात् भय, शंका, लज्जा जिसमें न हो उन कर्मों का सेवन करना उचित है। देखो! जब कोई मिथ्याभाषण चोरी आदि की इच्छा करता है, तभी उसके आत्मा में भय, शंका, लज्जा अवश्य उत्पन्न होती है इसलिए वह कर्म करने योग्य नहीं है।'' (स०प्र०,समु० १०)

अनुशीलन—धर्म के चार लक्षणों का स्वरूप— यह श्लोक मनुस्मृति के प्रमुख आधारभूत श्लोकों में से

---

१. **प्रचलित अर्थ**—सब वेद, उन्हें (वेदों को) जानने वालों (मनु आदि) की स्मृति और ब्राह्मणत्व आदि तेरह प्रकार के शील या राग-द्वेष-शून्यता, महात्माओं का आचरण और अपने मन की प्रसन्नता (जहाँ धर्मशास्त्रों में अनेक पक्ष कहे गये हैं, वहाँ जिस पक्ष वाले विधान को स्वीकार करने में अपना मन प्रसन्न हो), ये सब धर्म के मूल हैं॥१२५॥

एक है। यहाँ मनु द्वारा वर्णित धर्म के चार लक्षणों पर मनूक्त मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाता है तथा उनके स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है—

१. वेद—धर्म के चार मूलस्रोतों या साक्षात् लक्षणों में सर्वप्रथम स्थान '**वेद**' का है [१.१२५ (२.६)]। चारों वेद धर्मनिर्णय में परमप्रमाण हैं—"**धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः**" (१.१३२; २.१३), "**श्रुति-प्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै**" (१.१२७;)। इनको श्रुति भी कहा जाता है [१.१३२ (२.१३), १.१२७]। वेद अपौरुषेय अर्थात् ईश्वर-रचित हैं [१.२३; १२.९९]। और इन्हीं के द्वारा संसार की वस्तुओं, धर्मों का प्रथम ज्ञान प्राप्त होता है [१.२१]। वेद सब सत्य विद्याओं के भण्डार हैं [१.३, २१; १२.९४, ९७-९९ आदि]। क्योंकि चारों वेद धर्म के प्रथम मूलस्रोत हैं, अतः इनका कुतर्क आदि का सहारा लेकर खण्डन नहीं करना चाहिए [१.१२९ (२.१०), १.१३० (२.११)] और इस प्रकार जो वेदों की अवमानना करता है, वह नास्तिक है तथा समाज से बहिष्कार्य है [१.१३० (२.११)]।

२. स्मृति और शील—चारों वेदों के ज्ञाता विद्वानों द्वारा रचित '**स्मृतियाँ**' और उनका श्रेष्ठ गुणसम्पन्न '**शील**' धर्म का दूसरा मूलस्रोत है। स्मृतियों को धर्मशास्त्र भी कहते हैं [१.१२९ (२.१०)]। जिन विद्वानों ने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्मपालन पूर्वक सांगोपांग वेदों का अध्ययन-मनन किया है, वे ही प्रामाणिक धर्म-शास्त्र के प्रणेता हो सकते हैं तथा वे ही धर्म-विषयक संशय में प्रमाण हैं, अन्य नहीं—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद् भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणाः ब्रूयुः स धर्मः स्यादशंकितः॥ १२.१०८॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणाः ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥ १२.१०९॥

स्मृतियाँ वेदानुकूल होने पर ही प्रामाणिक हैं, इसी प्रकार स्वभाव भी। वेद-विरुद्ध स्मृतियाँ अमान्य हैं [१२.१०६; १२.९४]।

३. सदाचार—धर्म का तीसरा मूलस्रोत '**सदाचार**' है। श्लोक के पूर्व पदों में उक्त भाव के अध्याहार और निम्नलिखित प्रमाणों से यह सिद्ध है कि 'वेदवेत्ता विद्वानों

का श्रेष्ठ-सत्याचरण' ही 'सदाचार' है, क्योंकि धर्म के दूसरे लक्षण में वेदवेत्ताओं के स्वभाव को ही धर्म का स्रोत माना है। स्वभावानुसारी आचरण होता है। इस प्रकार यह भी वेदवेत्ताओं का होना चाहिए। इसकी पुष्टि स्वयं मनु ने की है। १.१३६ (२.१७) में दिव्यगुणों से युक्त विद्वानों द्वारा सुशोभित देश को 'ब्रह्मावर्त' कहा है। उस देश में रहने वाले उन विद्वानों के आचरण को ही 'सदाचार' माना है [१.१३७ (२.१८)]। उन्हीं से समस्त शिक्षाएं ग्रहण करने का कथन है [१.१३९ (२.२०)]। १.१२० में भी रागद्वेष से रहित सदाचारी विद्वानों द्वारा सेवित और उन द्वारा हृदय से मान्य आचरण को धर्म माना है। वेदों में अपारङ्गत विद्वानों का वेदविरुद्ध आचरण 'सदाचार' नहीं कहा जा सकता। (द्रष्टव्य १.१०८-११०; ४.१५६-१५८)

४. 'आत्मनः तुष्टि' और 'स्वस्य-आत्मनः प्रियम्' का स्पष्टीकरण—धर्म का चौथा मूलस्रोत '**आत्मा की सन्तुष्टि**' और '**अपनी आत्मा का प्रिय**' कार्य है। इस स्रोत की स्पष्ट परिभाषा विचारणीय है। यहाँ प्रश्न उठता है कि सभी व्यक्तियों की आत्मा का प्रिय कार्य धर्म है अथवा एक स्तर विशेष की सीमा तक के व्यक्तियों की आत्मा का प्रिय कार्य ? उत्तर में निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हर किसी की आत्मा का प्रिय कार्य धर्म नहीं, अपितु वेदानुकूल आचरण वाले सद्गुणसम्पन्न, धार्मिक, पवित्रात्मा विद्वानों की उनकी अपनी आत्मा की सन्तुष्टि, प्रसन्नता और प्रियता के अनुकूल जो कार्य है, वही धर्म है। यह मन्तव्य मनु के इस श्लोक से पुष्ट होता है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः-नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥ १२०॥ [२.१]

किसी के भी प्रिय को धर्म मानने में निम्न आपत्तियाँ आती हैं—

(क) चारों धर्म के स्रोतों की उच्चता, गम्भीरता का स्तर समानप्राय: होना चाहिए। यह नहीं कि एक अत्युन्नत स्तर का हो और एक निम्नतम। एक ओर वेद धर्म के स्रोत हैं और दूसरी ओर हर किसी की आत्मा ही प्रमाण है। इस प्रकार तो व्यक्तियों की संख्या के अनुसार आत्मा के प्रिय कार्य भी पृथक्-पृथक् हो जायेंगे।

(ख) अगर यह कहें कि 'आत्मा की प्रसन्नता' का

अभिप्राय यह है कि 'मैं नहीं चाहता कि कोई मुझे कष्ट दे तो मुझे भी औरों के साथ कष्टदायक व्यवहार नहीं करना चाहिए।' तो यह बात उन व्यवहारों में तो लागू हो जाती है जिनमें भय, शंका, लज्जा, पीड़ा का सम्बन्ध है, अन्य व्यवहारों में नहीं। इसमें अव्याप्ति-दोष आता है। जैसे कोई व्यक्ति सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र, विद्याप्राप्ति, शुद्धि आदि कर्त्तव्यपालन नहीं करता और अतिइन्द्रियासक्ति, अन्धविश्वास, अन्धमान्यता आदि से ग्रस्त है, तो वह चाहेगा कि मैं इन बातों के सन्दर्भ में किसी को कुछ नहीं कहता, तो दूसरे मुझे भी न कहें। दूसरों के कहने से वह पीड़ा का अनुभव करेगा; जब कि धर्मविहित बात अवश्य कथनीय और पालननीय होती है। उनको दण्डपूर्वक भी कराने का विधान है।

(ग) इसी प्रकार जो दुष्टसंस्कारी, राक्षससंस्कारी, तमोगुणी प्राणी हैं, बाल्यकाल से ही जो जीवहत्या, मांस-भक्षण आदि कार्य करते आ रहे हैं, उनमें इन कार्यों के प्रति भय, शंका, लज्जा की अनुभूति दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः उनकी 'आत्मा के प्रिय' को धर्म नहीं माना जा सकता।

इन आपत्तियों के होने से यह कहा जा सकता है कि सभी की आत्मा का प्रिय धर्म नहीं, अपितु सद्गुणसम्पन्न, धार्मिक, पुण्यात्मा विद्वानों की आत्मा के प्रिय कार्य ही धर्म हैं। इसकी पुष्टि में निम्न प्रमाण उल्लेखनीय हैं—

(घ) मनु के धर्मकथन में अविद्वानों को प्रमाण नहीं माना, अपितु उनको मानने से हानि की आशंका प्रकट की है, केवल विशेषस्तर के विद्वानों को ही प्रमाण माना है [१२.११३-११५]। अतः अविद्वानों की आत्मा का प्रिय कार्य धर्म का लक्षण नहीं हो सकता।

(ङ) मनु ने प्रत्येक बात में वेदानुकूलता को ही धर्म में प्रमाण माना है, अन्य को नहीं [१.१२७ (२.८), १.१२८ (२.९), १२.९४]। इस प्रकार वेदों से विरुद्ध 'आत्मा के प्रिय कार्य' धर्म के लक्षण नहीं हो सकते।

(च) यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि मनु ने जहाँ-जहाँ आत्मा की सन्तुष्टि की बातें कही हैं, वे द्विजों के कर्त्तव्यों के प्रसंग में कही हैं; उनसे भिन्न निम्नस्तरीय व्यक्तियों के लिए नहीं। मनु की व्यवस्था के अनुसार द्विजों को विद्वान्, धर्मात्मा, और सद्गुण-सम्पन्न अवश्य होना

चाहिए। इस प्रकार भी इस शब्द की व्याख्या से उक्त अर्थ पुष्ट होता है।

(छ) **आत्मा का प्रिय क्या है ?**—जिस कार्य में आत्मा को भय, शंका, लज्जा का अनुभव नहीं होता, ऐसे कर्म ही वस्तुत: आत्मा के प्रसन्नताकारक कर्म हैं। इससे भिन्न कर्म 'आत्मा के प्रिय' नहीं कहे जा सकते [४.१६१; ८.९६]। और ऐसे कर्म केवल सात्त्विक कर्म हैं, [देखिये १२.२७, ३७ श्लोक]। इनसे विपरीत रजोगुणी और तमोगुणी कार्य आत्मा में प्रसन्नता नहीं करते [१२.३३, ३५]। यदि प्रसन्नता अनुभव होती है तो वह वास्तविक नहीं है। मनु ने स्वयं स्पष्ट करते हुए कहा है कि धर्म ही सत्त्व का लक्षण है और वे धर्म तथा आत्मा के प्रिय कार्य हैं—

(अ) ''**सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः**''॥ १२.३८॥

(आ) **वेदाभ्यासस्तपोज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।**
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्॥ १२.३१॥

(इ) **यत् सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन्।**
येन तुष्यति चात्मास्य तत् सत्त्वगुणलक्षणम्॥ १२.३७॥

इस प्रमाणयुक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि सत्त्वगुणी कार्यों से ही 'आत्मा की प्रसन्नता या सन्तुष्टि' होती है। सत्त्वगुणी व्यक्तियों की प्रसन्नता ही धर्म का लक्षण हो सकता है। अत: श्लोकोक्त अर्थ ही मनुसम्मत है।

५. 'धर्म क्या है' इसके ज्ञान के लिए १.२ की समीक्षा देखिए।

आत्मानुकूल धर्म का ग्रहण—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै॥ १२७॥

[२.८] (६४)

(**विद्वान्**) विद्वान् मनुष्य (**ज्ञानचक्षुषा**) ज्ञानरूपी नेत्र के द्वारा (**इदं सर्वम्**) पूर्वोक्त वेद, धर्मशास्त्र, सदाचार और आत्मा के अविरुद्ध कार्य [१.१२५] इन सब धर्मस्त्रोतों पर (**निखिलं समवेक्ष्य**) पूर्णत: भलीभांति विचार करके (**श्रुतिप्रामाण्यतः**) मुख्य प्रमाण वेद को मानते हुए (**स्वधर्मे वै निविशेत**) स्वयं के अभीष्ट धर्म को धारण करे अर्थात् जिस धर्म का पालन

करना चाहता है उस पर आचरण करे॥ १२७॥

ऋषि अर्थ—''मनुष्य सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का आचार, अपने आत्मा के अविरुद्ध विचार, ज्ञान नेत्र करके, श्रुतिप्रमाण से स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे।'' (स०प्र०, समु० १०)

श्रुति-स्मृति-प्रोक्त धर्म के अनुष्ठान का फल—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥ १२८॥

[२.९] (६५)

(**हि**) क्योंकि (**मानवः**) मनुष्य (**श्रुति-स्मृति+उदितम्**) वेद और वेदानुकूल धर्मशास्त्र में कहे हुए (**धर्मम्-अनुतिष्ठन्**) धर्म का पालन करके उसके पुण्य के कारण (**इह कीर्तिम्+अवाप्नोति**) इस संसार में यश को (**च**) और (**प्रेत्य**) मृत्यु के पश्चात् परजन्म में (**अनुत्तमं सुखम्**) सर्वोत्तम सुख को प्राप्त करता है॥ १२८॥

ऋषि अर्थ—''क्योंकि जो मनुष्य वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है, वह इस लोक में कीर्ति और मरके सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है।'' (स०प्र०, समु० १०)

श्रुति और स्मृति का परिचय—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥ १२९॥

[२.१०] (६६)

(**श्रुतिः तु वेदः विज्ञेयः**) श्रुति को 'वेद' समझना चाहिए, और (**धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः**) धर्मशास्त्र को 'स्मृति' समझना चाहिए (**ते**) ये श्रुति और वेदानुकूल स्मृति शास्त्र (**सर्वार्थेषु**) सब स्थितियों और सब बातों में (**अमीमांस्ये**) कुतर्क द्वारा आलोचनाय नहीं है अर्थात् इनमें प्रतिपादित धर्मों का कुतर्क का सहारा लेकर खण्डन नहीं करना चाहिए, [इस अर्थ की पुष्टि अगले १३०वें श्लोक की शब्दावली से होती है, देखिए उसका अर्थ], (**हि**) क्योंकि (**ताभ्याम्**) उन दोनों

प्रकार के शास्त्रों से (**धर्मः**) धर्म (**निर्बभौ**) उत्पन्न हुआ है, ये मनुष्यों को धर्म का ज्ञान कराते हैं और धर्म-पालन की प्रेरणा देकर धर्म की रक्षा करते हैं ॥ १२९ ॥

अनुशीलन—वेद और श्रुति नाम के कारण—वेदों के, वेद और श्रुति ये दो नाम क्यों पड़े, इसके उत्तर में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

''प्रश्न—वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं ?

उत्तर—अर्थभेद से। क्योंकि एक (विद) धातु 'ज्ञान'-अर्थ है, दूसरा (विद) 'सत्ता'-अर्थ है, तीसरे (विद्लृ) का 'लाभ' अर्थ है, चौथे (विद) का अर्थ विचार है। इन चार धातुओं से करण और अधिकरणकारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से 'वेद' शब्द सिद्ध होता है। तथा (श्रु) धातु श्रवण अर्थ में है, इससे करणकारक में 'क्तिन्' प्रत्यय के होने से श्रुति शब्द सिद्ध होता है। जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़ के विद्वान् होते हैं, जिन से सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक्संहितादि का 'वेद' नाम है। वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं इससे वेदों का 'श्रुति' नाम पड़ा है। (ऋ०भा०भू० २०-२२)

श्रुति-स्मृति का अपमान करने वाला नास्तिक है—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥१३०॥

[२.११] (६७)

(**यः द्विजः**) जो कोई द्विज मनुष्य (**ते मूले**) वेद और वेदानुकूल स्मृति शास्त्र का (**हेतुशास्त्राश्रयात्**) तर्कशास्त्र का आश्रय लेकर (**अवमन्येत**) कुतर्क से अपमान करे (**सः**) उसको (**साधुभिः बहिष्कार्यः**) श्रेष्ठ लोग अपनी संगति-सान्निध्य से बाह्य कर दें, क्योंकि (**वेदनिन्दकः**) जो वेद की निन्दा करता है (**नास्तिकः**) वही नास्तिक होता है [और नास्तिक व्यक्ति वेद-धर्मशास्त्रोक्त समाजकल्याणकारी धर्म-व्यवस्था को विच्छिन्न कर तथा उसमें अनास्था उत्पन्न

कर समाज की सुख-शान्ति को भंग करता है] ॥ १३० ॥

ऋषि अर्थ—''जो तर्कशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता अर्थात् वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है, श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि उसको अपनी मण्डली से निकालके बाहर कर देवें, क्योंकि वह वेदनिन्दक होने से नास्तिक है।'' (द० ल०वे० ख० ४८) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०समु० ३, १०)

अनुशीलन—**'तर्क' शब्द का विवेचन**—श्लोक १२९ और १३० में मनु ने वेदों और वेदवेत्ताओं व वेदानुसारी आचरण वाले ऋषियों द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्रों को 'तर्कशास्त्र का सहारा लेकर अपमान न करने योग्य' कहा है। यहाँ तर्क से अभिप्राय 'उचित तर्क' से नहीं, अपितु 'कुतर्क' से है। यह बात निम्न प्रमाणों से स्पष्ट होती है—

(क) कुछ चीजें तर्क से परे होती हैं, जैसे ईश्वररचित जगत् की प्रलयावस्था मनुष्य बुद्धि से 'अप्रतर्क्य' है अर्थात् बुद्धिगम्य नहीं है [१.५]। इसी प्रकार ईश्वर-प्रदत्त वेदज्ञान भी 'अचिन्त्य', 'अप्रमेय', 'अप्रतर्क्य' अर्थात् मनुष्यबुद्धि द्वारा पूर्णतः बुद्धिगम्य नहीं है [१.३, २१, २३]। मनु उसे पूर्णतः तर्कानुकूल अर्थात् युक्तिसंगत मानते हैं, अतः वेदज्ञान पर तर्क करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यदि कोई उसका खण्डन करता है, तो वह कुतर्क ही करता है।

(ग) मनु और अन्य शास्त्र भी तर्क को धर्म निश्चय में प्रमाण मानते हैं। शास्त्रों ने तर्क को एक ऋषि का रूप दिया है। किन्तु तर्क करने वाला व्यक्ति कौन हो सकता है, यह भी निर्धारित कर दिया है। तत्त्वज्ञानी शास्त्रवेत्ता व्यक्ति ही तर्क करने की योग्यता रखते हैं, अन्य नहीं। मनु कहते हैं कि तर्क से धर्म का ज्ञान प्राप्त करें। साथ ही तर्क के योग्य कौन व्यक्ति है, यह भी स्पष्ट करते हैं—

(अ) **प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।**
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १२.१०५ ॥

(आ)**आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्रविरोधिना।**
यस्तर्केणानुसंधत्ते सः धर्मं वेद नेतरः ॥ १२.१०६ ॥

(इ) **त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की.......परिषद् स्याद्दशावरा॥**

१२.१११॥

(घ) निरुक्तशास्त्र में तर्क को ऋषि के रूप में वर्णित करते हैं। उसके द्वारा वेदमन्त्रों का निश्चय बतलाया है। लेकिन वहीं मनु वाली मान्यता भी स्पष्ट कर दी है कि अतपस्वी, अनृषि और अल्पविद्या वाले लोग तर्क की योग्यता नहीं रखते—

'अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः, न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणशः एव तु निर्वक्तव्याः नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति' इत्युक्तं पुरस्तात्।

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु वेदानब्रुवन्, को न ऋषिर्भविष्यतीति? तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थ-चिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। (परिशिष्ट ११.१३)

इस आधार पर उपर्युक्त योग्यताओं से रहित व्यक्ति को मनु और शास्त्र तर्क करने के अयोग्य मानते हैं। विशेषरूप से वेद और वेदानुकूल शास्त्रों के सन्दर्भ में। इसी आशय से इन श्लोकों में वेदादि को अमीमांस्य और तर्क से अवमानना न करने योग्य कहा है।

धर्म के चार आधाररूप लक्षण—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ १३१॥

[२.१२] (६८)

(**वेदः स्मृतिः सदाचारः**) वेद, वेदोक्त स्मृति, वेदानुयायी सत्पुरुष का आचरण (**च**) और (**स्वस्य आत्मनः प्रियम्**) अपने आत्मा के सात्विक ज्ञान-गुण से अविरुद्ध प्रियाचरण (**एतत् चतुर्विधं धर्मस्य लक्षणम्**) ये चार धर्म के (**साक्षात्**) ज्ञान या प्रत्यक्ष कराने वाले लक्षण हैं अर्थात् इन्हीं से धर्म का ज्ञान और निश्चय होता है॥ १३१॥

ऋषि अर्थ—''श्रुति=वेद, स्मृति=वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वरोक्त प्रतिपादित कर्म और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है जैसा कि सत्यभाषण, ये चार धर्म के लक्षण

अर्थात् इन्हीं से **धर्माधर्म** का निश्चय होता है। जो पक्षपात रहित न्याय सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार है, उसी का नाम धर्म और इसके विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को अधर्म कहते हैं। (स०प्र०, समु० ३, अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०समु० १०)

अनुशीलन—(क) धर्म एवं धर्म के मूलस्रोतों पर प्रामाणिक विस्तृत विवेचन १.१२५ पर द्रष्टव्य है।

(ख) दर्शनों में धर्म का लक्षण इस प्रकार वर्णित मिलता है—

(अ) **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।**

(वैशे० १.१.२)

जिस आचरण के करने से संसार में उत्तम सुख समृद्धि और निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है।''

(आ) **चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः।** (पू०मी० १.१.२)

''(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है, वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है, वह अधर्म कहाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है, उससे अलग होता है। इससे धर्म का ही जो आचरण करना है वही मनुष्यों में मनुष्यपन है। (ऋ०भू० ११५)

धर्मजिज्ञासा में श्रुति परमप्रमाण और धर्मज्ञान के पात्र—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ १३२॥
[२.१३] (६९)

(**अर्थकामेषु+असक्तानाम्**) जो पुरुष अर्थ=सुवर्णादि धन, रत्न, सम्पत्ति और काम भावना आदि इन्द्रियों के विषयों में नहीं फंसते हैं (**धर्मज्ञानं विधीयते**) उन्हीं को धर्म का वास्तविक ज्ञान होता है (**धर्मजिज्ञा-समानानाम्**) जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें, उनके लिए (**प्रमाणं परमं श्रुतिः**) वेद ही सर्वोच्च प्रमाण है अर्थात् मुख्यतः वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें,

क्योंकि धर्म-अधर्म का निश्चय बिना वेद के ठीक-ठीक नहीं होता॥ १३२॥

ऋषि अर्थ—''परन्तु जो द्रव्यों के लोभ और काम अर्थात् विषय-सेवा में फसा हुआ नहीं होता, उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें उनके लिए वेद ही परम प्रमाण है।'' (स०प्र०, समु० १०) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र० समु० ३, पू०प्र० पृष्ठ १०५, द०ल०वे०ख० ६)

वेदोक्त सब विधान धर्म हैं—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः॥ १३३॥
[२.१४] (७०)

(**यत्र तु श्रुतिद्वैधं स्यात्**) जहाँ कहीं श्रुति=वेद में दो पृथक् धर्मविषयक आदेश विहित हों (**तत्र**) ऐसे स्थलों पर (**उभौ**) वे दोनों ही विधान (**धर्मौ स्मृतौ**) धर्म माने हैं (**मनीषिभिः**) मनीषी विद्वानों ने (**तौ उभौ अपि सम्यक् धर्मौ उक्तौ**) उन दोनों को ही श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया है (उसका उदाहरण अग्रिम श्लोक में है)॥ १३३॥

दो आदेशों का उदाहरण और निष्कर्ष

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥ १३४॥
[२.१५] (७१)

(**उदिते**) सूर्योदय के समय (**च**) और (**अनुदिते**) सूर्यास्त के समय (**तथा**) तथा (**समयाध्युषिते**) समय के अतिक्रमण हो जाने पर अर्थात् प्रत्येक समय अथवा किसी भी निर्धारित किये समय में [जैसे विशेष उपलक्ष्य में आयोजित कोई यज्ञ] (**सर्वथा यज्ञः वर्तते**) सब स्थितियों में यज्ञ कर लेना चाहिए (**इति इयं वैदिकी श्रुतिः**) इस प्रकार ये तीनों ही धर्म हैं, ऐसी वैदिक मान्यता है॥ १३४॥

अनुशीलन—अर्थभेद—एक मत के अनुसार यहाँ प्रातः के तीन यज्ञ समयों का विकल्प है—'उदिते'=

सूर्योदय होने पर, 'अनुदिते'=सूर्यास्त से पूर्व नक्षत्र दीखने तक, 'समयाध्युषिते'=नक्षत्रदर्शन बन्द होने से सूर्यदर्शन से पूर्व तक। ऐसा अर्थ करने पर सायंकाल का परिगणन नहीं होता। प्रस्तुत टीका का अर्थ ही व्यापक एवं पूर्ण है।

ब्रह्मावर्त्त देश की सीमा—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥ १३६॥

[२.१७] (७२)

(**देवनद्योः सरस्वती-दृषद्वत्योः**) देव अर्थात् दिव्यगुण और दिव्य आचरण वाले विद्वानों के निवास से युक्त सरस्वती और दृषद्वती नदी-प्रदेशों के (**यत्+अन्तरम्**) जो बीच का स्थान है (**तम्**) उस (**देव-निर्मितम्-देशम्**) दिव्यगुण एवं आचरण वाले विद्वानों द्वारा बसाये और उनके निवास से सुशोभित देश को ('**ब्रह्मावर्तम्' प्रचक्षते**) 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता है॥ १३६॥

अनुशीलन—देव शब्द का 'दिव्य गुण' और आचरण युक्त विद्वान् प्रसिद्ध अर्थ है। अधिक जानकारी के लिए ३.८२ पर 'देव' विषयक समीक्षा देखिए।

ऋषि अर्थ—महर्षि दयानन्द ने ब्रह्मावर्त्त के स्थान पर आर्यावर्त्त पाठ ग्रहण करके निम्न व्याख्या दी है—

"(**देवनद्योः सरस्वती-दृषद्वत्योः**) देवनदियों—देव अर्थात् विद्वानों के संग से युक्त सरस्वती और दृषद्वती नदियों, उसमें सरस्वती नदी जो पश्चिम प्रान्त में वर्तमान उत्तर देश से दक्षिण समुद्र में गिरती है, जिस सिन्धु नदी कहा जाता है और पूर्व में जो उत्तर से दक्षिण देशीय समुद्र में गिरती है, जिसे ब्रह्मपुत्र के नाम से जानते हैं; इन दोनों नदियों के (**यत् अन्तरम्**) बीच (**देवनिर्मितम्**) विद्वानों आर्यों द्वारा सुशोभित (**देशम्**) स्थान (**आर्यावर्त्त प्रचक्षते**) 'आर्यावर्त्त' कहलाता है"। १३६॥ (ऋ०दया०पत्र वि०, पृ० ९९, हिन्दी में अनूदित)

उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में इस श्लोक के साथ १४१वां या २.२२वां श्लोक संयुक्त करके उसकी

व्याख्या इस प्रकार की है—'उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विंध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र तथा सरस्वती, पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती जो नेपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकलके बंगाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण के समुद्र में मिली है, जिसको ब्रह्मपुत्रा कहते हैं और जो उत्तर के पहाड़ों से निकल के दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में अटक मिली है। हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं उन सबको आर्यावर्त्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त्त कहाया है।' (समु० ८)

सदाचार का लक्षण—

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥ १३७॥
[२.१८] (७३)

(**तस्मिन् देशे**) उस ब्रह्मावर्त्त देश में (**वर्णानां सान्तरालानां पारम्पर्यक्रमागतः यः आचारः**) वर्णों और आश्रमों का जो परम्परागत अर्थात् वेदों के प्रारम्भ से लेकर उत्तरोत्तर क्रम से पालित जो वेद शास्त्रोक्त आचार है। (**सः**) वह (**सदाचारः+उच्यते**) 'सदाचार' कहलाता है॥ १३७॥[१]

अनुशीलन—सान्तरालानाम् का संगत अर्थ— (क) इस श्लोक में टीकाकारों ने 'सान्तरालानाम्' पद का 'वर्णसंकर या संकीर्ण जातियाँ' अर्थ अशुद्ध एवं मनुविरुद्ध किया है। यहाँ परम्परागत आचार को 'सदाचार' के रूप में परिभाषित किया है, जबकि वर्णसंकरों के आचार को मनुस्मृति में 'सदाचार' के अन्तर्गत ही नहीं माना, प्रत्युत निन्द्य आचार कहा है [१०.५-७३]। अतः यहाँ इस पद

---

१. **प्रचलित अर्थ**—उस देश में ब्राह्मण आदि और अम्बष्ठ रथकार आदि वर्णसंकर जातियों का कुलपरम्परागत जो आचार है, वही 'सदाचार' कहा जाता है॥ १३७॥ (२.१८)

का अर्थ 'आश्रम' ही करना चाहिए मनुस्मृति का प्रतिपाद्य विषय वर्णों और आश्रमों के धर्मों का वर्णन करना ही है, वही प्रतिपादित है। प्रतिपाद्य विषय से भिन्न विषय को लक्षण के अन्तर्गत ग्रहण करने की कोई संगति भी सिद्ध नहीं होती। इस दृष्टि से भी 'आश्रम' अर्थ ही उपयुक्त है। १.२ श्लोक में प्रयुक्त 'अन्तरप्रभवाणाम्' पद भी 'आश्रम' का पोषक है और पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुआ है (विशेष जानकारी के लिए १.२ पर 'अनुशीलन' देखिए)

(ख) **'पारम्पर्यक्रम' से अभिप्राय**—यहाँ परम्परागत से अभिप्राय 'सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों के विधानों से प्रचलित शास्त्रोक्त आचरण' से है क्योंकि वर्णों-आश्रमों की परम्परा और किसी से प्रारम्भ नहीं हुई अपितु वेदों से ही हुई है [१.२३, ३१] वेदों से ही वर्णव्यवस्था, नामकरण आदि किये गये [१.२१, ८७] ऐसी मनु की मान्यता है। इसकी पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि मनु वेदविहित आचरण को ही **'सदाचार'** मानते हैं [१.१०८-११०; ४.१५६-१५९ तथा १.१२५ पर सदाचार विषयक समीक्षा द्रष्टव्य है]।

सारे संसार के लोग ब्रह्मावर्त के विद्वानों से चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ १३९ ॥

[२.२०] (७४)

(**एतद् देशप्रसूतस्य**) इसी ब्रह्मावर्त देश [१३६-१३७] में उत्पन्न हुए (**अग्रजन्मनः सकाशात्**) ब्राह्मण वर्णस्थ विद्वानों के सान्निध्य में रहकर (**पृथिव्यां सर्वमानवाः**) पृथिवी पर रहने वाले सब मनुष्य अर्थात् बिना किसी देश, वर्ण और लिंग आधारित भेदभाव के और प्रतिबन्ध के सभी स्त्री-पुरुष आचरण, (**स्वं स्वम्**) अपने-अपने (**चरित्रं शिक्षेरन्**) कर्त्तव्यों और व्यवसायों की शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करें और अभीष्ट विद्याभ्यास करें॥ १३९ ॥

ऋषि अर्थ—महर्षि दयानन्द ने उसी आर्यावर्त के पाठ के अनुसार अर्थ किया है—

''इसी आर्यावर्त में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों अर्थात् विद्वानों से भूगोल के सब मनुष्य—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि अपने-अपने योग्य विद्या, चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें।'' (स०प्र०, समु० ११)

मध्यदेश की सीमा—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥ १४०॥
[२.२१] (७५)

(**हिमवद्-विन्ध्ययोः मध्यम्**) [उत्तर में स्थित] हिमालय पर्वत [और दक्षिण में स्थित] विन्ध्याचल के मध्यवर्ती (**विनशनात्+अपि यत् प्राक्**) विनशन प्रदेश=पश्चिम में सरस्वती नदी के समुद्र में मिलने के स्थान से लेकर जो प्रयाग तक पूर्वदिशा का प्रदेश है (**च**) और (**प्रयागात् प्रत्यक्**) प्रयाग-प्रदेश के पश्चिम में जो सरस्वती समुद्र संगम तक का प्रदेश है, वह (**मध्यदेशः प्रकीर्तितः**) 'मध्यदेश' कहा जाता है॥ १४०॥

आर्यावर्त्त देश की सीमा—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥ १४१॥
[२.२२] (७६)

(**आ-समुद्रात्तु वै पूर्वात्**) पूर्व समुद्र से लेकर (**आ-समुद्रात्तु पश्चिमात्**) पश्चिम समुद्रपर्यन्त विद्यमान (**तयोः एव गिर्योः अन्तरम्**) उत्तर में स्थित हिमालय और दक्षिण में स्थित विध्याचल पर्वतों सहित जो मध्यवर्ती देश है, उसे (**बुधाः आर्यावर्तं विदुः**) विद्वान् 'आर्यावर्त' कहते हैं॥ १४१॥

संलग्न मानचित्र का विवरण

(क) आर्यावर्त की सीमाएँ—

पूर्व में पूर्व समुद्र तक, पश्चिम में पश्चिम समुद्र तक। उत्तर में हिमवान् (हिमालय) पर्वत (पश्चिम में हिन्दूकुश से लेकर पूर्व में असम और अराकान पर्वतमाला तक भारत

की सम्पूर्ण उत्तरी सीमा पर फैली हुई पूरी पर्वत श्रेणी को हिमवान् पर्वत कहा जाता रहा है। कैलाश पर्वत आदि इसी के अंग हैं)। दक्षिण में, विन्ध्य पर्वत (आधुनिक भूगोल-वेत्ताओं के अनुसार विन्ध्य पर्वत पश्चिम में महाराष्ट्र-गुजरात से लेकर पूर्व में बिहार तक लगभग ७०० मील तक फैला हुआ है सतपुड़ा आदि इसी के भाग हैं। वाल्मीकीय रामायण में समुद्र तट पर स्थित तमिलनाडु और केरल के पर्वतों को विंध्यपर्वत का भाग माना है। जैसे उत्तर में हिमालय का विस्तार है उसी प्रकार दक्षिण में विन्ध्यपर्वत का विस्तार है (किष्किन्धाकाण्ड ६०.७)। परवर्ती काल में लोगों ने विन्ध्यपर्वत के भागों के पृथक्-पृथक् नाम रख लिये) इन दोनों पर्वत प्रदेशों और उनके मध्यवर्ती भूभाग को आर्यावर्त कहा गया है [मनु० १.१४१ (२.२२)]।

मनुस्मृति में संक्षेप में आर्यावर्त का विस्तार प्रदर्शित किया गया है। इसमें परिगणित चारों दिशाओं के अंतिम प्रदेशों से आर्यावर्त की सीमा सुनिश्चित हो जाती है और अन्य सभी प्रदेशों का उन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। १०.४३-४४ श्लोकों के अनुसार, उत्तर में शक और चीन देशों से लेकर दक्षिण में द्रविड (तमिलनाडु) तक, पश्चिम में पह्लव (ईरान) प्रदेश से लेकर पूर्व में किरात प्रदेश (ब्रह्मपुत्र का पूर्व भाग) तक इसका विस्तार था। पश्चिम से पूर्व समुद्र भी इतना ही फैला है।

यहां प्रश्न होता है कि मनु ने केवल कुछ प्रदेशों का ही वर्णन क्यों किया ? उत्तर में कहा जा सकता है कि यहां प्रसंगानुसार ही केवल आर्यों की व्यवस्था के उद्भव स्थान और उसको पूर्णतः अपनाने वाले केन्द्रीय भागों का मुख्यतः वर्णन किया है, जिसे परवर्ती साहित्य में 'धर्मदेश' भी कहा गया है। आर्यावर्त के प्रदेशों में परिगणित प्रदेश 'मध्यदेश' संज्ञा सापेक्षिक है, जो इस बात का संकेत देती है कि उस समय प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य और दाक्षिणात्य प्रदेश भी आर्यावर्त के भाग थे, किन्तु उनमें कहीं-कहीं अनार्य या आर्यों से बहिष्कृत लोग भी बसते थे, जबकि केन्द्रीय भाग में ऐसा नहीं था (मनु० १०.४५)। अतः उन का विशेषतः नामोल्लेख नहीं किया। इस शोधकार्य में प्रक्षिप्त सिद्ध हुए १०.४३-४४ श्लोकों को यदि अनुश्रुति

मान लिया जाये तो उनसे भी यही जानकारी मिलती है कि इन श्लोकों में परिगणित देश या जातियां इन श्लोकों की रचना से पूर्व आर्य थीं। इससे आर्य देशों के सुदीर्घ विस्तार का भी ज्ञान होता है। (महाभारत, अनु० ३५.१७-१८)

(ख) आर्यावर्त के प्रदेश या जनपद—

(१) ब्रह्मावर्त—मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त प्रदेश को सर्वोच्च महत्त्व का प्रदेश माना है। वहां के निवासियों के आदर्श आचरण 'सदाचार' धर्म का लक्षण माना है। विद्या और सदाचार की शिक्षा का यह सर्वप्रमुख केन्द्र है [१.१३६-१३९; (२.१६-१८, २०)]। भौगोलिक दृष्टि से यह एक लघु प्रदेश था, जो सरस्वती और दृषद्वती देवनदियों के मध्यवर्ती भूखण्ड पर स्थित था। महाभारत में भी इसे 'धर्मक्षेत्र' कहा है।

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त उल्लेखों के अनुसार, सरस्वती नदी, हिमालय पर्वतश्रेणी में स्थित शिवालिक-पहाड़ियों से उद्भूत होकर शिमला पटियाला (वर्तमान पंजाब प्रान्त) तथा सिरसा (वर्तमान हरियाणा प्रान्त) के क्षेत्रों से प्रवाहित होकर ब्रह्मावर्त की पश्चिमोत्तरीय सीमाओं का निर्माण करती थी। इसकी भौगोलिक स्थिति बदलती रही है। वैदिक साहित्य के अनुसार यह पश्चिम समुद्र में गिरती थी, जबकि अवान्तर साहित्य के अनुसार यह राजपूताना (वर्तमान पश्चिमी राजस्थान) की मरुभूमि में विलुप्त हो गयी थी। यही स्थान 'विनशन' नाम से प्रसिद्ध हुआ (तैत्ति० सं० ७.२.१.४; शत० ब्रा० १.४.१.१४; ऐत० ब्रा० १९.१.२; कौषी०ब्रा० १२.२.३; महा०वन० ८२. १११, शल्य० ३७.१)।

हिमालय पर्वतश्रेणी में शिवालिक-पहाड़ियों से ही उद्भूत दृषद्वती नदी, ब्रह्मावर्त की पूर्वी और दक्षिणी सीमाओं का निर्माण करती हुई यमुना के समानान्तर प्रवाहित होकर कुरुक्षेत्र के दक्षिण की ओर से होती हुई सरस्वती नदी में मिलती है (महा० वन० ५.२; ८३.४; २०४-२०५)। दोनों ही नदियों के तट देवों अर्थात् ऋषियों, मुनियों, विद्वानों के निवास एवं आश्रमों से सुशोभित थे। इनके तटों पर यज्ञों का अनुष्ठान होता था। इसी कारण मनु ने इनको 'देवनदी' कहा है। सम्प्रति, दोनों ही नदियों की पहचान को लेकर भूगोलवेत्ताओं में मतभेद हैं। कुछ घग्घर

को सरस्वती, चितंग या रक्षी को दृषद्वती मानते हैं। अभी इन पर सुनिश्चित शोध की आवश्यकता है।

(२) ब्रह्मर्षि देश—ब्रह्मावर्त के साथ लगते पूर्व दक्षिण प्रदेश को 'ब्रह्मर्षि देश' नाम दिया गया है। इसमें निम्न जनपद परिगणित हैं—**कुरुक्षेत्र** (वर्तमान हरियाणा में इसी नाम से प्रसिद्ध एक जिला नगर और उसके पार्श्ववर्ती प्रदेश), **मत्स्य** (वर्तमान राजस्थान में जयपुर और अलवर तथा भरतपुर का कुछ क्षेत्र), **पंचाल** (वर्तमान उत्तरप्रदेश के बरेली, बदायूं और फर्रुखाबाद जिलों के क्षेत्र), **शूरसेन** (मथुरा और आसपास का क्षेत्र) (मनु० २.१९)।

इस शोधकार्य के अनुसार यह श्लोक प्रक्षिप्त घोषित हुआ है। इसकी पुष्टि भौगोलिक वर्णन से भी हो जाती है। यतोहि कुरुक्षेत्र ब्रह्मावर्त प्रदेश के अन्तर्गत आ जाता है, और शेष तीनों जनपद 'मध्यदेश' की सीमा में समाविष्ट हैं। अत: इसकी पृथक् भौगोलिक संरचना मनुसम्मत सिद्ध नहीं होती। प्रतीत होता है, ब्रह्मावर्त के अनुकरण पर उसको महत्त्व देने के लिए परवर्ती काल में यह नामकरण किया गया और इसके प्रसंग के साथ मनुस्मृति में इसका प्रक्षेप कर दिया गया। इसके सभी प्रदेश मनु के बहुत बाद उत्पन्न हुए राजाओं द्वारा बसाये गये हैं अत: मनुस्मृति में प्रक्षिप्त हैं।

(३) मध्यदेश—उत्तर में हिमालय पर्वत, दक्षिण में विध्यपर्वत, पूर्व में प्रयाग प्रदेश (आधुनिक इलाहाबाद) और पश्चिम में विनशन प्रदेश (वर्तमान पश्चिमी राजस्थान की मरुभूमि में सरस्वती नदी के लुप्त होने का स्थल) इनका मध्यवर्ती भूभाग 'मध्यदेश' कहलाता था (मनु० २.२१)। यहां प्रयाग से नगर और जनपद दोनों का ग्रहण किया गया है, जिसमें काशी भी सम्मिलित थीं।

(ग) अन्य जनपद—

मनु० १०.४३-४४ श्लोकों में बारह जनसमुदायों का नामोल्लेख है, जो देशाधारित या देश विशेष की संज्ञाएं भी है। इनसे इन जनपदों के अस्तित्व का संकेत मिलता है। यद्यपि इस शोधकार्य के अनुसार ये श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं, तथापि सम्पूर्णता के लिए मानचित्र में इनको प्रदर्शित कर दिया गया है। इनसे यह जानकारी मिलती है कि किसी समय ये आर्यसंस्कृति के अंग थे—

(१) पौण्ड्रक—बंगाल के दीनाजपुर, मालदह, राजशाही और बोगरा तथा रंगपुर (बांगला देश) के पश्चिमी क्षेत्र। राजधानी पुण्ड्रवर्धनपुर आधुनिक 'महास्थान' (जिला बोगरा)।

(२) औड्र—आधुनिक उड़ीसा का पुरी एवं भुवनेश्वर का क्षेत्र और पूर्वी उत्तरी क्षेत्र। उत्तर में जाजपुर तक था।

(३) किरात—ब्रह्मपुत्र की पूर्वी घाटी का क्षेत्र।

(४) द्रविड—दक्षिण में कावेरी नदी के आसपास का क्षेत्र। वर्तमान तमिलनाडु प्रदेश।

(५) पह्लव—वर्तमान ईरान (फारस) का पूर्वी क्षेत्र।

(६) पारद—वर्तमान इराक और बलूचिस्तान (पाकिस्तान) में हिंगुला नदी प्रदेश और हिंगुलाज प्रदेशीय क्षेत्र।

(७) शक—शकों का मूलस्थान मध्य एशिया था। इनका निवास सायर और आक्सस (वक्षु) नदियों (वर्तमान रूस में) के समीपस्थ प्रदेश में माना जाता है। चीन की यूची जाति द्वारा खदेड़े जाने के बाद इन्होंने पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों में अपने प्रदेश बसाये और शनैः शनैः भारत के भीतरी प्रदेशों पर विजय प्राप्त की।

(८) यवन—यवन यूनान के निवासियों को कहा जाता था। भारत से इनके सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से थे। भारत से जाकर कुछ यवन अर्थात् यूनानी आक्सस (वक्षु) नदी और हिन्दू कुश पर्वत के मध्यप्रदेश में बस गये थे। इस कारण उस क्षेत्र को भी 'यवन देश' कहा गया है। बलख (अफगानिस्तान) इनकी राजधानी का क्षेत्र रहा है।

(९) कम्बोज—दक्षिण-पश्चिम कश्मीर, वर्तमान 'पामीर' और 'बदख्शां' का क्षेत्र (अफगानिस्तान)।

(१०) दर—उत्तर-पश्चिम कश्मीर का गिलगिल, हुंजा प्रदेश।

(११) खश—गढ़वाल और उसका उत्तरवर्ती क्षेत्र।

(१२) चीन—वर्तमान चीन देश।

इनके अतिरिक्त भी दशम अध्याय में बहुत-सी ऐसी जातियों का उल्लेख है, जिनके नाम पर परवर्ती काल में जनपदों का नाम पड़ा। जैसे—अन्ध्र, अम्बष्ठ, मगध आदि। वहां इन जातियों को देशाधारित न मानकर

'वर्णसंकर' सन्तान होने के कारण उस-उस नाम से विहित किया गया है, जो स्पष्टतः प्रक्षिप्त श्लोकों के अन्तर्गत आते हैं। इस कारण इस मानचित्र में उन जातियों या जनपदों का उल्लेख नहीं किया गया है।

वह आर्यावर्त यज्ञिय देश है, उससे परे म्लेच्छ देश—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥ १४२॥
[२.२३] (७७)

(**तु**) और (**यत्र**) जिस देश में (**स्वभावतः कृष्णसारः चरति**) स्वभाविक रूप से कृष्णमृग विचरण करता है (**सः**) वह [१४१ में वर्णित] आर्यावर्त देश (**यज्ञियः देशः ज्ञेयः**) यज्ञों से सम्बद्ध, पवित्र, अथवा श्रेष्ठ आचरण वाले व्यक्तियों से युक्त देश है, ऐसा समझना। (**अतः परः तु**) इस आर्यावर्त से आगे=परे तो (**म्लेच्छदेशः**) म्लेच्छभाषाभाषी= अशुद्ध भाषा बोलने वाले व्यक्तियों अथवा आर्यों की वर्णव्यस्था से अदीक्षित व्यक्तियों के देश हैं॥ १४२॥[1]

अनुशीलन—१४२ **का सङ्गत अर्थ**—(१) इस श्लोक का अन्य टीकाओं या भाष्यों में जो अर्थ मिलता है, वह प्रासङ्गिक सिद्ध नहीं होता। (क) यतोहि, उस अर्थ के अनुसार इस श्लोक में यज्ञिय और म्लेच्छ देश की परिभाषाओं का कोई प्रसङ्ग नहीं बनता। (ख) यहाँ पूर्ववर्णन कुछ देशों की सीमाओं का है, और १४१ में उस प्रसङ्ग में आर्यावर्त की सीमा बतलायी है, अतः इस श्लोक का सम्बन्ध भी उसी के साथ बनता है। यह उसके प्रसङ्ग से विच्छिन्न श्लोक नहीं है। इस श्लोक में '**सः**' पद इसे पूर्व श्लोक के साथ जोड़ने का संकेत करता है और '**तु**' पद यह संकेत देता है कि उसी श्लोक की इसके साथ अनुवृत्ति है। पूर्व देश की विशेषता इसमें प्रदर्शित की है। इस प्रकार यह श्लोक उसका अर्थवाद है। (ग) पहले श्लोक में वर्णित देश का नाम आर्यावर्त है और इस श्लोक

---

१. **प्रचलित अर्थ**—जहाँ पर काला मृग स्वभाव से ही विचरण करता है, वह यज्ञिय देश है, इसके अतिरिक्त म्लेच्छ देश है॥ १४२॥

में भी उसे यज्ञिय परम्पराओं के आधार पर आर्यों =श्रेष्ठों या श्रेष्ठ परम्परा वाले व्यक्तियों का देश बताया है। **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** (शत० १.७.१.५) प्रमाण के अनुसार सभी श्रेष्ठ कर्मों को यज्ञ कहते हैं। उसके साथ इस श्लोक में कृष्णमृग विचरण करने की एक प्राकृतिक विशेषता भी अलग से कह दी है। इस प्रकार इस भाष्य का अर्थ प्रासङ्गिक एव मनुसम्मत है।

(२) श्लोकार्थ में याज्ञवल्क्य स्मृति का प्रमाण—इस भाष्य में जो अर्थ किया गया है वही प्राचीन मान्यता के अनुरूप है, इसकी पुष्टि मनुस्मृति-परम्परा की याज्ञवल्क्य स्मृति के एक श्लोक से हो जाती है। इस श्लोक में यज्ञिय देश की परिभाषा नहीं है, और न कृष्ण मृग को यज्ञिय देश का आधार या लक्षण माना गया है, अपितु कृष्णमृग का विचरण करना आर्यावर्त की एक विशेषता मात्र प्रदर्शित की गई है। प्राचीन मान्यता भी यही है। धर्मों के कथन का प्रारम्भ करते हुए याज्ञवल्क्य स्मृति में इस बात को इसी रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है—

मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाब्रवीन्मुनीन्।
यस्मिन् देशे मृगः कृष्णः तस्मिन् धर्मान् निबोधत॥

(आचार अध्याय २)

अर्थात्—मिथिला निवासी उस योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने थोड़ी देर विचार करके मुनियों से कहा 'जिस देश में काला मृग विचरण करता है या पाया जाता है, उस (आर्यावर्त) देश में अनुष्ठेय धर्मों को सुनो।'

(२) म्लेच्छ शब्द का अभिप्राय—श्लोक में प्रयुक्त 'म्लेच्छ' शब्द विचारणीय है। यहाँ म्लेच्छ शब्द का उत्तरकाल में रूढ़ अपवित्र या नीच अर्थ नहीं है। म्लेच्छ अव्यक्तभाषी अर्थवान् धातु से घञ् प्रत्यय के योग से म्लेच्छ शब्द बनता है। जिसका अर्थ है—'ऐसे अशिक्षित लोग जो विकृत या-अशुद्ध संस्कृत भाषा बोलते हैं।' दूसरे शब्दों में इनको हम यह भी कह सकते हैं—'जिन्होंने वर्णाश्रम धर्मानुसार शिक्षा-दीक्षा प्राप्त नहीं की है, ऐसे व्यक्ति।' उपर्युक्त प्रसङ्ग देशों की सीमा बतलाने का है, अतः मनु कहते हैं कि उपर्युक्त देशों की सीमा के आगे म्लेच्छ व्यक्तियों के देश हैं। उस समय अशिक्षित लोग भी थे, तभी तो मनु संसार के उन सभी देशों के लोगों को

ब्रह्मावर्त में आकर शिक्षा ग्रहण करने का आह्वान कर रहे हैं [१.१३९ (२.२०)]। यह सीमावर्णन का प्रसंग होने से उन लोगों के प्रति इस श्लोक में कोई हीन मान्यता का भाव प्रदर्शित नहीं किया गया है। ऊपर म्लेच्छ का जो अर्थ प्रदर्शित किया है उसकी पुष्टि के लिए मनु का ही एक प्रमाण प्रस्तुत है—

मुखबाहूरूपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचः चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥ १०.४५॥

यहां म्लेच्छों के लिए '**म्लेच्छवाचः**' प्रयोग ध्यान देने योग्य है।

'व्याकरण महाभाष्य' में भी म्लेच्छ शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग है—'**म्लेच्छाः मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्**'' (प्रथम आह्निक)। म्लेच्छ अर्थात् अशुद्ध भाषा-भाषी न रहें, इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिये।

सृष्टि एवं धर्मोत्पत्ति विषय की समाप्ति और वर्णधर्मों के प्रारम्भ का कथन—

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता।
सम्भवश्चास्य सर्वस्य, वर्णधर्मान्निबोधत॥ १४४॥
[२. २५] (७८)

(**एषा**) यह (**धर्मस्य योनिः**) धर्म की उत्पत्ति और उसका स्रोत [१.१२० से १३९ तक (२.१ से २.२०)] (**च**) और (**अस्य सर्वस्य सम्भवः**) इस समस्त जगत् की उत्पति [१.५ से ९१ तक] (**समासेन**) संक्षेप से (**वः प्रकीर्तिता**) आप लोगों को कही, अब (**वर्णधर्मान्**) पूर्वोक्त [१.३१, ८७] वर्णों के धर्मों को (**निबोधत**) विस्तार से सुनो- ॥१४४॥

अनुशीलन—(१) **मनुस्मृति में अध्याय-विभाजन मौलिक नहीं**—प्रथम अध्याय की समाप्ति इस श्लोक के बाद होनी चाहिए, परम्परागत संस्करणों में ११९वें श्लोक के पश्चात् अध्याय की समाप्ति करना त्रुटिपूर्ण है। मनुस्मृति में अध्यायों का विभाजन मौलिक न होकर परवर्ती है।

विभाजनकर्त्ता ने विषयों को अध्यायों का आधार बनाया है, जैसे-प्रथमाध्याय में सृष्ट्युत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति विषय हैं, द्वितीय में ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म, तृतीय में गृहस्थ से सम्बद्ध धर्म आदि। किन्तु प्रथम अध्याय का विभाजन

विषयसंगत नहीं है। पता नहीं विभाजनकर्त्ता की किस भ्रान्ति के कारण यह त्रुटि रह गयी है। प्रथम अध्याय में एक-दूसरे से सम्बद्ध दो विषय हैं—सृष्ट्युत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति। पारस्परिक घनिष्ठ सम्बद्धता के कारण मनु ने इन दोनों विषयों को एक मुख्य विषय मानकर वर्णित किया है। १.२ में मनु से महर्षियों ने धर्मों के कथन करने की प्रार्थना की थी। धर्मकथन के लिए भूमिका के रूप में धर्मोत्पत्ति, धर्मस्रोत आदि का भी बतलाना आवश्यक था, और ये जगदाश्रित हैं—जगदुत्पत्ति के पश्चात् ही धर्म की उत्पत्ति, आवश्यकता और स्थिति बनती है, अत: इस दृष्टि से आवश्यक समझकर मनु ने सृष्टि-उत्पत्ति का भी वर्णन किया है। १.४-५ में इस सृष्ट्युत्पत्ति विषय का संकेतपूर्वक प्रारम्भ है और १.९१ में कर्मों की रचना के साथ वह पूर्ण होता है तथा १०८ वें श्लोक से धर्म का प्रसंग प्रारम्भ होकर १.१४४ [अन्य संस्करणों के अनुसार २.२५] में समाप्त होता है। १.१४४ में मनु ने एकसाथ ही इन विषयों की पूर्णता का संकेत दिया है—''**एषा धर्मस्य वो योनि:.... संभवश्चास्य सर्वस्य.....**'' जब मनु ने स्वयं उसका समापन एकसाथ और १४३वें के बाद कहा है, तो स्पष्ट है कि इससे पूर्व उस विषय को खण्डित एवं समाप्त नहीं किया जा सकता। यदि इन दोनों विषयों में एक सृष्ट्युत्पत्ति विषय की पूर्णता पर ही अध्याय-विभाजन किया जाता, तो उसे भी एक ही विषय से युक्त होने के कारण स्वीकार्य मान लिया जा सकता था किन्तु परम्परागत अध्याय-विभाजन में तो प्रसंग भी तोड़ रखा है। धर्म की भूमिका रूप १०८-११० श्लोक तो प्रथम अध्याय में रह गये और शेष धर्म-वर्णन प्रसंग द्वितीय अध्याय में चला गया। इस प्रकार प्रसंग ही विखण्डित हो जाता है। १४४वें श्लोक के बाद अध्याय में विभाजन होने से न तो प्रसंग ही खण्डित होगा और न विषय, अपितु मनु के संकेत के अनुसार अध्याय की पूर्णता होती है। द्वितीय अध्याय के ये २५ श्लोक प्रथम अध्याय में परिगणित हो जाने से द्वितीय अध्यायों का विभाजन भी वैज्ञानिक और सुव्यवस्थित रूप से हो जायेगा। अन्य अध्यायों की भांति उसका—'ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म' यह एक ही मुख्य विषय

रह जायेगा। इस प्रकार कई त्रुटियों के कारण परम्परागत अध्यायविभाजन गलत है। प्रथम अध्याय की समाप्ति १.१४४ (२. २५ अन्य प्रकाशनों में) के बाद होनी चाहिए (इस विषयक अन्य विस्तृत जानकारी के लिए भूमिका भाग में 'अध्याय-विभाजन' शीर्षक अध्याय पढ़िये)।

(२) मनुस्मृति में वर्णों और आश्रमधर्मों का साथ-साथ वर्णन—यहां केवल '**वर्णधर्मान्निबोधत**' और १०.१३१ में ''**एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः**'' इस उपसंहारात्मक पद को पढ़कर यह जिज्ञासा होती है कि मनु से प्रश्न तो वर्णों और आश्रमों [१.२] दोनों का किया था फिर विषय-संकेतक श्लोकों में केवल वर्णधर्म की ही बात क्यों कही? इसका समाधान मनु-शैली और अन्य श्लोकों से हो जाता है। उसे इस प्रकार समझना चाहिए—

(१) मनुस्मृति की यह शैली है कि उसमें आश्रमों के धर्म वर्णों के साथ-साथ चलते हैं। वर्णों के सुदीर्घ विषय के अन्तर्गत ही आकर वे छठे अध्याय में ब्राह्मण वर्ण के धर्मों के साथ-साथ ही समाप्त हो जाते हैं। और, छठे अध्याय में आश्रमधर्मों की पूर्णता के साथ-साथ ब्राह्मण वर्ण के धर्म और व्यावहारिक कर्त्तव्य भी पूर्ण हो जाते हैं। छठे अध्याय तक के चारों आश्रमों के धर्म और व्यावहारिक कर्त्तव्य सभी द्विजों के लिए एक सदृश पालनीय हैं। जो विधान इन अध्यायों में कहे हैं, ब्राह्मण के वही धर्म-कर्म हैं [१.८८]। इसी शैली के कारण छठे अध्याय के अन्त में आश्रम-धर्मों का भी उपसंहार किया है और बताया है कि ब्राह्मण वर्ण के धर्म के साथ चारों आश्रमों के कर्तव्य भी वर्णित हो गये हैं [६.८७-९१]।

उसके पश्चात् शेष वर्णों के व्यावहारिक कर्त्तव्यों का कथन—'क्षत्रियों' के लिए सप्तम, अष्टम अध्याय और नवम के ३२५ वें श्लोक तक पूर्ण होता है। वैश्यों का ९.३२६ से ३३३ [इस संस्करण में १०.१ से १०.८ तक] तथा शूद्र के कर्त्तव्यों का कथन ९.३३४-३३५ [इस संस्करण में १०.९-१० तक] पूर्ण हो जाता है।

(२) इस मध्य द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय से पञ्चम अध्यायों में गृहस्थाश्रम, षष्ठ में वानप्रस्थ

और संन्यासाश्रम का वर्णन है। आश्रमधर्मों को वर्णधर्म-विषय के अन्तर्गत मानकर उन-उन विषयों के प्रसंग-संकेतक श्लोकों तथा उपसंहारात्मक श्लोकों से उसका कथन भी किया है [२.४३ (२.६८), २.२२४ (२.२४९), ३.२, ६७, २८६; ४.१, २५९; ५.१६९; ६.१, ३३, ८७-९०] आदि।

(३) इसी प्रकार इन अध्यायों में द्विज विप्र, ब्राह्मण शब्दों का स्थान-स्थान पर पर्यायवाचीरूप में प्रयोग है। उन्हें

इति महर्षिमनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतहिन्दीभ
विभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ 'जगदुत्पत्ति

केवल 'ब्राह्मण' अर्थबोधक नहीं मानना चाहिये।

(४) मनु ने संभवतः इसी शैली के अनुरूप १.२ और १.१३७ [२.१८] में आश्रम के लिए पर्यायवाची रूप में '**अन्तरप्रभव**' और '**सान्तराल**' शब्दों का प्रयोग किया है, इसका अर्थ बनता है—'**वर्णानाम् अन्तरे प्रभवः उत्पत्तिः स्थितिः येषां ते अन्तरप्रभवाः=आश्रमाः**' इसी शैली के अनुरूप आश्रमों का वर्णधर्मों के अन्तर्गत ही कथन है। यह मनु की शैली है।

ाषा-भाष्यसमन्वितायाम्, अनुशीलन-समीक्षा-
त-धर्मोत्पत्तिः' नामात्मकः प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ द्विती

(हिन्दीभाष्य-'अनुशी

(संस्कार एवं ब्रह

(संस्कार २.१ से २.४३ तक)

संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाभ—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ १॥
[२.२६] (१)

(**द्विजन्मनाम्**) द्विजों=ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों को (**इह च प्रेत्य पावनः**) इस जन्म और परजन्म में तन-मन, आत्मा को पवित्र करने वाले (**निषेक-आदि शरीर-संस्कारः**) गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त संस्कार (**पुण्यैः वैदिकैः कर्मभिः कार्यः**) पुण्यरूप वेदोक्त यज्ञ आदि कर्मों और वेदोक्त मन्त्रों के द्वारा करने चाहियें॥ १॥

ऋषि अर्थ—''सब मनुष्यों को उचित है कि वेदोक्त पुण्यरूप कर्मों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने सन्तानों का निषेकादि संस्कार करें, जो इस जन्म वा परजन्म में पवित्र करने वाला है।'' (स०प्र०, समु० १०)

अनुशीलन—(१) संस्कारों का उद्देश्य—''जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकता है और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं। अतः संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।'' (सं०वि० भूमिका)

(२) संस्कारों का अनुष्ठान बालक-बालिकाओं दोनों के लिए—सभी संस्कार बालक-बालिका, स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान भाव से किन्तु यथायोग्य रूप से करणीय हैं। अग्रिम श्लोकों में उल्लिखित 'पुंसः' प्रयोग अथवा पुंल्लिग-प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों के प्रतिनिधि या उपलक्षण रूप में हैं जैसे दण्ड आदि विधानों में प्रयोग है।

योऽध्यायः

लन'-समीक्षा सहित)

चर्याश्रम विषय)

गर्भ में बालक-बालिका का भेद अज्ञात रहता है अतः गर्भकालीन संस्कार जब होते हैं तो दोनों के समानभाव से हुआ ही करते हैं। इसी प्रकार जातकर्म, नामकरण, अन्त्येष्टि आदि भी हैं। सभी संस्कार वेदमन्त्रपूर्वक तथा यज्ञानुष्ठानपूर्वक सम्पन्न होते हैं। मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट आदि सभी टीकाकारों ने संस्कारों का अनुष्ठान वेदमन्त्रों के उच्चारण-पूर्वक किया जाना माना है। जिन श्लोकों में स्त्रियों के लिए किसी संस्कार का निषेध है, वे प्रक्षिप्त हैं और जिन टीकाकारों ने स्त्री आदि के लिए वेद, यज्ञ आदि निषेधपरक व्याख्या की है वह मनु की मौलिक मान्यताओं के विरुद्ध है। (स्त्रियों के समान अधिकारों के लिए विस्तृत प्रमाण विवेचन भूमिका में चतुर्थ अध्याय में द्रष्टव्य है।)

३. शूद्रों के लिए संस्कारों का निषेध नहीं—मनु ने शूद्रों के लिए कहा है—**''न धर्मात् प्रतिषेधनम्''** (१०.१२६) संस्कारों को करने का शूद्रों के लिए अनिवार्य विधान भी नहीं है और निषेध भी नहीं है। द्विजों के लिए अनिवार्य विधान है। शूद्र शिक्षित न होने के कारण संस्कार करने के योग्य और वैधानिक अधिकारी नहीं होते किन्तु वे द्विजों से करा सकते हैं। कुछ संस्कार तो उनके भी सहज रूप में आज भी होते ही हैं, जैसे—गर्भकालीन संस्कार, नामकरण, विवाह, अन्त्येष्टि आदि। इसी प्रकार अन्य सभी संस्कार करा सकते हैं। अध्ययन करके वे द्विज भी बन सकते हैं यह मनु की मान्यता है (१०.६५)। प्राकृतिक न्याय की दृष्टि से संस्कारित होकर उत्थान करने का अधिकार मानव मात्र को है। (इस अधिकार विषयक विस्तृत प्रमाण एवं विवेचन भूमिका में चतुर्थ अध्याय में द्रष्टव्य हैं।)

संस्कारों से आत्मा के बुरे संस्कारों का निवारण —

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥ २॥

[२.२७] (२)

(**गार्भैः होमैः**) गर्भकालीन अर्थात् गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन इन होमपूर्वक किये जाने वाले संस्कारों से (**जात-कर्म-चौल-मौञ्जीनिबन्धनैः**) [**जाते जन्मनि शैशवावस्थायां क्रियते यत् संस्कारकर्म तत् जातकर्म**] जन्म होने पर शैशवावस्था में जो संस्कार किये जाते हैं, वे जातकर्म कहलाते हैं। उनमें जातकर्म [२.४], नामकरण [२.५-८], निष्क्रमण [२.९], अन्नप्राशन [२.९] और चौल अर्थात् चूडाकर्म [२.१०], तथा मेखला-बन्धन अर्थात् उपनयन एवं वेदारम्भ आदि [२.११-४३; २.४४, ४६-२२४] (**होमैः**) यज्ञ पूर्वक सम्पन्न किये जाने वाले इन संस्कारों से (**द्विजातीनाम्**) द्विज=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बालकों के (**बैजिकम्**) बीज-सम्बन्धी= परम्परागत पैतृक-मातृक अंशों से उत्पन्न होने वाले (**च**) और (**गार्भिकम्**) गर्भकाल में माता-पिता से प्राप्त होने वाले (**एनः**) बुरे आचरण के संस्कार एवं शारीरिक दोष (**अपमृज्यते**) दूर हो जाते हैं अर्थात् इन संस्कारों के करने से बालक-बालिकाओं एवं स्त्री-पुरुषों के शरीर और मनम्बन्धी दोष मिटकर वे निर्मल बनते हैं॥ २॥[१]

अनुशीलन—इस श्लोक के अर्थ की व्यापकता पर और संस्कारों की संख्या सम्बन्धी मान्यता पर विस्तृत विवेचन करना पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा, क्योंकि, प्रचलित टीकाओं में इस श्लोक का अर्थ संकुचित एवं अपूर्ण मिलता है तथा मनु ने संस्कार कितने माने हैं, इस विषय में अनेक लेखकों को भ्रान्ति हुई है।

(क) 'गार्भैः' आदि पदों में अर्थव्यापकता—(१)

---

१. **प्रचलित अर्थ**—गर्भ शुद्धिकारक हवन, चूड़ाकरण और मौञ्जीबन्धन (यज्ञोपवीत) संस्कारों से द्विजों के वीर्य एवं गर्भ से उत्पन्न दोष नष्ट हो जाते हैं॥ २.२७॥

सर्वप्रथम संस्कारों के परिगणन प्रसङ्ग में मनु की शैली को समझ लेना उपयोगी होगा। क्योंकि उस समय संस्कार बहुप्रचलित प्रसिद्ध धार्मिक कृत्य थे, अतः मनु ने कहीं किसी संस्कार का केवल नामोल्लेख ही कर दिया, जैसे-निषेक संस्कार [२.१-२ में], किन्तु विधि नहीं दी। कहीं सांकेतिक रूप में एक वर्ग के संस्कारों का परिगणन कर दिया है, जैसे '**गार्भैः**' कहने से सभी गर्भकालीन संस्कारों= गर्भाधान, पुँसवन, सीमन्तोन्नयन का अन्तर्भाव हो गया, तो कहीं इस श्लोक में सबका नामोल्लेख न करके विधिवर्णन में उनका कथन कर दिया है, जैसे नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन का [२.४-९]। जिस संस्कार के विषय में मनु को जितना स्पष्टीकरण अभीष्ट था, उतना ही किया है।

(२) इस शैली के समझने के पश्चात् अब इस श्लोक के शब्दों के अर्थ की व्यापकता पर विचार किया जाता है। (क) इस श्लोक में 'गार्भैः' शब्द बहुवचनान्त है, जिसका अर्थ है-'गर्भ-सम्बन्धी' या 'गर्भकालीन सभी संस्कार'। अगर मनु को केवल गर्भाधान संस्कार का परिगणन करना ही अभीष्ट होता है तो वे बहुवचन का प्रयोग नहीं करते। यह बहुवचनान्त प्रयोग ही यह सिद्ध करता है कि मनु इस शब्द से गर्भस्थ बालक-बालिकाओं के सभी गर्भकालीन संस्कारों के परिगणन की अभीष्टता का संकेत करना चाहते हैं। वे गर्भकालीन संस्कार तीन हैं—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन।

(ख) इसी प्रकार इस श्लोक में 'जातकर्म' भी केवल एक संस्कार का वाचक न होकर जन्म के उपरान्त बालक-बालिकाओं के शैशव काल में होने वाले सभी संस्कारों का उपलक्षण है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि मनु ने विधिवर्णन प्रसंग में जातकर्म के पश्चात् उन सभी का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। वे हैं—१. जातकर्म [२.४], २. नामकरण [२.५-८], निष्क्रमण [२.९], अन्नप्राशन [२.९]।

(ग) इसी प्रकार 'मौञ्जीबन्धन' भी अपने अन्तर्गत दो संस्कारों का अन्तर्भाव किये हुए है-एक उपनयन और दूसरा-वेदारम्भ। क्योंकि ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी दोनों

उपनयनदीक्षा के अवसर पर उपवीत आदि तथा ब्रह्मचारी
मेखला आदि धारण करता है और वेदाध्यायन समाप्ति
पर्यन्त उसे धारण कर रखता है। इस प्रकार इस नाम में
व्यापक भाव है।

(३) मनुस्मृति में सोलह संस्कार—

इस विवेचन के उपरान्त अब इस जिज्ञासा का
समाधान भी निकल आता है कि मनु ने बालक-

सोलह संस्कारों की

संस्कार संख्या	नाम	संस्कार का उद्देश्य एवं विधि (प्रत्येक संस्कार यज्ञ
१.	**गर्भाधान संस्कार**	सन्तानप्राप्ति के लिए यज्ञपूर्व करके गर्भस्थापन करना (गृ
२.	**पुँसवन**	स्त्री के गर्भाधान के चिह्न प्र तीसरे मास में पुत्रोत्पत्ति या से यज्ञपूर्वक की जानेवाली
३.	**सीमन्तोन्नयन**	गर्भ के चतुर्थ मास में गर्भस् आरोग्य के लिए यज्ञपूर्वक
४.	**जातकर्म**	शिशुजन्म के समय किया ज सोने की शलांका से बालक- मात्रा में थोड़ा-सा मधु और
५.	**नामकरण**	जन्म के १० वें, बारहवें या में बालक-बालिका का यज्ञ
६.	**निष्क्रमण**	अधिक से अधिक चतुर्थ मा को घर से बाहर भ्रमण करा प्रारम्भ करना।
७.	**अन्नप्राशन**	लगभग छठे मास में बालक सुपाच्य पौष्टिक भोजन का प्र
८.	**मुण्डन (चूडाकर्म)**	प्रथम या तृतीय वर्ष में बाल कराना अर्थात् प्रथम बार सि
९.	**उपनयन**	बालक-बालिका को शिक्षा गुरुकुल में ले जाकर छोड़ना यज्ञोपवीत की दीक्षा देना। [
१०.	**वेदारम्भ**	गुरु के पास रहकर वेदों को और वर्णानुसार शिक्षा प्राप्त

बालिकाओं या स्त्री-पुरुषों के लिए अपनी स्मृति में कितने संस्कारों का उल्लेख किया है। कोई मनुसम्मत १२ संस्कार मानते हैं, तो कोई कम-अधिक। वास्तविकता यह है कि मनु ने सांकेतिक, नामोल्लेख या विधिवर्णन के रूप में १६ संस्कारों का वर्णन किया है। पाठकों के परिज्ञान के लिए उनके वर्णनस्थल एवं अर्थ का यहां तालिका के रूप में दिग्दर्शन कराया जाता है—

ी विवरण-तालिका

य	मनुस्मृति में वर्णनस्थल
ूर्वक सम्पन्न होता है)	
क संस्कार-अनुष्ठान	[२.२ में 'गार्भैः' पद से
हाश्रमी होने पर)	और २.१,११७ में]।
कट होने पर दूसरे या	[२.२ में 'गार्भैः' पद
भ्रूण की पुष्टि के उद्देश्य	के अन्तर्गत]
विधि।	
थरता, पुष्टि एवं स्त्री के	[,, ,,]
की जाने वाली विधि।	
ाने वाला संस्कार जिसमें	[२.४ में]
बालिका को असमान	
घृत चटाया जाता है।	
किसी भी सुखमय दिन	[२.५-८ में]
ूर्वक नाम रखना।	
स में बालक-बालिका	[२.९ में]
े के लिए निकालना	
-बालिका को अन्न आदि	[२.९ में]
ारम्भ कराने का अनुष्ठान	
क का मुण्डन संस्कार	
र के केश उतारना।	[२.३५ में]
के लिए गुरु के समीप	
और गुरु द्वारा उसे	[२.११-४३ में]
२।११-४३ में]	
पढ़ना आरम्भ करना	
करना।	[२.४४-२२४ में]

११. **केशान्त** युवावस्था के प्रारम्भ में यथा
१२. **समावर्तन** वेदों का अध्ययन और शिक्ष
को धारण करने के लिए स्ना
गुरुकुल को छोड़ घर लौटना
१३. **विवाह** गृहस्थाश्रम धर्म के लिए स्त्री
एवं सम्बन्ध होना (२५ वर्ष की
गृहस्थाश्रम विवाहोपरान्त गृहस्थ के धर्म
संस्कार करते हुए सन्तानोत्पत्ति करन

१४. **वानप्रस्थ** सन्तानों के स्वावलम्बी होने
के पश्चात् घर को त्याग कर
द्वारा तपस्या, स्वाध्याय, ईश्व
करना। वनस्थ होने की दीक्ष
१५. **संन्यास** स्त्री-पुरुष द्वारा सांसारिक सु
भावनाओं का और सर्वस्व
परोपकारार्थ एकाकी विचरण
विद्या, तप और ब्रह्म में लीन
करना। इन उद्देश्यों हेतु संन्य
१६. **अन्त्येष्टि** प्राणों के निकल जाने पर श
विधिवत् दाहकर्म करने का

(४) 'एनः' का अर्थ—एनः का अर्थ यहां पाप-क्षीणता नहीं है अपितु शरीरिक-मानसिक दोष या 'बुरे आचरण से उत्पन्न दुष्ट संस्कार' यह अर्थ है। **'ईयते प्राप्यते दुःखम् अनेन इति एनः अधर्माचरणम् तज्जन्यः संस्कार-दोषः शरीराशुद्धिश्च।'** 'इण्गतौ' धातु से 'इणः आगसि' (उणादि ४.१९८) सूत्र से असुन् प्रत्यय और नुडागम से 'एनस्' शब्द सिद्ध होता है। इसकी पुष्टि २.७७ [२.१०२] श्लोक से भी हो जाती है। वहाँ 'एनस्' के प्रयोग के साथ 'मलम्' का भी पर्यायवाची रूप में प्रयोग है जिसका अर्थ संस्कारदोष की मलिनता का नष्ट हो जाना है।

वेदाध्ययन, यज्ञ, व्रत आदि से ब्रह्म की प्राप्ति —

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ ३॥

[२.२८] (३)

योग्य केशकर्तन कराना।	[२.४०]
प्राप्त करके गृहस्थाश्रम तक-स्नातिका बनकर ।	[३.१-३ में, २.२२०- २२२ भी द्रष्टव्य]
और पुरुष का विवाह आयु के पश्चात्)।	[३.४-६२ में]
और कृत्यों का पालन ा।	[३.६७-२८६, सम्पूर्ण चतुर्थ और पंचम अध्यायों में]
पर या ५० वर्ष की आयु वन में रहते हुए पति-पत्नी रभक्ति एवं समाजसेवा लेने का संस्कार।	[६.१-३२ में]
ख-सुविधाओं के भोग आदि की का त्याग करके, पूर्ण वैरागी बन, करने की प्रतिज्ञा लेना तथा रहकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न स-दीक्षा का अनुष्ठान करना।	[६.३३-९७ में, १२.८२-१२५ भी द्रष्टव्य]
ीर का यज्ञपूर्वक प्रदूषण रहित अनुष्ठान।	[५.१६७ में]

(**स्वाध्यायेन**) जीवनभर वेदादि शास्त्रों का स्वयं अध्ययन करने से [३.७५, ८१; ४.३५, १४७; ६.८; ११.८३], (**व्रतैः**) वर्णों और आश्रमों के लिए शास्त्रोक्त व्रतों का निष्ठापूर्वक पालन करने से [४.२५९, २६०; ६.९७], (**हौमैः**) ब्रह्मचर्याश्रम में प्रतिदिन सायंप्रातः अग्निहोत्र करने से [२.१८६], (**त्रैविद्येन**) त्रयीविद्या रूप वेदों के सांगोपांग पठन-पाठन से [३.१, २; ७.३७, ३८; १२.१११, ११२] (**इज्यया**) पक्षेष्टि आदि करने से [४.२५; ६.९, १०, ३८], (**सुतैः**) गृहस्थ-धर्मानुसार सुसन्तानोतपत्ति करने से [३.३९-४२], (**महायज्ञैः**) गृहस्थस्थ और वान-प्रस्थाश्रम में ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ, अतिथियज्ञ इन पांच महायज्ञों के अनुष्ठान से [३.६९-८२; ६.४, ५] (**यज्ञैः**) अग्निष्टोम आदि बृहत्

यज्ञों के आयोजन से [२.११८], (**इयं तनुः**) यह शरीर (**ब्राह्मी क्रियते**) ब्रह्ममय और ब्राह्मण का बनता है अर्थात् वेदाध्ययन और परमेश्वर की भक्ति का आधार रूप आध्यात्मिक शरीर बनता है तथा इन आचरणों से ही वस्तुतः ब्राह्मण बनता है, इनके बिना नहीं ॥ ३ ॥

ऋषि अर्थ—''(**स्वाध्यायेन**) पढ़ने-पढ़ाने (**जपैः होमैः**) विचार करने-कराने, नानाविध होम के अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारणसहित पढ़ने-पढ़ाने (**इज्यया**) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, पूर्वोक्त विधिपूर्वक (**सुतैः**) धर्म से सन्तानोत्पत्ति (**महायज्ञैः च**) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ (**यज्ञैश्च**) अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का संग-सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्कर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़के दुराचार छोड़ श्रेष्ठचार में वर्तने से (**इयम्**) यह (**तनुः**) शरीर (**ब्राह्मी**) ब्राह्मण का (**क्रियते**) किया जाता है।'' (स०प्र०, समु० ४)

(अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०समु० ४; सं०वि०, गृहाश्रम)

जातकर्म संस्कार का विधान —

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्॥ ४॥
[२.२९] (४)

(**पुंसः**) बालक-बालिका का (**जातकर्म**) जातकर्म संस्कार (**नाभिवर्धनात् प्राक्**) नाभि-नाल काटने से पहले (**विधीयते**) किया जाता है (**च**) और तब इस संस्कार में (**अस्य**) इस बालक-बालिका को (**मन्त्रवत्**) मन्त्रोच्चारणपूर्वक (**हिरण्यमधु-सर्पिषाम्**) सोने की शलाका से [असमान मात्रा में मिलाया] शहद और घी (**प्राशनम्**) चटाया जाता है ॥ ४ ॥

अनुशीलन—'**वर्धन**' **शब्द का विवेचन**— (१) '**वर्धनम्**' शब्द 'वर्ध छेदनपूरणयोः' धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से बना है, अतः उसका अर्थ 'काटना' है। बालक के उत्पन्न होने के पश्चात्, नाभि काटने से पूर्व, इस संस्कार की श्लोकोक्त प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। वह इस प्रकार

की जाती है। बालक के उत्पन्न होने पर प्रथम गर्भाशय की झिल्ली से उसके नाभिस्थ नाल को पृथक् किया जाता है और सिरे को बांध दिया जाता है। पुनः नाभि से कुछ इंच छोड़कर उस नाल को दो स्थानों से अच्छी प्रकार बांधा जाता है, जिससे कि बालक का रक्त न बहे। शेष नाल को काटकर पृथक् कर दिया जाता है। इसी को नाभिवर्धन क्रिया कहते हैं। इस क्रिया से पूर्व सोने की शलाका से शहद और घी चटाना विहित है। दूसरा इसका अभिप्राय यह है कि नाभिवर्धन से पूर्व या उसी समय जातकर्म संस्कार प्रारम्भ किया जाता है। प्रसव समय निकट आने पर बालक का पिता प्रसूता पर जलप्रोक्षण करता है (द्र० पार० गृ० सूत्र १.१६.१; गोभिल० २.७, १३.१७) पुरोहित यज्ञ-स्थल पर बैठ पुण्याहवाचन करता है।

(२) महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि में इस प्रक्रिया को इस प्रकार वर्णित किया है—"तत्पश्चात् घी और मधु दोनों बराबर मिलाके जो प्रथम सोने की शलाका कर रक्खी हो उस से बालक की जीभ पर—'**ओ३म्**' यह अक्षर लिखके उसके कान में "**वेदोसीति**"—तेरा गुप्त नाम वेद है, ऐसा सुनाके पूर्व मिलाये हुए घी मधु को उस सोने की शलाका से बालक को नीचे लिखे मन्त्र से थोड़ा-थोड़ा चटावे।" (सं०वि० जातकर्मप्रकरण)

(३) जातकर्म में गृह्यसूत्रों के प्रमाण—गृह्यसूत्रों ने मनुविहित विधि को ही ग्रहण किया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र १.१५.१ में जातकर्म में निम्न विधान वर्णित है—"**कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिमधुनी हिरण्य-निकाषं हिरण्येन प्राशयेत्॥**" अर्थात्—बालक के जन्म के पश्चात् दूसरों के हाथों में देने से पूर्व उसे स्वर्णपात्र में मिलाकर सोने की शलाका से शहद और घी चटाये।

बालक-बालिकाओं का नामकरण संस्कार—

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते॥ ५॥

[२.३०] (५)

(**अस्य**) इस बालक-बालिका का (**नामधेयं तु**) नामकरण संस्कार (**दशम्यां वा द्वादश्याम्**) जन्म से दशवें वा बारहवें दिन (**वा**) अथवा (**पुण्ये तिथौ वा**

मुहूर्ते) किसी भी पुण्य=अनुकूल सुविधा-जनक तिथि या मुहूर्त में (**वा**) अथवा (**गुणान्विते नक्षत्रे**) शुभगुण वाले नक्षत्र अर्थात् प्राकृतिक बाधा रहित और सुख-सुविधायुक्त नक्षत्र के समय में (**कारयेत्**) करावे॥५॥

अनुशीलन—नामकरण में गृह्यसूत्रों के प्रमाण— गृह्यसूत्रों में नामकरण संस्कार की विधि की परम्परा कुछ परिवर्तन के साथ मिलती है —

(क) ''**नाम चास्मै दद्युः। घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमभि-निष्ठान्तं द्व्यक्षरम्। चतुरक्षरं वा। युग्मानि त्वेव पुंसाम्। अयुजानि स्त्रीणाम्॥**'' (अश्व० गृह्य० १.१५.४-१०)

(ख) ''**दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति। द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतं कुर्यात् न तद्धितम् अयुजाक्षरम्-आकारान्तं स्त्रियै।**''

(पार० गृह्य० १।१७।१-४)

भावार्थ—दशवें दिन पिता नामकरण संस्कार करता है। बालक का नाम दो अक्षर का या चार अक्षर का हो और वह घोषसंज्ञक अर्थात् पांचों वर्गों के दो-दो अक्षर छोड़ के तीसरे, चौथे, पाँचवें [ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म, ये स्पर्श] और अन्तस्थ अर्थात् य, र, ल, व से युक्त, दीर्घस्वरान्त नाम रखे। और नाम कृदन्त रखें तद्धितान्त नहीं। विषमाक्षर और आकारान्त नाम स्त्रियों के होने चाहिएं।

वर्णानुसार नामकरण—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्यबलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥ ६॥
[२.३१] (६)

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्॥ ७॥
[२.३२] (७)

[यह नामकरण माता-पिता की अपेक्षा से है]

(**ब्राह्मणस्य मङ्गल्यं स्यात्**) ब्राह्मण बनाने के इच्छुक बालक का नाम शुभत्व-श्रेष्ठत्व भावबोधक शब्दों से [जैसे-ब्रह्मा, विष्णु, मनु, शिव, अग्नि, वायु, रवि, आदि] रखना चाहिए (**क्षत्रियस्य**) क्षत्रिय बनाने के

इच्छुक बालक का (**बल+अन्वितम्**) बल-पराक्रम-भावबोधक शब्दों से [जैसे-इन्द्र, भीष्म, भीम, सुयोधन, नरेश, जयेन्द्र, युधिष्ठिर आदि] (**वैश्यस्य धनसंयुक्तम्**) वैश्य बनाने के इच्छुक बालक का धन-ऐश्वर्य भाव-बोधक शब्दों से [जैसे-वसुमान्, वित्तेश, विश्वम्भर, धनेश आदि] और (**शूद्रस्य तु**) शूद्र रखने के इच्छुक बालक का (**जुगुप्सितम्**) रक्षणीय, पालनीय भाव-बोधक शब्दों से [जैसे-देवगुप्त, देवदास, सुदास, अकिंचन] नाम रखना चाहिए। अर्थात् बालक-बालिका के अभीष्ट वर्णसापेक्ष गुणों के आधार पर नामकरण करना चाहिए॥ ६ ॥[1]

[अथवा] (**ब्राह्मणस्य शर्मवद् स्यात्**) ब्राह्मण बनाने के इच्छुक बालक का नाम शर्मवत्=कल्याण, शुभ, सौभाग्य, सुख आनन्द, प्रसन्नता भाव वाले शब्दों को जोड़कर रखना चाहिए। जैसे-देवशर्मा, विश्वामित्र, वेदव्रत, धर्मदत्त, आदि (**राज्ञः रक्षासमन्वितम्**) क्षत्रिय का नाम रक्षक भाव वाले शब्दों को जोड़कर रखना चाहिए [जैसे—महीपाल, धनञ्जय, धृतराष्ट्र, देववर्मा, कृतवर्मा] (**वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तम्**) वैश्य का नाम पुष्टि-समृद्धि द्योतक शब्दों को जोड़कर [जैसे—धनगुप्त, धनपाल, वसुदेव, रत्नदेव, वसुगुप्त] और (**शूद्रस्य**) शूद्र का नाम (**प्रेष्यसंयुतम्**) सेवकत्व भाववाले शब्दों को जोड़कर रखना चाहिए [जैसे—देवदास, देवगुप्त, धर्मदास, महीदास।] अर्थात् व्यक्तियों के वर्णगत लक्ष्यों के आधार पर नामकरण करना चाहिए। यह बालकपन का नामकरण है। बाद में जब गुरुकुल में अथवा अन्य जीवनकाल में वर्णपरिवर्तन करना हो तो

---

१. **प्रचलित अर्थ**—ब्राह्मण का मंगल-सूचक शब्द से युक्त, क्षत्रिय का बल-सूचक शब्द से युक्त, वैश्य का धन-वाचक शब्द से युक्त और शूद्र का निन्दित शब्द से युक्त नामकरण करना चाहिए। २.३१ ॥ ब्राह्मण का 'शर्मा' शब्द से युक्त, क्षत्रिय का रक्षा-शब्द से युक्त, वैश्य का पुष्टि शब्द से युक्त और शूद्र का प्रेष्य (दास) शब्द से युक्त उपनाम (उपाधि) करना चाहिए॥ २.३१ ॥

उस वर्णानुसार नामपरिवर्तन कर लें, जैसे वानप्रस्थ या संन्यास ग्रहण के समय किया करते हैं, क्योंकि वर्ण का अन्तिम निश्चय और घोषणा तो आचार्य करता है [२.१२३ (२.१४८)] ॥७॥

ऋषि अर्थ—"जैसे ब्राह्मण का नाम विष्णुशर्मा, क्षत्रिय का विष्णु वर्मा, वैश्य का विष्णुगुप्त और शूद्र का विष्णुदास, इस प्रकार नाम रखना चाहिये। जो कोई द्विज शूद्र बनना चाहे तो अपना नाम दास शब्दान्त धर ले।" (ऋ०प०वि० ३४९)

अनुशीलन—६,७ श्लोकों के संगत अर्थ—प्रचलित टीकाओं में इन दोनों श्लोकों के अर्थों में निम्न त्रुटियां पायी जाती हैं—

(१) प्रचलित टीकाओं में इन दोनों श्लोकों का जिस पद्धति से अर्थ किया गया है उससे दोनों श्लोकों का अन्तर स्पष्ट नहीं होता। उन टीकाओं के अर्थ के अनुसार पहले श्लोक में चारों वर्णों का क्रमशः मङ्गलयुक्त, बलयुक्त, धनयुक्त और निन्दायुक्त नाम रखने का विधान है और द्वितीय में शर्मायुक्त, रक्षायुक्त, पुष्टियुक्त और दासयुक्त नाम रखने का कथन है। यहां सन्देह होता है कि पहले और दूसरे श्लोकों में ये भिन्न-भिन्न विधान क्यों हैं? तथा यह शङ्का होती है कि इस प्रकार के शब्दों को संयुक्त करके नाम रखने की परम्परा प्राचीन काल में अधिक नहीं मिलती। स्वयं मनु का, शेष मनुओं का, ऋषि-मुनियों का नाम भी इस परम्परा के अनुसार नहीं मिलता और दूसरा कोई विधान मनु ने दिया नहीं है, यह विरोध क्यों? इन अर्थों के अनुसार दूसरे श्लोक में एकरूपता नहीं बनती। शर्मा और दास तो उपाधियाँ मान लीं तथा रक्षा और पुष्टि को भाव मानकर अर्थ किया है। या तो सभी वर्णों के साथ उपाधियों का ही कथन होना चाहिए था या भावों का ही।

(२) कुछ टीकाकारों ने द्वितीय श्लोक में 'शर्मवत्' का अर्थ—'शर्मा' उपाधिधारी, 'रक्षासमन्वितम्' का 'वर्मा' उपाधिधारी और 'पुष्टिसंयुक्तम्' का 'गुप्त' उपाधिधारी तथा 'प्रेष्यसंयुतम्' का दास उपाधिधारी नामकरण, यह भ्रान्तिपूर्ण अर्थ किया है।

(३) प्रायः सभी टीकाकारों ने 'जुगुप्सितम्' शब्द

का 'निन्दायुक्त' यह अशुद्ध और मनुविरुद्ध अर्थ किया है।

इन त्रुटियों का निराकरण क्रमशः निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(१) वस्तुतः इन श्लोकों में विकल्प पूर्वक दो विधान हैं और दोनों में पर्याप्त अन्तर है। इन विधानों में दो प्रकार से भिन्नता है—

(क) प्रथम श्लोक में इच्छित वर्णानुसार व्यक्तिपरक गुणों या प्रवृत्तियों के आधार पर नामकरण करने का विधान है। जैसे ब्राह्मण वर्ण के लोगों में शुभत्व और श्रेष्ठत्व के गुण होते हैं, अतः उसी प्रकार के भावबोधक शब्दों से उनका नामकरण करना चाहिए। क्षत्रिय वर्ण के लोगों में बल-पराक्रम प्रधान गुण होना चाहिए, अतः उनका नामकरण भी ऐसे शब्दों से करना चाहिए जिनमें इन भावों का आभास हो। इसी प्रकार वैश्यों में धनयुक्त होना उनका मुख्य गुण होता है, अतः उनका नाम भी धनवान्-ऐश्वर्यवान् होने के भावों को प्रकट करने वाले शब्दों द्वारा होना चाहिये। इसी प्रकार शूद्र द्विजों के आश्रय में रहता है, उन्हीं के आश्रय से उसका पालन एवं रक्षा होती है। अतः उसका नामकरण ऐसे शब्दों से किया जाना चाहिए जिनमें उसके रक्षणीय और पालनीय होने के भाव झलकें। आज भी माता-पिता अपनी भावना के अनुसार बालक-बालिका का नामकरण करते देखे जाते हैं।

दूसरे श्लोक में व्यक्तियों के वर्णगत कर्मों के आधार पर नामकरण करने का विधान है, जैसे ब्राह्मण का कार्य उपकार द्वारा लोगों का कल्याण करना, विद्यादान द्वारा सुख देना आदि है तो उसके नाम में भी इस प्रकार के भावों का बोधक शब्द जोड़ने का कथन है। इसी प्रकार क्षत्रिय का कार्य रक्षा करना, वैश्य का पालन-पोषण करना, शूद्र का सेवा करना है तो उनके नामों के साथ भी तत्तत् भावबोधक शब्दों को जोड़ने का विधान है। शुभ-श्रेष्ठ, बलवान्, धनवान् होना, और आश्रित या रक्ष्य होना, ये वर्णों के व्यक्तिसापेक्ष गुण या प्रवृत्तियाँ हैं और सुखी बनाना, कल्याण करना, रक्षा करना, पालन-पोषण करना, सेवा करना, ये व्यक्तियों के वर्णगत कार्य हैं। इस प्रकार प्रथम श्लोक में गुण और प्रवृत्ति के अनुसार नामकरण करने का विधान है और द्वितीय में कार्यानुसार।

(ख) दूसरा अन्तर यह है कि प्रथम श्लोक में गुण या प्रवृत्ति का बोध कराने वाले शब्दों से ही नाम रखने का विधान है, जबकि दूसरे श्लोक में कार्यानुसारी भाव को प्रकट करने वाले शब्दों को नाम के साथ जोड़ने का कथन है। दोनों ही प्रकार की परम्परा प्राचीनकाल में चलती रहती है। इनके उदाहरण श्लोकों के अर्थों के साथ दर्शाये जा चुके हैं। इस प्रकार अर्थ की स्पष्टता से सभी सन्देहों, शंकाओं व त्रुटियों का निराकरण हो जाता है।

(२) जिन टीकाकारों ने 'शर्मवत्' शब्द को शाब्दिक रूप में ग्रहण करके शर्मा, वर्मा, गुप्त और दास उपाधि-संयुक्त करने सम्बन्धी अर्थ किया है, उन्होंने इस श्लोक के अर्थ को संकुचित बना दिया है। शायद उन्हें यह भ्रान्ति इसलिये हो गयी है कि आर्वाचीन युग में केवल इन्हीं शब्दों का प्रयोग परम्परा में अधिक प्रचलित रहता रहा है। इस श्लोक में 'शर्मवत्' से अभिप्राय 'शर्मा' शब्द लगाने से नहीं है, अपितु इस भाव का कोई भी शब्द नाम के साथ जोड़ने से है। यहां इन शब्दों को शाब्दिक रूप में नहीं लेना चाहिये अपितु इनके भाव को ग्रहण करना चाहिए। इस बात में श्लोकोक्त 'रक्षा' और 'पुष्टि' भाववाचक शब्दों का प्रयोग प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि मनु को यहां 'शर्मा' शब्द अभीष्ट होता तो वे क्षत्रिय के साथ 'रक्षा' शब्द का उल्लेख न करके 'वर्मा' शब्द का ही उल्लेख करते। इसी प्रकार वैश्य के साथ 'गुप्त' का, किन्तु उन्होंने इन शब्दों को भाववाचक रूप में ग्रहण हिकया है, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि उक्त भावों वाले किन्हीं भी शब्दों को नाम के साथ जोड़ें। उनमें शर्मा, वर्मा, गुप्त, दास भी अन्तर्गत हो जाते हैं। केवल इन्हीं शब्दों को जोड़ें ऐसा अभिप्राय नहीं है जैसे-ब्राह्मण के नाम में शर्मा जोड़कर देवशर्मा भी रखा जा सकता है और मित्र, प्रिय आदि जोड़कर देवमित्र, देवप्रिय आदि भी। इसी प्रकार क्षत्रिय के नाम में वर्मा जोड़कर प्रतापवर्मा भी रखा जा सकता है और इन्द्र, पाल, निधि आदि जोड़कर प्रतापेन्द्र, विजयेन्द्र, महीपाल, बलनिधि आदि भी। इस प्रकार इस श्लोक का व्यापक भाव है। उसे संकुचित करना भ्रान्तिपूर्ण है।

(६) जुगुप्सित का संगत अर्थ—प्रथम श्लोक में 'जुगुप्सितम्' शब्द का 'निन्दा' या 'घृणायुक्त' अर्थ करना

भी उचित नहीं है। यह शब्द 'गुपू रक्षणे' धातु से स्वार्थ में 'सन्' प्रत्यय के योग से बना है। स्वार्थ में होनेवाले प्रत्यय का अपना कोई विशेष अर्थ नहीं होता, अपितु धातु के मूलार्थ का ही बोध कराता है। अतः 'गुप्' धातु के 'रक्षा करने' अर्थ के अनुसार यहां 'जुगुप्सितम्' का 'रक्षणीय, पालनीय, आश्रय देने योग्य' भाव वाला अर्थ बनता है। इस शब्द का यही धातुगत मूलार्थ है। 'जुगुप्सा' शब्द का आज निन्दा, घृणा आदि अर्थ अधिक प्रचलित है। इसलिए हमारे मन में यही अर्थ पहले बैठ जाता है, किन्तु मनुस्मृति के श्लोक में यह अर्थ अभिप्रेत न होकर 'रक्षणीय' मूल अर्थ अभीष्ट है। यही अर्थ मनुस्मृति की व्यवस्थाओं के अनुरूप है, यतो हि मनु ने शूद्र को जो सब वर्णों की सेवा का कार्य सौंपा है (१.९१) और वह उन्हीं के घरों में उनके आश्रय से या उन्हीं की सुरक्षा में अपना निर्वाह करता है (१.९१; ९.३३४; १०.९९)। इस शब्द का निन्दा अर्थ न होने में एक और प्रमाण यह है कि मनुस्मृति में शूद्र के प्रति घृणा या निन्दा की भावना कहीं नहीं है अपितु उसकी स्वल्पयोग्यता के अनुसार निर्लिप्त भाव से उसके कर्मों का कथन है और उसे शुद्ध-श्रेष्ठ और उत्तम गति के योग्य माना है (९.३३५)। अगले श्लोक में 'प्रेष्यसंयुतम्' शब्द से भी किसी प्रकार का निन्दा-घृणारूप भाव प्रकट न होकर शूद्र के 'सेवकत्व' रूप कर्म का संकेत है। अतः यहां 'जुगुप्सितम्' का 'निन्दायुक्त' अर्थ करना मनुसम्मत और उचित नहीं है।

स्त्रियों के नामकरण की विधि—

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मंगल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्॥ ८॥
[२.३३] (८)

(**स्त्रीणाम्**) स्त्रियों का नाम (**सुखोद्यम्**) सरलता से सुख-पूर्वक उच्चारण किया जा सकने वाला (**अक्रूरम्**) कोमल वर्णों वाला (**विस्पष्टार्थम्**) स्पष्ट अर्थ वाला (**मनोहरम्**) मन को आकर्षक लगने वाला (**मंगल्यम्**) मंगल अर्थात् कल्याण-भावद्योतक (**दीर्घवर्णान्तम्**) अन्त में दीर्घ अक्षर वाला, तथा (**आशीर्वाद +अभिधान-वत्**) आशीर्वाद भावबोधक

होना चाहिए [जैसे-कल्याणी, वन्दना, विद्यावती, कमला, सुशीला, सुषमा, भाग्यवती, सावित्री, यशोदा, प्रियंवदा आदि] ॥ ८ ॥

निष्क्रमण और अन्नप्राशन संस्कार —

चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥ ९॥

[२.३४](९)

(**शिशोः**) बालक-बालिका का (**गृहात् निष्क्रमणम्**) घर से [प्रथम बार] बाहर निकालने-घुमाने का 'निष्क्रमण संस्कार' (**चतुर्थ मासि**) चौथे मास में (**कर्त्तव्यम्**) करना चाहिए और (**अन्नप्राशनम्**) अन्न खिलाने का संस्कार-अन्नप्राशन (**षष्ठे मासि**) छठे मास में (**वा**) अथवा (**यत् कुले इष्टं मंगलम्**) जब भी परिवार में अभीष्ट अथवा उपयुक्त समय प्रतीत हो, तब करे ॥ ९ ॥

ऋषि अर्थ—"निष्क्रमण संस्कार उस को कहते हैं कि जो बालक को घर से जहां का वायुस्थान शुद्ध हो वहां भ्रमण कराना होता है। उसका समय जब अच्छा देखे तभी बालक को बाहर घुमावें अथवा चौथे मास में तो अवश्य भ्रमण करावें।"

(सं०वि० निष्क्रमणसंस्कार)

अनुशीलन—निष्क्रमण और अन्नप्राशन में गृह्यसूत्रों के प्रमाण—इन संस्कारों के विषय में गृह्यसूत्रों में निम्न उल्लेख मिलता है—

(क) "**चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति।**" (पार० गृह्य० १.७५.५-६)

=चतुर्थ मास में निष्क्रमण संस्कार करे। बालक को बाहर ले जाकर सूर्यदर्शन कराये।

(ख) "**जननाद्यस्तृतीयो ज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायाम्**"

(गो० गृह्य० ५.८.१)

=या फिर जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया को निष्क्रमण करे।

(ग) "**षष्ठे मासि अन्नप्राशनम्। दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत्।**" (आश्व० गृह्य० १.१६.१-५)

=छठे मास में बालक को अन्नप्राशन कराये और दही,

शहद, घी मिश्रित भोजन चटाये।

मुण्डन संस्कार—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥ १०॥
[२.३५] (१०)

(**सर्वेषाम्+एव द्विजातीनां चूडाकर्म**) सभी द्विजातियों=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों के इच्छुक बालक-बालिकाओं का [माता-पिता की इच्छा के आधार पर यह कथन है] चूडाकर्म=मुण्डन संस्कार (**धर्मतः**) धर्मानुसार (**श्रुतिचोदनात्**) वेद की आज्ञानुसार (**प्रथमे+अब्दे**) प्रथम वर्ष में (**वा तृतीये**) अथवा तीसरे वर्ष में [अपनी सुविधानुसार] (**कर्त्तव्यम्**) कराना चाहिए॥ १०॥

ऋषि-अर्थ—''यह चूडाकर्म अर्थात् मुण्डन बालक के जन्म से तीसरे वर्ष वा एक वर्ष में करना। उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्द-मंगल हो उस दिन यह संस्कार करे।'' (सं०वि०चूडाकर्म०)

अनुशीलन—चूडाकर्म में प्रमाण—गृह्यसूत्रों में चूडाकर्म अर्थात् मुण्डन का यही काल विहित है —

(क) ''**तृतीये वर्षे चौलम्।**'' (आश्व० गृह्य० १.१७.१)

=तृतीय वर्ष में मुण्डन संस्कार किया जाता है।

(ख) ''**सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम्।**''
(पार० गृह्य० २.१.१)

=एक वर्ष के बालक का मुण्डन किया जाता है।

उपनयन संस्कार का सामान्य समय—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥ ११॥
[२.३६] (११)

(**ब्रह्मणस्य**) ब्राह्मण वर्ण धारण करने के इच्छुक बालक-बालिका का (**उपनायनम्**) उपनयन=गुरु के पास पहुंचाना और विद्याध्ययनार्थ यज्ञोपवीत संस्कार (**गर्भाष्टमे+अब्दे**) गर्भ से आठवें वर्ष में अर्थात् जन्म से सातवें वर्ष में (**कुर्वीत**) करे, (**राज्ञः**) क्षत्रिय वर्ण धारण करने के इच्छुक बालक-बालिका का (**गर्भात्+**

एकादशे) गर्भ से ग्यारहवें अर्थात् जन्म से दसवें वर्ष में, और (**विशः**) वैश्य वर्ण धारण करने के इच्छुक बालक-बालिका का (**गर्भात् द्वादशे**) गर्भ से बारहवें अर्थात् जन्म से ग्यारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिए। [यह माता-पिता की इच्छा के आधार पर प्रयोग है और चारों वर्णों में उत्पन्न प्रत्येक बालक-बालिका के लिए है] ॥ ११ ॥[१]

अनुशीलन—(१) '**ब्राह्मणस्य**' **आदि पदों का मनुसम्मत अर्थ**—(क) ११-१३ श्लोकों में '**ब्राह्मणस्य**' आदि पदों का प्रचलित टीकाओं में 'ब्राह्मणस्य=ब्राह्मण के बालक का', 'राज्ञः या क्षत्रियस्य=क्षत्रिय के बालक का', 'वैश्यस्य या विशः=वैश्य के बालक का', यह अर्थ मिलता है। यह अर्थ श्लोक के पदप्रयोग के विरुद्ध है और मनु की मान्यता के विरुद्ध भी। श्लोक के पदों में 'बालक' अर्थ देने वाला कोई पद नहीं है, जिससे कि 'ब्राह्मण के बालक' आदि अर्थ किये जायें। मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हुए कर्मणा वर्ण-परिवर्तन मानते हैं [देखिए १०.६५; १.८७-९१, १०७ श्लोक और उन पर समीक्षा]। इन अर्थों से ऐसा प्रतिभासित होता है जैसे जन्म के आधार पर वर्णप्रवेश है और वह भी ब्राह्मण का ब्राह्मण वर्ण में, क्षत्रिय का क्षत्रिय वर्ण में, वैश्य का वैश्य वर्ण में। यह मनु की मान्यता से मेल नहीं खाता।

(ख) यहां ये पद वस्तुतः जातिवाचक न होकर वर्णसंज्ञावाचक हैं। जिनका अर्थ है 'ब्राह्मणवर्ण का दीक्षाकाल' 'क्षत्रियवर्ण का दीक्षाकाल' आदि। मनुसम्मत मान्यता के आधार पर अध्याहार से इनके अर्थ 'ब्राह्मण वर्ण को धारण करने के इच्छुक बालक-बालिका का' आदि अर्थ किये गये हैं। इस अर्थ का संकेत मनु के '**ब्रह्मवर्चसकामस्य**' [२.१२] आदि पदों से भी प्राप्त होता है। इस अर्थ की व्यापकता के अन्तर्गत दोनों प्रकार के भावों का समावेश हो जाता है। जो कुल परम्परानुसार

---

१. **प्रचलित अर्थ**—ब्राह्मण-बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय-बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य-बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष में 'उपवीत' (यज्ञोपवीत) संस्कार करना चाहिए॥ २.३६ ॥

अपने वर्ण में दीक्षा दिलाना चाहे वह भी इस व्यवस्थानुसार दीक्षा करा सकता है और जो परिवर्तनपूर्वक अपने बालक को दूसरे वर्ण में दीक्षित कराना चाहे तो, वह भी उस निर्धारित समय-व्यवस्थानुसार करा सकता है।

(ग) यहां यह शंका हो सकती है कि इतने अल्प-वयस्क बच्चों के साथ 'इच्छुक' पद का सम्बन्ध नहीं बनता ? इसका स्पष्ट-सा उत्तर है कि माता-पिता की इच्छा के आधार पर ये प्रयोग हैं। प्रारम्भ में माता-पिता अपने बच्चे को जैसा बनाना चाहते हैं उसी के अनुसार सभी संस्कार करते हैं। पुनः उसकी शिक्षा-दीक्षा को परख कर वर्ण का अन्तिम निश्चय आचार्य करता है [२.१२१ (१४६), १२३ (१४८)]। देखिए मनु ने इसी व्यवहार के आधार पर पांच वर्ष के बालक के लिए '**ब्रह्मवर्च-सकामस्य**''**बलार्थिनः**', '**वैश्यस्य इह अर्थिनः**' [२.१२] पदों का प्रयोग किया है, जबकि इतने अल्प-वयस्क बालकों को ब्रह्मवर्चसकामना आदि की इच्छा, गम्भीरता एवं परिणाम का ज्ञान नहीं होता। आज माता-पिता ही अल्पवय बच्चों को पहले अपनी इच्छा के शिक्षा-संस्थानों तथा विषयों में प्रवेश दिलाते हैं। इस प्रमाण के आधार पर प्रस्तुत भाष्य का अर्थ भी मनु के वर्णनानुरूप ही है।

(२) उपनयन में शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं—११-१३ श्लोकों में मनु ने उपनयन संस्कार का विधान करते हुए शूद्र का उल्लेख नहीं किया। यहां प्रश्न उठता है कि यदि मनु कर्मणा वर्णव्यस्था मानते हैं तो शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं किया ? इसका समाधान इस प्रकार है-

(क) इस प्रश्न में ही इसका उत्तर भी निहित है। उपनयन में शूद्र का उल्लेख न करने से यह संकेत मिलता है कि मनु उपनयन और वेदारम्भ की दीक्षा से पूर्व किसी को जन्म से शूद्र नहीं मानते। यह द्विज-दीक्षा का संस्कार है और वे द्विज तीन ही प्रकार के होते हैं। जो व्यक्ति जिस वर्ण की दीक्षा दिलाना चाहे, वह किसी भी कुल में उत्पन्न बालक को इन तीनों में से उसी वर्ण में प्रवेश दिला सकता है। प्राप्त शिक्षा-दीक्षा के आधार पर आचार्य अन्तिम रूप से उनके वर्णों की घोषणा स्नातक बनते समय करता है [२.१२१ (१४६), १२३ (१४८)]।

(ख) चारों वर्णों में किसी भी कुल में उत्पन्न जो

बालक इन तीनों वर्णों के गुण-कर्मों को धारण नहीं कर सकता और वेदारम्भ तथा शिक्षा रूपी ब्रह्मजन्म को प्राप्त नहीं कर सकता वह शूद्र रह जाता है, चाहे वह किसी भी कुल में उत्पन्न हुआ हो। उपनयन से पूर्व अर्थात् द्विजजन्म से पूर्व सभी वर्णों के बालक शूद्र ही होते हैं। पुराणकार का मत है—**'जन्मना जायते शूद्रः, संस्कारात् द्विज उच्यते'** (स्कन्दपुराण, नागरखण्ड २३९.३१)। मनु ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है—

चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः ॥ (१०.४)

=विद्याप्राप्ति रूप दूसरा जन्म जिसका नहीं होता वह एकजाति=एकजन्म वाला शूद्र होता है। उसका एक जन्म माता से ही होता है।

इस प्रकार उपनयन आदि से पूर्व शूद्र का कोई निर्धारण न होने से उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं रहती। द्विजों के 'पतित' या 'शूद्र' होने की स्थिति बाद में विद्याध्ययन न पाने पर आती है। [२.१४-१५ (३९-४०)]।

(ग) मनु जन्मना वर्णव्यवस्था नहीं मानते, इसकी पुष्टि में यह भी एक प्रबल युक्ति है कि मनु ने यहां शूद्र के उपनयन का निषेध नहीं किया। अगर वे जन्मना शूद्र का अस्तित्व और वर्णव्यवस्था मानते तो यहां पृथक् से शूद्र के उपनयन का निषेध करते। [द्रष्टव्य १.३१, ८७-९१, १०७; १०.६५ की कर्मणाव्यवस्था-सम्बन्धी समीक्षा] मनु की कर्मणा वर्ण-व्यवस्था में जन्मना जाति के सामने माता-पिता से वर्णप्राप्ति नहीं होती, उसका निर्धारण तो आचार्य करता है [२.१२१-१२३]।

(३) गृह्यसूत्रों में भी उपनयन का विधान मनु के अनुसार है, यथा—

''**अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। १। गर्भाष्टमे वा। २। एकादशे क्षत्रियम्। ३। द्वादशे वैश्यम्। ४।** (आश्वलायन गृह्यसूत्र)—जिस दिन जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो उससे आठवें वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से ग्याहरवें वर्ष में क्षत्रिय के और जन्म वा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें॥'' (सं०वि० उपनयन)

उपनयन का विशेष समय—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥ १२॥

[२.३७] (१२)

(**इह ब्रह्मवर्चस-कामस्य**) इस संसार में जिसको ब्रह्मतेज=ईश्वर, विद्या, बल आदि की शीघ्र एवं अधिक प्राप्ति की कामना हो, ऐसे (**विप्रस्य**) ब्राह्मण वर्ण की कामना रखने वाले बालक-बालिका का [माता-पिता की इच्छा के आधार पर प्रयोग है] उपनयन संस्कार (**पञ्चमे कार्यम्**) जन्म से पांचवें वर्ष में ही करा देना चाहिये (**इह बलार्थिनः राज्ञः**) इस संसार में बल-पराक्रम आदि क्षत्रिय विद्याओं की शीघ्र एवं अधिक प्राप्ति की कामना वाले क्षत्रिय वर्ण के इच्छुक बालक-बालिका का (**षष्ठे**) जन्म से छठे वर्ष में और (**इह+ अर्थिनः वैश्यस्य**) इस संसार में धन-ऐश्वर्य की शीघ्र एवं अधिक कामना वाले वैश्य वर्ण के इच्छुक बालक-बालिका का (**अष्टमे**) जन्म से आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार करा देना चाहिये॥ १२॥[१]

ऋषि अर्थ—''जिसे शीघ्र , बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पांचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें।'' (सं०वि०, उपनयनसंस्कार)

उपनयन की अन्तिम अवधि —

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥ १३॥

[२.३८] (१३)

---

१. **प्रचलित अर्थ**—वेदाध्ययन और ज्ञानाधिक्य आदि तेज के लिये ब्राह्मण बालक का गर्भ से पांचवें वर्ष में, हाथी, घोड़ा और पराक्रम आदि प्राप्ति के लिये क्षत्रिय बालक का गर्भ से छठे वर्ष में और अधिक धन तथा खेती आदि की प्राप्ति के लिए वैश्य-बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में 'यज्ञोपवीत' संस्कार करना चाहिये॥ २.३७॥

(**ब्राह्मणस्य**) ब्राह्मण वर्ण को धारण करने की इच्छा रखने वाले बालक-बालिका का (**आ-षोडशात्**) सोलह वर्ष, (**क्षत्रबन्धोः**) क्षत्रिय वर्ण के इच्छुक बालक-बालिका का (**आ-द्वाविंशात्**) बाईस वर्ष तक, (**विशः**) वैश्य वर्ण के इच्छुक बालक-बालिका का (**आ-चतुर्विंशतेः**) चौबीस वर्ष तक, (**सावित्री न+अतिवर्तते**) यज्ञोपवीत का अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इन अवस्थाओं तक उपनयन संस्कार कराया जा सकता है॥ १३॥

अनुशीलन—आश्वलायन गृह्यसूत्र में उपनयन काल के अतिक्रमण का विधान निम्न है—

''**आषोडशात् ब्राह्मणस्यानतीतकालः॥५॥**
आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य॥६॥
(आश्व० गृह्यसूत्र १.१९.६)

ब्राह्मण के सोलह, क्षत्रिय के बाईस और वैश्य के बालक का चौबीस वर्ष से पूर्व-पूर्व यज्ञोपवीत होना चाहिये।'' (सं०वि० उपनयसंस्कार)

उपनयन से पतित व्रात्यों का लक्षण—

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥ १४॥
[२.३९] (१४)

(**अतः+ऊर्ध्वम्**) इस [२.१३] अवस्था के बीतने के बाद (**यथाकालम्+असंस्कृताः**) निर्धारित समय पर किसी वर्ण की दीक्षा संस्कार न होने पर (**एते त्रयः+अपि**) ये तीनों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] ही (**सावित्रीपतिताः**) सावित्री संस्कार अर्थात् यज्ञोपवीत और विद्याध्ययन से रहित होकर पतित हुए (**आर्य-विगर्हिताः**) आर्य=आर्यव्यवस्था के व्यक्तियों द्वारा निन्दित (**व्रात्याः भवन्ति**) 'व्रात्या'=व्रत से पतित अर्थात् '**व्रात्यसंज्ञक**' कहलाते हैं॥ १४॥

अनुशीलन—सूत्रग्रन्थों में भी ऐसा ही निर्देश है—

''**अतः ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति॥ ६॥**''
(आश्व० गृ०सू० १.१९.६)

व्रात्यों के साथ सम्बन्धविच्छेद का कथन—

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह॥ १५॥

[२.४०] (१५)

(**ब्राह्मणः**) द्विजों में कोई भी व्यक्ति (**एतैः+ अपूतैः सह**) इन पतित व्रात्यों के साथ (**विधिवत्**) विधानानुसार (**कर्हिचित् आपदि+अपि हि**) कभी आपत्काल में भी (**ब्राह्मान्**) विद्याध्ययन-अध्ययन-सम्बन्धी (**च**) और (**यौनान्**) विवाह-सम्बन्धी (**सम्बन्धान्**) व्यवहारों को (**न आचरेत्**) न करे॥ १५॥

वर्णानुसार मृगचर्मों का विधान—

कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च॥ १६॥

[२.४१] (१६)

(**ब्रह्मचारिणः**) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों में दीक्षित ब्रह्मचारी (**आनुपूर्व्येण**) क्रमशः (**कार्ष्ण-रौरववास्तानि चर्माणि**) [आसन के रूप में बिछाने के लिए] काला मृग, रुरुमृग और बकरे के चर्म को (**च**) तथा [ओढ़ने-पहरने के लिये] (**शाणक्षौम-आविकानि**) सन, रेशम और ऊन के वस्त्रों को (**वसीरन्**) धारण करें॥ १६॥

वर्णानुसार मेखला-विधान—

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी॥ १७॥

[२.४२] (१७)

(**विप्रस्य**) ब्राह्मण वर्ण में दीक्षित बालक की (**मेखला**) मेखला= तगड़ी (**मौञ्जी**) 'मूँज' नामक घास की बनी होनी चाहिए (**क्षत्रियस्य मौर्वी ज्या**) क्षत्रिय की धनुष की डोरी जिससे बनती है उस 'मुरा' नामक घास की, और (**वैश्यस्य**) वैश्य की (**शणतान्तवी**) सन के सूत की बनी हो, जो (**त्रिवृत् समा**) तीन लड़ों को एकत्र बांट करके (**श्लक्ष्णा**

कार्या) चिकनी बनानी चाहिए॥ १७॥

ऋषि अर्थ—''ब्राह्मण को मुंज वा दर्भ की, क्षत्रिय को धनुष संज्ञक तृण वा वल्कल की और वैश्य को ऊन वा शण की मेखला होनी चाहिए।'' (सं० वि० वेदारम्भप्रकरण)

मेखलाओं का विकल्प—

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा॥ १८॥
[२.४३] (१८)

(**मुञ्जालाभे तु**) यदि उपर्युक्त मूँज आदि न मिलें तो [क्रमशः] (**कुश+अश्मन्तक-बल्वजैः**) कुश, अश्मन्तक और बल्वज नामक घासों से (**त्रिवृता**) उसी प्रकार तिगुनी=तीन बटों वाली करके (**एकेन ग्रन्थिना**) फिर एक गांठ लगाकर (वा) अथवा (**त्रिभिः पञ्चभिः+ एव**) तीन या पांच गांठ लगाकर (**कर्त्तव्याः**) मेखलाएं बनानी चाहिएँ॥ १८॥

वर्णानुसार यज्ञोपवीत धारण—

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्॥ १९॥
[२.४४] (१९)

(**विप्रस्य**) ब्राह्मण वर्ण में दीक्षित बालक का (**उपवीतम्**) यज्ञोपवीत (**कार्पासम्**) कपास का बना (**राज्ञः**) क्षत्रिय का (**शणसूत्रमयम्**) सन के सूत का बना और (**वैश्यस्य आविक सौत्रिकम्**) वैश्य का भेड़ की ऊन के सूत से बना (**स्यात्**) होना चाहिए, वह उपवीत (**ऊर्ध्ववृतम्**) दाहिनी ओर से बायीं ओर का बटा हुआ, और (**त्रिवृत्**) तीन लड़ों से तिगुना करके बना हुआ होना चाहिए॥ १९॥

वर्णानुसार दण्ड धारण का विधान—

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः॥ २०॥
[२.४५] (२०)

(**ब्राह्मणः**) ब्राह्मण वर्ण में दीक्षित बालक

(**बैल्व-पालाशौ**) बेल या ढाक के (**क्षत्रियः**) क्षत्रिय (**वाट-खादिरौ**) बड़ या खैर के (**वैश्यः**) वैश्य (**पैलव+औदुम्बरौ**) पीपल या गूलर के (**दण्डान्**) दण्डों को (**धर्मतः**) नियमानुसार (**अर्हन्ति**) धारण करने के अधिकारी हैं॥ २०॥

दण्डों का वर्णानुसार प्रमाण—

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः॥ २१॥
[२.४६] (२१)

(**प्रमाणतः**) लम्बाई के मान के अनुसार (**ब्राह्मणस्य दण्डः**) ब्राह्मण वर्ण में दीक्षित बालक का दण्ड (**केशान्तिकः**) केशों तक (**राज्ञः ललाट-संमितः**) क्षत्रिय का माथे तक (**कार्यः**) बनाना चाहिए (**तु**) और (**विशः**) वैश्य का (**नासान्तिकः स्यात्**) नाक तक ऊंचा होना चाहिए॥ २१॥

दण्डों का स्वरूप—

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः॥ २२॥
[२.४७] (२२)

(**ते तु सर्वे**) वे सब दण्ड (**ऋजवः**) सीधे (**अव्रणाः**) बिना गाँठ वाले (**सौम्यदर्शनाः**) देखने में प्रिय लगने वाले (**नृणाम् अनुद्वेगकराः**) मनुष्यों को भद्दे न लगने वाले (**सत्वचः**) छालसहित और (**अनग्नि-दूषिताः**) अग्नि में बिना जले-झुलसे (**स्युः**) होने चाहियें॥ २२॥

अनुशीलन—२० से २२ तक के श्लोकों का भाव महर्षि-दयानन्द ने निम्न प्रकार दिया है—"ब्राह्मण के बालक को खड़ा रख के भूमि से ललाट के केशों तक पलाश वा बिल्ववृक्ष का, क्षत्रिय को वट वा खदिर का ललाट भ्रू तक, वैश्य को पीलू वा गूलर वृक्ष का नासिका के अग्रभाग तक दण्ड प्रमाण और वे दण्ड चिकने, सूधे हों, अग्नि में जले, टेढ़े, कीडों के खाये हुये नहीं हों।" (सं०वि० वेदारम्भप्रकरण)

संस्कार में भिक्षा-विधान—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि॥ २३॥

[२.४८] (२३)

(**ईप्सितं दण्डं प्रतिगृह्य**) ऊपर वर्णित [२०-२२] दण्डों में अपने वर्ण के योग्य दण्ड धारण करके (**च**) और (**भास्करम् उपस्थाय**) सूर्य के सामने खड़ा होके (**अग्निं प्रदक्षिणं परीत्य**) यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा=परिक्रमा करके (यथाविधि) विधि-अनुसार [२.२४-२५] (**भैक्षं चरेत्**) उपनयन संस्कार के अवसर पर भिक्षा मांगे॥ २३॥

भिक्षा-विधि—

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम्॥ २४॥

[२.४९] (२४)

(**उपनीतः द्विजोत्तमः**) यज्ञोपवीत संस्कार में ब्राह्मण वर्ण में दीक्षित बालक (**भवत्पूर्वं भैक्षं चरेत्**) 'भवत्' शब्द को वाक्य के पहले जोड़कर, जैसे—'भवान् भिक्षां ददातु' या 'भवती भिक्षां ददातु' [आप मुझे भिक्षा प्रदान करें] कहकर भिक्षा मांगे (**तु**) और (**राजन्यः**) क्षत्रिय वर्ण में दीक्षित बालक (**भवत्-मध्यम्**) 'भवत्' शब्द को वाक्य के बीच में लगाकर, जैसे—'भिक्षां भवान् ददातु' या 'भिक्षां भवती ददातु' कहकर भिक्षा मांगे (**तु**) और (**वैश्यः**) वैश्य वर्ण में दीक्षित बालक (**भवत्+उत्तरम्**) 'भवत्' शब्द को वाक्य के बाद में जोड़कर, जैसे—'भिक्षां ददातु भवान्' या 'भिक्षां ददातु भवती' कहकर भिक्षा मांगे॥ २४॥

ऋषि अर्थ—''ब्राह्मण का बालक यदि पुरुष से भिक्षा मांगे तो 'भवान् भिक्षां ददातु' और स्त्री से मांगे तो 'भवती भिक्षां ददातु' और क्षत्रिय का बालक 'भिक्षां भवान् ददातु' और स्त्री से 'भिक्षां भवती ददातु', वैश्य का बालक 'भिक्षां ददातु भवान्' और 'भिक्षां ददातु भवती' ऐसा वाक्य बोले।'' (सं० वि० वेदारम्भप्रकरण)

भिक्षा किन से मांगे—

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत्॥ २५॥

[२.५०] (२५)

[इन ब्रह्मचारियों को] (**मातरं वा स्वसारम्**) माता या बहन से (**वा मातुः निजां भगिनीम्**) अथवा माता की सगी बहन अर्थात् सगी मौसी से (**च**) और (**या एनं न+अवमानयेत्**) जो इस भिक्षार्थी को भिक्षा का निषेध न करे उससे (**प्रथमं भिक्षां भिक्षेत**) पहले भिक्षा की याचना करे॥ २५॥

ऋषि अर्थ—''तत्पश्चात् ब्रह्मचारी यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में खड़ा रह के माता-पिता, भाई-बहन, मामा, मौसी, चाचा आदि से लेके जो भिक्षा देने में नकार न करें उनसे भिक्षा मांगे।'' (सं०वि० वेदारम्भप्रकरण)

गुरु को भिक्षा-समर्पण—

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः॥ २६॥

[२.५१] (२६)

(**तत् भैक्षं तु समाहृत्य**) उस भिक्षा को अर्जित करके (**यावत्+अन्नम्**) जितनी भी वह भोज्य सामग्री हो उसे (**अमायया**) निष्कपट भाव से (**गुरवे निवेद्य**) पहले गुरु को निवेदित करके, पश्चात् गुरु द्वारा प्रदत्त भिक्षा को (**शुचिः**) स्वच्छता पूर्वक (**प्राङ्मुखः**) पूर्व की ओर मुख करके बैठ कर (**आचम्य**) आचमन करके (**अश्नीयात्**) खाये॥ २६॥

ऋषि अर्थ—''जितनी भिक्षा मिले उसे आचार्य के आगे धर दे, तत्पश्चात् आचार्य उसमें से कुछ थोड़ा-सा अन्न लेके वह सब भिक्षा बालक को दे देवे और वह बालक उस भिक्षा को अपने भोजन के लिए रख छोड़े।'' (सं० वि० वेदारम्भप्रकरण)

भोजन से पूर्व आचमन विधान—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः।
भुक्त्वा चोस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥
२८॥[२.५३] (२७)

[ऐसे ही] (**द्विजः**) द्विज (**नित्यम्**) प्रतिदिन (**उपस्पृश्य**) आचमन करके (**समाहितः**) एकाग्र मन से (**अन्नम्+अद्यात्**) भोजन खाये (**च**) और (**भुक्त्वा**) खाकर (**सम्यक्**) अच्छी प्रकार (**उपस्पृशेत्**) कुल्ला करे (**च**) तथा (**अद्भिः खानि संस्पृशेत्**) जल से नाक, मुख, नेत्र आदि इन्द्रियों का स्पर्श करे अर्थात् धोये॥ २८॥

भोजन-सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक विधान—

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥ २९॥
[२. ५४] (२८)

(**नित्यम्**) खाते हुए सदैव (**अशनं पूजयेत्**) भोज्य पदार्थ का आदर करे अर्थात् रुचिपूर्वक (**च**) और (**एतद्+ अकुत्सयन्+अद्यात्**) इसे निन्दाभाव से रहित होकर अर्थात् प्रसन्नता पूर्वक खाये (**दृष्ट्वा हृष्येत् च प्रसीदेत्**) भोजन को देखकर मन में उल्लास और प्रसन्नता की भावना करे (**च**) तथा (**सर्वशः प्रतिनन्देत्**) उसकी सर्वदा प्रशंसा करे अर्थात् भोजन के प्रति सदैव प्रसन्नता का भाव रखे॥ २९॥

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥ ३०॥
[२.५५] (२९)

(**हि**) क्योंकि (**पूजितम् अशनम्**) प्रसन्नता-आदरपूर्वक किया हुआ भोजन (**नित्यं बलं च ऊर्जं यच्छति**) सदैव बल और स्फूर्ति देने वाला होता है (**तु तत्+अपूजितम्**) और वह उपेक्षा-अनादरपूर्वक (**भुक्तम्**) खाया हुआ (**इदम् उभयं नाशयेत्**) इन दोनों, बल और स्फूर्ति को नष्ट करता है अर्थात् उससे वांछित लाभ नहीं प्राप्त होता॥ ३०॥

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्॥ ३१ ॥
[२.५६] (३०)

(**कस्यचित्+उच्छिष्टं न दद्यात्**) किसी को अपना झूठा पदार्थ न दे (**च**) और (**तथा एव अन्तरा न अद्यात्**) उसी प्रकार भोजन के समय को छोड़कर बीच में भोजन न करे (**अति-अशनं न चैव कुर्यात्**) न अधिक भोजन करे (**च**) और (**उच्छिष्टः क्वचिद् न व्रजेत्**) भोजन किये पश्चात् हाथ-मुख धोये बिना झूठे मुंह कहीं इधर-उधर न जाये॥ ३१ ॥

(स०प्र० समु० १०)

अनुशीलन—उच्छिष्ट खाने में दोष—उच्छिष्ट भोजन के प्रसङ्ग में महर्षि दयानन्द ने विस्तृत प्रकाश डाला है, जो उल्लेखनीय है—

प्रश्न—एक साथ खाने में कुछ दोष है, वा नहीं?

उत्तर—दोष है; क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती। जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का भी रुधिर बिगड़ता है, वैसे दूसरे के साथ खाने में भी कुछ बिगाड़ ही होता है, सुधार नहीं।

प्रश्न—'**गुरोरुच्छिष्टभोजनम्**' इस वाक्य का क्या अर्थ होगा?

उत्तर—इसका यह अर्थ है कि गुरु के भोजन के पश्चात् जो पृथक् अन्न शुद्ध स्थित है, उसका भोजन करना, अर्थात् प्रथम गुरु को भोजन कराके पश्चात् शिष्य भोजन करे।

प्रश्न—जो उच्छिष्टमात्र का निषेध है, तो मक्खियों का उच्छिष्ट सहत, बछड़े का उच्छिष्ट दूध और एक ग्रास खाने के पश्चात् अपना भी उच्छिष्ट होता है, इनको भी न खाना चाहिये।

उत्तर—सहत कहने मात्र उच्छिष्ट होता है। वह बहुत ओषधियों का सार [होने से] ग्राह्य [है]। बछड़ा बाहिर का दूध पीता है, [स्तन के] भीतर के दूध को नहीं छू सकता, इसलिये उच्छिष्ट नहीं; परन्तु बछड़े के पीये पश्चात् जल से उसकी मा के स्तन धोकर शुद्ध पात्र में [दूध] दोहना चाहिये। और अपना उच्छिष्ट, अपने को

विकारकारक नहीं होता। और देखो, स्वभाव से यह बात सिद्ध है कि किसी का उच्छिष्ट कोई भी न खावे। जैसे अपने मुख, नाक, कान, आँख, उपस्थ और गुदा इन्द्रियों के मल-मूत्रादि के स्पर्श में घृणा नहीं होती, किन्तु किसी दूसरे के मल-मूत्र के स्पर्श में होती है। इससे सिद्ध होता है कि यह व्यवहार सृष्टिक्रम से विपरीत ही है; इसलिये मनुष्यमात्र को उचित है कि किसी का उच्छिष्ट अर्थात् जूठा कोई भी न खावे।'' (स०प्र० समु० १०)

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ ३२॥
[२.५७] (३१)

(**अतिभोजनम्**) अधिक भोजन करना (**अनारोग्यम्**) स्वास्थ्यनाशक (**अनायुष्यम्**) आयु-नाशक (**अस्वर्ग्यम्**) सुख-नाशक (**अपुण्यम्**) अहितकर (**च**) और (**लोकविद्विष्टम्**) लोगों द्वारा निन्दित माना गया है, (**तस्मात्**) इसलिए (**तत्**) अधिक भोजन करना (**परिवर्जयेत्**) सदा छोड़ देवे॥ ३२॥

आचमन-विधि—

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन॥ ३३॥
अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः॥ ३४॥
[२.५८, ५९] (३२, ३३)

(**विप्रः**) शिक्षित तीनों द्विज (**नित्यकालम्**) प्रतिदिन आचमन करते समय (**ब्राह्मेण तीर्थेन**) ब्राह्मतीर्थ [हाथ के अंगूठे के मूलभाग का स्थान, जिससे कलाई भाग की ओर से आचमन ग्रहण किया जाता है] से (**वा**) अथवा (**कायत्रैदशिकाभ्याम्**) कायतीर्थ=प्राजापत्य [कनिष्ठा अंगुली के मूलभाग के पास का बगल का स्थान] से या त्रैदशिक=देवतीर्थ [-अंगुलियों के अग्रभाग का स्थान] से (उपस्पृशेत्) आचमन करे, (**पित्र्येण कदाचन न**) पितृतीर्थ [अंगूठे

तथा तर्जनी के मध्य का स्थान] से कभी आचमन न करे ॥ ३३ ॥

(**अंगुष्ठमूलस्य तले**) अंगूठे के मूलभाग के नीचे का स्थान (**ब्राह्मंतीर्थं प्रचक्षते**) ब्राह्मतीर्थ (**अंगुलिमूले कायम्**) अंगुलियों के मूलभाग का स्थान कायतीर्थ (**अग्रे दैवम्**) अंगुलियों के अग्रभाग का स्थान दैवतीर्थ और (**तयोः+अधः पित्र्यम्**) अंगुलियों और अंगूठे का मध्यवर्ती मूल भाग का स्थान पितृतीर्थ (**प्रचक्षते**) कहा जाता है ॥ ३४ ॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥ ३५ ॥

[२.६०] (३४)

(**पूर्वं अपः त्रिः+आचमेत्**) पहले जल का तीन बार आचमन करे (**ततः**) उसके बाद (**मुखं द्विः प्रमृज्यात्**) मुख को दो बार धोये (**च**) और (**खानि एव**) नाक, कान, नेत्र आदि इन्द्रियों को (**आत्मानं च शिरः एव**) हृदय और सिर को भी (**अद्भिः**) जल से (**स्पृशेत्**) स्पर्श करे ॥ ३५ ॥

यज्ञोपवीत धारण की तीन स्थितियाँ—

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।
सव्ये प्राचीन आवीती, निवीती कण्ठसज्जने ॥ ३८ ॥

[२.६३] (३५)

(**द्विजः**) द्विज=तीन वर्णस्थ व्यक्ति (**दक्षिणे पाणौ उद्धृते**) दाहिने हाथ को ऊपर रखके यज्ञोपवीत पहनने की अवस्था में [अर्थात् जब द्विज यज्ञोपवीत को दायें हाथ और कन्धे के नीचे लटकाकर तथा बायें कन्धे के ऊपर रखकर पहनता है, तब] (**उपवीती**) 'उपवीती', (**सव्ये**) बायें हाथ नीचे और दायें कन्धे के ऊपर रखकर पहनने की अवस्था में (**प्राचीन आवीती**) 'प्राचीन आवीती' और (**कण्ठसज्जने**) गले में माला के समान पहनने की अवस्था में (**निवीती**) 'निवीती' (**उच्यते**) कहलाता है ॥ ३८ ॥

यज्ञोपवीत मेखलादि की पुनर्ग्रहण-विधि—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत्॥ ३९॥
[२.६४] (३६)

(**मेखलाम्+अजिनं दण्डम्+उपवीतं कमण्डलुम्**) मेखला, मृगचर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, कमण्डलु (**विनष्टानि**) इनके बेकार होने पर (**अप्सु प्रास्य**) इन्हें बहते जल में फेंक कर (**अन्यानि**) दूसरे नयों को (**मन्त्रवत् गृह्णीत**) मन्त्रपूर्वक धारण करे ॥३९ ॥

अनुशीलन—नष्ट उपवीत, दण्ड आदि का जल में प्रक्षेपण क्यों—इस श्लोक में वर्णित पदार्थों को मनु ने जल में डालने का जो विधान किया है उससे 'बहते जल' से अभिप्राय है। क्योंकि स्थिर जल में किसी पदार्थ को डालने से गन्दगी बढ़ती है। स्थिर जल गन्दा भी होता है। इसीलिए मनु ने स्नान आदि सभी कार्यों के लिए बहते जल के प्रयोग का ही विधान किया है (द्रष्टव्य ४.२०३ श्लोक)।

केशान्त संस्कार कर्म—

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥ ४०॥
[२.६५] (३७)

(**केशान्तः**) केश मुण्डन का संस्कार (**ब्राह्मणस्य**) ब्राह्मण-बालक का (**षोडशे वर्षे**) सोलहवें वर्ष में, (**राजन्यबन्धोः द्वाविंशे**) क्षत्रिय-बालक का बाईसवें वर्ष में, (**वैश्यस्य ततः द्वि+अधिके**) वैश्य का क्षत्रिय से दो वर्ष अधिक अर्थात् चौबीसवें वर्ष में (**विधीयते**) विहित किया गया है॥ ४०॥

उपनयन विधि की समाप्ति एवं ब्रह्मचारी के कर्मों का कथन—

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः, कर्मयोगं निबोधत॥ ४३॥
[२.६८] (३८)

(**एषः**) यह [२.११-४२ तक] (**द्विजातीनाम् उत्पत्ति-व्यञ्जकः**) द्विज बनने के इच्छुकों के द्वितीय

जन्म अर्थात् विद्याजन्म का आरम्भ करने वाली और मनुष्यों को द्विज=ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बनाने वाली (**पुण्यः**) कल्याण-कारक (**औपनायनिकः विधि**) उपनयन संस्कार की विधि (**प्रोक्तः**) कही, (**कर्मयोगं निबोधत**) [अब उपनयन में दीक्षित होने वाले ब्रह्मचारियों के] कर्त्तव्यों को सुनो— ॥ ४३ ॥

अनुशीलन—'उत्पत्तिव्यंजकः' के अधिक स्पष्टीकरण एवं पुष्टि के लिए द्रष्टव्य है २.१२१-१२५ (२.१४६-१५०) श्लोक और उनकी समीक्षाएं।

(ब्रह्मचारियों के कर्त्तव्य)

२.४४ से २.२२४ तक

उपनयन के पश्चात् ब्रह्मचारी को शिक्षा—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥ ४४॥
[२. ६९] (३९)

(**गुरुः**) गुरु (**शिष्यम् उपनीय**) शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके (**आदितः**) पहले (**शौचम्**) शुद्धि=स्वच्छता से रहने की विधि (**आचारम्**) सदाचरण और शिष्टाचार (**अग्नि-कार्यम्**) अग्निहोत्र की विधि (**सन्ध्योपासनम्+ एव**) और सन्ध्या-उपासना की विधि (**शिक्षयेत्**) सिखाये ॥ ४४ ॥

अनुशीलन—''**सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या**'' अर्थात् जिसमें भलीभांति परमेश्वर का ध्यान करते हैं, या जिसमें परमेश्वर का ध्यान किया जाये, वह 'सन्ध्या' है। मनुस्मृति में इसको 'ब्रह्मयज्ञ' कहा है।

वेदाध्ययन से पहले गुरु को अभिवादन—

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ४६ ॥
[२.७१] (४०)

(**ब्रह्मारम्भे च अवसाने**) वेद पढ़ने के आरम्भ और समाप्ति पर (**सदा गुरोः पादौ ग्राह्यौ**) सदैव गुरु के दोनों चरणों को छूकर नमस्कार करे [२.४७] (**हस्तौ संहत्य अध्येयम्**) दोनों हाथ जोड़कर

अभिवादन करने के बाद फिर गुरु से पढ़ना चाहिये; (**सः हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः**) इसी [हाथ जोड़ने] को 'ब्रह्माञ्जलि' कहा जाता है ॥ ४६ ॥

गुरु को अभिवादन करने की विधि—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो, दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ ४७ ॥
[२.७२] (४१)

(**गुरोः उपसंग्रहणम्**) गुरु के चरणों का स्पर्श (**व्यत्यस्तपाणिना कार्यम्**) हाथों को अदल-बदल करके करना चाहिए (**सव्येन सव्यः**) बायें हाथ से बायां चरण (**च**) और (**दक्षिणेन दक्षिणः**) दायें हाथ से दायाँ पैर का (**स्प्रष्टव्यः**) स्पर्श करना चाहिए [प्रणामकर्त्ता का बायां हाथ नीचे रह कर गुरु के बायें पैर का स्पर्श करे और अपने बायें हाथ के ऊपर से दायां हाथ करके गुरु के दायें चरण को स्पर्श करे] ॥ ४७ ॥

अध्ययन के आरम्भ एवं समाप्ति की विधि—

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥ ४८ ॥
[२.७३] (४२)

(**गुरुः नित्यकालम्**) गुरु सदैव पढ़ाते समय (**अतन्द्रितः**) आलस्यरहित होकर (**अध्येष्यमाणं तु**) पढ़ने वाले शिष्य को ('**भो अधीष्व' इति ब्रूयात्**) 'हे शिष्य पढ़ो' इस प्रकार कहे (**च**) और ('**विरामः+ अस्तु' इति आरमेत्**) 'अब विराम करो' ऐसा कह कर पढ़ाना समाप्त करे ॥ ४८ ॥

वेदाध्ययन के आद्यन्त में प्रणवोच्चारण का विधान—

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्त्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं, पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ४९ ॥
[२.७४] (४३)

(**सर्वदा ब्रह्मणः आदौ च अन्ते प्रणवं कुर्यात्**) [शिष्य] सदैव वेद पढ़ने के आरम्भ और अन्त में प्रणव='ओ३म्' का उच्चारण करे (**पूर्वम् अनोङ्-कृतम्**) आरम्भ में ओंकार का उच्चारण न करने से

(**स्त्रवति**) पढ़ा हुआ बिखर जाता है [=भलीभांति ग्रहण नहीं हो पाता] (**च**) और (**पुरस्तात् विशीर्यति**) बाद में 'ओ३म्' का उच्चारण न करने से पढ़ा हुआ स्थिर नहीं रहता ॥ ४९ ॥

अनुशीलन—(१) अध्ययन के आद्यन्त में ओंकारोच्चारण के लाभ—'ओ३म्' का उच्चारण करने से यहाँ मनु का अभिप्राय ओंकारोच्चारणपूर्वक मन को एकाग्र या समाहित करने से है। अन्यत्र भी मनु ने सन्ध्योपासन और अध्ययन से पूर्व समाहित या एकाग्रचित्त होने के लिए कहा है [२.७९]। यह बिल्कुल सही मनोवैज्ञानिक बात है कि यदि छात्र मन को एकाग्र करके अध्ययन नहीं करता तो उसे पूर्ण ज्ञान ग्रहण नहीं होता, कुछ बिखरता रहता है और कुछ-कुछ ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार अध्ययन के पश्चात् भी एकाग्रता न रखने से पढ़ा हुआ स्थिर नहीं हो पाता। मन के एकदम अन्यत्र जाने से संचित ज्ञान में गौणता और भुलावा-सा आ जाता है, जबकि अध्ययन की समाप्ति पर अधीत विषय के प्रति एकाग्रता बनाये रखने से वह स्थिर हो जाता है। २.७४ में इसी भाव को दूसरे ढंग से स्पष्ट किया है कि यदि एक भी इन्द्रिय एकाग्रता को छोड़कर अपने विषय में लग जाती है तो उसके साथ ही व्यक्ति की बुद्धि भी उतनी कम होने लगती है।

(२) इसमें कुछ योगदर्शन के प्रमाण और उन पर आधारित विचार उल्लेखनीय हैं—(क) यह 'प्रणव' अर्थात् 'ओम्' शब्द उस अनादि-अनन्त, सर्वव्यापक सृष्टि-रचयिता परमात्मा का सबसे मुख्य नाम है। वह सबका आदि गुरु है। उसका स्मरण आदि-अन्त में करने से उसके सर्वज्ञता आदि गुणों की ओर प्रवृत्ति होकर बहुज्ञ बनने की भावना आती है। [''**स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**'' ''**तस्य वाचकः प्रणवः**'' योगदर्शन १.२६, २७]।

(ख) **तज्जपस्तदर्थभावनम्।** (योग १.२८)

''इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण....करना चाहिए कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो।'' (ऋ०भा०भू०, उपासना विषय)

'ओ३म्' एवं गायत्री की उत्पत्ति—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च॥ ५१॥

[२.७६](४४)

(**प्रजापतिः**) परमात्मा ने (**अकारम् उकारं च मकारम्**) 'ओम्' शब्द के 'अ' 'उ' और 'म्' मूल अक्षरों [अ+उ+म्=ओम्] को (**च**) तथा (**भूः भुवः स्वः इति**) 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' गायत्री मन्त्र की इन तीन महाव्याहृतियों को (**वेदत्रयात् निरदुहत्**) तीनों वेदों से दुहकर साररूप में निकाला है और 'ओम्' तीनों वेदों का प्रतिनिधि नाम है [द्वितीय 'इति' का प्रयोग पादपूर्त्यर्थ है] ॥५१॥

अनुशीलन—ओंकार और व्याहृतियों का विवेचन—विभिन्न आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए निरुक्तकार ने भी इस श्लोक में प्रतिपादित मनु की मान्यता की पुष्टि की है। वे '**चत्वारि वाक् परिमिता पदानि**' (ऋ० १.१६४.४५) मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"**कानि तानि चत्वारि पदानि? ओंकारः, महाव्याहृतयश्च इति आर्षम्।**" (१३.९) अर्थात् वाक् स्वरूप ब्रह्म या वेद का वर्णन करने वाले वे चार पद कौन से हैं? ओंकार अर्थात् 'ओम्' अक्षर और 'भू' 'भुवः' 'स्वः' ये तीन महाव्याहृतियाँ। इनको आचार्य यास्क ने मनु के समान महत्त्व दिया है।

(१) 'ओम्' अक्षर के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए "**ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः**" (ऋ० १.१६४.३९) मन्त्र की व्याख्या में आचार्य शाकपूणि और ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन उद्धृत करते हुए यास्क आचार्य ने कहा है कि अक्षर वह 'ओम्' ही है और यह 'ओम्' अक्षर त्रयी विद्यारूप वेदों का प्रतिनिधि है— "**कतमत्तदेतत् अक्षरम्? ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः। 'एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रतिपत्तिः' इति च ब्राह्मणम्।**" (१३.९)

महर्षि दयानन्द ने इसी आधार पर 'ओम्' को ईश्वर का सर्वप्रमुख नाम माना है—"जो अकार उकार और मकार के योग से 'ओम्' यह अक्षर सिद्ध है, सो यह

परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम है, जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं। जैसा पिता-पुत्र का प्रेम-सम्बन्ध है, वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है। इस एक नाम से ईश्वर के सब नामों का बोध होता है।'' (द०ल०प० पृ० २३२)

(२) ''अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं—'**भूरिति वै प्राणः**' '**यः प्राणयति चराचरं जगत् सः भूः स्वयंभूरीश्वरः**'—जो सब जगत् के जीवन का आधार प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है, उस प्राण का वाचक होके 'भूः' परमेश्वर का नाम है। **भुवरित्यपानः**' **यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः**'—जो सब दुःखों से रहित जिसके संग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इसलिये उस परमेश्वर का नाम 'भुवः' है। '**स्वरिति व्यानः**' '**यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः**'—जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सबको धारण कर रहा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम 'स्वः' है।'' (स०प्र०, समु० ३)

त्रिभ्यः एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥५२॥

[२.७७] (४५)

(**परमेष्ठी प्रजापतिः**) सबसे महान् परमात्मा ने (**तत्+इति+अस्याः सावित्र्याः ऋचः**) 'तत्' इस पद से प्रारम्भ होने वाली सावित्री ऋचा [=गायत्री मन्त्र] का (**पादं पादम्**) एक-एक पाद [प्रथम पाद है—'तत्सवितुर्वरेण्यम्', द्वितीय पाद है—'भर्गो देवस्य धीमहि', तृतीय पाद है—'धियो यो नः प्रचोदयात्'] (**त्रिभ्यः+एव तु वेदेभ्यः**) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद [१.२३; ११.२६४; १२.११२] तीनों वेदों से (**अदूदुहत्**) दुहकर सार रूप में बनाया है। गायत्री मन्त्र वेदों का ही प्रतिनिधि मन्त्र है ॥५२॥

'ओ३म्' एवं गायत्री के जप का फल—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥ ५३॥

[२.७८] (४६)

(**एतत्+अक्षरम्**) इस [ओम्] अक्षर को (**च**) और (**व्याहृतिपूर्विकाम्**) 'भूः भुवः स्वः' इन व्याहृतियों सहित (**एताम्**) इस गायत्री ऋचा [=मन्त्र] को [''ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्, भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।'' इस मन्त्र को] (**वेदवित् विप्रः**) वेदपाठी द्विज (**सन्ध्ययोः जपन्**) दोनों सन्ध्याओं अर्थात् प्रातः, सायंकाल में उपासना के समय जपते हुए (**वेदपुण्येन युज्यते**) वेदाध्ययन के पुण्य को प्राप्त करता है॥ ५३॥

अनुशीलन—'ओम्' ईश्वर का मुख्यनाम—(१) यह 'ओम्' अक्षर परमेश्वर का सबसे मुख्य वाचक नाम है। इसकी पुष्टि के लिए योगदर्शन का प्रमाण है—

(क) **तस्य वाचकः प्रणवः** (१.२७)।

''जो ईश्वर का ओंकार नाम है, सो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है, और यह नाम ईश्वर को छोड़के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें ओंकार सबसे उत्तम नाम है।''

(ख) **तज्जपस्तदर्थभावनम्** (१.२८)

''इसलिए इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ विचार सदा करना चाहिए कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता, और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो।'' (ऋ०भा०भू०, उपासना विषय)

इसमें अन्य शास्त्रों के प्रमाण भी उल्लेखनीय हैं—

(ग) ''**ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत**''।

(छान्दोग्य उपनिषद्)

(घ) ''**ओमिति-एतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपाख्या-नम्।**'' (माण्डूक्य उपनिषद्)

(ङ) ''**ओं खम्ब्रह्म**'' (यजु० ४०.१७)

(कभी नष्ट न होने वाले उपासनीय परमेश्वर का 'ओम्' यह नाम है।)

(२) मनुस्मृति में अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर ओम् और सावित्री के जप का विशेष विधान है। तुलनार्थ द्रष्टव्य है—११.२२२, २२५, २६५ श्लोक।

(३) **गायत्री मन्त्र और उसका अर्थ**—

ओम् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य

धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्। (यजुः० ३६.३; ऋ० ३.६२.१०)॥

अर्थ—'(**ओ३म्**) यह मुख्य परमेश्वर का निज नाम है, जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं (**भूः**) जो प्राण का भी प्राण (**भुवः**) सब दुःखों से छुड़ाने हारा (**स्वः**) स्वयं सुख-स्वरूप और अपने उपासकों को सब सुखों की प्राप्ति कराने हारा है, उस (**सवितुः**) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले, सूर्य आदि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता (**देवस्य**) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय कराने हारे परमात्मा का जो (**वरेण्यम्**) अतिश्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य (**भर्गः**) सब क्लेशों को भस्म करने हारा, पवित्र, शुद्धस्वरूप है (**तत्**) उसको हम लोग (**धीमहि**) धारण करें (**यः**) यह जो परमात्मा (**नः**) हमारी (**धियः**) बुद्धियों को उत्तम गुण, कर्म, स्वभावों में (**प्रचोदयात्**) प्रेरणा करे।' (सं०वि वेदारम्भप्रकरण)

(४) २.५१ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है। उससे इस श्लोक का भाव और अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

इन्द्रिय-संयम का निर्देश—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥ ६३॥
[२.८८] (४७)

(**विद्वान् यन्ता वाजिनाम् इव**) जैसे विद्वान्= बुद्धिमान् सारथि घोड़ों को नियन्त्रण में रखकर सही मार्ग पर रखता है वैसे (**विषयेषु+अपहारिषु**) मन और आत्मा को खोटे कामों में खैंचने वाले विषयों में (**विचरताम्**) विचरती हुई (**इन्द्रियाणां संयमे**) इन्द्रियों के निग्रह में (**यत्नम्**) प्रयत्न (**आतिष्ठेत्**) सब प्रकार से करे॥ ६३॥

ऋषि अर्थ—''मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियाँ चित्त का हरण करने वाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं उनको रोकने में प्रयत्न करे, जैसे घोड़ों को सारथि रोककर शुद्ध मार्ग में चलाता है; इस प्रकार इनको अपने वश में करके अधर्म-मार्ग से हटाके धर्म

मार्ग में सदा चलाया करे।'' (स०प्र०, समु० १०)
(अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ३; सं०वि०, वेदारम्भ०)

अनुशीलन—'**इन्द्रिय की व्युत्पत्ति**'—'इदि—परमैश्वर्ये' धातु से **ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०** (उणादि० २.२८) सूत्र से रन् प्रत्यय के योग से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। 'इन्द्र' प्रातिपदिक से '**इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्र.... इति वा**' (अ० ५.२.८३) से 'घच्' प्रत्यय निपातित है। **इन्द्रियवान् इन्द्रः, आत्मा तत्करणं ज्ञानकर्म-ऐश्वर्यप्राप्तेः साधनम् लिङ्गं चिह्नं वा तदिन्द्रियम्, शरीरावयवम्।** अर्थात्=शरीर के वे अवयव जो आत्मा के ज्ञान-कर्म-ऐश्वर्यादि की प्राप्ति के साधन या चिह्न हैं, वे इन्द्रिय हैं। आंख, नाम, कान, व हाथ, पैर, आदि मन सहित आगे वर्णित ग्यारह इन्द्रियाँ हैं।

ग्यारह इन्द्रियों की गणना—

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥ ६४॥
[२.८९] (४८)

(**पूर्वे मनीषिणः**) पहले मनीषि विद्वानों ने (**यानि एकादश+इन्द्रियाणि+आहुः**) जो ग्यारह इन्द्रियाँ कही हैं (**तानि यथावत्+अनुपूर्वशः**) उनको यथोचित क्रम से (**सम्यक् प्रवक्ष्यामि**) ठीक-ठीक कहता हूँ॥ ६४॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता॥ ६५॥
[२.९०] (४९)

(**श्रोत्रं त्वक्-चक्षुषी जिह्वा**) कान, त्वचा, नेत्र, जीभ (**च**) और (**पञ्चमी**) पांचवीं (**नासिका**) नासिका=नाक (**पायु-उपस्थं हस्तपादम्**) गुदा, उपस्थ (=मूत्र इन्द्रिय) हाथ, पग (वाक्) वाणी (**दशमी स्मृता**) ये दश इन्द्रियां इस शरीर में हैं॥ ६५॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्ववादीनि प्रचक्षते॥ ६६॥
[२.९१] (५०)

(**एषाम्**) इनमें (**अनुपूर्वशः**) क्रमशः (**श्रोत्र-आदीनि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि**) कान आदि पहली पांच 'ज्ञानेन्द्रिय' कहाती हैं और (**पायु-आदीनि पञ्च**

कर्मेन्द्रियाणि) बाद की गुदा आदि पांच 'कर्मेन्द्रिय' (**प्रचक्षते**) कहाती हैं ॥ ६६ ॥

ग्यारहवीं इन्द्रिय मन—

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ६७ ॥
[२.९२] (५१)

(**एकादशं मनः**) ग्यारहवीं इन्द्रिय मन है (**ज्ञेयम्**) ऐसा समझना चाहिए (**स्वगुणेन उभयात्मकम्**) वह अपने विशेष गुणों के कारण दोनों प्रकार की इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है (**यस्मिन् जिते**) जिस मन के जीतने में (**एतौ पञ्चकौ गणौ**) पांचों-पांचों इन्द्रियों के दोनों समुदाय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दसों इन्द्रियां (**जितौ**) स्वतः जीत ली जाती हैं ॥ ६७ ॥

अनुशीलन—चरक में इन्द्रियाँ एवं इन्द्रियों के विषय—इन्द्रियों के अधिष्ठान एवं विषयों पर चरकशास्त्र में प्रकाश डाला गया है। विशेष जानकारी के लिए विवरण प्रस्तुत है। ज्ञानेन्द्रियाँ ये हैं—

(क) **तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनम्-इति पञ्चेन्द्रियाणि। पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापः भूरिति। पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानान्यक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति ॥ पञ्चेन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ॥**

(सूत्रस्थान अ० ८.५-६ ॥)

अर्थात्—चक्षु, श्रवण, घ्राण, रसना, स्पर्श ये पांच इन्द्रियाँ हैं। क्रमशः तेज, आकाश, पृथ्वी, जल और वायु ये पांच इन्द्रियों के द्रव्य हैं। क्रमशः आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा इनके अधिष्ठान हैं। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श क्रमशः इन्द्रियों के अर्थ=विषय हैं।

(ख) कर्मेन्द्रियाँ—

हस्तपादं गुदोपस्थं जिह्वेन्द्रियमथापि च।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव, पादौ गमनकर्मणि ॥
पायूपस्थौ विसर्गार्थे, हस्तौ ग्रहणधारणे।
जिह्वा वाग् इन्द्रियं वाक् च ॥

(शारीरस्थान १.२३-२४)

अर्थात्—हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ और जिह्वा ये पांच

कर्मेन्द्रिय हैं। हाथों का कार्य ग्रहण करना, पावों का चलना, गुदा का मलत्याग, उपस्थ का मूत्रत्याग और जिह्वा का कार्य बोलना है।

(ग) मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है। उसका कार्य चिन्तन, विचार, तर्कना, ध्यान, संकल्प आदि करना है—

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च।
यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥

(विमानस्थान १.१९)

इन्द्रिय-संयम से प्रत्येक कार्य में सिद्धि—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥ ६८॥

[२.९३] (५२)

(**इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन**) जीवात्मा इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होकर (**असंशयम्**) निःसन्देह (**दोषम्+ ऋच्छति**) इन्द्रिय-दोषों से ग्रस्त हो जाता है (**तु तानि सन्नियम्य**) यदि उन्हीं दश इन्द्रियों को वश में कर लेता है तो (**ततः एव**) उससे वह (**सिद्धिं नियच्छति**) सिद्धि=सफलता और कल्याण को प्राप्त करता है॥ ६८॥

ऋषि अर्थ—''इन्द्रियों को विषयासक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चित दोष को प्राप्त होता है और जब इनको जीतकर धर्म में चलाता है तभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है।'' (स०प्र०, समु० १०)

विषयों के सेवन से इच्छाओं की वृद्धि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥ ६९॥

[२.९४] (५३)

(**कामः**) तृष्णा (**कामानाम् उपभोगेन जातु न शाम्यति**) तृष्णाओं अथवा विषयों के भोगने से कभी भी शान्त नहीं होती है, अपितु (**कृष्णवर्त्मा हविषा इव**) जैसे अग्नि घी आदि की आहुति डालने से (**भूय एव-अभिवर्धते**) अधिक-अधिक ही बढ़ती जाती है, उसी प्रकार विषयों के सेवन से तृष्णाएँ भी बढ़ती जाती हैं॥ ६९॥

ऋषि अर्थ—''यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में इन्धन और घी डालने से अग्नि बढ़ता जाता है, वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता, किन्तु बढ़ता ही जाता है। इसलिए मनुष्य को विषयासक्त कभी नहीं होना चाहिए।'' (स०प्र०, समु० १०)

विषय त्याग ही श्रेष्ठ है—

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥ ७०॥
[२.९५] (५४)

(**यः+एतान् सर्वान् प्राप्नुयात्**) जो इन सब तृष्णाओं या सब विषयों का उपभोग करे (**च**) और (**यः एतान् केवलान् त्यजेत्**) जो इन सब को पूर्णतः त्याग दे (**सर्वकामानां प्रापणात्**) [इन दोनों बातों में] सब तृष्णाओं या विषयों को प्राप्त=उपभोग करने से (**परित्यागः**) उनको सर्वथा त्याग देना (**विशिष्यते**) अधिक अच्छा है॥ ७०॥

न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः॥ ७१॥
[२.९६] (५५)

(**विषयेषु प्रजुष्टानि एतानि**) विषयों में आसक्त इन इन्द्रियों को (**असेवया**) विषयों के सेवन के त्याग से भी (**तथा सन्नियन्तुं न शक्यन्ते**) आसानी से वश में नहीं किया जा सकता। (**यथा नित्यशः ज्ञानेन**) जैसे कि नित्यप्रति ज्ञानपूर्वक वश में किया जा सकता है। मनुष्य विषयसेवन से दोषों को प्राप्त होता है और विषयत्याग से सिद्धि को प्राप्त करता है, [२.६८] इत्यादि विषय के ज्ञान से इन्द्रियों को भलीभांति वश में किया जा सकता है॥ ७१॥

विषयी व्यक्ति को सिद्धि नहीं मिलती—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ ७२॥
[२.९७] (५६)

(**विप्रदुष्टभावस्य**) जो अजितेन्द्रिय और दूषित मानस का व्यक्ति है, उसके (**वेदाः त्यागः यज्ञाः नियमाः तपांसि**) वेद पढ़ना, त्याग करना, यज्ञ (=अग्नि-होत्रादि) करना, यम-नियमों का पालन आदि करना, तप=धर्माचरण के लिए कष्ट सहन करना आदि कर्म (**कर्हिचित्**) कदापि (**सिद्धिं न गच्छन्ति**) सिद्ध= सफल नहीं हो सकते अर्थात् जितेन्द्रियता के साथ ही इन आचरणों की सफलता होती है॥ ७२॥

ऋषि अर्थ—''जो अजितेन्द्रिय पुरुष है उसको विप्रदुष्ट कहते हैं। उसके करने से न वेदज्ञान, न त्याग, न यज्ञ, न नियम और न धर्माचरण सिद्धि को प्राप्त होते हैं। किन्तु ये सब जितेन्द्रिय धार्मिक जन को सिद्ध होते हैं।'' (स०प्र०, समु० १०) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४; सं०वि०, वेदारम्भ०)

अनुशीलन—इस भाव की पुष्टि और तुलना के लिए देखिए १.१०९ और २.१३५ श्लोक।

जितेन्द्रिय की परिभाषा—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥ ७३॥
[२.९८] (५७)

(**यः नरः**) जो मनुष्य (**श्रुत्वा**) स्तुति सुन के हर्ष और निन्दा सुन के शोक (**स्पृष्ट्वा**) अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुःख (**दृष्ट्वा**) सुन्दर रूप देख के प्रसन्न और दुष्टरूप देख अप्रसन्न (**भुक्त्वा**) उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित (**घ्रात्वा न हृष्यति ग्लायति**) सुगन्ध में रुचि, दुर्गन्ध में अरुचि न करता हो अर्थात् उनके वशीभूत और उनसे प्रभावित नहीं होता (**सः जितेन्द्रियः विज्ञेयः**) उसको 'जितेन्द्रिय' समझना-मानना चाहिए॥ ७३॥

एक भी इन्द्रिय के असंयम से प्रज्ञाहानि—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥ ७४॥
[२.९९] (५८)

(**सर्वेषाम् इन्द्रियाणां तु**) सब इन्द्रियों में यदि (**एकम् इन्द्रियं क्षरति**) एक भी इन्द्रिय अपने विषय में आसक्त रहने लगती हैं तो (**तेन**) उसी के कारण (**अस्य प्रज्ञा क्षरति**) इस मनुष्य की बुद्धि ऐसे नष्ट होने लगती है (**दृतेः पात्रात्+उदकम् इव**) जैसे चमड़े के बर्तन=मशक में एक छिद्र होने से ही सारा पानी बहकर नष्ट हो जाता है ॥ ७४ ॥

इन्द्रिय-संयम से सब अर्थों की सिद्धि—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम्॥ ७५ ॥
[२.१००] (५९)

(**इन्द्रियग्रामम्**) पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, इन दश इन्द्रियों के समूह को (**संयम्य**) नियन्त्रण में रखकर (**च**) और (**मनः**) ग्यारहवें मन को (**वशे कृत्वा**) वश में करके (**योगतः तनुम्=अक्षिण्वन्**) योगाभ्यास में इस प्रकार संलग्न रहे कि उससे शरीर में क्षीणता और हानि न होवे (**तथा**) उस प्रकार से रहता हुआ (**सर्वान् अर्थान् संसाधयेत्**) अपने सब कामों, लक्ष्यों और व्यवहारों को सिद्ध करे॥ ७५ ॥

ऋषि अर्थ—''ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में कर और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किंचित्-किंचित् पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे।'' (सं०वि० वेदारम्भप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० १०)

अनुशीलन—'**योग**' के अर्थ के सम्बन्ध में विवेचन देखिए ६.६५ पर अनुशीलन में योग का मुख्य अर्थ है—''**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**'' (योगदर्शन १.२) =चित्तवृत्तियों को नियन्त्रित रखने का नाम 'योग' है।

सन्ध्योपासन-समय—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्॥ ७६ ॥
[२.१०१] (६०)

(**पूर्वां सन्ध्याम्**) प्रात:कालीन सन्ध्या करते

समय (**सावित्रीं जपन्**) गायत्री मन्त्र का अर्थसहित जप करते हुए (**अर्कदर्शनात् तिष्ठेत्**) सूर्योदय पर्यन्त बैठे, उपासना करे। (**पश्चिमां तु**) सायंकालीन सन्ध्या में (**ऋक्षदर्शनात् समासीनः**) तारों के दर्शन पर्यन्त बैठकर (**सम्यक्**) शुद्धभाव से गायत्री मन्त्र के जप से परमात्मा की उपासना करे॥ ७६ ॥

ऋषि अर्थ—''दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्योदय पर्यन्त प्रातः सन्ध्या, सूर्यास्त से लेकर तारों के दर्शन पर्यन्त सायंकाल में, सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले परमेश्वर की उपासना गायत्री आदि मन्त्रों के अर्थ विचार पूर्वक नित्य करें।'' (द०ल०पं०, पृ० २३६)

अनुशीलन—नैत्यिक सन्ध्या और यज्ञ करने के समय प्रातः और सायं दो सन्ध्याकाल हैं। सन्ध्या में गायत्री मन्त्र का जप ''**ओ३म्**'' और ''**भूर्भुवः स्वः**'' इन तीन व्याहृतियों सहित करने का विधान है [१.१३४; २.५१-५३, १६१ (२.७६-७८, १८६); ४.२५, ९३]। योगदर्शन में जप की विधि इस प्रकार बताई है कि ओंकार आदि का जप अर्थसहित करना चाहिये—''**तज्जपस्तदर्थ-भावनम्**'' [१.२८]। अर्थरहित जप केवल शब्दाडम्बर होता है। (२.५३ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है)

सन्ध्योपासना का फल—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्॥ ७७॥
[२.१०२] (६१)

[मनुष्य] (**पूर्वां सन्ध्यां जपन् तिष्ठन्**) प्रातःकालीन सन्ध्या में बैठकर अर्थसहित जप करके (**नैशम्+एनः व्यपोहति**) रात्रिकालीन मानसिक मलिनता या दोषों को दूर करता है (**पश्चिमां तु समासीनः**) और सायंकालीन सन्ध्या करके (**दिवा-कृतं मलं हन्ति**) दिन में संचित मानसिक मलिनता या दोषों को नष्ट करता है। [अभिप्राय यह है कि दोनों समय सन्ध्या करने से पूर्ववेला में आये दोषों पर चिन्तन-मनन और पश्चात्ताप करके उन्हें आगे न करने

के लिए संकल्प किया जाता है तथा गायत्री जप द्वारा ईश्वर की उपासना से अपने संस्कारों को शुद्ध-पवित्र बनाया जा सकता है] ॥ ७७ ॥[१]

अनुशीलन—'एनः' शब्द का यहाँ 'संस्कारजन्य दोष' अर्थ है। इस पर विस्तृत समीक्षा २.२ (२.२७) पर द्रष्टव्य है। 'एनः' के अन्य अर्थ प्रयुक्त हैं—'दोष, अपराध, बुराई, कलंक, पाप' आदि [८.१९; ९.९१; ११.२१०, २२६]

सन्ध्योपासन न करनेवाला शूद्र—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम्।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ ७८ ॥
[२.१०३] (६२)

(**यः**) जो मनुष्य (**पूर्वां न तिष्ठति च पश्चिमां न उपास्ते**) प्रतिदिन प्रातः और सायं सन्ध्योपासना नहीं करता (**सः शूद्रवत्**) उसको शूद्र के समान समझकर (**सर्वस्मात् द्विजकर्मणः बहिष्कार्यः**) द्विजों के समस्त अधिकारों से वंचित करके शूद्र वर्ण में रख देना चाहिए, क्योंकि उसका आचरण शूद्र के समान होता है ॥ ७८ ॥

ऋषि अर्थ—''जो मनुष्य नित्य प्रातः और सायं सन्ध्योपासन को नहीं करता, उसको शूद्र के समान समझकर, द्विज कुल से अलग करके शूद्रकुल में रख देना चाहिए। (द०ल०पं० पृ० २३९)

प्रतिदिन गायत्री-जप का विधान—

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥ ७९ ॥
[२.१०४] (६३)

(**नैत्यकं विधिम्+आस्थितः**) सन्ध्योपासना की नित्यचर्या का अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति (**अरण्यं गत्वा**) वनप्रदेश अथवा एकान्त शान्त प्रदेश में जाकर

---

१. **प्रचलित अर्थ**—प्रातःकाल की सन्ध्या में बैठकर जप करता हुआ मनुष्य रात्रि में किये हुए पापों को नष्ट करता है, तथा सायंकाल की सन्ध्या में बैठकर जप करता हुआ मनुष्य दिन में किये पापों को नष्ट करता है ॥ २.१०२ ॥]

(**अपां समीपे नियतः**) जलस्थान के निकट बैठकर (**समाहितः**) ध्यानमग्न होकर (**सावित्रीम्+अपि+अधीयीत**) सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का अर्थसहित जप-चिन्तन करे और तदनुसार आचरण करे॥ ७९ ॥

ऋषि अर्थ—''जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जा, सावधान होके, जल के समीप स्थित होके, सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण, अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चालचलन को करे।'' (स०प्र०समु० ३)

वेद, अग्निहोत्र आदि में अनध्याय नहीं होता—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि॥ ८० ॥
[२.१०५] (६४)

(**वेदोपकरणे चैव**) वेद के पठन-पाठन में (**च**) और (**नैत्यके स्वाध्याये**) नित्यकर्म में विहित गायत्री जप या सन्ध्योपासना [२.७६-७९] में (**होम-मन्त्रेषु चैव**) तथा यज्ञानुष्ठान में (**अनध्याये अनुरोधः न अस्ति**) अनध्याय अर्थात् न करने की छूट नहीं होती। भाव यह है कि इन अनुष्ठानों को प्रत्येक स्थिति में करना चाहिए, इनके साथ अनध्याय अर्थात् अवकाश का नियम लागू नहीं होता॥ ८० ॥

ऋषि अर्थ—''वेद के पढ़ने-पढ़ाने, सन्ध्योपासनादि पंचमहायज्ञों के करने और होममन्त्रों में अनध्यायविषयक अनुरोध (आग्रह) नहीं है।'' (स०प्र०, समु० ३)

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्॥ ८१ ॥
[२.१०६] (६५)

(**नैत्यके अनध्यायः न+अस्ति**) सन्ध्या-यज्ञ आदि नित्यचर्या के अनुष्ठान का त्याग अथवा उनमें अवकाश नहीं होता (**हि**) क्योंकि (**तत् ब्रह्मसत्रं स्मृतम्**) उनको परमात्मा की उपासना का अनुष्ठान माना गया है। (**अनध्यायवषट्कृतम्**) अवकाशकाल

में भी किया गया यज्ञ-सदृश उत्तम कर्म और (**ब्रह्म-आहुति-हुतम्**) ब्रह्म को किया गया समर्पण अर्थात् सन्ध्योपासन (**पुण्यम्**) सदा पुण्यदायक ही होते हैं॥ ८१ ॥

ऋषि अर्थ—''नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता जैसे श्वास-प्रश्वास सदा लिये जाते हैं, बंद नहीं किये जाते, वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिये; न किसी दिन छोड़ना, क्योंकि अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तमकर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है।'' (स०प्र०, समु० ३)

अनुशीलन—'वषट्कार' की व्युत्पत्ति—'वह' धातु से 'डषटि' के योग से 'वषट्' शब्द बनता है। यह अव्यय है। वषट् का अर्थ 'यज्ञादि धार्मिक क्रिया या आहुति देना' है। इस प्रकार '**अनध्यायवषट्कृतम् ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यम्**' पंक्ति का अर्थ बना—'अनध्याय की स्थिति में भी किया गया अग्निहोत्रादि में आहुति दान आदि कर्म और ब्रह्मयज्ञ में दी गई उपासना रूप आहुति सदा पुण्यकारक होती है। ईश्वर की उपासना होने से वह कर्म पुण्यदायक ही होता है।

स्वाध्याय का फल—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु॥ ८२॥
[२.१०७] (६६)

(**यः**) जो व्यक्ति (**अब्दं स्वाध्यायम्**) जलवर्षक मेघ के समान कल्याणवर्षक स्वाध्याय को [वेदों का अध्ययन, यज्ञ, गायत्री का जप एवं सन्ध्या-उपासना आदि (२.७९-८१) (**शुचिः**) स्वच्छ-पवित्र होकर, (**नियतः**) एकाग्रचित्त होकर (**विधिना**) विधिपूर्वक (**अधीते**) करता है (**तस्य एषः**) उसके लिए यह स्वाध्याय (**नित्यम्**) सदा (**पयः दधि घृतं मधु क्षरति**) दूध, दही, घी और मधु को बरसाता है।

अभिप्रायः यह है कि जिस प्रकार इन पदार्थों का सेवन करने से शरीर तृप्त, पुष्ट, बलशाली और नीरोग हो जाता है, उसी प्रकार स्वाध्याय करने से भी मनुष्य का जीवन शान्तिमय, गुणमय, ज्ञानमय और पुण्यमय

या आनन्दमय हो जाता है, अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनकी प्राप्ति होती है ॥ ८२ ॥[१]

अनुशीलन—(१) **स्वाध्याय से अभिप्राय**—इस श्लोक में आलंकारिक वर्णन है। यहाँ दूध, दही, घी और मधु को उपलक्षण या प्रतीक रूप में लिया गया है और इस वाक्य का मुहावरे के रूप में प्रयोग है। आयुर्वेद के अनुसार दूध का मुख्य गुण तृप्ति करना, दही का पुष्टि करना, घी का बल-आयु को बढ़ाना और शहद का शरीर-दोषों का नाश करना मुख्य गुण है। इनके अनुसार वेद के स्वाध्याय में भी मानवजीवन को शान्तिमय, गुणमय, ज्ञानमय, आनन्दमय बनाने वाले गुण हैं। यही आलंकारिक वर्णन का अभिप्राय है। कुछ टीकाकारों ने इन्हें क्रमशः धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का प्रतीक माना है। यहाँ मनु ने वेद के मन्त्र का भाव ज्यों का त्यों अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है। तुलना कीजिए; वेद का मन्त्र है—

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिः मधूदकम्॥

(ऋ० ९.६७.३२)

अर्थात्—वेदविद्या पढ़ने वाले को पवित्र करती है, उसमें सत्य विद्याओं का रस=सार भरा हुआ है, वह वेदविद्या पाठक के लिए दूध, घी, मधु और जल बरसाती है अर्थात् आत्मसन्तुष्टि, बल, मधुरता और शान्ति देती है।

(२) **'अब्दम्' का संगत अर्थ**—इस श्लोक में 'अब्दम्' शब्द का प्रयोग भी यौगिक है [**अपो ददाति इति अब्दम् मेघस्वरूपम्**] और इसका अर्थ 'वर्ष' न होकर 'वृष्टिकारक मेघस्वरूप' यहाँ संगत होता है। 'अब्दम्' शब्द का 'एक वर्ष' अर्थ करते हुए टीकाकारों ने जो यह अर्थ किया है कि 'जो मनुष्य जितेन्द्रिय तथा पवित्र होकर एक वर्ष तक भी विधिपूर्वक वेदाध्ययन करता है, उसे वह सर्वदा दूध, दही, घृत तथा मधु देता है' यह अर्थ मनु के

१. **प्रचलित अर्थ**—जो मनुष्य जितेन्द्रिय तथा पवित्र होकर एक वर्ष तक भी विधिपूर्वक वेदाध्ययन करता है उसे यह सर्वदा दूध, दही, घी तथा मधु देता है (जिनसे वह देवों तथा पितरों को तृप्त करता है और वे सब इच्छा तथा जपयज्ञ को पूर्ण करने वाले होते हैं) ॥ २.१०७ ॥

अभिप्राय के अनुकूल और प्रसंगानुकूल नहीं जंचता। यह अर्थ करने से निम्न आपत्तियाँ रह जाती हैं—(क) वेदाध्ययन, यज्ञ, उपासना को मनु ने द्विजमात्र का आवश्यक कर्म माना है [१.८८-९०] और सभी स्थानों पर उसे अनिवार्य घोषित करते हुए सदैव करते रहने का आदेश है [१.७७-८१ (१०२-१०६)]। अतः मनु द्वारा उसके कुछ समय के महत्त्व को दर्शाने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। (ख) मनु ने ये सभी कर्म ब्रह्मचारियों के नौ, अठारह या छत्तीस वर्ष तक नित्यकर्म के रूप में विहित किये हैं [३.१-२]। जब इतने वर्षों तक ब्रह्मचारी-द्विजों को ये कर्म अनिवार्य रूप से करने ही हैं तो यहाँ एक वर्ष तक के सीमित काल का उल्लेख करने का कोई प्रसंग ही नहीं बनता। (ग) 'अब्दम्' का अर्थ 'वर्ष' करने से श्लोक में 'नित्यम्' शब्द का प्रयोग भी संगत नहीं बैठता। यदि वर्ष भर की सीमा का निर्धारण ही कर दिया है, तो ये लाभ स्वाध्यायी को वर्ष भर ही मिलेंगे, सदा कैसे मिल सकते हैं ? यदि एक वर्ष तक स्वाध्याय करने से ये लाभ सदा मिल सकते हैं तो फिर एक वर्ष से अधिक स्वाध्याय की आवश्यकता और विधानों की क्या जरूरत है ? शायद इसी उलझन को अनभुव करते हुए कुछ टीकाकारों ने तो श्लोकार्थ में 'नित्यम्' शब्द का अर्थ ही छोड़ दिया। वस्तुतः यहाँ यौगिकार्थ रूप में 'अब्द' का प्रयोग है। जैसे बादल वर्षयिता है, वैसे ही स्वाध्याय को भी इन लाभों का वर्षयिता=दाता माना है। श्लोक में '**क्षरति**'=बरसाना क्रिया का प्रयोग भी इस शब्द के 'मेघ' अर्थ का पोषक है। आलंकारिक क्रिया का प्रयोग होने से अर्थ तदनुरूप ही ग्रहण करना उचित है।

(३) 'स्वाध्याय' शब्द से मनु का अभिप्राय वेदों का निरन्तर साङ्गोपाङ्ग अध्ययन, सन्ध्योपासना और अग्निहोत्र से है। यह उन्होंने स्वयं २.७९-८१ [२.१०४-१०६] श्लोकों में स्पष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त निम्न श्लोकों में भी स्पष्टतः वेदाध्ययन आदि को ही 'स्वाध्याय' कहा है—[२.१४०-१४३ (२.१६५-१६८); ४.१७-२०, १४७-१४९; ११.२४५॥]

समावर्तन तक होमादि कर्त्तव्य करने का कथन—

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः॥ ८३॥
[२.१०८] (६७)

(**कृतः+उपनयनः द्विजः**) यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित द्विज बालक गुरुकुल में रहते हुए (**अग्नीन्धनम्**) अग्निहोत्र का अनुष्ठान (**भैक्षचर्याम्**) भिक्षावृत्ति (**अधःशय्याम्**) भूमि में शयन (**गुरोः हितम्**) गुरु की सेवा (**आसमावर्तनात्**) समावर्तन संस्कार होने तक [शिक्षा समाप्त करके घर लौटने तक ३.१-३] (**कुर्यात्**) करता रहे॥ ८३॥

पढ़ाने योग्य शिष्य—

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः॥ ८४॥ [२.१०९] (६८)

(**आचार्यपुत्रः**) अपने आचार्य=गुरु का पुत्र (**शुश्रूषुः**) सेवा करने वाला (**ज्ञानदः**) किसी विषय के ज्ञान का देने वाला (**धार्मिकः**) धर्मनिष्ठ व्यक्ति (**शुचिः**) छल-कपटरहित आचरण वाला (**आप्तः**) घनिष्ठ मित्र आदि (**शक्तः**) विद्या ग्रहण करने में समर्थ अर्थात् बुद्धिमान् पात्र (**अर्थदः**) धन देने वाला (**साधुः**) हितैषी (**स्वः**) अपना सगा-सम्बन्धी (**दश धर्मतः अध्याप्याः**) ये दश धर्म से अवश्य पढ़ाने योग्य हैं॥ ८४॥

अनुशीलन—आप्त का अर्थ और व्याकरण— आप्त का शास्त्रों में अधिक प्रचलित अर्थ 'धार्मिक प्रामाणिक विद्वान्' 'यथार्थवक्ता' है, किन्तु साथ ही घनिष्ठ व्यक्ति भी अर्थ प्रचलित है (मनु० में देखिए अ० ८.१ श्लोक)। 'आप्लृ-व्याप्तौ' धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से 'आप्त' शब्द सिद्ध होता है। यत् प्रत्ययान्त शब्द आप्त्या का निर्वचन करते हुए निरुक्तकार ने लिखा है— "**आप्त्या—आप्नोतेः**" [१६.२.१९] इस प्रकार उक्त अर्थ में आप्त की व्युत्पत्ति हुई—'**आप्नोति हृदये आत्मीयत्वेन स आप्तः।**'

प्रश्नादि के बिना उपदेश निषेध—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥ ८५॥

[२.११०] (६९)

(**मेधावी**) बुद्धिमान् मनुष्य (**लोके**) लोक में (**न अपृष्टः**) किसी के बिना पूछे (**च**) और (**अन्यायेन पृच्छतः**) अन्याय अर्थात् छल-कपट, असभ्यता आदि से पूछने पर (**जानन्+अपि**) किसी विषय को जानते हुए भी (**न ब्रूयात्**) उत्तर न दे, ऐसे समय (जडवत् आचरेत्) जड़ के समान अर्थात् शान्तभाव से चुप रहे॥ ८५

ऋषि अर्थ—''कभी बिना पूछे वा अन्याय से पूछने वाले को, जो कपट से पूछता हो उसे किसी को उत्तर न देवे। उनके सामने बुद्धिमान् जड़ के समान रहे। हाँ, जो निष्कपट और जिज्ञासु हों उनको बिना पूछे जानते हुए भी लोक में उपदेश करे।'' (स०प्र०, समु० १०)

दुर्भावनापूर्वक प्रश्न-उत्तर से हानि—

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति॥ ८६॥

[२.१११] (७०)

''(**यः**) जो (**अधर्मेण**) अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण, सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह.... इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल-कपट से (**पृच्छति**) पूछता है (**च**) और (**यः**) जो (**अधर्मेण**) पूर्वोक्त प्रकार से (**प्राह**) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उसको उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो (**तयोः+अन्यतरः प्रैति**) पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है अर्थात् निन्दित होता है। (**वा**) अथवा (**विद्वेषम्**) अत्यन्त विरोध को (**अधिगच्छति**) प्राप्त होकर दोनों दुःखी होते हैं॥'' ८६॥

(द०ल०भ्र०पृ० ३४७)

विद्या-दान किसे न दें—

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे॥ ८७॥

[२.११२] (७१)

(**यत्र धर्मार्थौ न स्याताम्**) जहाँ विद्यार्थी में धर्माचरण अथवा उससे अर्थप्राप्ति न हो (**वा**) और (**तद्विधा शुश्रूषा अपि**) गुरु के अनुरूप सेवाभावना भी न हो (**तत्र विद्या न वक्तव्या**) ऐसे को विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि (**ऊषरे शुभं बीजम्+इव**) वह ऊसर भूमि में श्रेष्ठ बीज बोने के समान है। जैसे बंजर भूमि में बोया हुआ बीज व्यर्थ होता है उसी प्रकार उक्त कुपात्र व्यक्ति को दी गई विद्या भी व्यर्थ जाती है, अर्थात् वह विद्या का दुरुपयोग करता है, जैसे दुष्ट व्यक्ति विज्ञान विद्या को सीखकर उसका उपयोग लोकहानि के लिए करता है।

कुपात्र को विद्यादान का निषेध—

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्॥ ८८॥

[२.११३] (७२)

(**ब्रह्मवादिना**) वेद का विद्वान् (**कामम्**) चाहे (**विद्यया+एव समं मर्त्तव्यम्**) विद्या को साथ लेकर मर जाये (**हि**) किन्तु (**घोरायाम् आपदि+अपि**) भयंकर आपत्तिकाल में भी (**एनाम् इरिणे तु न वपेत्**) इस विद्या को बंजर भूमि में बीज के समान विद्या के ईर्ष्या-द्वेषी कुपात्र व्यक्ति के मस्तिष्क में न बोये अर्थात् जहाँ विद्या फलवती न हो, जो उसका विनाश या दुरुपयोग करे, ऐसे कुपात्र को न दे॥ ८८॥

विद्यादान-सम्बन्धी आख्यान एवं निर्देश—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यत्तमा॥ ८९॥

[२.११४] (७३)

[एक आख्यान प्रचलित है कि एक बार] (**विद्या ब्राह्मणम्+एत्य+आह**) विद्या विद्वान् ब्राह्मण

के पास आकर बोली—(**ते शेवधिः अस्मि, माम्, रक्ष**) मैं तेरा खजाना हूँ, तू मेरी रक्षा कर (**माम् असूयकाय मा दाः**) मुझे मेरी उपेक्षा, निन्दा, दुरुपयोग या ईर्ष्या-द्वेष करने वाले को मत प्रदान कर (**तथा वीर्यत्तमा स्याम्**) इस प्रकार से ही मैं वीर्यवती =महत्त्वपूर्ण और शक्तिसम्पन्न बन सकूंगी ॥ ८९ ॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ९० ॥
[२.११५] (७४)

(**यम्+एव तु शुचिं नियतब्रह्मचारिणम्**) जिसे तुम छल-कपट रहित, शुद्ध भाव से युक्त, निश्चित रूप से जितेन्द्रिय (**विद्यात्**) समझो (**तस्मै अप्रमादिने निधिपाय मां ब्रूहि**) उस आलस्यरहित और इस विद्यारूपी खजाने की रक्षा एवं वृद्धि करने वाले जिज्ञासु शिष्य को मुझे पढ़ाना ॥ ९० ॥

अनुशीलन—विद्या के आख्यान का निरुक्त में वर्णन—८८-९० श्लोकों में मनु ने जिस विद्या के आख्यान को वर्णित किया है यह प्राचीन काल में बहुप्रचलित मार्गनिर्देशक आख्यान था। निरुक्त शास्त्र में महर्षि यास्क ने किसी प्राचीन ग्रन्थ के कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें कुछ विस्तार से इसी आख्यान का वर्णन है। भाव एवं शब्दसाम्य द्रष्टव्य है। श्लोक इस प्रकार हैं—

१. **विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥**

२. **य आवृणोत्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥**

३. **अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा। यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥**

४. **यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥** (निरु० २.१.४)

गुरु को प्रथम अभिवादन—

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽध्यात्मिकमेव च।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्॥ ९२॥
[२.११७] (७५)

[शिष्टाचार यह है कि] (**यतः**) जिससे (**लौकिकम्**) लोक में काम आने वाला—शस्त्रविद्या, अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति विज्ञान आदि सम्बन्धी (**वा**) अथवा (**वैदिकम्**) वेदविषयक (**तथा**) तथा (**आध्यात्मिकम्+एव**) आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**आददीत**) प्राप्त करे (**तम्**) उसको शिक्षार्थी (**पूर्वम्+अभिवादयेत्**) पहले नमस्कार करे॥ ९२॥

गुरु की शय्या और आसन पर न बैठे—

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्॥ ९४॥
[२.११९] (७६)

(**श्रेयसा**) गुरुजन आदि बड़ों द्वारा (**अध्या-चरिते**) प्रयोग में लायी जाने वाली (**शय्या—आसने**) शय्या=पलंग आदि और आसन पर (**न समाविशेत्**) न बैठे (**च**) और (**शय्यासनस्थः**) यदि अपनी शय्या और आसन पर लेटा या बैठा हो तो (**एनम्**) इन गुरुजन आदि बड़ों के आने पर उनको (**प्रत्युत्थाय+अभिवादयेत्**) उठकर अभिवादन करे॥ ९४॥

बड़ों के अभिवादन से मानसिक प्रसन्नता—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥ ९५॥
[२.१२०] (७७)

(**स्थविरे+आयति**) विद्या, पद, आयु आदि में बड़े लोगों के आने पर (**यूनः प्राणाः**) छोटों के प्राण (**उत्क्रामन्ति**) ऊपर को उभरने से लगते हैं अर्थात् प्राणों में घबराहट-सी उत्पन्न होने लगती है (**हि**) किन्तु (**प्रत्युत्थान-अभिवादाभ्याम्**) उठने और अभिवादन करने से (**पुनः**) फिर से (**तान् प्रतिपद्यते**) मनुष्य प्राणों

की सामान्य-स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त कर लेता है अर्थात् प्राणों की घबराहट दूर हो जाती है ॥ ९५ ॥[१]

अभिवादन और सेवा से आयु, विद्या, यशः बल की वृद्धि—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते, आयुर्विद्या यशो बलम्॥ ९६ ॥

[२.१२१] (७८)

(**अभिवादनशीलस्य**) अभिवादन करने का जिसका स्वभाव है और (**नित्यं वृद्धोपसेविनः**) विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों की जो नित्य सेवा-संगति करता है (**तस्य आयुः विद्या यशः बलं चत्वारि वर्धन्ते**) उसकी आयु, विद्या, कीर्त्ति और बल इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है ॥ ९६ ॥

ऋषि अर्थ—''जो सदा नम्र सुशील विद्वान् और वृद्धों की सेवा करता है उसका आयु, विद्या, कीर्ति और बल ये चार सदा बढ़ते हैं और जो ऐसा नहीं करता उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते।'' (स०प्र०, समु० ३) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, वेदारम्भ०)

अनुशीलन—(१) **अभिवादनादि से आयु-विद्या-बल-यश की वृद्धि कैसे ?**—यहाँ प्रश्न उठता है कि अभिवादनशील और नित्यवृद्धोपसेवी व्यक्ति के आयु, विद्या, यश और बल कैसे बढ़ते हैं ? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? इन मान्यताओं का उत्तर मनु के भावों से खोजकर यहाँ स्पष्ट किया जाता है। उससे पूर्व, उत्तर से सम्बन्धित दो बातों को स्पष्ट करना आवश्यक है—एक तो यह कि जो व्यक्ति अभिवादनशील और सेवा करने की प्रवृत्ति का होता है, वह स्वभाव से ही विनम्र एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक गुणग्राही होता है। उस पर सेव्य और अभिवाद्य व्यक्तियों के गुणों का प्रभाव आता रहता है। दूसरी बात यह है कि वृद्ध व्यक्तियों से यहाँ वयोवृद्ध व्यक्तियों के साथ-साथ विशेषरूप से विद्या-अनुभववृद्ध विद्वान् व्यक्तियों से अभिप्राय है। मनु ने यह

---

१. **प्रचलित अर्थ**—युवा लोगों के प्राण वृद्ध लोगों ने आने पर ऊपर चढ़ते हैं और अभ्युत्थान तथा प्रणाम करने से वह युवा पुरुष उन्हें पुनः प्राप्त कर लेता है॥ २.१२० ॥

मान्यता २.१२६-१३१ [२.१५१-१५६] श्लोकों में स्पष्ट कर दी है। उनके अभिवादन से चार लाभ इस प्रकार हैं—

(क) मनु ने २.९७ से १०१ (२.१२२ से १२६) में अभिवादन का विधान किया है और इसे प्रत्येक विद्यार्थी और व्यक्ति के लिए अच्छा गुण माना है। अभिवादनशील और वृद्धसेवी व्यक्ति विनम्र होता है। उसके आदर करने के स्वभाव, विनम्रता और सेवा, शुश्रूषा, सुशीलता आदि गुणों के कारण उसकी सभी स्थानों पर प्रशंसा होती है। इस प्रकार उसका यश बढ़ता है।

(ख) अभिवादनशील और सेवा शुश्रूषा करने वाले व्यक्ति के इन गुणों से प्रभावित होकर विद्वानों की स्वाभाविक रूप से अधिक विद्या प्रदान करने की भावना बनती है। वह अपने गुणों के प्रभाव से विद्या-अनुभव-वयोवृद्ध विद्वानों से उनकी बुद्धि में अन्तर्निहित ज्ञान को जैसे स्वतः आकृष्ट कर लेता है। एक बहुत उपयुक्त उदाहरण द्वारा मनु ने इस बात को स्वयं समझाया है—

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥ (२.१९३)
[२.२१८]

इन गुणों से रहित व्यक्ति को विद्या नहीं आती। यही कारण है कि विद्या प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों में मनु ने और सभी शास्त्रों ने सेवा भावना को आवश्यक माना है— ''**धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा। तत्र विद्या न वक्तव्या**''.... (२.८७ [२.११२]) ''**शुश्रूषुः ......अध्याप्या दश धर्मतः**''। २.८४ [२.१०९] इस प्रकार विद्यावृद्धि होती है। अभिवादनशील और सेवाभावी के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का स्नेह उमड़ पड़ता है और वह चाहता है कि मैं इसका जितना हो सके भला करूँ।

(३-४) जो विद्यार्थी या व्यक्ति अभिवादनशील, शुश्रूषु होकर विद्या-अनुभव-वयोवृद्ध व्यक्तियों के सान्निध्य में रहेगा, तो उसे उनसे धर्म अर्थात् सदाचार, शुद्धि, ईश्वरोपासना, श्रेष्ठ गुण और अनुभव, योगसिद्धि आदि का ज्ञान एवं शिक्षा प्राप्त होगी। ध्यान देने योग्य बात है कि यहाँ 'उपसेविनः' पद का प्रयोग है जिसका विशेष अर्थ है—'वृद्धों के समीप रहकर सेवा करना'। अभिवादनशील को विद्या-वयोवृद्धों की संगति से सभी

शिक्षाएं गुरुवत् प्राप्त होती रहती हैं। इसकी पुष्टि में मनु के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) शुद्धि एवं सन्ध्योपासना आदि से आयुवृद्धि—

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां सन्ध्यां जपन् तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम्॥
ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च॥

(४.९३-९४)

(ख) सदाचार से आयु-बल वृद्धि—

आचाराल्लभते ह्यायुः आचारादीप्सिताः प्रजाः॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्धधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

(४.१५६, १५८)

सदाचार से आयुवृद्धि और दुराचार से अल्पायु-वर्णन सम्बन्धी अन्य श्लोक ४.१५७, ४.१३४, १.४१-४२ भी द्रष्टव्य हैं।

(ग) धार्मिक-सात्त्विक व्रतों से आयु-यश आदि की वृद्धि का कथन है—

स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्॥ ४.१३

(वे व्रत ४.१४ से २५८ तक विहित हैं)

अभिवादन-विधि—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्॥ ९७॥

[२.१२२](७९)

(**विप्रः**) द्विज (**ज्यायांसम्+अभिवादयन्**) अपने से बड़े को प्रणाम करते हुए (**अभिवादात् परम्**) अभिवादनसूचक शब्द के बाद (**'अहं असौ नामा अस्मि' इति**) **'**मैं अमुक नाम वाला हूँ**'** ऐसा कहते हुए (**स्वं नाम परिकीर्त्तयेत्**) अपना नाम बतलाये, जैसे— **अभिवादये अहं देवदत्तः**....... [शेष विधि ९९ श्लोक में है] ॥ ९७॥

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः॥

९९॥[२.१२४](८०)

[२.९७ में विहित प्रक्रिया पूरी होने के बाद फिर]

(**अभिवादने**) अभिवादन में (**स्वस्य नाम्नः अन्ते**) अपना नाम बताने के पश्चात् (**'भोः' शब्दं कीर्तयेत्**) 'भोः' यह शब्द लगाये (**हि**) क्योंकि (**ऋषिभिः**) ऋषियों ने (**भोभावः नाम्नां स्वरूपभावः स्मृतः**) 'भोः' शब्द को नामों के स्वरूप का द्योतक ही माना है अर्थात् 'भोः' सम्बोधन के उच्चारण में ही श्रोता के नाम का अन्तर्भाव स्वतः हो जाता है [२.१०३]। जैसे—''**अभिवादये अहं देवदत्तः भोः**''॥ ९९॥

अभिवादन का उत्तर देने की विधि—

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः॥ १००॥ [२.१२५] (८१)

(**अभिवादने**) अभिवादन का उत्तर देते समय (**विप्रः**) द्विज को (**सौम्य 'आयुष्मान् भव' इति वाच्यः**) 'हे सौम्य! आयुष्मान् हो' ऐसा कहना चाहिए (**च**) और (**अस्य नाम्नः+अन्ते अकारः पूर्वाक्षरः प्लुतः**) नमस्कार करने वाले के नाम के अन्तिम अकार आदि स्वरों को पहले अक्षर सहित प्लुत की ध्वनि [तीन मात्राओं के समय] में उच्चारण करे। जैसे—'देवदत्त' नाम में अन्तिम स्वर अकार है, जो 'त्' में मिला हुआ है। इस प्रकार 'त्' सहित अकार को अर्थात् अन्तिम 'त' को प्लुत बोले। उदाहरण है—''आयुष्यमान् भव सौम्य देवदत्त ३'' अथवा ''आयुष्मान् भव सौम्य यज्ञदत्त ३''॥ १००॥

अभिवादन का उत्तर न देने वाले को अभिवादन न करें—

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः॥ १०१॥ [२.१२६] (८२)

(**यः विप्रः**) जो द्विज (**अभिवादस्य प्रत्यभिवादनम्**) अभिवादन करने के उत्तर में अभिवादन करना नहीं जानता अर्थात् नहीं करता (**विदुषा सः न+अभिवाद्यः**) बुद्धिमान् आदमी को उसे अभिवादन नहीं करना चाहिए, क्योंकि (**सः यथा शूद्रः**

तथा+एव) वह जैसा अशिक्षित शूद्र होता है, वैसा ही वह द्विज होता है अर्थात् वह शूद्र के समान है॥ १०१॥

वर्णानुसार कुशल प्रश्नविधि—

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च॥ १०२॥
[२.१२७] (८३)

(**समागम्य**) मिलने पर, अभिवादन के बाद (**ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्**) ब्राह्मण से कुशलता—प्रसन्नता एवं वेदाध्ययन आदि की निर्विघ्नता, (**क्षत्रबन्धुम्+अनामयम्**) क्षत्रिय से बल आदि की दृष्टि से स्वास्थ्य के विषय में, (**वैश्यं क्षेमम्**) वैश्य से क्षेम—धन आदि की सुरक्षा और आनन्द के विषय में, (**च**) और (**शूद्रम्+आरोग्यम्+एव**) शूद्र से स्वस्थता के विषय में अवश्य (**पृच्छेत्**) पूछे। अभिप्राय यह है कि वर्णानुसार उनके मुख्य उद्देश्यसाधक व्यवहारों की निर्विघ्नता के विषय में प्रधानता से पूछे॥ १०२॥

दीक्षित के नामोच्चारण का निषेध—

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित्॥ १०३॥
[२.१२८] (८४)

(**दीक्षितः**) विद्याप्राप्ति हेतु उपनयन में दीक्षित ब्रह्मचारी (**यः यवीयान्+ अपि भवेत्**) यदि कोई छोटा भी हो तो उसे (**नाम्ना अवाच्य**) नाम लेकर नहीं पुकारना चाहिए (**धर्मवित्**) व्यवहार में चतुर व्यक्ति को चाहिए कि वह (**एनं 'भो' 'भवत्' पूर्वकम् अभिभाषेत**) अपने से छोटे व्यक्ति को भी **'भो' 'भवत्'** जैसे आदरबोधक शब्दों से सम्बोधित करे॥ १०३॥

परस्त्री के नामोच्चारण का निषेध—

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः।
तां ब्रूयाद् भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च॥ १०४॥
[२.१२९] (८५)

(**या तु स्त्री परपत्नी च योनितः असम्बन्धा**

स्यात्) जो कोई महिला दूसरे की पत्नी हो और सगेपन से सम्बन्ध न रखने वाली हो अर्थात् बहन आदि न हो (**ताम्**) उसे (**'भवती' 'सुभगे' 'भगिनी' इति+एवं ब्रूयात्**) 'भवती !' [=आप] 'सुभगे !' [=सौभाग्यवति !] 'भगिनी !' [=बहन] इस प्रकार के शिष्टाचार-वाचक शब्दों से सम्बोधित करे॥ १०४॥

समाज में सम्मान के आधार—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥ १११॥
[२.१३६] (८६)

(**वित्तं बन्धुः वयः कर्म**) धन, बंधु-बांधव, आयु, उत्तम कर्म (**पञ्चमी विद्या भवति**) और पांचवीं—श्रेष्ठविद्या (**एतानि मान्यस्थानानि**) ये पांच सम्मान देने के स्थान हैं, परन्तु इनमें (**यद्-यद्+उत्तरं गरीयः**) जो-जो बाद वाला है वह अतिशयता से उत्तम अर्थात् बड़ा है। धनी से अधिक बन्धु-बान्धव, बन्धु से अधिक बड़ी आयु वाले, बड़ी आयु वाले से अधिक श्रेष्ठ कर्म करने वाले और श्रेष्ठ कर्म वालों से उत्तम विद्वान् उत्तरोत्तर अधिक माननीय हैं॥ १११॥

अनुशीलन—विशिष्ट विद्वान् सर्वाधिक सम्मान्य—लौकिक और वैदिक क्षेत्र, दोनों में ही विशिष्ट विद्वान् व्यक्ति सर्वाधिक सम्मान्य होता है। अन्य प्रमाणों से भी यह बात स्पष्ट होती है—

''यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।'' (निरु० १.१९)=जगत् में अधिक ज्ञाता सबसे विशेष माना जाता है, इसी प्रकार वेदविद्यावेत्ताओं में भी जो अधिक विद्याओं का ज्ञाता है, वह अधिक सम्मान्य एवं महान् है।

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः॥ ११२॥
[२.१३७](८७)

(**त्रिषु वर्णेषु**) तीनों वर्णों में अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में परस्पर (**पञ्चानां यत्र भूयांसि गुणवन्ति**

स्युः) उक्त [२.१११] पांच गुणों में उत्तरोत्तर स्तर वाले अधिक संख्या में गुण जिसमें हों (**अत्र सः मानार्हः**) समाज में वह कम गुणवालों के द्वारा सम्मान करने योग्य है, किन्तु (**दशमीं गतः शूद्रः+अपि**) दशमी अवस्था अर्थात् नब्बे वर्ष से अधिक आयुवाला शूद्र सबके द्वारा पहले सम्मान देने योग्य है॥ ११२॥

किस-किस के लिए पहले मार्ग दें—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पंथा देयो वरस्य च॥ ११३॥
[२.१३८] (८८)

(**चक्रिणः**) सवारी अर्थात् रथ, गाड़ी आदि में सवार को (**दशमीस्थस्य**) दशमी अवस्था वाले अर्थात् नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों को (**रोगिणः**) रोगी को (**भारिणः**) बोझ उठाये हुए को (**स्त्रियः**) स्त्रियों को (**च**) और (**स्नातकस्य**) विद्वान् स्नातक को (**राज्ञः**) राजा को (**च**) और (**वरस्य**) दूल्हे को (**पन्था देयः**) सामने से आने पर सम्मान में पहले रास्ता देना चाहिए॥ ११३॥

राजा और स्नातक में स्नातक अधिक मान्य—

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक्॥ ११४॥
[२.१३९] (८९)

(**तेषाम् तु**) उन [२.११३] सबके (**समवेतानाम्**) एकत्रित होने पर (**स्नातक-पार्थिवौ मान्यौ**) विद्वान् स्नातक और राजा सबके सम्मान के योग्य हैं (**च**) और (**राज-स्नातकयोः-एव**) राजा और स्नातक के एक स्थान पर मिलने पर (**स्नातक नृपमानभाक्**) स्नातक विद्वान् राजा के द्वारा पहले सम्मान पाने का पात्र है॥ ११४॥

आचार्य का लक्षण—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥ ११५॥
[२.१४०] (९०)

(**यः शिष्यम् उपनीय तु**) जो गुरु शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार कराके (**सकल्पं च सरहस्यम्**) कल्पसूत्र अर्थात् आचार एवं कला ज्ञान सहित और रहस्य=वेदों में निहित गम्भीर सत्यविद्याओं के उद्घाटन सहित, अर्थात् निहित गूढ़ तत्त्वों की व्याख्या सहित (**वेदम्+अध्यापयेत्**) वेद को पढ़ावे (**तम्+आचार्यं प्रचक्षते**) उसको 'आचार्य' कहते हैं॥ ११५॥

ऋषि अर्थ—''जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरु अपने शिष्य को यज्ञोपवीत आदि धर्म क्रिया कराने के बाद वेद को अर्थ और कलासहित पढ़ावे तो ही उसको आचार्य कहना चाहिए।'' (द०ल०शि०, पृ० ८९) (अन्यत्र व्याख्यात द०ल०वे०, पृ० ४)

अनुशीलन—कल्प से अभिप्राय—यहाँ 'कल्प' से किसी ग्रन्थ-विशेष से अभिप्राय नहीं है, अपितु वेदोक्त यज्ञ, सन्ध्या, धर्माचरण धर्मक्रियाओं आदि की अनुष्ठान विधि एवं कलाओं का निरूपण जिसमें होता है, उस विद्या विशेष से है। 'रहस्य' शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह है कि वेद में निहित वे गम्भीर विद्याएं जो ऊहा और व्याख्या से स्पष्ट की जा सकती हैं। वेद के विषय में मनु आदि सभी ऋषियों की यह धारणा है कि ''**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**'' [१.१२५ (२.६)] ''**सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति**'' (१२.९७) इन सबको उद्घाटित करने की व्याख्या-शैली 'रहस्य' है।

उपाध्याय का लक्षण—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥ ११६॥
[२.१४१] (९१)

(**यः**) जो (**वृत्ति+अर्थम्**) जीविका के लिए (**वेदस्य एकदेशम्**) वेद के किसी एक भाग या अंश को (**अपि वा पुनः वेदाङ्गानि**) या फिर वेदांगों= शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दःशास्त्र और ज्योतिष विद्याओं को (**अध्यापयति**) पढ़ाता है (**सः उपाध्यायः उच्यते**) वह 'उपाध्याय' कहलाता है॥ ११६॥

अनुशीलन—वेदांगों से यहां तत्तत् विद्याविशेष का

ग्रहण करना चाहिए, कोई ग्रन्थविशेष नहीं।

पिता-गुरु का लक्षण—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥ ११७॥
[२.१४२] (९२)

(**यः यथाविधि**) जो विधि-अनुसार (**निषेकादीनि कर्माणि करोति**) गर्भाधान, उपनयन आदि संस्कारों को करता है और बालक बालिका को घर पर भी शिक्षा देता है (**च**) तथा (**अन्नेन सम्भावयति**) अन्न आदि भोज्य पदार्थों द्वारा बालक का पालन-पोषण करता है (**स विप्रः**) वह विद्वान् पिता (**गुरुः+ उच्यते**) 'गुरु' कहलाता है॥ ११७॥

ऋषि अर्थ—"जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है, इससे पिता को 'गुरु' कहते हैं।" (द०ल०आ० पृ० २७६) "निषेक—अर्थात् ऋतु-प्रदान यह प्रथम संस्कार है। पिता निषेक करता है, इसलिए पिता ही मुख्य गुरु है।" (पू०प्र०पृ० ७७) (अन्यत्र व्याख्या द०ल०आ०, पृ० २७६)

ऋत्विक् का लक्षण—

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान्।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते॥ ११८॥
[२.१४३] (९३)

(**यः वृतः**) जो ब्राह्मण किसी के द्वारा वरण किये जाने पर (**तस्य**) उस वरण करने वाले के (**अग्न्याधेयम्**) अग्निहोत्र (**पाकयज्ञान्**) बलिवैश्वदेव आदि गृह्ययज्ञों तथा पूर्णिमा आदि विशेष उपलक्ष्यों पर किये जाने वाले अन्य यज्ञों को (**करोति**) करता है (**सः तस्य ऋत्विक् उच्यते**) वह उस वरण करने वाले यजमान का 'ऋत्विक्' कहलाता है॥ ११८॥

अध्यापक या आचार्य की महत्ता—

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन॥ ११९॥
[२.१४४] (९४)

(**यः ब्रह्मणा**) जो गुरु या आचार्य वेदज्ञान और विद्यादान के द्वारा (**उभौ श्रवणौ अवितथम् आवृणोति**) दोनों कानों को सत्यज्ञान से परिपूर्ण करता है, सत्यज्ञान देता या पढ़ाता है (**सः माता सः पिता ज्ञेयः**) उसे माता-पिता के समान सम्मानीय समझना चाहिए (**तं कदाचन न द्रुह्येत्**) और उससे कभी द्रोह= ईर्ष्या-द्वेष न करे ॥ ११९ ॥

अनुशीलन—श्लोक की निरुक्त से तुलना— निरुक्त शास्त्र में महर्षि यास्क ने किसी प्राचीन ग्रन्थ का श्लोक उद्‌धृत किया है, जो मनु के श्लोक के भाव और शब्दों का अनुकरण-मात्र है। तुलना कीजिए—

य आतृणत्यविथेन कर्णौ-अदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥

(निरु० २.१.४)

पिता से वेदज्ञानदाता आचार्य बड़ा होता है—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १२१ ॥

[२.१४६] (९५)

(**उत्पादक-ब्रह्मदात्रोः**) उत्पन्न करने वाले पिता और विद्या तथा वेदज्ञान देने वाले पिता आचार्य [११५] में (**ब्रह्मदः पिता गरीयान्**) विद्या और वेदज्ञान देनेवाला आचार्यरूप पिता ही अधिक बड़ा और माननीय है (**हि**) क्योंकि (**विप्रस्य**) द्विज का (**ब्रह्मजन्म**) [शरीर-जन्म की अपेक्षा] ब्रह्मजन्म= उपनयन में दीक्षित करके वेदाध्यन एवं विद्याप्राप्ति कराना ही (**इह च प्रेत्य शाश्वतम्**) इस जन्म और परजन्म में साथ रहने वाला है अर्थात् शरीर तो इस जन्म के साथ ही नष्ट हो जाता है किन्तु धर्म तथा विद्या के संस्कार जन्म-जन्मान्तरों तक साथ रहते हैं ॥ १२१ ॥

अनुशीलन—ब्रह्मजन्म से अभिप्राय—आचार्य उपनयन संस्कार-पूर्वक वेदाध्ययन और शास्त्र ज्ञान कराके एक नया जन्म प्रदान करता है, जिसे इस श्लोक में 'ब्रह्मजन्म' की संज्ञा दी है। यह जन्म शाश्वत सुखदायक है अर्थात् इस जन्म और परजन्मों में मुक्तिपर्यन्त

सुखदायक है। इसी दूसरे जन्म के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को द्विज (**द्विर्जायते इति द्विजः**) कहा जाता है। यह कथन वेदाधारित ही है; द्रष्टव्य है प्रमाणरूप में एक मन्त्र=जिसका भाव मनुस्मृति के २.११-१२, ४३, ४४ आदि में भी आता है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

(अथर्व० ११.५.१)

"आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप रखके तीन रात्रि पर्यन्त सन्ध्योपासनादि सत्पुरुषों के आचार की शिक्षा कर उसके आत्मा के भीतर गर्भरूप विद्या-स्थापन करने के लिए उसको पूर्ण विद्वान् कर देता है और जब वह पूर्ण ब्रह्मचर्य और विद्या को पूर्ण करके घर को आता है तब उसको देखने के लिए सब विद्वान् लोग सम्मुख जाकर बड़ा मान्य करते हैं" (सं०वि० वेदारम्भप्रकरण)

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
सम्भूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते॥ १२२॥

[२.१४७] (९६)

(**माता च पिता यत् एनं मिथः उत्पादयतः**) माता और पिता जो इस बालक को मिलकर उत्पन्न करते हैं, वह (**कामात्**) सन्तान-प्राप्ति की कामना से करते हैं (**यत्+योनौ+अभिजायते**) वह जो माता के गर्भ से उत्पन्न होता है (**तस्य तां सम्भूतिं विद्यात्**) उसका वह जन्म तो संसार में प्रकट होना मात्र साधारण जन्म है, अर्थात् वास्तविक जन्म तो उपनयन में दीक्षित कर शिक्षित बनाकर आचार्य ही देता है, जिससे मनुष्य वास्तव में मनुष्य बनता है॥ १२२॥

आचार्य द्वारा प्रदत्त वर्ण-निर्धारण स्थायी होता है—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा॥ १२३॥

[२.१४८] (९७)

(**वेदपारगः आचार्यः**) वेदों में पारंगत आचार्य [२.११५ (२.१४०)] (**विधिवत्**) ब्रह्मचर्याश्रम की विधि-अनुसार (**सावित्र्या**) गायत्रीमन्त्र की दीक्षापूर्वक

[२.४४, ४६, ५१-५३] उपनयन संस्कार द्वारा [२.११-१२] (**अस्य**) इस विद्यार्थी या व्यक्ति के (**यां जातिम् उत्पादयति**) जिस जन्म या वर्ण को प्रदान करता है अर्थात् जिस वर्ण की शिक्षा-दीक्षा को देकर वर्ण का निर्धारण करता है [द्रष्टव्य २.१२१, १२२, १२५ श्लोक] (**सा तु**) वही जाति=वर्ण या जन्म (**सत्या**) सही अर्थात् स्वीकार्य है, वही वर्ण प्रामाणिक है (**सा-अजरा+अमरा**) वह जाति अर्थात् वर्ण जीवन में स्वयं द्वारा अपरिवर्तनीय होती है। नये वर्ण की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने के बाद ही उसे पुनः आचार्य अथवा अथवा राजसभा की अनुमति से ही बदला जा सकता है (१०.६५)। अन्यार्थ में—आचार्य द्वारा प्रदत्त ब्रह्मजन्म=विद्यासंचय संस्कारों की दृष्टि से अजर-अमर है, परलोक में भी साथ देता है॥ १२३ ॥

अनुशीलन—**'जाति' शब्दार्थ का विवेचन**—'जन' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से 'जाति' शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ यह शब्द 'जन्म' और वर्ण में प्रयुक्त है और 'ब्रह्मजन्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अन्य किसी जातिविशेष के लिए नहीं—

(क) पूर्वापर श्लोकों में इन्हीं गुण वाले ब्रह्मजन्म का प्रसंग है। १२१वें श्लोक में माता से प्राप्त जन्म की अपेक्षा ब्रह्मजन्म को उत्कृष्ट एवं शाश्वत बतलाया है। १२२ और १२३वां श्लोक उसके अर्थवाद हैं। १२२वें श्लोक में माता-पिता से प्राप्त जन्म कम महत्त्व वाला किस कारण से है, यह स्पष्ट किया है। १२३वें श्लोक में ब्रह्मजन्म किस कारण से उत्कृष्ट है, यह स्पष्ट किया है। इस प्रकार उसी अर्थ की इसमें क्रमशः अनुवृत्ति है।

(ख) १२५वें श्लोक में भी ब्रह्मजन्म का कथन है, जो आचार्य या गुरु द्वारा प्राप्त होता है, उसे ही 'जाति' कहते हैं। उसका पर्याय ही 'वर्ण' है। मनुप्रोक्त वैदिक वर्णव्यवस्था में जाति=वर्ण का निर्धारण शिक्षा-दीक्षा के आधार पर आचार्य करता है, इससे स्पष्टतः सिद्ध होता है कि मनु की व्यवस्था में जन्मना जातिवाद का कोई स्थान नहीं। जन्मना जाति तो माता-पिता से स्वतः प्राप्त होती है।

(ग) इस श्लोक में 'जाति' ब्रह्मजन्म के अर्थ में भी प्रयुक्त है। इसकी सिद्धि मनु द्वारा प्रयुक्त विशेषणों से ही हो जाती है। 'सत्या, अजरा, अमरा' विशेषण अन्य किसी जाति में नहीं घटते अपितु ब्रह्मजन्म में ही घटते हैं, क्योंकि यही जन्मजन्मान्तर में संस्कारों के रूप में साथ रहकर मुक्तिप्राप्ति में साधक होता है। देखिए—

"**ब्राह्मीयं क्रियते तनुः**" [२.३ (२.२८); २.४३ (२.६८); २.२२४ (२.२४९); ४.१४, १४८-१४९; ६.८१-८५ आदि]।

(घ) जाति का अर्थ 'जन्म' है। इसकी पुष्टि मनु स्वयं ९.२०१ श्लोक द्वारा करते हैं। वहाँ "**जात्यन्ध-बधिरौ**" अर्थात् 'जन्म से अन्धे और बहरे' यह प्रयोग 'जन्म' अर्थ में है। इस प्रकार यहां भी 'जाति' शब्द का 'जन्म' अर्थ ग्रहण करना ही मनु-सम्मत है। इसी अर्थ में १०.४ में भी इसका प्रयोग है—"**चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः**" (१०.४)=एक जन्म वाला शूद्र रह जाता है। दूसरे ब्रह्म-जन्म से द्विज बनता है।

गुरु का सामान्य लक्षण—

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्यात् श्रुतोपक्रियया तया॥ १२४॥
[२.१४९] (९८)

(**यः यस्य**) जो कोई जिस किसी का (**श्रुतस्य अल्पं वा बहु उपकरोति**) विद्या पढ़ाकर थोड़ा या अधिक उपकार करता है (**तम्+अपि+इह**) उसको भी इस संसार में (**तया श्रुत+उपक्रियया**) उस विद्या पढ़ाने के उपकार के कारण (**गुरुं विद्यात्**) गुरु समझना चाहिए॥ १२४॥

विद्वान् बालक वयोवृद्ध से बड़ा होता है—

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥१२५॥
[२.१५०] (९९)

(**ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता**) किसी को ब्रह्मजन्म अर्थात् ईश्वरज्ञान, विद्या एवं वेदाध्ययन रूप जन्म को देने वाला (**स्वधर्मस्य च शासिता**) और किसी के

अपने वर्ण धर्म की दीक्षा देने वाला (**विप्रः**) विद्वान् (**बालः+अपि**) बालक अर्थात् अल्पावस्था का होते हुए भी (**धर्मतः**) धर्म से (**वृद्धस्य पिता भवति**) शिक्षा प्राप्त करने वाले दीर्घायु व्यक्ति का पिता स्थानीय अर्थात् गुरु के समान बड़ा होता है ॥ १२५ ॥

उक्त विषय में आङ्गिरस का दृष्टान्त—

अध्यापयामास पितॄञ्छिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥ १२६ ॥
[२.१५१] (१००)

[इस प्रसंग में एक इतिवृत्त भी है] (**आङ्गिरसः शिशुः कविः**) अंगिरा वंशी 'शिशु' नामक मन्त्रद्रष्टा विद्वान् ने (**पितॄन्**) अपने पिता के समान चाचा आदि पितरों को (**अध्यापयामास**) पढ़ाया (**ज्ञानेन परिगृह्य**) ज्ञान देने के कारण (**तान्'पुत्रकाः' इति ह उवाच**) उन बड़ों को 'हे पुत्रो' इस शब्द से सम्बोधित किया॥ १२६ ॥

अनुशीलन—(१) **'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति**—कविः शब्द 'कु-शब्दे' (अदादि) धातु से 'अच इः' (उणादि ४.१३९) सूत्र से 'इः' प्रत्यय लगने से बनता है। इसकी निरुक्ति है—

'क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा विद्वांसः' (ऋ०द०ऋ०भू०)
'कविः क्रान्तदर्शनो भवति' (निरुक्त १२.१३)

इस प्रकार विद्याओं के सूक्ष्म तत्त्वों का द्रष्टा, बहुश्रुत ऋषि व्यक्ति कवि होता है। इसे 'अनूचान' भी इस प्रसंग में कहा है [२.१२९] ब्राह्मण ग्रन्थों में भी कवि के इस अर्थ पर प्रकाश डाला है—''**ये वा अनूचानास्ते कवयः**'' (ऐ० २.२)। ''**एते वै कवयो यदृषयः**'' (श० १.४.२.८)। ''**ये विद्वांसस्ते कवयः**'' (७.२.२.४)। ''**शुश्रूवांसो वै कवयः**'' (तै० ३.२.२.३)।

(२) **शिशु आङ्गिरस**—यह अंगिरावंश का एक विद्वान् बालक था। बाल्यावस्था में मन्त्रद्रष्टा होने के कारण यह गुणाभिधान 'शिशु' नाम से ही प्रसिद्ध हो गया। इसका यह आख्यान ताण्ड्य ब्राह्मण १३.३.२३-२४ और पञ्चविंश ब्राह्मण १३.३.२४ में यथावत् आता है। वहाँ इसे **'मन्त्रकृतां**

मन्त्रकृत्' कहा है। ऋ० ९.११२ सूक्त इसी शिशु ऋषि द्वारा दृष्ट है। सामवेद में ''**यत्सोम चित्रम्०**'' (साम०उ० ३.२.१३) तृच् को इसके द्वारा दृष्ट होने के कारण ही 'शैशव साम' कहा गया है।

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्॥१२७॥
[२.१५२] (१०१)

(**आगतमन्यवः ते**) [उक्त सम्बोधन को सुनकर] गुस्से में आये हुए उन चाचा आदि पितरों ने (**तम्+अर्थं देवान् अपृच्छन्त**) उस 'पुत्र' सम्बोधन के अर्थ अथवा औचित्य के विषय में अन्य देवाताओं =बड़े विद्वानों से पूछा (**च**) और तब (**देवाः समेत्य एतान् ऊचुः**) सब विद्वानों ने एकमत होकर उनसे कहा कि (**शिशुः वः न्याय्यम् उक्तवान्**) तत्त्वदर्शी शिशु आङ्गिरस ने तुम्हारे लिए 'पुत्र' शब्द का सम्बोधन न्यायोचित ही किया है॥ १२७॥

विद्वत्ता के आधार पर बालक और पिता की परिभाषा—

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥ १२८॥
[२.१५३] (१०२)

क्योंकि (**अज्ञः वै बालः भवति**) जो विद्या-विज्ञान से रहित है वह बालक और (**मन्त्रदः पिता भवति**) जो विद्या-विज्ञान का दाता है उस बालक को भी पिता स्थानीय मानना चाहिए (**हि**) क्योंकि सब शास्त्रों और आप्त विद्वानों ने (**अज्ञं बालम्+इति**) अज्ञानी को 'बालक' (**मन्त्रदं तु पिता-इत्येव आहुः**) और ज्ञानदाता को 'पिता' कहा है॥ १२८॥

ऋषि अर्थ—''अज्ञ अर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा, वह निश्चय करके बालक होता है, और जो मन्त्रद अर्थात् दूसरे को विचार देनेवाला, विद्या पढ़ा, विद्याविचार में निपुण है, वह पिता-स्थानीय होता है, क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने अज्ञजन को बालक कहा और मन्त्रद को पिता ही कहा है, इससे प्रथम

ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर ज्ञानवान् अवश्य होना चाहिए।'' (सं०वि०, वेदारम्भप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० १०)

अवस्था आदि की अपेक्षा वेदज्ञानी की श्रेष्ठता—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न च बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥ १२९॥
[२.१५४] (१०३)

(**न हायनैः**) न अधिक वर्षों का होने से (**न पलितैः**) न श्वेत बाल के होने से (**न वित्तेन**) न अधिक धन से (**न बन्धुभिः**) न बड़े कुटुम्ब के होने से मनुष्य बड़ा होता है, (**ऋषयः धर्मं चक्रिरे**) किन्तु ऋषि-महात्माओं का यही नियम है कि (**यो नः अनूचानः सः महान्**) जो हमारे बीच में वेद और विद्या-विज्ञान में अधिक है, वही बड़ा अर्थात् वृद्ध पुरुष है॥ १२९॥

ऋषि अर्थ—''धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों, न पके केशों वा झूलते हुए अङ्गों, न धन और न बन्धु-जनों से बड़प्पन माना, किन्तु यही धर्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वाद-विवाद में उत्तर देनेवाला अर्थात् वक्ता हो, वह बड़ा है।'' (सं०वि०, वेदारम्भ-प्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० १०)

अनुशीलन—**'अनूचान' सबसे महान्**—अनु+वच्+लिट् उसको कानच् होकर शब्दसिद्धि होती है। वेदादि विद्याओं के गम्भीर ज्ञाता और यथार्थ प्रवक्ता को 'अनूचान' कहते हैं। इस श्लोक में स्थापित मान्यता वैदिक क्षेत्र में यथावत् मान्य रही है। निरुक्त के निम्न वचनों में यही भाव है—

(क) ''**यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।**'' (१.१६) ''**तस्माद् यदेव किञ्चिदनूचानः अभ्यूहति आर्षं तद् भवति।**'' (परिशिष्ट १३.११)

अर्थात्—जैसे जगत् में अधिक विद्याओं का ज्ञाता विशेष व्यक्ति माना जाता है उसी प्रकार वेदवेत्ताओं में अधिक वेदविद्याओं आदि का ज्ञाता प्रशंसनीय अर्थात्

सबसे महान् माना जाता है। वेद-वेदांगों में पारंगत विद्वान् तर्क द्वारा जिस मन्त्रार्थ का अनुसन्धान करता है, वह ऋषिदृष्ट अर्थ ही होता है।

(ख) शतपथ ब्राह्मण में भी 'अनूचान' व्यक्ति को विद्वानों में महान् माना है—

''यो वै ब्राह्मणानामनूचानतमः स एषां वीर्यवत्तमः''॥

शत० ४.६.६.५॥

अर्थात्—जो ब्राह्मणों में परम विद्वान् है, वही इनमें अत्यन्त बलवान् अर्थात् सब से महान् है।

वर्णों में परस्पर ज्येष्ठता के आधार—

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥ १३०॥

[२.१५५] (१०४)

(**विप्राणां ज्ञानतः**) ब्राह्मणों में अधिक ज्ञान से (**क्षत्रियाणां तु वीर्यतः**) क्षत्रियों में अधिक बल से (**वैश्यानां धनधान्यतः**) वैश्यों में अधिक धन-धान्य से और (**शूद्राणां जन्मतः एव ज्यैष्ठ्यम्**) शूद्रों में जन्म अर्थात् अधिक आयु से वृद्ध=बड़ा होता है॥ १३०॥

अवस्था की अपेक्षा ज्ञान से वृद्धत्व—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ १३१॥

[२.१५६] (१०५)

कोई मनुष्य (**तेन वृद्धः न भवति**) उस कारण से वृद्ध=बड़ा नहीं होता (**येन+अस्य शिरः पलितम्**) कि जिससे उसके केश पक जावें (**यः+वै युवा+अपि+ अधीयानः**) किन्तु जो जवान भी अधिक पढ़ा हुआ विद्वान् है (**तं देवा स्थविरं विदुः**) उसको विद्वानों ने 'वृद्ध'=बड़ा माना है॥ १३१॥

ऋषि अर्थ—''उस कारण से वृद्ध नहीं होता कि जिससे इसका शिर झूल जाये, केश पक जावें; किन्तु जो जवान भी पढ़ा हुआ विद्वान् है, उसको विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है।'' (सं०वि०, वेदारम्भ०) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० १०)

मूर्खता की निन्दा तथा मूर्ख का जीवन निष्फल—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥ १३२॥
[२.१५७] (१०६)

(**यथा काष्ठमयः हस्ती**) जैसा काठ का बना हाथी, (**यथा चर्ममयः मृगः**) जैसा चमड़े का बना मृग (**च**) और (**यः अनधीयानः विप्रः**) जो वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय न करने वाला द्विज है अर्थात् जो निर्धारित मुख्य कर्म वेदों का अध्ययन-अध्यापन नहीं करता (**ते त्रयः**) वे तीनों (**नाम बिभ्रति**) नाममात्र के ही हैं अर्थात् हाथी, मृग और द्विज नकली हैं, वास्तविक नहीं॥ १३२॥

ऋषि अर्थ—''जैसे काठ का कठपुतला हाथी, वा जैसे चमड़े का बनाया हुआ मृग हो, वैसे विना पढ़ा हुआ विप्र अर्थात् ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन होता है, उक्त वे हाथी, मृग और विप्र तीनों नाममात्र धारण करते हैं।'' (सं०वि०, वेदारम्भप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० १०)

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥१३३॥
[२.१५८] (१०७)

(**यथा स्त्रीषु षण्ढः अफलः**) जैसे स्त्रियों में नपुंसक निष्फल अर्थात् सन्तानरूपी फल को नहीं प्राप्त कर सकता (**यथा गवि गौः अफला**) और जैसे गायों में गाय निष्फल है अर्थात् जैसे गाय गाय से सन्तानरूपी फल को नहीं प्राप्त कर सकती (**च**) और (**यथा अज्ञे दानम्**) जैसे अज्ञानी व्यक्ति को दिया दान निष्फल होता है (**तथा**) वैसे ही (**अनृचः विप्रः अफलः**) वेद न पढ़ा हुआ अथवा वेद के स्वाध्याय से रहित ब्राह्मण मिथ्या है, अर्थात् उसको वास्तव में ब्राह्मण नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेदाध्ययन ही ब्राह्मण होने का सबसे प्रधान कर्म और आधार है॥ १३३॥

गुरु-शिष्यों का व्यवहार—

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥
१३४॥[२.१५९] (१०८)

(**धर्मम्**-**इच्छता**) धर्म की वृद्धि चाहने वाले मनुष्य को (**अहिंसया+एव भूतानाम् अनुशासनम् कार्यम्**) अहिंसा अर्थात् हिंसा, हानि, ईर्ष्या-द्वेष, कष्टप्रदान आदि भावों से रहित होकर विद्यार्थियों या मनुष्यों का अनुशासन करना चाहिये, (**श्रेयः**) वही अनुशासन प्रशंसनीय और कल्याणकर होता है, (**च**) और (**मधुरा श्लक्ष्णा वाक् प्रयोज्या**) मीठी तथा कोमल वाणी अध्यापन और उपदेश में बोलनी चाहिए॥ १३४॥

ऋषि अर्थ—''विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि वैरबुद्धि छोड़ के सब मनुष्यों के कल्याण के मार्ग का उपदेश करें, और उपदेष्टा मधुर सुशीलतायुक्त वाणी बोले। जो धर्म की उन्नति चाहे, वह सदा सत्य में चले और सत्य का ही उपदेश करे।'' (स०प्र०, समु० ३)
(अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० १०)

पवित्र मन वाला ही वैदिक कर्मों के फल को प्राप्त करता है—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥ १३५॥
[२.१६०] (१०९)

(**यस्य**) जिस मनुष्य के (**वाङ्-मनसी**) वाणी और मन (**सदा**) सदैव (**शुद्धे**) शुद्धभावयुक्त और दोषरहित (**च**) और (**सम्यक् गुप्ते**) भलीभांति अपने नियन्त्रण में रहते हैं, (**सः वै**) निश्चय से वही (**वेदान्तोपगतं सर्वं फलम् आप्नोति**) वेदार्थों में निहित यथार्थ को और पूर्ण पुण्य फल को प्राप्त करता है॥ १३५॥

ऋषि अर्थ—''जिस मनुष्य के वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं वही सब वेदान्त अर्थात्

सब वेदों के सिद्धान्त रूप फल को प्राप्त होता है।''
(स०प्र०, समु० ३)

अनुशीलन—इस भाव की पुष्टि और तुलना के लिए १.१०९, २७२ श्लोक भी द्रष्टव्य हैं।

दूसरों से द्रोह आदि का निषेध—

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥१३६॥
[२.१६१] (११०)

मनुष्य (**आर्तः+अपि**) स्वयं दुःखी होता हुआ भी (**अरुंतुदः न स्यात्**) किसी दूसरे को पीड़ा न पहुंचावे (**न परद्रोहकर्मधीः**) न दूसरे के प्रति ईर्ष्या-द्वेष या बुरा करने की भावना मन में लाये (**अस्य यया वाचा उद्विजते**) मनुष्य के जिस वचन के बोलने से कोई उद्विग्न हो (**ताम् अलोक्यां न उदीरयेत्**) ऐसी उस लोक में अप्रशंसनीय वाणी को न बोले॥१३६॥

ब्राह्मण के लिए अवमान-सहन का निर्देश—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥१३७॥
[२.१६२] (१११)

(**ब्राह्मणः**) ब्राह्मण वर्णस्थ व्यक्ति (**नित्यम्**) सदैव (**सम्मानात्**) सम्मान-प्राप्ति से, लौकेषणा से (**विषात्-इव उद्विजेत**) ऐसे बचकर रहे जैसे कोई विष से दूर रहता है (**च**) और (**अवमानस्य**) सम्मान न प्राप्त करने की भावना (**अमृतस्य-इव सर्वदा आकांक्षेत्**) अमृत-प्राप्ति की इच्छा के समान सदा रखे अर्थात् ब्राह्मण के लिए सम्मान विष के समान हानिकर है और सम्मान की इच्छा न करना अमृत के समान हितकारी है॥१३७॥

ऋषि अर्थ—''संन्यासी जगत् के सम्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे। क्योंकि, जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है, वह प्रशंसित होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है। इसलिए चाहे निन्दा, चाहे

प्रशंसा, चाहे मान्य, चाहे अपमान, चाहे जीना, चाहे मृत्यु, चाहे हानि, चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे, चाहे कोई वैर बांधे, चाहे अन्न, पान, वस्त्र, उत्तम स्थान न मिले, चाहे शीत उष्ण कितना ही क्यों न हो इत्यादि सबका सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे। इससे परे उत्तम धर्म दूसरा किसी को न माने।'' (सं०वि०, संन्यासप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, वेदारम्भ०; स०प्र०, समु० ३)

अनुशीलन—अपमान सहन के कथन का अभिप्राय—पाठक ध्यान दें, इस श्लोक में अवमान का अर्थ है—'सम्मानप्राप्ति या लोकैषणा का अभाव होना है, अपमान नहीं। क्या कोई चाहेगा कि मेरा सदा अपमान होता रहे? श्लोकार्थ का अभिप्राय ऐसा नहीं है। अभिप्राय यह है कि सम्मान या लौकेषणा की भावना मनुष्यमात्र को संसार में फंसाती है। जब तक मनुष्य में यह भावना रहती है, वह विरक्त नहीं हो सकता—सांसारिक मोहों को नहीं त्याग सकता। इसी भावना से अहंकार को बल मिलता है और वह उग्र होता चला जाता है। शास्त्रों के अनुसार मनुष्यमात्र का और विशेषतः ब्राह्मण और संन्यासी का उद्देश्य ब्रह्मप्राप्ति करना है [२.३, अन्यत्र २.२८], अहंकार ब्रह्मप्राप्ति में सर्वाधिक बाधक है। सम्मान न प्राप्त करने की भावना और सहिष्णुता से अहंकार क्षीण होता है, संसार से विरक्ति की भावना बढ़ती है, अपमान को सहने अर्थात् निन्दा सहने से दुर्गुणों का ह्रास होकर चरित्र में निर्मलता आती है। इनसे ब्रह्मप्राप्ति के उद्देश्य को पाने में सहायता मिलती है। ६.५७-५८ में मनु ने स्वयं इस मान्यता का कारण स्पष्ट किया है। इन भावों की पुष्टि के लिए ६.४७-४८ भी द्रष्टव्य हैं—

(क) **अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।**
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते॥
(६.५८)

सम्मानप्राप्ति की भावना से रहित सुखी—

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥ १३८॥
[२.१६३] (११२)

(**हि**) क्योंकि (**अवमतः सुखं शेते**) सम्मान या लोकैषणा की चाहत न रखने वाला मनुष्य सुखपूर्वक सोता है (**च**) और (**सुखं प्रतिबुध्यते**) सुखपूर्वक जागता है अर्थात् जाग्रत अवस्था में भी सुखपूर्वक रहता है। अभिप्राय यह है कि मानव को सर्वाधिक रूप में व्यथित करने वाली मान-अपमान और उन से उत्पन्न होने वाली भावनाएँ उस व्यक्ति को सोते तथा जागते व्यथित नहीं करती, वह निश्चिन्त एवं शान्तिपूर्वक रहता है और (**अस्मिन् लोके सुखं चरति**) वह इस संसार में सुखपूर्वक विचरण करता है, तथा (**अवमन्ता**) अपमान से व्यथित होने वाला व्यक्ति (**विनश्यति**) [चिन्ता और शोक के कारण] शीघ्र विनाश को प्राप्त होता है॥ १३८॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन् सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः॥ १३९॥
[२.१६४] (११३)

(**अनेन क्रमयोगेन**) पूर्वोक्त प्रकार से (२.११-१३९ तक) (**संस्कृतात्मा द्विजः**) उपनयन संस्कार में दीक्षित द्विज बालक-बालिका (**गुरौ वसन्**) गुरुकुल में रहते हुए (**शनैः**) उत्तरोत्तर (**ब्रह्माधिगमिकं तपः**) विद्या और वेदार्थज्ञान की प्राप्ति रूप तप को (**सञ्चिनुयात्**) बढ़ाते जायें॥ १३९॥

ऋषि अर्थ—''इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को बढ़ाते चले जायें।''
(स०प्र०, समु० ३)

द्विज के लिए वेदाभ्यास की अनिवार्यता—

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥१४०॥
[२.१६५] (११४)

(**द्विजन्मना**) द्विजमात्र को (**विधिचोदितैः तपोविशेषैः च विविधैः व्रतैः**) शास्त्रों में विहित विशेष तपों [ब्रह्मचर्यपालन, वेदाभ्यास, धर्मपालन, प्राणायाम,

द्वन्द्वसहन आदि [१.१४१-१४२ (१६६-१६७); ६.७०-७२] और विविध व्रतों [२.१४९-१९४ में प्रदर्शित] का पालन करते हुए (**कृत्स्नः वेदः**) सम्पूर्ण वेदज्ञान को (**सरहस्यः**) रहस्य पूर्वक अर्थात् वेदार्थों में निहित गूढार्थज्ञान-चिन्तनपूर्वक [२.११५] (**अधिगन्तव्यः**) अध्ययन करके प्राप्त करना चाहिए॥ १४० ॥

वेदाभ्यास परम तप है—

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥ १४१ ॥
[२.१६६] (११५)

(**द्विजोत्तमः**) द्विजोत्तम अर्थात् द्विजों में उत्तम बना रहने का इच्छुक प्रत्येक जन (**तपः तप्स्यन्**) कष्ट सहन करते हुए भी (**वेदम्+एव सदा-अभ्यस्येत्**) वेद के स्वाध्याय का निरन्तर अभ्यास करे (**हि**) क्योंकि (**विप्रस्य**) द्विज जनों का (**वेदाभ्यासः**) वेदाभ्यास करना ही (**इह**) इस संसार में (**परं तपः उच्यते**) परम तप कहा है॥ १४१ ॥

ऋषि अर्थ—''द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मण आदिकों में उत्तम सज्जन पुरुष सर्वकाल तपश्चर्या करता हुआ वेद का ही अभ्यास करे, जिस कारण ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन को वेदाभ्यास करना इस संसार में परम तप कहा है।'' (सं०वि०, वेदारम्भ०)

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
यः स्त्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायः शक्तितोऽन्वहम्॥
१४२॥ [२.१६७] (११६)

(**यः द्विजः**) जो द्विज (**स्त्रग्वी-अपि**) माला धारण करके अर्थात् गृहस्थ होकर भी (**अनु+अहम्**) प्रतिदिन (**शक्तितः स्वाध्यायम् अधीते**) पूर्ण शक्ति से अर्थात् अधिक से अधिक प्रयत्नपूर्वक वेदों का स्वाध्याय करता है। (**सः**) वह (**आ नखाग्रेभ्यः ह+एव**) निश्चय ही पैरों के नाखून के अग्रभाग तक अर्थात् पूर्ण (**परमं तपः तप्यते**) परम तप करता है॥ १४२ ॥

अनुशीलन—(१) **स्रग्वी शब्द पर विचार**—मनु ने माला आदि अलंकृत करने वाली वस्तुओं का धारण करना ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध किया है, [२.१५२ (१७७)], किन्तु गृहस्थेच्छुक के लिए समावर्तन के अवसर पर माला धारण करने का विधान है [३.३] **'स्रग्विणं तल्प आसीनम्......।'** प्रतीत होता है कि माला धारण करना गृहस्थाश्रम में प्रवेश की द्योतक परम्परा थी, और शायद वही परम्परा आज वर-वधू द्वारा परस्पर माला डालने के रूप में प्रचलित है। यह माल्यार्पण विवाह संस्कार के पूर्व होता है। इस प्रकार 'स्रग्वी' प्रयोग गृहस्थ के लिए रूढ है, अतः यहां इससे गृहस्थ अर्थ ग्रहण किया है।

(२) **शतपथ ब्राह्मण में मनुस्मृति के भाव का उल्लेख**—शतपथ ब्राह्मण में मनूक्त इस श्लोक का भाव प्रायः यथावत् वर्णित है—

''अलंकृतः सुहितः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीते आ हैव स नखाग्रेभ्यः तप्यते। य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते।'' (११.५.७.४)

वेदाभ्यास के बिना शूद्रत्व प्राप्ति—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ १४३॥
[२.१६८] (११७)

(**यः द्विजः**) जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (**वेदम् अनधीत्य**) वेद का स्वाध्याय छोड़कर (**अन्यत्र श्रमं कुरुते**) केवल अन्य शास्त्रों में श्रम करता है (**सः**) वह (**जीवन्+एव**) जीवता ही (**सान्वयः**) अपने वंश के सहित (**आशु**) शीघ्र ही (**शूद्रत्वं गच्छति**) शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है, शूद्र बन जाता है॥ १४३॥

ऋषि अर्थ—''जो वेद को न पढ़के अन्यत्र श्रम किया करता है, वह अपने पुत्र-पौत्र सहित शूद्रभाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।'' (स०प्र० समु० ३) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, वेदारम्भ०)

अनुशीलन—वेद त्याग से कुटुम्ब की शूद्रता कैसे ?—यह शंका उत्पन्न होती है कि वेदाध्ययन में श्रम

न करने वाले व्यक्ति के साथ उसका कुटुम्ब क्यों और कैसे शूद्रत्व को प्राप्त करता है ? जो व्यक्ति वेदाध्ययन में यत्न न करके अन्यत्र श्रम करता है, उसमें आध्यात्मिक विद्वत्ता और धर्माचरण का ह्रास होता जायेगा। अविद्वत्ता के कारण वह शूद्रपन के स्तर पर आ जायेगा। जब घर का प्रमुख व्यक्ति विद्वान् नहीं होगा तो उसके आश्रित पुत्र-पौत्रादि भी आध्यात्मिक अशिक्षा अधर्माचरण और द्विजों के लिए विहित कर्त्तव्यों में शिथिलता से ग्रस्त होकर वे शीघ्र ही शूद्रभाव को प्राप्त करेंगे। द्विजों का मुख्य उद्देश्य वेदाध्ययन है। उसे त्यागकर अन्य कार्यों में श्रम करने वाला व्यक्ति द्विजत्वरहित हो जाता है।

गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी के पालनीय विविध नियम—

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः॥ १५०॥
[२.१७५] (११८)

(**गुरौ वसन्**) गुरु के समीप अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए (**ब्रह्मचारी**) ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचारिणी (**आत्मनः तपोवृद्ध्यर्थम्**) अपने विद्यारूप तप की वृद्धि के लिये (**इन्द्रियग्रामं सन्नियम्य**) इन्द्रियों के समूह [२.६४-६७] को वश में करके अर्थात् जितेन्द्रिय होकर (**इमान्+तु नियमान् सेवेत**) इन आगे वर्णित नियमों का पालन करे॥ १५०॥

अनुशीलन—'**ब्रह्मचारी' शब्द की व्युत्पत्ति**—ब्रह्मचारी शब्द 'ब्रह्मन्' शब्द उपपद में होने से 'चर गतौ' (भ्वादि) धातु से णिनिः प्रत्यय के योग से बनता है। विग्रह है—**ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य सः ब्रह्मचारी**= ब्रह्मचर्याश्रम पूर्व वेदाध्ययन में जो संलग्न रहता है वह 'ब्रह्मचारी' कहलाता है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है। इस आश्रम में रहते हुए ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत धारण करने के पश्चात् दीक्षित होकर गुरुकुल में अपने गुरु के पास निवास करता है, तथा जबतक गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट नहीं हो जाता तब तक वेदाध्ययन के साथ-साथ ब्रह्मचर्य-आश्रम के नियमों का पालन करता है।

ब्रह्मचारी के दैनिक नियम—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥ १५१॥
[२.१७६] (११९)

[ब्रह्मचारी] (**नित्यम्**) प्रतिदिन (**देव-ऋषि-पितृतणम्**) विद्वानों, ऋषियों, ज्ञानवयोवृद्ध व्यक्तियों की सेवा-अभिवादन आदि प्रसन्नताकारक कार्यों से तृप्ति=सन्तुष्टि का व्यवहार (**च**) और (**स्नात्वा शुचिः**) स्नान करके, शुद्ध होकर (**देवता+अभ्यर्चनम्**) परमात्मा की उपासना (**च**) तथा (**समिद्+आधानम्**) अग्निहोत्र भी (**कुर्यात्**) किया करे॥ १५१ ॥[1]

अनुशीलन—ब्रह्मचारी के लिए देव-ऋषि-पितर कौन ?—कई व्याख्याकारों ने इस श्लोक का अर्थ भ्रान्तिपूर्ण एवं मनुमान्यता के विरुद्ध किया है। इस श्लोक में गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी के लिए देव-ऋषि-पितृ-तर्पण और 'देवता-अभ्यर्चन' का कथन है।

देव, ऋषि, पितर ये विद्वानों और पालन-पोषणकर्त्ता ज्ञानवयोवृद्ध व्यक्तियों के स्तर विशेष हैं। पितृयज्ञ में 'मातृपितृतर्पण' की मान्यता को स्वीकारने वाले भी इस तथ्य को शतप्रतिशत रूप में स्वीकार करते हैं कि पितृयज्ञ का विधान केवल गृहस्थों-वनस्थों के लिए ही है, ब्रह्मचारी के लिए नहीं, लेकिन मनु ने ब्रह्मचारी के लिए 'देवर्षि-पितृतर्पण' की बात कही है तो इसका स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि 'पितृतर्पण' का अर्थ मृतकों के लिए श्राद्ध करना नहीं है, अपितु यह एक ऐसा कार्य है जिसे ब्रह्मचारी भी कर सकते हैं। गुरुकुल में रहनेवाले ब्रह्मचारी के लिए कौन देव, ऋषि और पितर हो सकते हैं, इसका २.११५-१३१ श्लोकों में मनु ने गुरुजनों का वर्णन करके स्वयं संकेत दे दिया है। बाद में बताये हुए ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य उन्हीं विभिन्न स्तरीय गुरुजनों के साथ लागू हो सकते हैं। अतः वे ही उसके देव, ऋषि, पितर हैं, न कि कोई कल्पित देव

---

१. **प्रचलित अर्थ**—ब्रह्मचारी नित्य स्नान कर देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण, शिव और विष्णु आदि देव-प्रतिमाओं का पूजन तथा प्रातः एवं सायंकाल हवन करे॥ २.१७६ ॥

या मृत पितर आदि। विभिन्नस्तरीय इन संज्ञा शब्दों के अर्थज्ञान और इनके स्वरूप को समझने के लिए ३.८२ की समीक्षा में प्रमाणयुक्त विवेचन देखिये।

(२) 'देवता-अभ्यर्चन' से अभिप्राय—

निरुक्त में कहा गया है कि ''**यो देवः सा देवता**'' (७.४.१५) देव को ही देवता कहा जाता है। देव शब्द से तल् और टाप् प्रत्यय के योग से देवता शब्द सिद्ध हुआ है। चेतन देवों के सन्दर्भ में देव शब्द का सबसे प्रमुख अर्थ 'परमात्मा' होता है। क्योंकि परमात्मदेव ही सब देवताओं का देवता है। जड़ देव उपयोग के योग्य होते हैं, चेतन देव (विद्वान्, माता, पिता आदि) सत्कार और सेवा के द्वारा प्रसन्न करने योग्य, लेकिन उपासना के योग्य केवल एक परमात्मा ही होता है, अन्य नहीं। अतः यहाँ '**देवताऽभ्यर्चनम्**' अभिप्राय परमात्मदेव की उपासना करते से है; गत प्रसंग में ब्रह्मचारी के दो अनुष्ठान निर्दिष्ट किये हैं—सन्ध्योपसन और अग्निहोत्र (२.४४)। यहाँ समिदाधान के साथ 'देवताभ्यर्चन' का प्रयोग उसी सन्ध्योपासन के अर्थ में है और पर्यायवाची प्रयोग है। यदि कहीं अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि नामों से देवताओं की स्तुति का वर्णन मिलता है तो वहां भी उनके माध्यम से परमात्मा की ही स्तुति अभिप्रेत है। क्योंकि ये परमात्मा की ही दिव्य-शक्तियाँ या गुण हैं, उसी के प्रत्यंग हैं। भिन्न-भिन्न देवों की स्तुति से अभिप्राय होता है परमात्मा के उस-उस गुण की स्तुति करना। इस प्रकार सभी देव एक परमात्मा में ही समाहित होते हैं। निरुक्तकार ने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

(अ) **महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।**
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।
कर्मजन्मानः, आत्मजन्मानः, आत्मैवैषां रथो भवति,
आत्माश्वः, आत्मायुधम्, आत्मेषवः, सर्वं देवस्य देवस्य।
(निरुक्त ७.१.४)

अर्थात्—'एक परमात्मा देव ही मुख्य देव है। सर्वशक्तिमत्त्वादि अनेक-विध ऐश्वर्यों से युक्त होने के कारण अनेक नामों-गुणों से उसकी स्तुति की जाती है, अन्य सभी देव इस महादेव परमात्मा के प्रत्यंगरूप हैं। उनका इसी में समाहार हो जाता है। उस एक अद्वितीय

परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं। इनका जन्म और कर्म ईश्वर के सामर्थ्य से होता है। इनका रथ अर्थात् रमण का स्थान, अश्व अर्थात् शीघ्र सुखप्राप्ति का कारण, गमनहेतु; आयुध=शत्रुओं का नाश करके विजय प्राप्त कराने हारा; इषु=बाण के समान सब दुष्टगुणों और दुःखों का छेदन करने वाला शस्त्र, वही परमात्मा है। परमात्मा ने जितना-जितना जिस-जिस में दिव्यगुण रखा है उतना-उतना ही उन द्रव्यों में देवपन है अधिक नहीं। इस प्रकार अन्य सब देवता परमेश्वरवाची ही हैं।'

इसमें वेदों का प्रमाण है—

(आ) **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥** (ऋ० १०.१६४.४६)

(इ) **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥** (यजु:० ३२.१)

स्वयं मनुस्मृति के प्रमाण देखिए—

(ई) **आत्मैव देवताः सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥** (१२.११९)

(उ) **एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥** (१२.१२३)

(ऊ) मनु ने अनेक स्थानों पर उपास्य के रूप में केवल परमात्मा को ही स्वीकार किया है। प्रमाणरूप में द्रष्टव्य हैं—२.७६-७८ (२.१०१-१०३); ४.९२-९३; १२.११८, ११९, १२२, १२५॥

इस सम्पूर्ण विवेचन और प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि 'देवता-अभ्यर्चनम्' का यहां अर्थ परमात्मदेव की उपासना अर्थात् सन्ध्या करने से है। अन्य अर्थ भ्रान्तिपूर्ण हैं। इस श्लोक में शिव, विष्णु की प्रतिमाओं के पूजन की कल्पना मनगढ़न्त है और अप्रामाणिक है। ऐतिहासिक वंश परम्परा की दृष्टि से देखें तो शिव, विष्णु आदि मनु स्वायम्भुव से अनेक पीढ़ी बाद में उत्पन्न हुए थे।

(३) तर्पण का सही अभिप्राय—

'तृप्-तृप्तौ' धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से 'तर्पण' शब्द सिद्ध होता है। जिस का अर्थ है—प्रसन्न करना। **''येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितॄंश्च तर्पयन्ति**

=**सुखयन्ति, तत् तर्पणम्।**''=जिस कर्म से विद्वान् देवों, ऋषियों और पितरों को तृप्त अर्थात् सुख और प्रसन्तायुक्त करते हैं, वह तर्पण है। इसी प्रकार **'यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तत् श्राद्धम्'** श्रद्धा से उनकी सेवा आदि करना श्राद्ध कहलाता है। इस प्रकार तर्पण करना मृतक में नहीं अपितु जीवित व्यक्ति में ही सम्भव होता है। मनु इस श्लोक में यह कहना चाहते हैं कि गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी को प्रतिदिन विद्वान्, देवों, ऋषियों और पितरों को प्रसन्न करने वाले सेवा, अन्न-भोजन, दान, अभिवादन, मधुरभाषण आदि कार्य करने चाहिएं, यही उनका तर्पण है। ब्रह्मचारी का यह कर्त्तव्य है। इस प्रकार के आचरण से उसे विद्या की प्राप्ति शीघ्र और सुगमता से होती है। तर्पण के इस अर्थ की पुष्टि में मनु के निम्न श्लोक प्रत्यक्ष प्रमाण हैं—

(अ) **यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।**
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥ (२.१९३)

(आ) **स्वाध्यायेनार्चयेद्-ऋषीन् होमैर्देवान् यथाविधि।**
पितॄन् श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ (३.८१)

(इ) **कुर्यादहरहः श्राद्धम् अन्नाद्येनोदकेन वा।**
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥ (३.८२)

(४) प्रमुख गुण के आधार पर ऋषि, देव, पितरों में अन्तर—

इस प्रकार २.११५-१३१ श्लोकों में वर्णित विभिन्न अध्यापयिता विद्वान् ही स्तर के अनुसार ऋषि, देव और पितर हैं। इनमें किसी विद्या के साक्षात् द्रष्टा, विशेषज्ञ 'ऋषि' कहलाते हैं। दिव्य-गुण आचरण की प्रधानता वाले विद्वान् 'देव' और पालक गुण की प्रधानता वाले वयोवृद्ध व्यक्ति एवं माता-पिता आदि गुरुजन 'पितर' होते हैं। ब्रह्मचारी को इनकी यथावसर सेवा करनी चाहिए।

मद्य, मांस आदि का त्याग—

वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥१५२॥

[२.१७७] (१२०)

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी (**मधु-मांसम्**) मदकारक मदिरा आदि का सेवन और मांसभक्षण

(**गन्धं माल्यम्**) सुगन्ध का प्रयोग, माला आदि अलंकार-धारण, (**रसान्**) तिक्त, कषाय, कटु, अम्ल आदि तीखे रसों का सेवन (**स्त्रियः**) ब्रह्मचारियों के लिए स्त्रियों का संग और ब्रह्मचारिणियों के लिए पुरुषों का संग और (**यानि सर्वाणि शुक्तानि**) अन्य जितने भी खट्टे-तीखे पदार्थ हैं, उन सबको (**च**) और (**प्राणिनाम्-एव हिंसनम्**) प्राणियों की हिंसा करना (**वर्जयेत्**) इन सबको वर्जित रखे ॥ १५२ ॥

ऋषि अर्थ—''ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का संग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा.....छोड़ देवें।'' (स०प्र०, समु० ३)

अनुशीलन—मधु का अर्थ—इस श्लोक में मधु का अर्थ मदिरा आदि मदकारक पदार्थ है। '**माद्यते इति सतः**' जो मद=नशा उत्पन्न करे अर्थात् मदिरा, भांग आदि पदार्थ। मांस के साथ इस शब्द का प्रयोग और वह भी निषेधात्मक रूप में होने से इस अर्थ की पुष्टि स्वतः हो जाती है। शहद अर्थवाचक मधु को मनु अभक्ष्य नहीं मानते। यतो हि जातकर्म में उसका भक्षण के लिए विधान है—

''**मन्त्रवत् प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्॥**

२.४ [२.२९]

अंजन, छाता, जूता आदि धारण का निषेध—

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम्॥ १५३ ॥

[२.१७८] (१२१)

(**अभ्यङ्गम्**) शरीर पर प्रसाधन के रूप में उबटन आदि लगाना (**अक्ष्णोः च अञ्जनम्**) शृंगार के लिए आंखों में अञ्जन डालना (**उपानत्-छत्र-धारणम्**) जूते और छत्र का धारण (**कामं क्रोधं लोभं च**) काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि; [चकार से मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष का ग्रहण किया है।] (**च**) और (**नर्तनं गीत-वादनम्**) मनोरंजन के लिए नाच, गान, बाजा बजाना, इनको भी वर्जित रखे॥ १५३ ॥

ऋषि अर्थ—''अंगों का मर्दन, बिना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आंखों में अंजन, जूते और छत्र-धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष और नाच, गान, बाजा बजाना, इनको भी छोड़ देवें।''
(स०प्र०, समु० ३)

अनुशीलन—मनुस्मृति में तीन वेदों के पठन-पाठन का विधान है [३.१-२; ४.३१]। सामवेद संगीत की विद्या का वेद है जिसके अन्तर्गत ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियां नृत्य, गान और वाद्ययन्त्रों का प्रशिक्षण प्राप्त करती हैं। उस पठन-पाठन विधि के आलोक में इस श्लोक का इस भाष्य का उपर्युक्त अर्थ ही उचित है।

जूआ, निन्दा, स्त्रीदर्शन आदि का निषेध—

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥ १५४॥
[२.१७९] (१२२)

(**द्यूतम्**) सभी प्रकार का जुआ खेलना (**जनवादम्**) अफवाहें फैलाना और अपवाहों की चर्चा में समय नष्ट करना (**च**) और (**परिवादम्**) किसी की निन्दा कथा करना (**अनृतम्**) मिथ्याभाषण (**स्त्रीणां प्रेक्षण+ आलम्भम्**) स्त्रियों का दर्शन और स्पर्श (**च**) और (**परस्य उपघातम्**) दूसरे को हानि पहुँचना आदि को सदा छोड़ देवें॥ १५४॥ (ऋषि व्याख्यात स०प्र०, समु० ३)

एकाकी शयन का विधान—

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥ १५५॥
[२.१८०] (१२३)

(**सर्वत्र एकः शयीत**) सर्वत्र एकाकी सोवे (**क्वचित् रेतः न स्कन्दयेत्**) कभी कामना से वीर्यस्खलित न करे (**कामात् हि रेतः स्कन्दयन्**) क्योंकि कामना से वीर्यस्खलित कर देने पर समझो उसने (**आत्मनः व्रतं हिनस्ति**) अपने ब्रह्मचर्य व्रत का नाश कर दिया॥ १५५॥ (ऋषि व्याख्यात स०प्र०, समु० ३)

भिक्षासम्बन्धी नियम—

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान्।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत्॥ १५७॥
[२.१८२] (१२४)

(**उदकुम्भम्**) पानी का घड़ा (**सुमनसः**) फूल (**गोशकृत्**) गोबर (**मृत्तिका**) मिट्टी (**कुशान्**) कुशाओं को (**यावत्+अर्थानि**) जितनी आवश्यकता हो उतनी ही (**आहरेत्**) लाकर रखे (**च**) और (**भैक्षम्**) भिक्षा भी (**अहः+अहः+चरेत्**) प्रतिदिन मांगकर खाये॥ १५७॥

किनसे भिक्षा ग्रहण करे—

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम्॥ १५८॥
[२.१८३] (१२५)

(**ब्रह्मचारी**) ब्रह्मचारी (**स्वकर्मसु प्रशस्तानाम्**) अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में सावधान रहने वाले और (**वेदयज्ञैः+अहीनानाम्**) वेदाध्ययन एवं पञ्च-महायज्ञों से जो हीन नहीं अर्थात् जो प्रतिदिन इनका अनुष्ठान करते हैं ऐसे श्रेष्ठ व्यक्तियों के (**गृहेभ्यः**) घरों से (**प्रयतः**) संयत रहकर (**अन्वहम्**) प्रतिदिन (**भैक्षम् आहरेत्**) भिक्षा ग्रहण करे॥ १५८॥

किन-किन से भिक्षा ग्रहण न करे—

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत्॥ १५९॥
[२.१८४] (१२६)

ब्रह्मचारी (**गुरोः कुले न भिक्षेत**) गुरु के परिवार में भिक्षा न मांगे (**न ज्ञाति-कुल-बन्धुषु**) सगे-सम्बन्धियों, परिजनों तथा मित्रों से भी भिक्षा न मांगे (**अन्यगेहानाम् अलाभे तु**) इनसे भिन्न घरों से यदि भिक्षा न मिले तो (**पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत्**) पूर्व-पूर्व घरों को छोड़ते हुए भिक्षा प्राप्त कर ले अर्थात् पहले मित्रों या घनिष्ठों के घरों से भिक्षा मांगे, वहाँ न मिले तो सगे-सम्बन्धियों से, वहाँ भी न मिले तो गुरु के परिवार से

भिक्षा मांग सकता है॥ १५९॥

पापकर्म करने वालों से भिक्षा न लें—

सर्वं वाऽपि चरेद् ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत्॥ १६०॥

[२.१८५] (१२७)

(**पूर्वोक्तानाम्+असम्भवे**) पूर्व [२.१५८-१५९] कहे हुए घरों के अभाव में (**सर्वं वा+अपि ग्रामं चरेत्**) सारे ही गांव में भिक्षा मांग ले (**तु**) किन्तु (**प्रयतः**) सावधानी पूर्वक (**वाचं नियम्य**) अपनी वाणी को नियन्त्रण में रखता हुआ शिष्आचार पूर्वक (**अभिशस्तान्**) पापी व्यक्तियों के घरों को (**वर्जयेत्**) छोड़ देवे अर्थात् पापी लोगों के सामने किसी भी अवस्था में भिक्षा-याचना के लिए वाणी न बोले॥ १६०॥

सायं-प्रातः अग्निहोत्र का पुनः विशेष विधान—

दूरदाहृत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि।
सायम्प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः॥ १६१॥

[२.१८६] (१२८)

(**दूरात् समिधः आहृत्य**) दूरस्थान अर्थात् जंगल आदि से समिधाएँ लाकर (**विहायसि सन्निदध्यात्**) उन्हें खुले [=हवादार] स्थान में सूखने के लिए रख दे (**ताभिः**) और फिर उनसे (**अतन्द्रितः**) आलस्य-रहित होकर (**सायं च प्रातः**) सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय (**अग्निं जुहुयात्**) अग्निहोत्र करे॥ १६१॥

अनुशीलन—यज्ञ की समिधाएँ—समिधाएँ किस-किस वृक्ष की और कैसी होनी चाहिएँ, इसके ज्ञान के लिए महर्षि दयानन्द का उद्धरण विशेष उपयोगी है—

"पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आंब (आम) बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाण छोटी-बड़ी कटवा लेवें। परन्तु ये समिधा कीड़ा लगी, मलिन देशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों, अच्छे प्रकार देख लेवें, और बराबर और बीच में चुनें। (सं०वि०, सामान्य प्रकरण)

गुरु के समीप रहते हुए ब्रह्मचारी की मर्यादाएँ—

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च॥ १६६॥
[२.१९१] (१२९)

(**गुरुणा चोदितः**) गुरु के द्वारा प्रेरणा करने पर (**वा**) अथवा (**अप्रचोदितः एव**) बिना प्रेरणा किये भी [ब्रह्मचारी] (**नित्यम्**) प्रतिदिन (**अध्ययने**) पढ़ने में (**च**) और (**आचार्यस्य हितेषु**) गुरु के हितकारक कार्यों को करने का (**यत्नं कुर्यात्**) यत्न किया करे॥ १६६॥

गुरु के सम्मुख सावधान होकर बैठे और खड़ा हो—

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्॥१६७॥
[२.१९२] (१३०)

[गुरु के सामने बैठने या खड़े होने की अवस्था में ब्रह्मचारी] (**शरीरं च वाचं च बुद्धि+इन्द्रिय+मनांसि एव च**) शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रियों और मन को भी (**नियम्य**) वश में करके अर्थात् सावधान होकर (**प्राञ्जलिः**) प्रथम हाथ जोड़ के तदनन्तर फिर (**तिष्ठेत्**) बैठे और खड़ा होवे॥ १६७॥

गुरु के आदेशानुसार चले—

नित्मुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः॥१६८॥
[२.१९३] (१३१)

(**नित्यम्+उद्धृतपाणिः स्यात्**) सदा उद्धृत-पाणि रहे अर्थात् ओढ़ने के वस्त्र से दायां हाथ बाहर रखे [ओढ़ने के वस्त्र को इस प्रकार ओढ़े कि वह दायें हाथ के नीचे से होता हुआ बायें कन्धे पर जाकर टिके, जिसे दायां कन्धा और हाथ वस्त्र से बाहर निकला रह जाये] (**साधु+आचारः**) शिष्ट-सभ्य आचरण रखे (**सुसंयतः**) संयमपूर्वक रहे (**'आस्यताम्' इति उक्तः सन्**) गुरु के द्वारा 'बैठो' ऐसा कहने पर (**गुरोः अभिमुखं आसीत्**) गुरु के सामने उनकी ओर मुख करके बैठे॥ १६८॥

गुरु से निम्न स्तर की वेशभूषा रखे—

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥ १६९॥
[२.९४] (१३२)

(**गुरु-सन्निधौ**) गुरु के समीप रहते हुए (**सर्वदा**) सदा (**हीन+अन्न+वस्त्र+वेषः स्यात्**) अन्न=भोज्य-पदार्थ, वस्त्र और वेशभूषा गुरु से सामान्य रखे (**च**) और (**अस्य प्रथमम् उत्तिष्ठेत्**) इस गुरु से पहले जागे (**च**) तथा (**चरमं संविशेत्**) बाद में सोये॥ १६९॥

बातचीत करने का शिष्टाचार—

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत्।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः॥ १७०॥
[२.१९५] (१३३)

(**प्रतिश्रवण+सम्भाषे**) प्रतिश्रवण अर्थात् गुरु की बात या आज्ञा का उत्तर देना या स्वीकृति देना, और सम्भाषा=बातचीत, ये (**शयानः न समाचरेत्**) लेटे हुए न करे (**न+आसीनः**) न बैठे-बैठे (**न भुञ्जानः**) न कुछ खाते हुए (**च**) और (**न तिष्ठन्**) न दूर खड़े होकर (**न पराङ्मुखः**) न मुंह फेरकर ये बातें करे॥ १७०॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः॥१७१॥
[२.१९६] (१३४)

(**आसीनस्य स्थितः**) बैठे हुए गुरु से खड़ा होकर (**तिष्ठतः तु अभिगच्छन्**) खड़े हुए गुरु के सामने जाकर (**आव्रजतः तु प्रति+उद्गम्य**) अपनी ओर आते हुए गुरु से उसकी ओर शीघ्र आगे बढ़कर (**धावतः तु पश्चात् धावन्**) दौड़ते हुए के पीछे दौड़कर (**कुर्यात्**) उत्तर दे और बातचीत [२.१७०] करे॥ १७१॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम्।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः॥ १७२॥
[२.१९७] (१३५)

(**पराङ्मुखस्य+अभिमुखः**) गुरु यदि मुँह फेरे हों तो उनके सामने होकर (**च**) और (**दूरस्थस्य**

अन्तिकम् एत्य) दूर खड़े हों तो पास जाकर (**शयानस्य तु**) लेटे हों (**च**) और (**निदेशे एव तिष्ठतः**) समीप ही खड़े हों तो (**प्रणम्य**) विनम्र होकर उत्तर दे और बातचीत करे॥ १७२॥

गुरु से निम्न आसन पर बैठे—

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्॥ १७३॥
[२.१९८] (१३६)

(**गुरुसन्निधौ**) गुरु के समीप रहते हुए (**अस्य**) इस ब्रह्मचारी का (**शय्या+आसनम्**) बिस्तर और आसन (**सर्वदा**) सदा ही (**नीचम्**) गुरु के आसन से नीचा या साधारण रहना चाहिए (**गुरोः तु चक्षुः विषये**) और गुरु की आंखों के सामने (**यथेष्टासनः न भवेत्**) कभी मनमाने ढंग से न बैठे अर्थात् शिष्टतापूर्वक बैठे॥ १७३॥

गुरु का नाम न ले—

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम्॥ १७४॥
[२.१९९] (१३७)

(**परोक्षम् अपि**) पीछे से भी (**अस्य**) अपने गुरु का (**केवलं नाम न+उदाहरेत्**) केवल नाम लेकर न बोले अर्थात् जब भी गुरु के नाम का उच्चारण करना पड़े तो 'आचार्य' 'गुरु' आदि सम्मानबोधक शब्दों के साथ करना चाहिए, अकेला नाम नहीं, (**अस्य**) इस गुरु की (**गति+भाषित+चेष्टितम्**) चाल, वाणी तथा चेष्टाओं का (**न अनुकुर्वीत**) अनुकरण न करे, नकल न उतारे॥ १७४॥

गुरु की निन्दा न सुने—

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥१७५॥
[२.२००] (१३८)

(**यत्र**) जहाँ (**गुरोः परीवादः अपि वा निन्दा प्रवर्तते**) गुरु की बुराई अथवा निन्दा हो रही हो (**तत्र**)

वहां (**कर्णौ पिधातव्यौ**) अपने कान बन्द कर लेने चाहियें अर्थात् उसे नहीं सुनना चाहिये (**वा**) अथवा (**ततः अन्यतः गन्तव्यम्**) उस जगह से कहीं अन्यत्र चला जाना चाहिए॥ १७५ ॥[१]

अनुशीलन—'**कर्णौ पिधातव्यौ**' **मुहावरा**—इस श्लोक में 'कर्णौ पिधातव्यौ' मुहावरे के रूप में प्रयुक्त है। इसका अभिप्राय हाथों से कान बन्द कर लेना नहीं है अपितु 'न सुनना' या 'ध्यान न देना' है। इसका हिन्दी में अनूदित मुहावरा आज भी उसी अर्थ में प्रचलित है—'**कान बन्द रखना**' अर्थात् ध्यान न देना या न सुनना। इस के विपरीत '**कान धरना**' **या** 'कान खुले रखना' मुहावरे प्रचलित हैं। जिनका अर्थ है—ध्यान से सुनना।

गुरु को कब अभिवादन न करे—

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत्॥ १७७॥
[२.२०२] (१३९)

(**एनम्**) शिष्य अपने गुरु को (**दूरस्थः**) दूर से (**न+अर्चयेत्**) नमस्कार न करे (**न क्रुद्धः**) न क्रोध में (**न स्त्रियाः अन्तिके**) जब अपनी स्त्री के पास बैठे हों उस स्थिति में जाकर अभिवादन न करे (**च**) और (**यान+आसनस्थः**) यदि शिष्य सवारी पर बैठा हो तो (**अवरुह्य**) उतरकर (**एनम्**) अपने गुरु को (**अभिवादयेत्**) अभिवादन करे॥ १७७॥

साथ बैठने-न बैठने सम्बन्धी निर्देश—

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किञ्चिदपि कीर्तयेत्॥ १७८॥
[२.२०३] (१४०)

(**प्रतिवाते**) शिष्य की ओर से गुरु की ओर सामने से आने वाली वायु में (**च**) और (**अनुवाते**) उसके विपरीत अर्थात् शिष्य की ओर से गुरु के पीछे की आने वाली वायु की दिशा में (**गुरुणा सह न+आसीत**) गुरु

---

१. **प्रचलित अर्थ**—जहाँ गुरु की बुराई या निन्दा होती हो वहाँ ब्रह्मचारी कान बन्द करले या वहाँ से अन्यत्र चला जाये॥ २.२००॥

के साथ न बैठे (**च**) तथा (**गुरोः असंश्रवे एव**) जहाँ गुरु को अच्छी प्रकार न सुनाई पड़े ऐसे स्थान में (**किञ्चित्+अपि न कीर्तयेत्**) कोई बात न कहे ॥१७८ ॥

गुरु के साथ कहां-कहां बैठे—

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्त्रस्तरेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥ १७९ ॥

[२.२०४] (१४१)

(**गो+अश्व+उष्ट्रयान-प्रासाद-स्त्रस्तरेषु**) बैल-गाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊंटगाड़ी पर और महलों अथवा घरों में बिछाये जानेवाले बिछौने पर (**च**) और (**कटेषु**) चटाइयों पर (**च**) तथा (**शिला-फलक-नौषु**) पत्थर, तख्त, नौका आदि पर (**गुरुणा सार्धम् आसीत**) गुरु के साथ बैठ जाये ॥ १७९ ॥

गुरु के गुरु से गुरुतुल्य आचरण—

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान् गुरूनभिवादयेत् ॥ १८० ॥

[२.२०५] (१४२)

(**गुरोः गुरौ सन्निहिते**) गुरु के भी गुरु यदि समीप आ जायें तो (**गुरुवत् वृत्तिम् आचरेत्**) उनसे अपने गुरु के समान ही आचरण करे (**च**) और (**स्वान् गुरून्**) अपने अन्य गुरुजनों के आने पर (**गुरुणा अनिसृष्टः न अभिवादयेत्**) गुरु से आदेश लिए बिना अभिवादन करने न जाये अर्थात् गुरु से अनुमति लेकर उनके पास जाये ॥ १८० ॥

अन्य अध्यापकों से व्यवहार—

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु।
प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्वपि ॥ १८१ ॥

[२.२०६] (१४३)

(**विद्यागुरुषु**) विद्या पढ़ाने वाले सभी गुरुओं में (**स्वयोनिषु**) अपने वंश वाले सभी बड़ों में (**च**) और (**अधर्मान् प्रतिषेधत्सु उपदिशत्सु+अपि**) अधर्म से हटाकर धर्म का उपदेश करने वालों में भी (**नित्या एतत्+एव वृत्तिः**) सदैव यही [ऊपर वर्णित] बर्ताव

करें ॥ १८१ ॥

युवति गुरुपत्नी के चरणस्पर्श का निषेध और उसमें कारण—

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता॥ १८७॥
[२.२१२] (१४४)

(**पूर्णविंशतिवर्षेण**) आयु के जिसके बीस वर्ष पूर्ण हो चुके हैं (**गुणदोषौ विजानता**) गुण और दोषों को समझने में समर्थ उस युवक शिष्य को (**युवतिः गुरुपत्नी तु**) युवती गुरुपत्नी का (**पादयोः न अभिवाद्या**) चरणों का स्पर्श करके अभिवादन नहीं करना चाहिए [अर्थात् बिना चरणस्पर्श किये ही उसका अभिवादन करे। उसकी विधि २.१९१ में वर्णित है] ॥ १८७ ॥

युवति के चरणस्पर्श से हानि—

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः॥ १८८॥
[२.२१३] (१४५)

(**इह**) इस संसार में (**नारीणां नराणां दूषणम्**) स्त्री-पुरुषों का परस्पर के संसर्ग से दूषण हो जाता है (**एषः स्वभावः**) यह स्वाभाविक ही है (**अतः अर्थात्**) इस कारण (**विपश्चितः**) बुद्धिमान् व्यक्ति (**प्रमदासु**) स्त्रियों के साथ व्यवहारों में (**न प्रमाद्यन्ति**) कभी असावधानी नहीं करते अर्थात् ऐसा कोई वर्ताव नहीं करते जिससे सदाचार के मार्ग से भटक जाने की आशंका हो ॥ १८८ ॥[1]

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्॥ १८९॥
[२.२१४] (१४६)

---

१. **प्रचलित अर्थ**—स्त्रियों का यह स्वभाव है कि इस जगत् में शृंगार-चेष्टाओं के द्वारा व्यामोहित कर पुरुषों में दूषण उत्पन्न कर देती हैं, अत एव विद्वान् पुरुष स्त्रियों के विषय में असावधानी नहीं करते किन्तु सर्वदा उनसे अलग ही रहते हैं ॥ २.२१३ ॥

(**लोके**) संसार में (**प्रमदाः**) आचारहीन षड्यन्त्रकारी स्त्रियाँ (**काम-क्रोध-वश+अनुगम्**) काम और क्रोध के वशीभूत होने वाले (**अविद्वांसम्**) अविद्वान् को (**वा**) अथवा (**विद्वांसम्+अपि**) विद्वान् व्यक्ति को भी (**उत्पथं नेतुम्**) उसके सन्मार्ग से उखाड़ने में अर्थात् उद्देश्य से पथभ्रष्ट करने में (**हि**) निश्चय से (**अलम्**) पूर्ण समर्थ हैं ॥ १८९ ॥

अभिप्राय यह है कि स्त्रियों में हाव-भाव और रूप सौन्दर्य के द्वारा पुरुषों को मोहित कर लेने का पूर्ण सामर्थ्य है। उनके इन गुणों के कारण पुरुष उनके संसर्ग से स्वयं अथवा उन्हीं के प्रयत्न से सदाचार के मार्ग से भ्रष्ट हो सकता है।

स्त्रीवर्ग के साथ एकान्तवास निषेध—

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥ १९० ॥

[२.२१५] (१४७)

[मनुष्य को चाहिए कि] (**मात्रा स्वस्त्रा वा दुहित्रा**) माता, बहन अथवा पुत्री के साथ भी (**विविक्त+ आसनः न भवेत्**) एकान्त आसन पर न रहे, अर्थात् एकान्त-निवास न करे, क्योंकि (**बलवान्+इन्द्रिय-ग्रामः**) शक्तिशाली इन्द्रियाँ (**विद्वांसम्+अपि**) विद्वान्= विवेकी व्यक्ति को भी (**कर्षति**) खींचकर अपने वश में कर लेती हैं अर्थात् अपने-अपने विषयों में फंसाकर पथभ्रष्ट कर देती हैं ॥ १९० ॥

युवति गुरुपत्नी के अभिवादन की विधि—

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन्॥ १९१ ॥

[२.२१६] (१४८)

(**कामं तु**) अच्छा तो यही है कि (**युवा**) युवक शिष्य (**युवतीनां गुरुपत्नीनाम्**) गुरुकुलस्थ गुरुओं की युवा पत्नी को (**असौ+अहम्+इति ब्रुवन्**) **'**यह मैं अमुक नाम वाला हूँ**'** ऐसा कहते हुए (**विधिवत्**) पूर्ण विधि के अनुसार [२.९७, ९९] (**भुवि**) सिर

झुकाकर ही (**वन्दनं कुर्यात्**) अभिवादन करे, प्रतिदिन चरणस्पर्श न करे॥ १९१॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन्॥ १९२॥
[२.२१७] (१४९)

शिष्य (**सतां धर्मम्+अनुस्मरन्**) श्रेष्ठों के धर्म को स्मरण करते हुए अर्थात् यह विचारते हुए कि स्त्रियों का अभिवादन करना शिष्ट व्यक्तियों का कर्त्तव्य है (**गुरुदारेषु**) गुरुओं की पत्नी को (**अन्वहम् अभिवादनं कुर्वीत**) प्रतिदिन बिना चरणस्पर्श किये अभिवादन करे (**च**) किन्तु (**विप्रोष्य**) परदेश से लौटकर भेंट होने पर (**पादग्रहणम्**) चरणस्पर्श कर अभिवादन करे॥ १९२॥

गुरु सेवा का फल—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥ १९३॥
[२.२१८] (१५०)

(**नरः**) मनुष्य (**यथा खनित्रेण खनन्**) जैसे कुदाल से खोदता हुआ (**वारि+अधिगच्छति**) भूमि से जल को प्राप्त कर लेता है (**तथा**) वैसे (**शुश्रूषुः**) गुरु की सेवा करने वाला पुरुष (**गुरुगतां विद्याम्**) गुरुजनों ने जो विद्या प्राप्त की है, उस को (**अधिगच्छति**) प्राप्त कर लेता है॥ १९३॥

ब्रह्मचारी के लिए केश-सम्बन्धी तीन विकल्प एवं ग्रामनिवास का निषेध—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित्॥
१९४॥ [२.२१९] (१५१)

ब्रह्मचारी (**मुण्डः वा जटिलः वा स्यात्**) चाहे तो सब केश मुंडवा कर रहे, चाहे सब केश रखकर रहे (**अथवा**) या फिर (**शिखाजटः**) केवल शिखा रखकर [शेष केश मुंडवाकर] (**स्यात्**) रहे, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। (**एनम्**) इस ब्रह्मचारी को

(**क्वचित् ग्रामे**) बिना किसी उद्देश्य के किसी गांव शहर में रहते (**सूर्यः**) सूर्य (**न अभिनिम्लोचेत्**) न तो अस्त हो (**नु= अभ्युदियात्**) न कभी उदय हो अर्थात् प्रमाद के कारण गांव-शहर में रहते-रहते रात नहीं होनी चाहिए। रात्रि में गांव-शहर में निवास नहीं करना चाहिए, गुरुकुल में आकर निवास करना चाहिए॥ १९४॥

प्रमादवश सोते रहने पर प्रायश्चित्त—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः।
निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम्॥ १९५॥
[२.२२०] (१५२)

(**तं चेत्**) यदि किसी विवशतावश गांव-शहर में रुकना पड़े और उसे (**कामचारतः शयानम्**) प्रमादवश सोते हुए (**सूर्यः अभि+उदियात्**) वहाँ सूर्य का उदय हो जाये (**अपि वा**) अथवा (**अविज्ञानात् निम्लोचेत्**) अनजाने में या प्रमाद के कारण गांव-शहर में रहते सूर्य अस्त हो जाये अर्थात् रात्रि-निवास करे तो (**दिनं जपन्+उपवसेत्**) प्रायश्चित्त रूप में दिनभर गायत्री का जप करते हुए उपवास करे=खाना न खाये॥ १९५॥

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा॥ १९६॥
[२.२२१] (१५३)

(**यः**) जो (**सूर्येण अभिनिर्मुक्तः**) प्रमाद में गांव-शहर में रहते हुए सूर्य के अस्त हो जाने पर (**च**) और (**शयानः+अभ्युदितः**) वहाँ रात्रि में सोते-सोते सूर्य उदय होने पर (**प्रायश्चित्तम् अकुर्वाणः**) प्रायश्चित्त नहीं करता है वह (**महता+एनसा युक्तः स्यात्**) व्रतभंग के बड़े अपराध का भागी बनता है अर्थात् उसे व्रतभंग दोषी माना जायेगा॥ १९६॥

अनुशीलन—'एनः' के अर्थज्ञान के लिए २.२ [२.२७] पर भी समीक्षा द्रष्टव्य है।

सन्ध्योपासन का विधान एवं विधि—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि॥ १९७॥
[२.२२२] (१५४)

ब्रह्मचारी (**नित्यम्**) प्रतिदिन (**शुचौ देशे**) शुद्ध स्थान में (**उभे सन्ध्ये**) प्रातः और सायं दोनों सन्ध्याकालों में (**आचम्य**) आचमन करके (**प्रयतः**) प्रयत्नपूर्वक (**समाहितः**) एकाग्र होकर (**जप्यं जपन् उपासीत**) गायत्री मन्त्र द्वारा परमेश्वर का जप करते हुए उपासना करे [२.५१-५३, २.७६-७८, १०१-१०३]॥ १९७॥

स्त्री-शूद्रादि के उत्तम आचरण का भी अनुकरण करे—

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत्।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वाऽस्य रमेन्मनः॥ १९८॥
[२.२२३] (१५५)

(**यदि स्त्री यदि+अवरजः**) यदि कोई स्त्री और शूद्र भी (**किंचित् श्रेयः समाचरेत्**) अपने से कोई श्रेष्ठ आचरण करें (**तत्सर्वं+आचरेत्**) उनसे शिक्षा लेकर सभी मनुष्यों को उस पर आचरण करना चाहिए (**वा**) और (**यत्र**) जिस शास्त्रोक्त श्रेष्ठ कर्म में (**अस्य मनः रमेत्**) मनुष्य का मन रमे उस को करता रहे॥ १९८॥

निम्नस्तर के व्यक्ति से भी ज्ञान-धर्म की प्राप्ति—

श्रद्धधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥ २१३॥
[२.२३८] (१५६)

(**शुभां विद्यां श्रद्दधानः**) उत्तम विद्या प्राप्ति की श्रद्धा करता हुआ पुरुष (**अवरात्+अपि आददीत**) अपने से न्यून वर्ण के व्यक्ति से भी विद्या ग्रहण करले (**अन्त्यात्+अपि परं धर्मम्**) शूद्र वर्ण का व्यक्ति भी यदि किसी उत्तम धर्म का ज्ञाता या पालनकर्त्ता हो तो उससे भी धर्म ग्रहण करे, और (**दुष्कुलात् अपि स्त्रीरत्नम्**) निंद्यकुल में भी यदि उत्तम गुणवती कन्या हो तो उसको पत्नी के रूप में ग्रहण कर ले, यह नीति है॥ २१३॥ (सं०वि०, वेदारम्भ०)

उत्तम वस्तुओं का भी सभी स्थानों से ग्रहण—

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम्॥ २१४॥
[२.२३९] (१५७)

(**विषात्+अपि+अमृतं ग्राह्यम्**) विष में से भी अमृत का ग्रहण कर लेना चाहिए, और (**बालात्+अपि सुभाषितम्**) बालक से भी उत्तम वचन को ग्रहण कर लेना चाहिए, और (**अमित्रात्+अपि सद्-वृत्तम्**) अमित्र व्यक्ति से भी श्रेष्ठ आचरण सीख लेना चाहिए, तथा (**अमेध्यात्+अपि काञ्चनम्**) अशुद्ध स्थान से भी स्वर्ण या मूल्यवान् वस्तु को प्राप्त कर लेना चाहिए॥ २१४॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥ २१५॥
[२.२४०] (१५८)

(**स्त्रियः**) उत्तम गुणवती स्त्री (**रत्नानि**) नाना प्रकार के रत्न (**विद्या**) उत्तम विद्या (**धर्मः**) धर्माचरण (**शौचम्**) तन-मन, स्थान आदि की पवित्रता (**सुभाषितम्**) श्रेष्ठभाषण (**च**) और (**विविधानि शिल्पानि**) नाना प्रकार की शिल्पविद्या अर्थात् विज्ञान और कारीगरी (**सर्वतः समादेयानि**) सब देशों तथा सब मनुष्यों से ग्रहण कर लें॥ २१५॥ (ऋषि व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—इस अध्याय का विषय शिक्षा-प्राप्ति का है। २१३-२१५ श्लोकों में विद्या-सम्बन्धी बात प्रमुखता से कहते हुए साथ ही अन्य व्यावहारिक प्रेरक बातें भी कह दी हैं जो कि लोकोक्तिवत् प्रसिद्ध हैं। विद्या से सम्बद्ध होने के कारण ये सभी वचन प्रासंगिक एवं विषयसंगत हैं।

आपत्तिकाल में अब्राह्मण से विद्याध्ययन—

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः॥ २१६॥
[२.२४१] (१५९)

(**आपत्काले**) आपत्ति काल अर्थात् अपवादरूप

में (**अब्राह्मणात्**) अब्राह्मण अर्थात् क्षत्रिय और वैश्य आदि गुरु से भी (**अध्ययनम्**) विद्या ग्रहण करना (**विधीयते**) विहित है [२.२१३-२१५] (**यावत् अध्ययनम्**) शिष्य जब तक उससे पढ़े तब तक (**गुरोः अनुव्रज्या च शुश्रूषा**) गुरु की आज्ञा का पालन और सेवा-शुश्रूषा भी करता रहे॥ २१६॥

अनुशीलन—अब्राह्मण से विद्याप्राप्ति—अब्राह्मण से विद्याप्राप्ति की परम्परा मनु के पश्चात् भी रही है। यद्यपि विद्यादान ब्राह्मण की प्रमुख आजीविका है किन्तु अपवाद रूप में अन्य वर्णों से भी विद्या प्राप्त की जा सकती है, इसकी पुष्टि मनु निम्न श्लोकों में पहले भी कर चुके हैं—

(अ) **श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥** २.२१३ (२३८)

(आ) **स्त्रियः रत्नान्यथो विद्या...समादेयानि सर्वतः॥**
२.२१५ (२४०)

(इ) आयुर्वेदाचार्य सुश्रुत ने भी इसका समर्थन किया है—

"**ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्त्तुमर्हति, राजन्यो द्वयस्य, वैश्यो वैश्यस्येवेति। शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमुपनीतमध्यापयेदित्येके।**"
='ब्राह्मण तीनों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को, क्षत्रिय क्षत्रिय और वैश्य को तथा वैश्य एक वैश्य वर्ण को यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है। जो कुलीन शुभलक्षण-युक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़के सब शास्त्र पढ़ावे और शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करे, यह मत कुछ आचार्यों का है।' उपनयन और मन्त्रसंहिताओं का निषेध इसलिए है कि वह निर्धारित समय पर अध्ययन करने के कारण अशिक्षित रहता है, अतः वह इस संस्कार का अधिकार खो बैठता है, इसी कारण वह शूद्र कहलाता है, किन्तु यथाशक्ति पढ़ना उसको भी चाहिए।

महर्षि मनु के मतानुसार तो किसी भी वर्ण का कोई व्यक्ति जीवन में कभी भी यथेष्ट वर्ण का शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त करके उस वर्ण को धारण कर सकता है (१०.६५)।

**नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन् गतिमनुत्तमाम्॥२१७॥**
[२.२४२] (१६०)

(**अनुत्तमां गतिं काङ्क्षन् शिष्यः**) जीवन में उत्तम प्रगति चाहने वाले शिष्य को चाहिए कि वह (**अब्राह्मणे गुरौ**) अब्राह्मण गुरु के यहाँ (**च**) और (**अन्+अनूचाने ब्राह्मणे**) वेद-शास्त्रों में अपारंगत ब्राह्मण गुरु के समीप भी (**आत्यन्तिकं वासं न वसेत्**) आजीवन या बहुत अधिक निवास न करे [क्योंकि सीमित विद्यावान् होने के कारण उक्त गुरुओं के पास शिष्य की प्रगति रुक जाती है। सांगोपांग वेदों के ज्ञाता भूयोविद्य विद्वान् के पास रहकर ही जीवन में निरन्तर उन्नति, उत्तम प्रगति प्राप्त की जा सकती है] ॥ २१७ ॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात्॥ २१८ ॥
[२.२४३] (१६१)

(**यदि तु**) यदि ब्रह्मचारी शिष्य (**गुरोः कुले**) गुरुकुल में (**आत्यन्तिकं वासं रोचयेत**) जीवन-पर्यन्त निवास करना चाहे तो (**आशरीर-विमोक्षणात्**) शरीर छूटने पर्यन्त (**एनम्**) अपने गुरु की (**युक्तः परिचरेत्**) प्रयत्नपूर्वक सेवा करे ॥ २१८ ॥

समावर्तन की इच्छा होने पर गुरुदक्षिणा का विधान एवं नियम—

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्॥२२० ॥
[२.२४५] (१६२)

(**धर्मवित्**) शिक्षाधर्म-विधि का ज्ञाता शिष्य (**स्नास्यन् तु**) स्नातक बनने अर्थात् समावर्तन कराने की इच्छा होने पर (**गुरुणा+आज्ञः**) गुरु से आज्ञा प्राप्त करके (**शक्त्या**) शक्ति के अनुसार (**गुर्वर्थम्**) गुरु के लिए (**आहरेत्**) दक्षिणा प्रदान करे। किन्तु (**पूर्वं गुरवे किंचित् न उपकुर्वीत**) समावर्तन से पहले गुरु को शुल्क दक्षिणा या भेंट रूप में शिष्य को कुछ नहीं

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृ
समीक्षाभ्यां विभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ

देना चाहिए॥ २२०॥

गुरुदक्षिणा में देय वस्तुएँ—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम्।
धान्यं वासांसि वा शाकं गुरवे प्रीतिमावहेत्॥ २२१॥
[२.२४६] (१६३)

[शिष्य यथाशक्ति] (**क्षेत्रम्**) भूमि (**हिरण्यम्**) सोना आदि मूल्यवान् पदार्थ (**गाम्**) गाय आदि दुधारू पशु (**अश्वम्**) घोड़ा आदि सवारी योग्य पशु (**छत्र+ उपानहम् +आसनम्**) छाता, जूता, आसन आदि उपयोगी वस्तुएं (**धान्यम्**) अन्न (**वासांसि**) वस्त्र (**वा**) अथवा (**शाकम्**) केवल खाद्य पदार्थ शाक, फल आदि ही (**गुरवे**) गुरु के लिए (**प्रीतिम्+ आवहेत्**) प्रीतिपूर्वक दक्षिणा में दे॥ २२१॥

अनुशीलन—'शाक' का व्याकरणिक अर्थ है—"**शक्यते भोक्तुम् तत् शाकम्।**" इसके अनुसार यहां इसका व्यापक अर्थ में प्रयोग है। सभी साग-भाजी, फल आदि खाद्य पदार्थ यहाँ अभीष्ट हैं। इसी प्रकार अन्य पदार्थ अपने वर्ग के प्रतीक हैं।

ब्रह्मचर्याश्रम के पालन का फल—

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः॥ २२४॥
[२.२४९] (१६४)

(**यः विप्रः**) जो द्विज विद्वान् (**एवम्**) उपर्युक्त प्रकार से (**अविप्लुतः**) अखण्डित रूप से, सत्यभाव से (**ब्रह्मचर्यं चरति**) ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करता है (**सः उत्तमं स्थानं गच्छति**) वह उत्तम स्थान अर्थात् मोक्ष-पद को प्राप्त करता है (**च**) और (**इह**) इस संसार में (**पुनः न आजायते**) पुनर्जन्म नहीं लेता अर्थात् प्रवाह से चलने वाले जन्म-मरण से छूटकर मोक्ष को प्राप्त करता है॥ २२४॥

न हिन्दीभाष्यसमन्वितायाम्'अनुशीलन'
संस्कारब्रह्मचर्याश्रमात्मको द्वितीयोऽध्यायः॥

अथ तृतीय

(हिन्दीभाष्य-'अनुशी

(समावर्तन, विवाह एवं

(समावर्त्तन ३.

ब्रह्मचर्य और वेदाध्ययन काल की अवधि—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥ १॥ (१)

(**गुरौ**) गुरु के समीप रहते हुए ब्रह्मचारी को (**त्रैवेदिकं व्रतम्**) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद नामक तीन वेदों (१.२३, १२.११२) के सांगोपांग अध्ययन सम्बन्धी व्रत का (**षट्त्रिंशद्+आब्दिकम्**) गुरुकुल में प्रवेश के बाद [२.३६-३८] छत्तीस वर्ष पर्यन्त या (**तत्+अर्धिकम्**) उस से आधे अर्थात् अठारह वर्ष पर्यन्त (**वा**) अथवा (**पादिकम्**) उन छत्तीस के चौथे भाग अर्थात् नौ वर्ष पर्यन्त (**वा**) अथवा (**ग्रहण+अन्तिकम्+एव**) जब तक अभीष्ट विद्या पूर्ण न हो जाये तब तक (**चर्यम्**) पालन करना चाहिए॥ १॥

ऋषि अर्थ—"आठवें वर्ष से आगे छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त अर्थात् वेद के साङ्गोपाङ्ग पढ़ने में बारह-बारह-बारह वर्ष मिलके छत्तीस और आठ मिलके चवालीस अथवा अठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य और आठ पूर्व के मिलके छब्बीस वा नौ वर्ष तथा जब तक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे तब तक ब्रह्मचर्य रक्खे।" (स० प्र०, समु० ४)

समावर्तन कब करे—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥ २॥ (२)

(**अविप्लुत-ब्रह्मचर्यः**) अखण्डित अर्थात् विधि एवं सत्यनिष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम का पालन किया हुआ

योऽध्याय:

लन'-समीक्षा सहित)

पञ्चयज्ञविधान-विषय)

१ से ३.३ तक)

ब्रह्मचारी (**वेदान्**) उक्त तीन वेदों [३.१; १.२३; १२.११२] (**वा**) अथवा (**वेदौ**) उनमें से किन्हीं दो वेदों को (**वा**) अथवा (**वेदम् अपि**) किसी एक वेद को, (**यथाक्रमम् अधीत्य**) अध्ययनक्रम पूर्वक अर्थात् वेदांग, शाखाग्रन्थों सहित पढ़कर उसके बाद (**गृहस्थाश्रमम्+आवसेत्**) गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे॥ २॥

ऋषि-अर्थ—''ब्रह्मचर्य से चार, तीन, दो अथवा एक वेद को यथावत् पढ़, अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहाश्रम को धारण करे।'' (सं०वि०, विवाहप्रकरण)(अन्यत्र व्याख्यात सं०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—(१) **समावर्तन से अभिप्राय**—गुरु के समीप रहकर, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वेदों एवं वेदाङ्गशास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करने के बाद स्नातक बनकर गुरुकुल से घर वापिस लौटने का नाम 'समावर्तन' है। यह प्रधानतया गृहस्थ धारण के उद्देश्य से किया जाता है। 'सम्' और 'आ' उपसर्गपूर्वक 'वृत्-वर्तने' (भ्वादि) धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से समावर्तन शब्द निष्पन्न होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है—'वापिस लौटना'। यह एक संस्कार है, जिसको 'स्नान' भी कहा जाता है। इसी कारण समावर्तन करने वाले को 'स्नातक' कहा जाता है। स्नातक तीन प्रकार के होते हैं—''**त्रय एव स्नातका भवन्ति। विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति।**''

(पार०गृह्यसूत्र २.५.३२॥)

अर्थात्—स्नातक (=गुरुकुल से शिक्षा प्राप्त करके घर लौटने वाले शिक्षित व्यक्ति) तीन प्रकार के होते हैं—

१. विद्यास्नातक=जो विद्या को समाप्त करके किन्तु ब्रह्मचर्यव्रत को पूर्ण न करके समावर्तन करते हैं, २. व्रतस्नातक=जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त करके किन्तु विद्या को पूर्ण किये बिना स्नातक बनते हैं, ३. विद्याव्रतस्नातक= जो विद्या तथा ब्रह्मचर्य व्रत दोनों को पूर्ण करके स्नातक बनते हैं।

(२) **समावर्तन का काल और उसके आवश्यक नियम**—उपर्युक्त ३.१-२ श्लोकों में मनु ने समावर्तन के काल और उसके लिए आवश्यक नियमों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार समावर्तन के लिए प्रमुख दो नियम हैं—

(क) तीन वेदों के अध्ययन-काल में ३६, १८ और ९ वर्षों की तीन अवधियां निर्धारित की हैं। इस प्रकार प्रत्येक छात्र-छात्रा के लिए कम से कम नौ वर्ष तक गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना अनिवार्य है। [३.१, २]

(ख) इसके साथ-साथ यह भी अनिवार्य है कि द्विज छात्र-छात्रा कम से कम एक वेद का साङ्गोपांग अध्ययन अवश्य करे। उससे अधिक दो, तीन वेदों का अध्ययन करना उसकी इच्छा पर निर्भर है [३.२]।

इन दोनों नियमों को पूर्ण करके ही द्विज के लिए स्नातक बनकर गृहाश्रम को धारण करने का विधान है, अन्यथा नहीं। इन तथा मनु के अन्य वचनों के अनुसार समावर्तन का काल पुरुषों के लिए कम से कम २५ वर्ष के अनन्तर निर्धारित होता है और कन्याओं के लिए यह अवधि कम-से-कम १६ वर्ष है। इसे दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

(ग) उपनयन संस्कार में [२.११-१३ (२.३६-३८)] मनु ने उपनयन काल में कई-कई विकल्पात्मक विधान दिये हैं। सामान्य अवस्था में सबसे कम आयु ८ वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन होता है। ९ वर्ष कम से कम एक वेद के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन का काल है। वेद के अध्ययन से पूर्व उन्हें समझने के लिए प्रारम्भिक शिक्षा एवं सामान्य वेदाङ्गों [=शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष (छह)] का गम्भीर ज्ञान भी आवश्यक है [२.११५ (२.१४०)]। इसमें वर्णोच्चारण शिक्षा से

लेकर दर्शन-उपनिषदों तक ७-८ वर्ष का समय लगता है। इस प्रकार ८+८+९=२५ वर्षों का कम से कम प्रारम्भिक वेद का पूर्ण शिक्षाकाल बनता है।

(ख) मनु ने २५ वर्ष तक गुरुकुल-निवास का विधान किया है उसके पश्चात् गृहस्थ में जाने का कथन है—''**चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः। द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥**'' (४.१) यह आयु का पहला भाग २५ वर्ष तक का समय है। तब तक विद्यार्थी गुरुकुलवास करे। पुनः समावर्तन कर गृहस्थ बने। [इस विषय में विस्तृत विवेचन ३.४ की समीक्षा में पढ़िये]। इस प्रकार प्रत्येक अवस्था में कम से कम पुरुष छात्रों के लिए २५ वर्ष तक अध्ययन काल अवश्य होता है। उसके पश्चात् ही समावर्तन करना मनुसम्मत है।

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्त्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा॥ ३॥ (३)

[गृहस्थाश्रम में जाने के इच्छुक ब्रह्मचारी का समावर्तन संस्कार इस प्रकार करे—] (**पितुः ब्रह्मदायहरम्**) पिता रूप गुरु के वेद और विद्यारूपी दायभाग को ग्रहण करने वाले ['ब्रह्मदः पिता' २.१४६] (**स्वधर्मेण प्रतीतं तम्**) अपने ब्रह्मचर्यव्रत और विद्या-अध्ययन रूप धर्म से प्रसिद्ध अर्थात् उसको पूर्ण कर चुके उस ब्रह्मचारी को (**स्त्रग्विणम्**) माला धारण किये हुए और (**तल्पे+आसीनम्**) आसन पर बैठे हुए को अर्थात् उसके गले में माला पहनाकर और आसन पर बैठाकर पिता व आचार्य (**प्रथमं गवा**) पहले गवा=गौ से प्राप्त पदार्थों से निर्मित मधुपर्क [=गोदुग्ध, दही और शहद के मेल से बना मिष्ट पदार्थ] को चटाकर (**अर्हयेत्**) उस ब्रह्मचारी को सत्कार करके उस गृहस्थ में जाने का अधिकार प्रदान करे, अर्थात् अनुमति प्रदान करे॥ ३॥

ऋषि अर्थ—''जो स्वधर्म अर्थात् आचार्य और शिष्य का धर्म है उससे युक्त पिता=जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण और माला का धारण करने वाले, अपने पलंग में बैठे

हुए आचार्य को प्रथम गोदान से सत्कृत करे। वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थी को भी कन्या का पिता गोदान से सत्कृत करे।'' (स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—'स्रग्वी' शब्द 'गृहस्थ' के लिए रूढ है और इसका मुहावरे के रूप में प्रयोग होता है। देखिए २.१४२ पर विस्तृत विवेचन।

(विवाह-विषय ३.४ से ३.६६ तक)

गुरु की आज्ञा से विवाह—

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥ ४॥

(४)

इस प्रकार (**गुरुणा+अनुमतः द्विजः**) गुरु से अनुमति प्राप्त द्विज स्नातक (**यथाविधि स्नात्वा**) निर्धारित विधि के अनुसार ब्रह्मचर्य पूर्ण होने का प्रतीक समावर्तन संस्कार कराके (**समावृत्तः**) घर लौटकर (**सवर्णां लक्षण+अन्विताम् भार्यां उद्वहेत**) अपने वर्ण की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर सवर्णा बनी, उत्तम गुणों से युक्त भार्या='भरण-पोषण की जा सकने योग्य एक ही स्त्री' से विवाह करे॥ ४॥

ऋषि अर्थ—''यथावत् उत्तम रीति से ब्रह्मचर्य और विद्या को ग्रहण कर, गुरु की आज्ञा से स्नान करके, द्विज ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, अपने वर्ण की उत्तम लक्षण युक्त कन्या से विवाह करे।'' (सं०वि०, विवाहप्रकरण),(अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—(१) **विवाह से अभिप्राय**—'वि' उपसर्ग पूर्वक 'वह-प्रापणे, धातु से 'घञ्' प्रत्यय के योग से विवाह और 'उत्' उपसर्ग से इसका पर्यायवाची 'उद्वाह' शब्द बनता है। जिनका अर्थ है—'विशेष विधि पूर्वक एक-दूसरे को प्राप्त करके पारस्परिक दायित्व को वहन करना।' यह एक शास्त्रसम्मत सामाजिक विधान है। इसमें स्त्री-पुरुष सुख-सुविधा हेतु और गृहस्थ के कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए दम्पती के रूप में एक-दूसरे के साथ रहने का निश्चय करते हैं और पारस्परिक दायित्वों को निभाते हैं। इस प्रकार रहकर सन्तानोत्पत्ति

के द्वारा मानव वंश की अभिवृद्धि करते हैं। इसको मनुस्मृति में 'पाणिग्रहण' संस्कार भी कहा गया है। इसका भी यही अभिप्राय है कि उपर्युक्त उद्देश्यों के लिए एक-दूसरे का हाथ पकड़ना अर्थात् सहारा देना।

एक ही पत्नी हो—श्लोक में पठित एकवचनान्त 'सवर्णा' प्रयोग से बोध होता है कि कन्या प्राथमिकता से अपने वर्ण की हो और एक ही पत्नी हो। यही कथन ७.७७ में है। पुरुष की तरह कन्या भी वर्ण विशेष की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करके ही 'सवर्णा' बनती है, जन्म मात्र से नहीं। सामान्यता गुणसाम्य से कन्या किसी भी कुल से ग्रहण की जा सकती है [२.२१३-२१५]

(२) **मनुस्मृति में स्त्री-पुरुषों के विवाह की आयु**—अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण मनु ने यहाँ विवाह की आयु का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु अन्यत्र इसका स्पष्ट उल्लेख है। वेदों में तथा अन्य शास्त्रों में मनुष्य की औसत आयु एक सौ वर्ष मानी गई है। इसी आधार पर वेदों में सौ और सौ वर्षों से अधिक स्वस्थेन्द्रियों से युक्त जीवन-प्राप्ति की प्रार्थना की गयी है—'**तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतम् अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥**' [यजु० ३६.२४]

(क) इस औसत आयु के आधार पर मनु ने मनुष्य-जीवन को निम्न चार अवस्थाओं में विभाजित करके उसकी अवधि निर्धारित की है—

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥ (४.१)
वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत्॥ (६.३३)

सौ वर्ष की आयु के इस प्रकार २५-२५ वर्ष के चार भाग होते हैं। आयु के प्रथमभाग में अर्थात् २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपालन करना चाहिए। द्वितीय भाग में अर्थात् २५ के पश्चात् गृहस्थ बनकर रहे। पुत्र का पुत्र होने पर अथवा त्वचा, केश पक जाने पर [६.२] गृहस्थ से वानप्रस्थ बनकर, तृतीय भाग में अर्थात् ७५ वर्ष तक वनस्थ रहे। उसके पश्चात् चतुर्थ भाग में संन्यासी बन जाये। इन विधानों से मनु ने यह स्पष्ट संकेत दिया है कि पुरुष की

विवाह की आयु कम से कम २५ वर्ष है। उससे पूर्व विवाह नहीं होना चाहिए।

(ख) **स्त्री के विवाह की आयु**—इसका संकेत मनु ने ९.९० श्लोक में दिया है—''**त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती। ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्।**''

अर्थात्— मासिक धर्म प्रारम्भ होने के पश्चात् तीन वर्ष पर्यन्त प्रतीक्षा करने के उपरान्त कन्या स्वयंवर विवाह कर सकती है।

कन्याओं को मासिक धर्म सामान्यतः १३-१५ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होता है। तीन वर्ष के अनन्तर यह काल १६-१८ की आयु का होता है। अतः कन्या के विवाह की कम से कम आयु १६ वर्ष है। २५ वर्ष का पुरुष १६ वर्ष की कन्या से विवाह करे। इससे अधिक आयु में इतने ही अनुपात से विवाह होना चाहिए। क्योंकि प्रजनन सामर्थ्य एवं शरीर-रचना की दृष्टि से १६ वर्ष की कन्या २५ वर्ष के पुरुष के तुल्य होती है।

(ग) मनु ने विवाहोपरान्त स्त्री के कर्त्तव्यों का जो वर्णन किया है, जैसे—गृहकार्यों में दक्ष होना, घर की साज-सज्जा, शुद्धि आदि में चतुर होना, आय-व्यय की सम्भाल रखना [५.१५०], गृह-स्वामिनी होना, सभी वस्तुओं की संभाल, धार्मिक अनुष्ठानों का संयोजन [९.११, २६-२८, ९६, १०१]। इनसे भी यह ज्ञात होता है कि ये किसी अल्पायु के लिए नहीं अपितु समझदार युवती के लिए विहित कर्त्तव्य हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि कन्या की विवाह योग्य आयु १६-१७ वर्ष से ऊपर ही है।

(३) **आयुर्वेद के अनुसार विवाह की आयु**—इस विषय में शरीर विज्ञान के प्रमाण सर्वोत्तम होते हैं, क्योंकि उनमें शरीर के आधार पर उचित-अनुचित का विवेचन होता है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुश्रुत' में शरीर की वृद्धि और क्षीणता के आधार पर चार अवस्थाएं प्रदर्शित की हैं, और तदनुसार विवाह की आयु निर्धारित की है—

''**चतस्रो अवस्थाः शरीरस्य वृद्धिः, यौवनम्, सम्पूर्णता, किंचित् परिहाणिः चेति। आषोडशात् वृद्धिः, आपञ्चविंशतेः यौवनम्, आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता, ततः**

किञ्चित् परिहाणिः चेति।'' [सुश्रुत सूत्रस्थान ३५.२५ ॥]

शरीर की चार अवस्थाएँ हैं, सोलहवें वर्ष से चौबीस तक वृद्धि=बढ़ोतरी की अवस्था, पच्चीसवें वर्ष से यौवन का प्रारम्भ होता है और चालीसवें में यौवन की परिपक्वता होती है। उसके पश्चात् शरीर की धातुओं में कुछ-कुछ क्षीणता आने लगती है।

यह युवावस्था ही विवाह की अवस्था होती है। इससे पूर्व शरीर की धातुओं में अपरिपक्वता होती है। बाल-विवाह से, जहाँ शरीर की धातुओं का विकास रुक जाता है, वहाँ गर्भ और सन्तान सम्बन्धी अनेक आशंकाएँ हो जाती हैं; जैसे—गर्भ का न रहना, गर्भस्राव, गर्भपात, दुर्बल सन्तान का जन्म, जन्म के समय मृत्यु, सन्तान का अस्वस्थ रहना आदि। इसी कारण सुश्रुतकार ने २५ वर्ष से पूर्व पुरुष का, १६ वर्ष से पूर्व कन्या के विवाह का निषेध किया है। कुशल वैद्य २५ वर्ष के पुरुष और १६ वर्ष की कन्या को प्रजनन में समसामर्थ्य वाला बताते हैं। निम्न प्रमाणों में ये मान्यताएँ द्रष्टव्य हैं—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥

(सुश्रुत सूत्र० ३५.१०)

ऊनषोडश वर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥
जातो वा न चिरं जीवेत् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥

(सुश्रुत शरीर० १०.४७-४८)

(४) **वेद में विवाह की आयु**—वेद में ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर चुकी कन्या द्वारा युवक पुरुष को वरण करने का कथन है। उपर्युक्त प्रमाणों में युवावस्था २५ वर्ष के अनन्तर बतलाई गयी है। इस प्रकार वेदों में भी २५ वर्ष के अनन्तर ही विवाह की आयु मानी गयी है। मन्त्र है—''**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥**'' (अथर्व० ११.५.५) अर्थात्—''जैसे लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण जवान होके अपने सदृश कन्या से विवाह करें, वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ युवति हो, अपने तुल्य पूर्ण युवावस्था वाले पति को प्राप्त होवे ॥'' (सं०वि० वेदारम्भप्रकरण)

विवाह-योग्य कन्या चारों वर्णों के लिए—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥ ५ ॥(५)

(**या मातुः असपिण्डा**) जो कन्या, वर की माता से लेकर उसकी पिछली छह पीढ़ियों के अन्दर न हो (**च**) और (**या पितुः असगोत्रा**) जो वर के पिता के गोत्र की न हो (**सा**) वह कन्या (**द्विजातीनां दार-कर्माणि**) द्विज=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जनों के और चारों वर्णों के विवाह-विधान में पठित होने से [३.२०] शूद्र वर्ण के जनों के विवाह कर्म में भी पत्नी बनाने के लिए तथा (**मैथुने**) रतिकर्म और सन्तानोत्पत्ति के लिए (**प्रशस्ता**) अति उत्तम मानी गयी है॥ ५ ॥

ऋषि अर्थ—''जो स्त्री माता की छह पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो, वही द्विजों के लिए विवाह करने में उत्तम है।'' (सं०वि०, विवाहप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—मनुस्मृति चारों वर्णों के लिए—यहाँ मुख्यतः द्विजों के लिए विधान है, किन्तु विवाह में चारों वर्णों का उल्लेख है [४.२०], अतः उक्त नियम शूद्र वर्ण के लिए भी लागू होगा। ''**स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि**'' [२.२३८, २४०] विवाह का नियम शारीरिक अवस्था पर निर्भर है और विधान से स्पष्ट है कि उत्तम शूद्रा स्त्री से भी द्विजों का विवाह होता था। मनु के अनुसार शूद्र आर्य भी हैं और सवर्ण भी हैं [१०.४, ५७], अतः विवाह के नियम शूद्रों द्वारा भी पालनीय हैं।

विवाह के त्याज्य कुल—

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्॥ ६ ॥
(६)

(**गो+अजा+अवि+धन+धान्यतः समृद्धानि**) गाय, बकरी, भेड़, धन, अन्न आदि से सम्पन्न और (**महान्ति+अपि**) बड़े से बड़े भी हों तो भी (**एतानि दश कुलानि**) आगे के श्लोक में वर्णित दश कुलों को (**स्त्रीसम्बन्धे परिवर्जयेत्**) विवाह का सम्बन्ध करते

समय दोनों ओर से छोड़ देवे॥ ६॥

ऋषि अर्थ—''विवाह में नीचे लिखे हुए दश कुल, चाहे वे गाय आदि पशु-धन और धान्य से कितने ही बड़े हों, उन कुलों की कन्याओं के साथ विवाह न करें।'' (सं०वि०, विवाहप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च॥ ७॥
(७)

[वे दश कुल हैं—] (**हीनक्रियम्**) १. जिस कुल में हीन कर्म=शास्त्रविरुद्ध कर्म किये जाते हैं, (**निष्पुरुषम्**) २. उत्तम पुरुषों से रहित (**निश्छन्दः**) ३. वेदादि के अध्ययन से रहित, (**रोमश+अर्शसम्**) ४. शरीर पर बड़े-बड़े लोम हों, ५. असाध्य बवासीर का रोग वंशागत हो, (**क्षयी+आमयावी+अपस्मारि +श्वित्रि-कुष्ठि-कुलानि**) ६-९. असाध्य क्षयरोग, मन्दाग्नि, मृगी, श्वेतकुष्ठ और १०. गलित कुष्ठ ये रोग जिस कुल में आनुवंशिक हों उस कन्याकुल को (**च**) और वर कुल को छोड़ देवे॥ ७॥

ऋषि अर्थ—''वे दश कुल ये हैं—एक—जिस कुल में उत्तम क्रिया न हो, दूसरा—जिस कुल में कोई भी उत्तम पुरुष न हो, तीसरा—जिस कुल में कोई विद्वान् न हो, चौथा—जिस कुल में शरीर के ऊपर बड़े-बड़े लोम हों, पाँचवां—जिस कुल में बवासीर हो, छठा—जिस कुल में क्षयी (राजयक्ष्मा) रोग हो, सातवाँ—जिस कुल में अग्निमन्दता से आमाशय रोग हो, आठवाँ—जिस कुल में मृगी रोग हो, नववां—जिस कुल में श्वेतकुष्ठ हो और दशवां—जिस कुल में गलित कुष्ठ आदि रोग हों, उन कुलों की कन्या अथवा उन कुलों के पुरुषों से विवाह कभी न करे।'' (सं०वि०, विवाहप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

विवाह में अप्रशस्त कन्याएँ—

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम्॥ ८॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥ ९॥
(८, ९)

(**न कपिलां कन्याम्**) किसी रोग के कारण जो अत्यधिक भूरे रंग की अर्थात् श्वेतकुष्ठ के समान वर्णवाली न हो, (**न+अधिक+ अंगीम्**) न अधिक अंगों वाली=पुरुष की तुलना में असन्तुलित विशाल शरीर वाली, (**न रोगिणीम्**) न सदा रोगी रहने वाली, (**न+अलोमिकाम्**) न नितान्त रोमरहित, (**न+ अतिलोमाम्**) न शरीर पर बड़े-बड़े रोम वाली, (**न वाचाटाम्**) न अनाप-शनाप या अमर्यादित बोलने वाली (**न पिङ्गलाम्**) किसी रोग के कारण न पीले रंग वाली (**कन्याम्**) कन्या को विवाह के लिए स्वीकार करें॥ ८॥[१] (**न ऋक्ष+वृक्ष-नदी-नाम्नीम्**) न नक्षत्र, वृक्ष, नदी नामवाली (**न+अन्त्य-पर्वत-नामिकाम्**) न म्लेच्छ-भाषा के और न पर्वतवाची नाम वाली, (**न पक्षी+अहि-प्रेष्य-नाम्नीम्**) न पक्षी, सांप, अधीन-वाचक के नाम वाली, (**च**) और (**न भीषण-नामिकाम्**) न भयंकर नामवाली कन्या से विवाह करे, ये विवाह में अप्रशस्त=अप्रशंसनीय हैं॥ ९॥

ऋषि अर्थ—''पीले वर्ण वाली, अधिक अङ्गवाली जैसी छंगुली आदि, रोगवती, जिसके शरीर पर कुछ भी लोम न हों और जिसके शरीर पर बड़े-बड़े लोम हों, व्यर्थ अधिक बोलने वाली, जिसके पीले बिल्ली के सदृश नेत्र हों तथा जिस कन्या का ऋक्ष=नक्षत्र पर नाम अर्थात् रेवती, रोहिणी इत्यादि, वृक्ष—चम्पा चमेली आदि, नदी=जिसका गंगा, यमुना इत्यादि, अन्त्य—चाण्डाली आदि, पर्वत—जिसका

---

१. **प्रचलित अर्थ**—कपिल (भूरे) वर्णवाली, अधिक (या कम) अङ्गों वाली (यथा—छह अंगुलियों वाली या चार या तीन अंगुलियों वाली आदि), नित्य रोगिणी रहने वाली, बिल्कुल रोम से रहित या बहुत अधिक रोम वाली, अधिक बोलने वाली और भूरी-भूरी आंखों वाली कन्या से विवाह न करे॥ ८॥

विन्ध्याचला इत्यादि; पक्षी अर्थात् कोकिला, हंसा इत्यादि; अहि अर्थात् उरगा, भोगिनी इत्यादि; प्रेष्य=दासी इत्यादि और जिस कन्या का (भीषण) कालिका, चंडिका इत्यादि नाम हो, उससे विवाह न करे।'' (सं०वि०, विवाहप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—विवाह में निषिद्ध कन्याएँ—विवाह में निषिद्ध कन्याएँ एक वे हैं जो स्वास्थ्य की दृष्टि से असामान्य, शरीर की दृष्टि से अनमेल तथा स्वभाव की दृष्टि से असह्य हैं। उनका परिवार व सन्तान पर स्थायी या आनुवंशिक प्रभाव होता है, अतः वे त्याज्य हैं। दूसरी नाम के आधार पर त्याज्य कही हैं। यह निषेध इस कारण है कि श्लोक में वर्णित प्रकार के नामकरण शास्त्रविरुद्ध हैं। २.३३ व ३.१० में मनु ने स्त्रियों के नामकरण का विधान करते हुए कहा है कि उनका नाम सुखपूर्वक उच्चारण किया जा सकने वाला, कोमल-मधुर, स्पष्टार्थक, मनोहर और मंगलभावबोधक होना चाहिए। ऐसे नामों वाली कन्याओं से विवाह का निषेध विधि की रक्षा के लिए है। यह स्थायी लक्षण नहीं है, अतः यदि उनसे विवाह करना भी चाहें तो पहले नाम परिवर्तन कर लें। यही भाव अग्रिम श्लोक में है। विवाह के समय नाम का परिवर्तन आज भी कुछ वर्गों में होता है।

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम्॥ १०॥

(१०)

(**अव्यङ्ग+अङ्गीम्**) दोषरहित अंगों वाली अर्थात् जो गूंगी, बहरी, लूली, लंगड़ी आदि विकलांग न हो, (**सौम्यनाम्नीम्**) कोमल-मधुर नाम वाली [२.३३] (**हंस-वारण-गामिनीम्**) हंसिनी और हथिनी के समान सभ्य चाल वाली (**तनुलोम-केश-दशनाम्**) अल्प रोम, कोमल केश और छोटे दांतों वाली (**मृदु+अङ्गीम्**) कोमल अंगों वाली (**स्त्रियम् उदवहेत्**) कन्या से विवाह करना चाहिए। ऐसी कन्या से विवाह प्रशस्त=प्रशंसनीय है॥ १०॥

ऋषि अर्थ—"जिसके सरल-सूधे अंग हों, विरुद्ध न हों; जिसका नाम सुन्दर अर्थात् यशोदा, सुखदा आदि हो, हंस और हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो, सूक्ष्म लोम, केश और दांत युक्त और जिसके सब अंग कोमल हों, वैसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिये।" (स०प्र०, समु० ४) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, गृहाश्रम०)

आठ प्रकार के प्रचलित विवाह और उनकी विधि—

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान्।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत॥ २०॥
(११)

(**चतुर्णाम्+अपि वर्णानाम्**) चारों वर्णों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का (**प्रेत्य च+इह हित +अहितान्**) परलोक में और इस लोक में हित करने वाले [३.३९-४०] और अहित करने वाले [३.४१-४२] (**इमान् अष्टौ स्त्रीविवाहान्**) इन आगे वर्णित स्त्रियों के साथ सम्पन्न होनेवाले आठ प्रकार के विवाहों को (**समासेन**) संक्षेप से (**निबोधत**) जानो, सुनो॥ २०॥

अनुशीलन—आठ विवाह और मनु की मान्यता—इस विषय-संकेतक श्लोक में मनु ने स्त्री-पुरुषों के दाम्पत्य सम्बन्ध में चारों वर्णों के लिए विशेष प्रक्रिया और योग्यतानुसार (जिस व्यक्ति पर जो लागू हो सकती है) आठ विवाह विधियों का उल्लेख किया है। यद्यपि वर्णों के लिए हितकारी (३.२०), उत्तम और धर्मानुकूल मानते हैं। शेष चारों—आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच को निन्दित, अहितकारी (३.२०), और अधर्मानुकूल मानते हुए उन्हें 'दुर्विवाह' की संज्ञा से अभिहित करते हैं (३.३९-४२)। निन्दित विवाहों को अपनाने वाले व्यक्ति और उनकी प्रजा भी निन्द्य होती है, अतः वे चारों वर्णों के लिए निषिद्ध हैं (३.४२)।

दहेज नहीं, दान है—इसी प्रकार आर्ष विवाह में प्रचलित 'गोयुगल' देने की प्रथा को भी मनु अमान्य घोषित करते है। मनु बिना कुछ ले-देकर आर्ष विवाह करना ही धर्मानुकूल मानते है [३.५३-५४ और द्रष्टव्य ३.२९ की समीक्षा भी]। पाठक वैदिक विवाह-परम्परा

में उल्लिखित 'कन्यादान' शब्द पर विशेष ध्यान दें। वैदिक परम्परा में कन्या का विवाहार्थ दान किया जाता है, लेन-देन नहीं। दान में लेन-देन नहीं हुआ करता। अतः जहाँ दहेज का लेन-देन होता है वह वैदिक विवाह नहीं है। ऐसा ही मनु का मत है।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ २१॥
(१२)

वे आठ विवाह हैं—(**ब्राह्मः**) ब्राह्मविवाह, (**दैवः**) दैव (**तथैव-आर्षः**) तथा आर्ष (**प्राजा-पत्यः**) प्राजापत्य (**तथा**) और (**आसुरः गान्धर्वः राक्षसः च अष्टमः+अधमः+पैशाचः**) आसुर, गान्धर्व, राक्षस और आठवां सबसे निकृष्ट पैशाच है॥ २१॥

ब्राह्म अर्थात् स्वयंवर विवाह का लक्षण—

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥ २७॥
(१३)

(**श्रुति-शीलवते**) वेदों के विद्वान् और उत्तम स्वभाव के सदाचारी वर को (**स्वयम् आहूय**) कन्या की सहमति से विवाह के लिए अपने यहाँ निमन्त्रित करके, माता-पिता द्वारा (**आच्छाद्य च अर्चयित्वा**) कन्या को वस्त्र-आभूषण आदि से अलंकृत करके सत्कारपूर्वक [द्रष्टव्य ३.२८, ५५, ५९] (**कन्याया दानम्**) विवाह संस्कार पूर्वक कन्या प्रदान करना, (**ब्राह्मः धर्मः प्रकीर्तितः**) 'ब्राह्म विवाह' की विधि कही गयी है॥ २७॥

ऋषि अर्थ—''कन्या के योग्य सुशील, विद्वान् पुरुष का सत्कार करके, कन्या को वस्त्र आदि से अलंकृत करके, उत्तम पुरुष को बुला अर्थात् जिसको कन्या ने प्रसन्न भी किया हो, उसको कन्या देना, वह 'ब्राह्म विवाह' कहाता है।'' (सं०वि०, विवाहप्रकरण)

अनुशीलन—(१) **ब्राह्म-विवाह का लक्षण एवं विवेचन**—विद्वान् एवं श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव के वर को, जिसको कन्या ने स्वयं वरण कर प्रसन्न किया हो, आदर-

पूर्वक बुलाकर कन्या को वस्त्र आदि से अलंकृत कर, दोनों के आदर-सत्कारपूर्वक कन्या प्रदान करना 'ब्राह्म-विवाह' है। इस विवाह में कोई लेन-देन नहीं होता। **'स्वयम् आहूय'** पदों से यह व्यंजित है कि कन्या द्वारा वर का चुनाव किया जाता है। सामान्यत: इसमें माता-पिता की भी सहमति होती है [किन्तु स्वयंवर में यह अनिवार्य नहीं है ९.९०--९१]। इसमें कन्या की इच्छा प्रमुख होती है। यह विवाहों में सबसे उत्तम विधि है। वेदों में पारंगत विद्वानों द्वारा अनुमोदित, सम्मत या उनके आचरणानुरूप होने से इसका नाम 'ब्राह्म' है।

(२) **ब्राह्म-विवाह ही स्वयंवर विवाह**—कन्या द्वारा ''स्वयम् आहूय''=स्वयं पसन्द और प्रसन्न करके विवाहार्थ बुलाने के कारण ब्राह्म-विवाह ही स्वयं वर विवाह है। प्राचीन साहित्य में स्वयंवर चुनने की प्रथा थी और इसको सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया है। विवाहों में यही सर्वश्रेष्ठ है। ९.९०-९१ में भी मनु ने कन्या को इसी स्वयंवर विवाह को करने का निर्देश दिया है—**'विन्देत सदृशं पतिम्'**=अपने सदृश योग्य पति का वरण करे।

दैवविवाह का लक्षण—

यज्ञे तु वितते सम्यग्-ऋत्विजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते॥ २८॥(१४)

(**यज्ञे तु वितते**) विवाह के उपलक्ष्य में बृहद् यज्ञ-समारोह का आयोजन कर उसमें (**सम्यक् कर्म कुर्वते**) विधिपूर्वक यज्ञसम्बन्धी कर्म करने वाले (**ऋत्विजे**) यज्ञकर्त्ता वर को अर्थात् बृहद् यज्ञानुष्ठान में यज्ञविधि में भाग लेने वाले वर को, (**अलंकृत्य**) कन्या को वस्त्र-आभूषणों से सुशोभित करके [३.५५.५९] माता-पिता द्वारा (**सुतादानम्**) विवाह संस्कार पूर्वक कन्या दान करना, (**दैवं धर्मं प्रचक्षते**) 'दैव विवाह' की विधि कही गयी है॥ २८॥[१]

---

१. **प्रचलित अर्थ**—ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ में विधिपूर्वक कर्म करते हुए ऋत्विक् के लिए (वस्त्रालङ्कार आदि से) अलंकृत कन्या का दान करने को धर्मयुक्त 'दैव-विवाह' कहते हैं॥ २८॥

ऋषि अर्थ—''विस्तृत यज्ञ में बड़े-बड़े विद्वानों का वरण कर, उसमें कर्म करने वाले विद्वान् को, वस्त्र-आभूषण आदि से कन्या को सुशोभित करके देना, वह 'दैवविवाह' है।'' (सं०वि०, विवाहप्रकरण)

अनुशीलन—(१) **दैव विवाह के लक्षण का स्पष्टीकरण**—श्लोकोक्त वचनों से अभिप्राय स्पष्ट हुआ कि 'विवाह के उद्देश्य से आयोजित यज्ञ में विवाह के उद्देश्य से सम्मिलित होकर, यज्ञिय क्रियाओं को सम्पन्न करने वाले विद्वान् व्यक्ति का वरण कर (या पूर्व वरण किये हुए और आकर यज्ञकर्म सम्पादित करते हुए विद्वान् को) वस्त्र, आभूषणों आदि से अलंकृत कर कन्या प्रदान करना 'दैव विवाह' है।

(२) **देव किनको कहते हैं?**—देव, सात्त्विक प्रवृत्ति के [१२.४०] विद्वानों को कहते हैं [द्रष्टव्य २.१२७ (२.१५२) श्लोक और ३.८२ पर 'देव' शीर्षक समीक्षा], और अनुष्ठान करना और उसमें यज्ञ कर्म करने वाले विद्वान् व्यक्ति को कन्यादान करना, ये दोनों बातें 'दैव' इस संज्ञा के अनुरूप ही हैं। यह विधि देवों=विद्वानों के कर्मानुरूप और सम्मत है, अत: इसका नाम 'दैव विवाह' है।

(३) **ऋत्विक् का प्रसंगानुकूल अर्थ**—ऋत्विक् शब्द यद्यपि 'यज्ञ करने वाले ब्राह्मण विद्वान्' के लिए अधिक प्रसिद्ध है, किन्तु यहाँ प्रसंगविशेष से इस शब्द का विशेष अर्थ है। निरुक्त में ऋत्विक् की एक व्युत्पत्ति यह भी दी है—'**ऋतुयाजी भवतीति वा**' [निरु० ३.४.१९]। **ऋतौ=कालविशेषे, अवसरविशेषेयाजी=यजनशील: याजनशीलो वा।** ऋतु शब्द के 'कालविशेष' और 'उद्देश्यविशेष' अर्थ भी हैं। अवसर-विशेष या उद्देश्यविशेष के लिए यजन करने वाला भी ऋत्विक् कहलाता है। इस प्रकार विवाह प्रसंग में 'ऋत्विक्' शब्द का अर्थ हुआ—'विवाह के उद्देश्य से आयोजित यज्ञ में, विवाह के उद्देश्य से यजन करने वाला अर्थात् यज्ञिय क्रियाओं को सम्पादित करने वाला विद्वान् द्विज, जिसका विवाहार्थ वरण किया जाता है।' विवाह-यज्ञ में 'वर' ही प्रमुख रूप से यज्ञिय क्रियाओं को सम्पन्न करता है। प्राय: सभी क्रियाएँ वर पर केन्द्रित होती हैं।

प्रचलित टीकाओं में ऋत्विक् शब्द का प्रसिद्धार्थ 'यज्ञ करानेवाला ब्राह्मण विद्वान्' ग्रहण करके 'ऋत्विज्' को ही कन्यादान करना दैवविवाह बतलाया गया है। यह अर्थ मनुवचन से विरुद्ध है और प्रसंगानुकूल नहीं है। यतो हि, (क) मनु ने ये सभी विवाह-विधियां चारों वर्णों के लिए विहित की हैं [३.२०]। उनमें प्रथम चार सभी के लिए उत्कृष्ट हैं और अन्तिम चार सभी के लिए निन्द्य हैं [३.३९-४२], (ख) आठ विवाहों में किसी भी विवाह का किसी वर्णविशेष के लिए निर्धारण नहीं है अपितु योग्यता और प्रक्रियानुसार है। दैवविवाह को केवल 'ऋत्विक्' के लिए मानना उसके उद्देश्य को सीमित करना है, जो मनुसम्मत नहीं। अन्य विवाह-विधियाँ जब सभी वर्णों के लिए हैं, तो दैव विवाह केवल ऋत्विक् व्यक्तियों के लिए वर्णित हो, यह बात प्रसंगानुकूल नहीं है। इससे 'ऋत्विक्' शब्द के उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

आर्षविवाह का लक्षण—

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥ २९॥
(१५)

जो (**वरात्**) वर से (**धर्मतः**) विधि-अनुसार (**एकं गोमिथुनं वा द्वे**) एक गाय-बैल का जोड़ा अथवा दो जोड़े (**आदाय**) लेकर (**विधिवत् कन्या प्रदानम्**) विधि अनुसार अर्थात् विवाह संस्कार-यज्ञादिपूर्वक कन्या को प्रदान करना है (**सः**) वह (**आर्षः धर्मः उच्यते**) 'आर्षविवाह' कहलाता है॥ २९॥

ऋषि अर्थ—"एक गाय बैल का जोड़ा अथवा दो जोड़े वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना वह आर्ष विवाह है।" (सं०वि०, विवाहप्रकरण)

अनुशीलन—(१) **आर्षविवाह का विवेचन**—आर्ष विवाह में कुछ लोगों के मत में 'वर से एक गौ का जोड़ा लेकर कन्या प्रदान करने' का कथन है, जैसा कि इस श्लोक में है। मनु ने इस विचार का ३.५३-५४ में तीव्र शब्दों में निषेध किया है और विवाह में धन लेने वाले को '**अपत्यविक्रयी**'=सन्तान को बेचने वाला कहा है।

इस श्लोक में गोयुगल का विधान होने और ३.५३ में उसका निषेध होने से व्याख्याकारों ने यह जिज्ञासा और आपत्ति प्रकट की है कि फिर आर्षविवाह का लक्षण क्या है। कुल्लूकभट्ट ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि 'इस श्लोक में 'धर्मतः' पद पठित है, जिसका अभिप्राय है कि विवाह में दान देने के धर्म का पालन करने के लिए गोयुगल ले लेना चाहिए, लालचवश नहीं। मनु ने अग्रिम ३.५१-५४ श्लोकों में लालचवश शुल्क लेने का निषेध किया है, धर्मविधि को पूरा करने के लिए विहित वस्तु को लेने का नहीं।' यह समाधान बुद्धिसंगत और मनुसम्मत सिद्ध नहीं होता। मनु कहता है कि थोड़ा या बहुत, कैसा भी लेन-देन 'सन्तान को बेचने' के समान है, अतः नहीं लेना चाहिए।[३.५४ की समीक्षा में एतत् सम्बन्धी विवेचन द्रष्टव्य है]।

(२) **आर्षविवाह का लक्षण**—अब प्रश्न उठता है कि आर्षविवाह का लक्षण क्या होगा? क्या मनु ने उसे स्पष्ट किया है? उत्तर में हम कह सकते हैं कि इस विधि-निषेध में ही इसका लक्षण स्पष्ट हो गया है अतः उस को पृथक् करने की आवश्यकता नहीं रही। परिशेष न्याय से स्पष्ट हुआ कि 'बिना किसी लेन-देन के केवल विवाह संस्कारपूर्वक [विधि-पूर्वक ३.२९] पूर्णतः सादगी से कन्या प्रदान करना, आर्ष-विवाह है।' इस श्लोक में कन्या के अलंकरण आदि की भी चर्चा नहीं है, जबकि २७, २८, ३० श्लोकों में है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस विवाह में वस्त्र, आभूषण आदि से अलंकृत करने का भी अनिवार्य कथन नहीं है। यह विवाह उनके बिना पूर्णतः सादगी से भी हो सकता है। केवल विवाह-संस्कार करके ही वर-वधू ऋषित्व के अनुरूप अर्थात् त्याग, तप, गम्भीर निष्ठा की भावना से प्रेरित होकर गृहस्थधारण का निश्चय करते हैं। ऋषिजन-सम्मत, अनुमोदित और उनके आचरणानुरूप होने से इसका नाम आर्ष है।

(३) **ऋषि कौन हैं?**—मन्त्रद्रष्टा या किसी विद्या के तत्त्वद्रष्टा=विशेषज्ञ धार्मिक विद्वान् व्यक्तियों को ऋषि कहा जाता है। इस विषयक विस्तृत विवेचन ३.८२ की 'ऋषि' शीर्षक समीक्षा में देखिए।

प्राजापत्य विवाह का लक्षण—

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३० ॥
(१६)

(**च**) और [कन्या और वर का सहमतिपूर्वक निश्चय हो जाने के उपरान्त विवाहार्थ किये संस्कार में] (**उभौ सह धर्मं चरताम्**) ''तुम दोनों साथ मिलकर गृहस्थधर्म का पालन करो'' (**इति वाचा+ अनुभाष्य**) ऐसा वचन घोषित करके माता-पिता आदि के द्वारा (**अभ्यर्च्य कन्याप्रदानम्**) वस्त्र-आभूषण आदि से सत्कृत कन्या को प्रदान करना (**प्राजापत्य विधिः स्मृतः**) 'प्राजापत्य विवाह' की विधि मानी गयी है ॥ ३० ॥

ऋषि अर्थ—''कन्या और वर को, यज्ञशाला में विधि करके, सबके सामने 'तुम दोनों मिलके गृहाश्रम के कर्मों को यथावत् करो' ऐसा कहकर दोनों की प्रसन्नतापूर्वक प्राणिग्रहण होना, वह प्राजापत्य विवाह कहाता है।'' (सं०वि०, विवाहप्रकरण)

अनुशीलन—(१) **प्राजापत्य-विवाह का लक्षण एवं विवेचन**—वर-वधू को 'तुम साथ रहकर गृहस्थ धर्म का पालन करो' यह कहकर कन्या को अलंकृत करके विधिपूर्वक प्रदान करना, प्राजापत्य-विवाह है। इस श्लोक की प्रथम पंक्ति के पदों से यह व्यंजित होता है कि विवाह दोनों के माता-पिताओं के स्तर पर खोज करके निश्चित किया जाता है। इसमें वर-वधू की इच्छा गौण होती है या माता-पिता की इच्छा में ही समाहित होती है। माता-पिता जहाँ उपयुक्त समझते हैं, उसका निश्चय कर, विवाह सम्पन्न करके उन्हें गृहस्थ पालन की स्वीकृति दे देते हैं। इसमें भी कोई लेन-देन नहीं होता।

(२) **प्रजापति किनको कहते हैं ?**—प्रजापति, प्रजा अर्थात् सन्तान के पालन में तत्पर माता-पिता आदि गृहस्थ विद्वानों को कहते हैं। उन्हें 'पितर' भी कहा जाता है। इसमें ब्राह्मणों और निरुक्त के प्रमाण हैं—''**प्रजा अपत्यनाम**'' (निघ० २.२), **प्रजापतिः पाता वा पालयिता वा**''

(निरु० १०.४१), ''**पितरः प्रजापतिः**'' (गो०उ० ६.१५), ''**पुरुषः प्रजापतिः**'' (शत० ६.२.१.२३)। प्रजाओं को उत्पन्न करके उनका पालन करने के कारण पुरुष प्रजापति होता है। पितर अर्थात् माता-पिता आदि प्रजापति होते हैं ['पितर' पर विस्तृत विवेचन ३.८२ की समीक्षा में द्रष्टव्य है]। सन्तानों का पालन करने वाले माता-पिता आदि गृहस्थ विद्वानों द्वारा अनुमोदित, सम्मत और उनके आचरण-अनुरूप होने से उसका नाम 'प्राजापत्य' है।

आसुर विवाह का लक्षण—

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यात्-आसुरो धर्म उच्यते॥ ३१॥
(१७)

(**ज्ञातिभ्यः च कन्यायै एव**) वर के बन्धु-बान्धवों=भाई, माता-पिता, सम्बन्धियों आदि को और कन्या को भी (**शक्तितः द्रविणं दत्त्वा**) यथाशक्ति धन देकर (**स्वाच्छन्द्यात्**) माता-पिता द्वारा अपनी इच्छा से अर्थात् कन्या की इच्छा या सहमति की उपेक्षा करके (**कन्याप्रदानम्**) कन्या का विवाह करना (**आसुरः धर्मः उच्यते**) 'आसुर विवाह' की विधि कही जाती है॥ ३१॥

ऋषि अर्थ—''वर की जाति वालों और कन्या को यथाशक्ति धन देकर, होम आदि विधि कर कन्या देना 'आसुर विवाह' कहलाता है।'' (सं०वि०, विवाह०)

अनुशीलन—(१) **आसुर-विवाह का लक्षण एवं विवेचन**—धन के लोभी माता-पिता कन्या या लड़के की इच्छाओं की उपेक्षा करके या उन्हें महत्त्व न देकर, परस्पर धन ले-देकर, अपनी इच्छा से जो विवाह कर देते हैं, वह 'आसुर-विवाह' है। मनु इसे निन्दनीय और अधर्म मानते हैं [३.४१-४२]।

(२) **असुर किनको कहते हैं?—'न सुराः-असुराः'** अर्थात् जो देवताओं के समान नहीं हैं। जो देवताओं के समान निःस्वार्थ, निर्वैर, परहित, परोपकार, त्याग, तप, सहिष्णुता आदि भावनाओं वाले नहीं हैं। जो

अपने देह और प्राणों के ही पोषण में, अपने ही स्वार्थ, सुख-सुविधा, धन और हितसाधन में तत्पर रहते हैं, उसकी पूर्ति के लिए तरह-तरह के छल-प्रपंच माया-जाल आदि रचते हैं, ऐसे व्यक्ति 'असुर' कहलाते हैं। इसमें निरुक्त और ब्राह्मणों के प्रमाण उल्लेखनीय हैं—''**असुरताः स्थानेष्वस्ताः, स्थानेभ्य इति वा। असुरिति प्राणनाम, अस्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः।**'' (निरु० ३.८), ''(**असुराः**) **स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः**'' (शत० ११.१.८.१), **मायात्येसुराः (उपासते)**'' (शत० १०.५. २.१०)। **असु क्षेपणे** (अदादि) धातु से '**असेरुरन्**' (उणादि १.४२) से 'उरन्' प्रत्यय से 'असुर' शब्द बना। 'असुर से 'सम्बन्ध रखने वाला' अर्थ में अण्' प्रत्यय लगकर 'आसुर' बनता है। इस प्रकार दूसरे की भावनाओं की उपेक्षा करके धन और स्वार्थ-साधन में तत्पर व्यक्तियों द्वारा अनुमोदित, सम्मत अथवा उनके आचरणानुरूप होने से इसका नाम 'आसुर-विवाह' है।

(३) **ज्ञातिभ्यः का अर्थसम्बन्ध**—कुछ टीकाकार 'ज्ञातिभ्यः' कन्या के सगे-सम्बन्धियों को धन देना अर्थ करते हैं। यह सही नहीं है। यहाँ धन देकर कन्या प्रदान करने का कथन है। इस प्रकार कन्या के पिता आदि ही कन्यादान के साथ वर के माता-पिता आदि को और अपनी कन्या के लिए भी दहेज के रूप में धन देते हैं। यही परम्परा आज चल रही है। दूसरा, असुर स्वार्थी होते हैं, वे देते नहीं, लेते हैं। यहाँ लेना ही आसुर आचरण के अनुकूल माना जा सकता है। अतः यहाँ 'वर के सगे-सम्बन्धियों को धन देना' ही आसुर धर्म कहा गया है।

गान्धर्व विवाह का लक्षण—

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयः, मैथुन्यः कामसम्भवः॥ ३२॥
(१८)

(**कन्यायाः च वरस्य**) कन्या और वर का (**इच्छया+अन्योन्यसंयोगः**) परस्पर की इच्छा से एक-दूसरे से शारीरिक सम्बन्ध होना, (**सः**) वह (**कामसम्भवः च मैथुन्यः**) कामभाव से शारीरिक सम्बन्ध बन जाने से होने वाला विवाह (**गान्धर्वः**

विज्ञेयः) 'गान्धर्व विवाह' समझना चाहिए॥ ३२॥

ऋषि अर्थ—"वर और कन्या की इच्छा से दोनों का संयोग होना और अपने मन में मान लेना कि हम दोनों स्त्री-पुरुष हैं, यह काम से हुआ, गान्धर्व विवाह कहलाता है।" (सं०वि०, विवाहप्रकरण)

अनुशीलन—(१) **गान्धर्व-विवाह का लक्षण एवं विवेचन**—लड़का और लड़की दोनों की इच्छा से परस्पर संयोग होकर शारीरिक सम्बन्ध स्थापित होना और अपने आपको पति-पत्नी के रूप में मानकर विवाह कर लेना, यह 'गान्धर्व-विवाह' है। यह कामभावना से होता है। मनु इसको निन्दनीय और अधर्मानुकूल मानते हैं [३.४१-४२]। मनु ने यद्यपि इसमें धन आदि लेने-देने की बात नहीं कही है, किन्तु कौटिल्य अर्थ-शास्त्र के अनुसार ऐसा विवाह करने वाले व्यक्ति को विवाह के समय कन्या के माता-पिता को बदले में धन देना पड़ता है [प्रक० ५८, अ०२]।

(२) गान्धर्व किन को कहते हैं? गन्धर्व की व्युत्पत्ति है "**गाम्=वाचम् धरतीति गन्धर्वः**" अर्थात् गाने की उत्तम वाणी को धारण करने वाला। संगीत अर्थात् गाने, बजाने, नाचने की कला में प्रवीण लोगों को, जो विलासी, आमोद-प्रमोद में व्यस्त शृंगारप्रिय और कामुक-प्रवृत्ति प्रधान हैं वे 'गन्धर्व' कहाते हैं। ब्राह्मणों के निम्न प्रमाणों में इस पर प्रकाश डाला गया है—"**रूपमिति गन्धर्वाः (उपासते)**" (शत० १०.५.२.२०), **योषित्कामा वै गन्धर्वाः** (शत० ३.२.४.३), "**स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः**" (ऐत० १.२७७; कौ० १२.३), "**गन्धो मे, मोदो मे, प्रमादो मे। तन्मे युष्मासु (गन्धर्वेषु)**" (जै०उ० ३.२५.४)। ऐसे व्यक्तियों से अनुमोदित, सम्मत या उनके आचरण के अनुरूप होने से इस विवाह का नाम 'गान्धर्व' है।

राक्षस विवाह का लक्षण—

हत्त्वा छित्त्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते॥ ३३॥

(१९)

(**हत्वा छित्त्वा च भित्वा**) कन्या पक्ष वालों को

मारकर या घायल करके अथवा घर में तोड़-फोड़ करके (**क्रोशन्तीं रुदतीम्**) चिल्लाती-पुकारती, रोती हुई कन्या का (**गृहात् प्रसह्य कन्याहरणम्**) घर से बलात्कारपूर्वक अपहरण करके विवाह करना (**राक्षसः विधिः+उच्यते**) यह 'राक्षस विवाह' की विधि कही गयी है ॥ ३३ ॥

ऋषि अर्थ—''हनन, छेदन अर्थात् कन्या के रोकने वालों का विदारण कर, क्रोशती, रोती, कांपती और भयभीत हुई कन्या को बलात्कार हरण करके विवाह करना, वह 'राक्षस विवाह है'।''

(सं०वि०, विवाहप्रकरण)

अनुशीलन—(१) **राक्षस विवाह का लक्षण एवं विवेचन**—कन्या के पक्ष वालों से मारपीट, लड़ाई-झगड़ा आदि करके रोती-चिल्लाती कन्या को बलात् उठा ले जाकर उससे विवाह करना 'राक्षस-विवाह' है। मनु के अनुसार यह विवाह भी निन्दनीय और अधर्म है [३.४१-४३]। यद्यपि मनुस्मृति में इस विवाह में किसी लेन-देन का कथन नहीं है किन्तु कौटिल्य अर्थशास्त्र के वर्णनानुसार अपहरणकर्त्ता को विवाह के बदले कन्या के माता-पिता को धन देना पड़ता है [प्रक० ५८, अ० २]

(२) **राक्षस किनको कहते हैं ?**—रक्ष् पालने धातु से '**सर्वधातुभ्योऽसुन्**' (उणादि ४.१८९) सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय और 'इदम्' अर्थ में अण् प्रत्यय के योग से राक्षस शब्द सिद्ध होता है। निरुक्त ४.१८ में राक्षस की निरुक्ति देते हुए कहा है—''**रक्षः रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षते इति वा।**'' अर्थात् जिससे धन-सम्पत्ति, प्राण आदि की रक्षा करनी पड़े, जो एकान्त अवसर पाकर हानि पहुंचाता और जो रात्रि में लूटपाट, चोरी-व्यभिचार आदि दुष्ट कर्मों में सक्रिय हो जाते हैं, वे राक्षस हैं। इस प्रकार अपने स्वार्थ-साधन के लिए दूसरों की हानि करने वाले, दूसरों को सताने और पीड़ित करने वाले, अत्याचारी, अन्यायी, बलात्कारी स्वभाव के और मांस-मदिराभोजी तमोगुणी [१२.४४] व्यक्ति 'राक्षस' कहलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के आचरणानुरूप, उनसे अनुमोदित या सम्मत होने से इसका नाम 'राक्षस विवाह'

है।

पैशाच विवाह का लक्षण—

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३४॥
(२०)

(**सुप्तां मत्तां वा प्रमत्ताम्**) सोती हुई, नशे से बेसुध की गई या हुई, या किसी अन्य कारण से बेसुध अथवा अपने शील की रक्षा करने में प्रमादी= असावधान कन्या को (**रहः यत्र+उपगच्छति**) एकान्त पाकर जो कोई शारीरिक सम्बन्ध कर लेता है, (**सः**) वह (**विवाहानाम् अधमः च पापिष्ठः**) विवाहों में निकृष्ट, महापापपूर्ण (**अष्टमः पैशाचः**) आठवां 'पैशाच विवाह' है ॥ ३४॥

ऋषि अर्थ—"जो सोती, पागल हुई वा नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को एकान्त पाकर दूषित कर देना, यह सब विवाहों में नीच से नीच=महानीच, दुष्ट-अतिदुष्ट, पैशाच विवाह है।"

(सं०वि०, विवाहप्रकरण)

अनुशीलन—(१) **पैशाच-विवाह का लक्षण एवं विवेचन**—सोती हुई, अपनी रक्षा में असावधान या नशे में उन्मत्त कन्या को एकान्त में पाकर दूषित कर देना, फिर उससे विवाह करना, वह "**पैशाच विवाह**" है। वह सब विवाहों में अत्यन्त नीच दुष्टतापूर्ण और पापरूप विवाह है। कौटिल्य के अनुसार उसमें भी विवाह करने वाले को विवाह के बदले कन्यापक्ष को धन देना पड़ता है [प्रक० ५८, अ० २]।

(२) **पिशाच किनको कहते हैं ?**—पिश् अवयवे (तुदादि) धातु से 'क' प्रत्यय होने से 'पिशम्' पद बना। 'पिश' उपपद से आङ् पूर्वक 'चमु-अदने' धातु से 'डः' प्रत्ययपूर्वक 'पैशाच' शब्द बनता है। अथवा 'पिशित' पूर्वपद से 'अश्' धातु से अण्, 'इत' का लोप, शकार को चकार होकर पैशाच बनता है। '**ये पिशितम्=अवयवीभूतं, पेशितं वा मांसं रुधिरादिकम् आचमन्ति भक्षयन्ति ते पैशाचाः।**' प्राणियों का कच्चा मांस, रक्त तक खाने

वाले, हिंसक, दुराचारी, अनाचारी, मलिन संस्कारों वाले, अत्यन्त तमोगुणी [१२.४४], अत्यन्त निम्न और घृणित स्वभाव के व्यक्ति 'पिशाच' कहलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के आचरणानुरूप या उनसे अनुमोदित, सम्मत होने से इस विवाह का नाम 'पैशाच' है।

प्रथम चार उत्तम विवाहों से लाभ—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः॥ ३९॥
(२१)

(**अनुक्रमशः**) अनुक्रम से (**ब्राह्म+आदिषु चतुर्षु विवाहेषु**) ब्राह्म आदि पहले चार विवाहों में [ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य विवाहों में] (**एव**) निश्चय ही (**ब्रह्मवर्चस्विनः शिष्टसम्मताः**) आध्यात्मिक और वेदादि-विद्या के तेज से सम्पन्न और वेदज्ञ सदाचारी विद्वानों द्वारा प्रशंसित (**पुत्राः जायन्ते**) पुत्र=सन्तान उत्पन्न होते हैं॥ ३९॥

ऋषि अर्थ—''ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहों में पाणिग्रहण किये हुए स्त्री-पुरुषों से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं, वे वेदादि विद्या से तेजस्वी, आप्त पुरुषों के सम्मत अत्युत्तम होते हैं।''

(सं०वि०, विवाहप्रकरण)

अनुशीलन—यह वर्णन बालकों के उत्तम संस्कारों की सम्भावना के आधार पर भावी जीवन के लिए किया गया है। वे बालक भविष्य में अर्थात् बड़े होकर उक्त गुणों वाले बनते हैं।

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः॥ ४०॥
(२२)

वे (**रूप-सत्त्व-गुणोपेताः**) सुन्दर रूप, बल एवं उत्तम गुणों से सम्पन्न, (**धनवन्तः**) धनवान्, (**यशस्विनः**) यशस्वी, (**पर्याप्तभोगाः**) बहुत भोग्य सामग्री से युक्त (**धर्मिष्ठाः**) धर्म में स्थित रहने वाले, (**च**) और (**शतं समाः जीवन्ति**) सौ वर्ष तक जीने वाले होते हैं॥ ४०॥

ऋषि अर्थ—''वे पुत्र वा कन्या सुन्दर रूप, बल-पराक्रम, शुद्ध बुद्धि आदि उत्तम गुणयुक्त, बहुधनयुक्त, पुण्य कीर्तिमान् और पूर्ण भोग के भोक्ता, अतिशय धर्मात्मा होकर सौ वर्ष तक जीते हैं।''

(सं०वि०, विवाहप्रकरण)

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः॥४१॥(२३)

(**शिष्टेषु इतरेषु दुर्विवाहेषु**) शेष अन्य चार आसुर, गान्धर्व, राक्षस, पैशाच इन निन्द्य विवाहों में (**नृशंसा-अनृतवादिनः**) निन्दित और मिथ्यावादी, (**ब्रह्मधर्मद्विषः**) ईश्वर और वेदोक्त धर्मों से द्वेष करने वाले (**सुताः जायन्ते**) पुत्र अर्थात् सन्तान होते हैं॥ ४१॥

ऋषि अर्थ—''चार विवाहों से जो बाकी रहे चार—आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, इन चार दुष्ट विवाहों से उत्पन्न हुए सन्तान निन्दित कर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी, वेदधर्म के द्वेषी, बड़े नीच स्वभाव वाले होते हैं।'' (सं०वि०, विवाहप्रकरण)

श्रेष्ठ विवाहों से श्रेष्ठ सन्तान, बुरों से बुरी—

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत्॥४२॥
(२४)

(**अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैः प्रजा अनिन्द्या भवति**) श्रेष्ठ विवाहों=ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य से सन्तान भी श्रेष्ठ गुण वाली होती है (**निन्दितैः नृणां निन्दिता**) निन्दित विवाहों=आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच से मनुष्यों की सन्तानें भी निन्दनीय कर्म करने वाली होती हैं (**तस्मात्**) इसलिए (**निन्द्यान् विवर्जयेत्**) निन्दित विवाहों को आचरण में न लावे॥ ४२॥

ऋषि अर्थ—''इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती हैं उनका त्याग और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती हैं, उन्हें किया करें।'' (सं०वि०, विवाहप्रकरण)

ऋतुकाल-गमन सम्बन्धी विधान—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥ ४५॥
(२५)

गृहस्थ (**सदा ऋतुकाल+अभिगामी स्यात्**) सदा ऋतुकाल में [३.४६] ही स्त्री से समागम करे, और (**स्वदारनिरतः**) केवल अपनी पत्नी से ही संसर्ग रखे, (**रतिकाम्यया**) समागम की कामना होने पर (**पर्ववर्जं एनां व्रजेत्**) पर्वों को छोड़कर अर्थात् ऋतुकाल में आनेवाले पौर्णमासी, अमावस्या और अष्टमी को छोड़ कर [४.१२८] शेष रात्रियों में स्त्री से समागम करे। [कामना शब्द के प्रयोग से संकेत है कि बिना दोनों की कामना के समागम वर्जित है]॥ ४५॥

ऋषि अर्थ—''सदा पुरुष ऋतुकाल में स्त्री का समागम करे और अपनी स्त्री के विना दूसरी स्त्री का सर्वदा त्याग रक्खे, वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़के अन्य पुरुषों से सदैव पृथक् रहे। जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री से ही प्रसन्न रहता है, जैसे कि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती। वह पुरुष जब ऋतुदान देना हो तब पर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान के सोलह दिनों में पौर्णमासी, अमावास्या, चतुर्दशी वा अष्टमी आवे उसको छोड़ देवे। इनमें स्त्री-पुरुष रति क्रिया कभी न करें।'' (सं०वि०, गर्भाधानप्रकरण)

अनुशीलन—(१) **ऋतुदान में वर्जित पर्व**—ऋतुदान में वर्जित पर्व अमावस्या, पौर्णमासी, अष्टमी तथा चतुर्दशी हैं। इनका वर्णन ४.१२८ में है। वहाँ भी यह निषेध है।

(२) **पर्वदिनों में समागम-निषेध क्यों ?**—समागम का निषेध इसलिए है क्योंकि इन दिनों को मनु ने धार्मिक दिन के रूप में मनाने का विधान करते हुए इन दिनों में विशेष यज्ञों का आयोजन एवं वेदादि ग्रन्थों के स्वाध्याय का विधान किया है [४.२५; ६.९; ३.३]। इन धार्मिक कृत्यों के पालन के अवसर पर जितेन्द्रिय रहना, संयम रखना आवश्यक है, क्योंकि अजितेन्द्रियावस्था में इन

धार्मिक कर्मों के फल की सिद्धि नहीं होती [२.७२ (२.९७)]।

(३) **'ऋतुकाल में गमन' गृहस्थ का आवश्यक कर्त्तव्य**—गृहस्थ हो जाने पर व्यक्ति के लिए ऋतुकाल में स्त्रीगमन=सहवास करना, आवश्यक कर्त्तव्य है; इसलिए मनु ने कहा है—**'ऋतुकालाभिगामी स्यात्' 'पर्ववर्जं व्रजेत्'**। इस पर प्रकाश डालते हुए आचार्य कौटिल्य ने कारणपूर्वक इस कर्त्तव्य को आवश्यक बतलाया है और इसको गृहस्थ का धर्म विधान माना है। इसका पालन न करने पर उसके लिए दण्डव्यवस्था भी निर्धारित की है। वे कहते हैं—**'ऋतुकाल में गमन'** न करने से स्त्रियों के पथभ्रष्ट होने और उनका आचरण दूषित होने की आशंका होती है। ऋतुकाल में गमन न करना अपने गृहस्थ धर्म का पालन न करना है, और ऐसे व्यक्ति को कर्त्तव्य पालन न करने पर ९६ पण दण्ड दिया जाना चाहिये।—''**तीर्थोपरोधो हि धर्मवधः इति कौटिल्यः।**'' [प्रक० ६०, अ०४] ''**तीर्थगूहमना-गमने षण्णवतिर्दण्डः।**'' [प्रक० ५८, अ० २]। किन्तु कामनारहित स्व-स्त्री के साथ भी बलात् गमन न करे—''**नाकामामुपेयात्**'' [प्रक० ५८, अ० २]। इसी कारण मनु ने पति के दीर्घप्रवास काल में स्त्री को नियोग द्वारा सन्तान प्राप्त करने की स्वीकृति दी है [९.७५]। कौटिल्य ने भी इसका समर्थन और विधान किया है [अर्थशास्त्र प्रक० ६०.४]।

स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥ ४६॥
(२६)

(**स्त्रीणां स्वाभाविकः ऋतुः**) स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल (**षोडश रात्रयः स्मृताः**) सोलह रात्रियाँ अर्थात् रजोदर्शन के दिन से लेकर सोलह रात्रि पर्यन्त माना गया है, (**सद्विगर्हितैः इतरैः चतुर्भिः अहोभिः सार्धम्**) उनमें सज्जनों द्वारा निन्दित अर्थात् समागम के अयोग्य जो रजोदर्शन के प्रथम चार दिन-रात हैं उनको [३.४७] साथ मिलाकर यह सोलह रात्रियों का ऋतुकाल है। [रात्रि कथन इसलिए है कि

दिन में समागम वर्जित है] ॥ ४३ ॥

ऋषि अर्थ—''स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल सोलह रात्रि का है अर्थात् रजोदर्शन दिन से लेके सोलहवें दिन तक ऋतु-समय है। उनमें से प्रथम की चार रात्रि अर्थात् जिस दिन रजस्वला हो उस दिन से लेके चार दिन निन्दित हैं।''(सं०वि०, गर्भाधानप्रकरण)

निन्दित रात्रियाँ—

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥ ४७॥
(२७)

(**तासाम्**+**आद्याः**+**चतस्रः**+**तु**) पूर्व श्लोकोक्त सोलह रात्रियों में रजोदर्शन वाली पहली चार रात्रियाँ (**च**) और (**या एकादशी**) जो रजोदर्शन से ग्यारहवीं रात्रि (**च**) और (**त्रयोदशी**) तेरहवीं रात्रि (**निन्दिताः**) ये सब निन्दित हैं अर्थात् समागम के अयोग्य हैं। (**शेषाः तु दश रात्रयः प्रशस्ताः**) शेष बची दश रात्रियाँ समागम के लिए श्रेष्ठ हैं॥ ४७॥

ऋषि अर्थ—''जैसे प्रथम की चार रात्रि ऋतुदान देने में निन्दित हैं वैसे ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी निन्दित हैं और बाकी रही दश रात्रि सो ऋतुदान में श्रेष्ठ हैं।'' (सं०वि०, गर्भाधानप्रकरण)

अनुशीलन—समागम के लिए निषिद्ध कुलरात्रियाँ आठ बनती हैं—चार रजोदर्शन के दिनों की, दो पर्वों की [३.४५ में वर्णित], इस श्लोक में वर्णित एकादशी और त्रयोदशी। इस प्रकार आठ रात्रियाँ समागम के लिए विहित हैं। यही कथन अग्रिम श्लोक ३.५० में है।

(१) **ऋतुगमन में निषिद्ध रात्रियाँ**—४६वें श्लोक में स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल का समय १६ रात्रि का माना है। उनमें रजोदर्शन के दिन की रात्रि सहित प्रथम चार रात्रियाँ निन्दित हैं। इसी प्रकार रजोदर्शन के दिन से ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी ऋतुदान में निन्दित हैं। इस प्रकार सोलह रात्रियों में से दश रात्रियाँ ऋतुदान के लिए श्रेष्ठ बचती हैं। किन्तु इन दश रात्रियों के बीच यदि कोई पर्व अर्थात् अमावस्या, पौर्णमासी, अष्टमी और चतुर्दशी

का दिन आ जाये तो उस रात्रि में ऋतुदान न करे, ऐसा स्पष्ट निर्देश ४.१२८ और ३.४५ में है। इस प्रकार कभी सात तो कभी आठ रात्रियाँ ऋतुदान के लिए शेष बचती हैं।

२. **ऋतुदान की निन्दित रात्रियों का कारण**—रजोदर्शन काल में स्त्रीगमन से व्यक्ति की प्रज्ञा, तेज, बल, ज्योति, आयु की हानि होती है। द्रष्टव्य ४.४०-४२ श्लोक।

पुत्र और पुत्री प्राप्त्यर्थ रात्रि की भिन्नता—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्॥ ४८॥
(२८)

(**युग्मासु पुत्राः जायन्ते**) युग्म अर्थात् रजोदर्शन से लेकर समसंख्या की रात्रियों—छठी, आठवीं, दशवीं, द्वादशी, चतुर्दशी, षोडशी में समागम करने से पुत्र उत्पन्न होते हैं (**अयुग्मासु रात्रिषु स्त्रियः**) विषम संख्या वाली अर्थात् पांचवीं, सातवीं, नवमी, पन्द्रहवीं रात्रियों में लड़की उत्पन्न होती है (**तस्मात्**) इसलिए (**पुत्रार्थी**) पुत्र की इच्छा रखने वाले पुरुष (**आर्तवे युग्मासु स्त्रियं संविशेत्**) ऋतुकाल में रजोदर्शन समाप्त होने पर समरात्रियों में स्त्री से समागम करें॥ ४८॥

ऋषि अर्थ—''जिनको पुत्र की इच्छा हो वे छठी, आठवीं, दशवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं, ये छह रात्रि ऋतुदानों में उत्तम जानें। परन्तु इनमें भी उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ हैं और जिनको कन्या की इच्छा होवे पांचवीं, सातवीं, नवमी और पन्द्रहवीं, ये चार रात्रि उत्तम समझें। इससे पुत्रार्थी युग्म रात्रियों में ऋतुदान देवे।''

(सं०वि० गर्भाधानप्रकरण)

पुत्र और पुत्री होने में कारण—

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥ ४९॥
(२९)

(**पुंसः+अधिके शुक्रे पुमान्**) पुरुष के अधिक सामर्थ्यशाली शुक्र के होने पर पुत्र, और (**स्त्रियाः अधिके स्त्री भवति**) स्त्री बीज के अधिक सामर्थ्य-शाली होने पर कन्या होती है। (**समे+अपुमान्**) समान

सामर्थ्य होने पर नपुंसक (**वा**) अथवा (**पुंस्त्रियौ**) लड़का-लड़की का जोड़ा (**च**) और (**क्षीणे अल्पे विपर्ययः**) दोनों के बीज के न होने पर या अल्प-सामर्थ्य वाला होने पर गर्भ नहीं ठहरता या गिर जाता है ॥ ४९ ॥

ऋषि अर्थ—''पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र, स्त्री के आर्तव अधिक होने से कन्या, तुल्य होने से नपुंसक पुरुष वा वन्ध्या स्त्री, क्षीण और अल्पवीर्य से गर्भ का न रहना वा गिर जाना होता है।''

(सं०वि०, गर्भाधानप्रकरण)

अनुशीलन—(१) **अधिक शब्द से अभिप्राय**—यहाँ अधिक शब्द से 'मात्राधिक्य' अभिप्राय नहीं है, अपितु 'बलाधिक्य' या 'सामर्थ्याधिक्य' अभिप्राय है। पुरुष के वीर्य में अधिक सामर्थ्य अथवा पुरुष-बीज के अधिक सामर्थ्यशाली होने पर पुत्री, समान सामर्थ्य होने पर लड़का-लड़की का जोड़ा अथवा नपुंसक सन्तान और क्षीण सामर्थ्य या अल्पसामर्थ्य का बीज होने पर गर्भपात, गर्भ का न रहना आदि होते हैं।

(२) **आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान से विरोध नहीं**—अधिकतर लोगों का विचार है कि मनु की मान्यता का आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की मान्यता से विरोध आता है, किन्तु मूलतः ऐसा नहीं है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के मतानुसार पुरुष के वीर्य में दो प्रकार के शुक्राणु होते हैं—१. एक्स, २. वाई। स्त्री के रज में केवल 'एक्स' कीटाणु होते हैं। पुरुष का 'वाई' शुक्राणु जब स्त्री के 'एक्स' कीटाणु से मिलता है तब लड़का होता है। 'एक्स' के 'एक्स' से मिलने पर लड़की। सम्भोग के पश्चात् ये शुक्राणु गर्भ नलिकाओं में दौड़कर स्त्री के डिम्ब में प्रवेश करते हैं। जो शुक्राणु पहले प्रवेश कर जाता है, वही सन्तान रूप बनता है।

यहाँ भी मूल बात यह है कि जो शुक्राणु जितना प्रबल होगा वह उतना ही पहले जाकर डिम्ब में प्रवेश करेगा। पुरुष-शुक्रकीट अधिक प्रबल होंगे तो वे दौड़कर पहले प्रवेश करेंगे। यदि स्त्री को जन्म देने वाले कीट प्रबल होंगे तो वे प्रथम प्रवेश करेंगे। यहाँ भी सामर्थ्य की

अधिकता ही पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति में मूलाधार है। इसीलिए आयुर्वेदी चिकित्सा में पुत्र-प्राप्ति चाहने वालों को पुरुष शुक्रसामर्थ्यवर्धक औषधियाँ प्रदान की जाती हैं। उनसे पुरुष शुक्राणु स्वस्थ और बलवान् हो जाते हैं।

संयमी गृहस्थ भी ब्रह्मचारी—

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥ ५०॥
(३०)

(**निन्द्यासु**) पूर्वोक्त निन्दित छह [३.४७] रात्रियों में (**च**) और (**अन्यासु अष्टासु रात्रिषु**) इनसे भिन्न शेष दश रात्रियों में से किन्हीं आठ रात्रियों में (**स्त्रियः वर्जयन्**) स्त्रियों को छोड़ने वाला अर्थात् उनसे समागम न करने वाला व्यक्ति (**यत्र तत्र+आश्रमे वसन्**) ब्रह्मचर्याश्रम से भिन्न अर्थात् गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी (**ब्रह्मचारी+एव भवति**) ब्रह्मचारी ही होता है॥ ५०॥

ऋषि-अर्थ—''जो पूर्व निन्दित आठ रात्रि कह आये हैं, उनमें जो स्त्री का संग छोड़ देता है, वह गृहाश्रम में बसता हुआ भी ब्रह्मचारी ही कहाता है।''
(सं०वि०, गर्भाधानप्रकरण)

अनुशीलन—कौन गृहस्थ ब्रह्मचारी—निन्दित छह और शेष कोई भी आठ रात्रियाँ अर्थात् चौदह रात्रियों को छोड़कर, सोलह में से शेष बचीं केवल किन्हीं दो ही श्रेष्ठ रात्रियों में समागम करने वाला गृहस्थ ब्रह्मचारी ही होता है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति के आचरण में संयम और जितेन्द्रियता आदि गुणों की प्रधानता होती है॥

वर से कन्या का मूल्य लेने का निषेध—

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णन्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥५१॥
(३१)

(**कन्यायाः विद्वान् पिता**) कन्या के बुद्धिमान् पिता को चाहिए कि वह कन्या के विवाह में (**अणु+अपि शुल्कं न गृह्णीयात्**) थोड़ा-सा भी शुल्क=मोल व धन न ले (**हि लोभेन शुल्कं गृह्णन्**) क्योंकि लोभ

में आकर शुल्क लेने पर (**नरः**) निश्चय ही वह मनुष्य (**अपत्यविक्रयी स्यात्**) 'सन्तान को बेचने वाला' कहाता है॥५१॥

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः।
नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगितम्॥५२॥
(३२)

(**ये बान्धवाः**) जो वर के बान्धव=पिता-माता, बहन, भाई आदि सम्बन्धी (**मोहात्**) लोभ या तृष्णा के वशीभूत होकर (**स्त्रीधनानि**) कन्याओं के धनों को (**नारीयानानि वा वस्त्रम्**) कन्या पक्ष की सवारी या वस्त्रों आदि को ग्रहण कर (**उपजीवन्ति**) उनका उपभोग करके जीते हैं (**ते पापाः अधोगतिं यान्ति**) वे पापी लोग नीचगति को प्राप्त होते हैं अर्थात् उनका पतन होता है॥५२॥

अनुशीलन—स्त्रीधन विवरण— ३.५२ में चर्चित स्त्रीधन का विवरण मनु ने ९.१९४-१९७ में दिया है। प्रमुखतः यह धन छह प्रकार का होता है—(१) अध्यग्नि =विवाह संस्कार के अवसर पर दिया गया धन, (२) अधि-आवाहनिकम्=पति के घर में आते हुए पिता के घर से कन्या को प्राप्त धन, (३) प्रीतिकर्म में प्राप्त धन= प्रसन्नता आदि के अवसर पर पति द्वारा प्रदत्त धन, (४) कन्या को भाई से प्राप्त धन, (५) पिता से प्राप्त धन, (६) माता से प्राप्त धन। विस्तृत विवरण नवम अध्याय में द्रष्टव्य है।

आर्ष-विवाह में भी गो-युगल लेने का निषेध—

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्।
अल्पोऽप्येवं महान्वाऽपि विक्रयस्तावदेव सः॥५३॥
(३३)

(**केचित्**) कुछ लोगों ने (**आर्षे**) आर्ष-विवाह में (**गोमिथुनं शुल्कम्**) बैलों के जोड़े का शुल्क रूप में लेने का (**आहुः**) कथन किया है (**तत्**) वह (**मृषा+एव**) अनुचित ही है, मिथ्या ही है (**अपि+एवम्**) क्योंकि इस प्रकार (**अल्पः+अपि वा महान्**) चाहे थोड़ा अथवा अधिक हो, वह धन का लेना-देना है (**सः तावत्**) वह निश्चय से (**विक्रयः एव**) कन्या

को बेचना ही है[१] ॥ ५३ ॥

ऋषि अर्थ—''कुछ भी न ले-देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना आर्ष विवाह है।'' (सं०वि० विवाह प्रकरण में टिप्पणी)

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम्॥ ५४॥
(३४)

(**ज्ञातयः**) कन्या के पिता आदि या सम्बन्धी (**यासां शुल्कं न+आददते**) जिन कन्याओं के विवाह के लिए वर पक्ष से शुल्क नहीं लेते अर्थात् वरपक्ष से विवाह के साथ बदले में बिना कुछ धन लिए विवाह कर देते हैं (**सः विक्रयः न**) इस प्रकार का विवाह 'कन्याओं को बेचना' नहीं कहलाता (**तत् कुमारीणां अर्हणम्**) ऐसा विवाह वास्तव में कन्याओं का पूजा-सत्कार अर्थात् सम्मान करना है (**च**) और (**केवलम् आनृशंस्यम्**) कन्याओं के प्रति वास्तव में स्नेह प्रदर्शित करना है ॥ ५४ ॥

अनुशीलन—आर्षविवाह में शुल्क लेना मनुविरुद्ध—३.२९ में आर्षविवाह विधि की जो व्यवस्था विहित है, ५१ से ५४ श्लोकों में उसके विरुद्ध और खण्डनात्मक वर्णन है। यहाँ यह शंका उपस्थित होती है

१. आजकल दहेज के भयंकर परिणाम स्थान-स्थान पर देखने, सुनने और पढ़ने में आ रहे हैं। धन-लोभी दानव धनप्राप्ति के लालच में कितनी ही स्त्रियों को सता रहे हैं, जला रहे हैं, मौत के घाट उतार रहे हैं। विवाह एक व्यापार बनता जा रहा है। दाम्पत्य जीवन स्वर्ग न रहकर नरक का भयावह रूप धारण करता जा रहा है। महर्षि मनु ने विवाह में शुल्क लेने-देने की परम्परा में ऐसी ही भयंकर दशाओं का पूर्वदर्शन किया था। अतः विवाह में प्रत्येक प्रकार के लेन-देन का निषेध किया है, ताकि लालच की भावना न रहे, और आगे कहा है कि विवाह कन्या के सम्मान का संस्कार है, लोभ पूर्ति का नहीं। गृहस्थ के सुख का आधार नारियां ही हैं। उनकी प्रसन्नता और आदर में ही गृहस्थ स्वर्ग है, निरादर और यातना देने में नरक है, कुलों की अवनति और विनाश है। गृहस्थ की विफलता है।

कि कौन-सी मान्यता मौलिक या कौन-सी सही मानी जाये या इनमें कौन-सी प्रक्षिप्त होनी चाहिए।

इन श्लोकों की शैली और शब्दावली को देखकर इसका समाधान उपलब्ध हो जाता है। मनुस्मृति का उद्देश्य ही हितकारी धर्मविधान करने का है, अहितकारी कार्य धर्म नहीं, इसलिए मनु उसको अधर्म घोषित करके उसका निषेध करते हैं। इस प्रसंग में सम्पूर्ण मनुस्मृति से भिन्न शैली और शब्दावली है। तदनुसार उक्त शंका का समाधान इस प्रकार है—

(क) मनु ने ३.२०-३४ में जो आठ विवाह प्रदर्शित किये हैं, वे उनके स्वयंकृत विधान नहीं है, अपितु उस समय जो किसी रूप में प्रचलित थे, उनका वर्णन मात्र किया है। इसीलिए मनु ने प्रसंग-संकेतक श्लोक ३.२० में ''**प्रेत्य चेह हित+अहितान्**'' का प्रयोग किया है। अहितकर कोई धर्म नहीं होते, फिर भी यहाँ उनका वर्णन है, जिससे स्पष्ट होता है कि ये विधान नहीं, मात्र प्रचलित प्रथाएँ हैं। अन्तिम चार विवाहों के लिए प्रयुक्त नाम भी इन्हें धर्म विधान सिद्ध नहीं करते, वे हैं आसुर, गान्धर्व, राक्षस, अधम, पैशाच। इनकी जो विधियाँ हैं वे भी मनुस्मृति की मान्यताओं के अनुसार निन्दनीय हैं। ३.४१-४२ में भी मनु ने इनकी निन्दा की है। उन्हें अनार्यों की परम्परा माना है, और उनका निषेध कर दिया है।

(ख) इतना ही नहीं ३.३२-३४ में वर्णित कार्य को करने वालों के लिए मनु ने ८.३५२-३५७ में कठोर दण्डों का विधान भी किया है। वे इन बातों को बलात्कार व व्यभिचार मानते हैं [८.३४५-३४६, ३५२, ३५७], और ३.३१ में वर्णित 'आसुर विवाह' का ३.५१-५४ में खण्डन 'विक्रय के रूप में' कहकर किया है।

(ग) अब प्रश्न उठता है कि मनु की मान्यता क्या है, और इसमें धर्मविधान कौन-से हैं। इसके उत्तर स्पष्ट हैं—(अ) ३.२० में मनु ने जिन आरम्भिक चार विवाहों को इस जन्म और परजन्म के लिए हितकारी माना है। वे ही मनुविहित धर्मविधानात्मक विवाह हैं। देखिए ३.३९-४० में केवल आरम्भिक चार विवाहों की मनु ने स्वीकृति दी है। इसमें भी आर्ष विवाह की परम्परा को मनु धर्म नहीं मानते, अतः उसमें सुधार करके अपनी

मान्यता ३.५१-५४ में स्पष्ट कर दी है। (आ) दायभाग प्रकरण में भी मनु ने अपनी इस मान्यता की पुष्टि कर दी है। 'आसुर' चादि चार विवाहों में निःसन्तान स्त्री के धन का अधिकार उसके मरने पर पति को नहीं होता, क्योंकि वे विवाह मनु के अनुसार वैधानिक एवं धर्म्य नहीं हैं [९.१९७]। प्रारम्भिक चार विवाहों में निःसन्तान पत्नी की मृत्यु पर उसके धन का अधिकार पति को है, क्योंकि मनु के मत में वे विवाह धर्मानुकूल हैं [९.१९६]। इस प्रकार इन श्लोकों और पूर्व के श्लोकों में विरोध होते हुए भी मान्यता प्रदर्शन के कारण दोनों मौलिक ही हैं।

स्त्रियों के आदर का विधान तथा उसका फल—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥५५॥
(३५)

(**बहुकल्याणमीप्सुभिः**) अपना बहुत कल्याण चाहने वाले (**पितृभिः च भ्रातृभिः**) पिता-माताओं को और भाइयों को (**पतिभिः तथा देवरैः**) पति और पति के भाइयों को चाहिए कि (**एताः**) इन स्त्रियों के अर्थात् पुत्री, बहन, पत्नी, भाभी आदि को (**पूज्याः च भूषयितव्याः**) आदर-सत्कार दें और वस्त्र-आभूषण आदि से सुभूषित रखें॥५५॥

ऋषि अर्थ—"पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहन, स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें अर्थात् यथायोग्य मधुरभाषण, भोजन, वस्त्र-आभूषण आदि से प्रसन्न रक्खें। जिनको कल्याण की इच्छा हो वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें।" (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

स्त्रियों का आदर करने से दिव्य लाभों की प्राप्ति—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥५६॥
(३६)

(**यत्र नार्यः पूज्यन्ते**) जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् आदर-सत्कार होता है (**तु**) निश्चय ही (**तत्र**) उस कुल में (**देवताः रमन्ते**) दिव्य सन्तान,

दिव्य गुण, दिव्यभोग प्राप्त होते हैं, (**यत्र एताः+तु न पूज्यन्ते**) जहाँ इनका आदर-सत्कार नहीं होता अर्थात् अनादर और उत्पीड़न होता है (**तत्र**) उस कुल में (**सर्वाः क्रियाः अफलाः**) गृहस्थ-सम्बन्धी सब क्रियाएँ निष्फल रहती हैं अर्थात् स्त्रियों की प्रसन्नता और सम्मान के बिना गृहस्थ में गुणी सन्तान, सुख-शान्ति, सफलता, उन्नति नहीं हो पाती ॥ ५६ ॥[१]

ऋषि अर्थ—''जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है, उस कुल में दिव्यगुण, दिव्यभोग और उत्तम सन्तान होते हैं और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वहां जानो उनकी सब क्रिया निष्फल हैं।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—**५६वें श्लोक का सही अर्थ**—प्रचलित टीकाओं में इस श्लोक का अर्थ कपोलकल्पित असंगत तथा मनु-असम्मत है। (क) टीकाकार किन्हीं अदृश्य देवताओं की कल्पना कर उनकी प्रसन्नता की बात तो कहते हैं, किन्तु उसके साथ दूसरी पंक्ति की संगति नहीं लगा पाते। अगर पहली पंक्ति में देवताओं की प्रसन्नता की बात है तो दूसरी में नारियों के अनादर से उनकी अप्रसन्नता की बात होनी चाहिए थी, किन्तु श्लोक में है कि 'उनकी सब क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं।' इस प्रकार उनके अर्थ में संगति और तालमेल नहीं बैठता। (ख) अदृश्य देवताओं की कल्पना मनु की मान्यता के विरुद्ध है [द्रष्टव्य ३.८२ पर 'देव' विषय अनुशीलन]। (ग) पूजा का अर्थ यहाँ सत्कार और सम्मान देना है। यहाँ 'देवता' का अर्थ 'दिव्यगुण' 'दिव्यसन्तान' या 'दिव्यभोग' है। [प्रमाण २.१५१ (२.१७६) पर द्रष्टव्य] यही अर्थ पूर्वापर प्रसंग से सिद्ध होता है। जहाँ नारियों का सत्कार-सम्मान होता है, वहाँ नारियाँ प्रसन्न रहती हैं।

---

१. **प्रचलित अर्थ**—जिस कुल में स्त्रियों की पूजा (वस्त्र, भूषण तथा मधुर वचनादि द्वारा आदर-सत्कार) होती है, उस कुल में देवता प्रसन्न होते हैं और जिस कुल में इन (स्त्रियों) की पूजा नहीं होती, उस कुल में सब कर्म निष्फल होते हैं ॥ ५६ ॥

उनकी प्रसन्नता से घर का वातावरण प्रसन्न एवं सुख-शान्तिमय होता है। नारी पर ही घर की सुख-शान्ति निर्भर है [३.५५, ६०, ६२; ९.२८], वही घर की अधिष्ठात्री देवी है [९.२६-२७], माता के रूप में वह निर्मात्री है [९.२७-२८]। इस प्रकार घर की सुख-शान्ति से घर में उत्तम भोग, उत्तम सन्तान, उत्तम शिक्षा, ऐश्वर्य, सुख-सफलता आदि दिव्यगुण पनपते हैं। जहाँ इसके विपरीत नारियों का अनादर होता है, उस परिवार में अशान्ति के कारण सब क्रियाओं में असफलता प्राप्त होती है। परिवार में उन्नति, सुख आदि नही हो पाते। इसी भाव की विस्तृत व्याख्या मनु ने स्वयं ३.५७-६० में भी की है। इस प्रकार इस भाष्य में दिया गया अर्थ संगत, मनुसम्मत एवं युक्तियुक्त है।

स्त्रियों के शोकग्रस्त रहने से परिवार का विनाश—

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥५७॥
(३७)

(**यत्र**) जिस कुल में (**जामयः**) स्त्रियाँ (**शोचन्ति**) अपने-अपने पुरुषों के उत्पीड़न, वेश्यागमन, अत्याचार, दुर्व्यवहार वा व्यभिचार आदि दोषों से शोकातुर रहती हैं (**तत्कुलम् आशु विनश्यति**) वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है (**तु**) और (**यत्र एताः न शोचन्ति**) जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तम आचरणों से प्रसन्न रहती हैं (**तत्+हि सर्वदा वर्धते**) वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है।

ऋषि अर्थ—''जिस घर वा कुल में स्त्री लोग शोकातुर होकर दुःख पाती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, और जिस घर वा कुल में स्त्री लोग आनन्द से उत्साह और प्रसन्नता में भरी हुई रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है।'' (स०प्र०, समु० ४)

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥५८॥
(३८)

(**अप्रतिपूजिताः जामयः**) परिवार में असत्कृत अर्थात् निरादर और तिरस्कार प्राप्त करने वाली स्त्रियाँ

(**यानि गेहानि शपन्ति**) जिन घरों को शाप देती हैं अर्थात् क्रोधित होकर कोसती हैं और अनिष्ट करने को उद्यत हो जाती हैं तब (**तानि**) वे कुल (**समन्ततः**) सभी प्रकार से (**कृत्या हतानि+इव विनश्यन्ति**) सामूहिक विनाश करने वाली भयंकर दुर्घटना से जैसे सब एक साथ नष्ट हो जाते हैं, ऐसे वे कुल भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ ५८ ॥

ऋषि-अर्थ—''जिन कुल और घरों में अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्रियां जिन गृहस्थों को शाप देती हैं, वे कुल तथा गृहस्थ, जैसे विष देकर बहुतों को एक वार नाश कर देवें वैसे चारों ओर से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात ऋ०पत्र०वि०, पृष्ठ ४४४)

तस्मादेताः सदा पूज्याः भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥
(३९)

(**तस्मात्**) इस कारण से (**नित्यं भूतिकामैः नरैः**) अपनी नित्य समृद्धि-सफलता चाहने वाले मनुष्यों को (**सत्कारेषु च उत्सवेषु**) सत्कार के अवसरों पर और उत्सवों=प्रसन्नता आदि के अवसरों पर (**एताः**) स्त्रियों का (**भूषण+आच्छादन+अशनैः**) आभूषण, वस्त्र, खान-पान आदि से (**सदा पूज्याः**) सदा आदर-सत्कार करना चाहिए अर्थात् उन्हें प्रसन्न-सन्तुष्ट रखना चाहिए ॥ ५९ ॥

ऋषि-अर्थ—''इस कारण ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले पुरुषों को योग्य है कि सत्कार के अवसरों और उत्सवों में स्त्रियों का भूषण, वस्त्र, खान-पान आदि से सदा पूजा अर्थात् सत्कार कर प्रसन्न रखें।'' (सं० वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

पति-पत्नी की परस्पर सन्तुष्टि से परिवार का कल्याण—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥
(४०)

(**यस्मिन् कुले नित्यम्**) जिस कुल में निरन्तर (**भार्यया भर्त्ता सन्तुष्टः**) पत्नी के व्यवहार से पति सन्तुष्ट रहता है (**च**) और (**तथैव**) उसी प्रकार (**भर्त्रा भार्या**) पति के व्यवहार से पत्नी सन्तुष्ट रहती है (**तत्र वै**) उसी कुल का (**कल्याणं ध्रुवम्**) कल्याण निश्चित होता है ॥ ६० ॥

ऋषि-अर्थ—''हे गृहस्थो! जिस कुल में भार्या से पति प्रसन्न और पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में निश्चित कल्याण होता है। और दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

पति-पत्नी में पारस्परिक अप्रसन्नता से सन्तान न होना—

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते॥ ६१ ॥(४१)

[यह मनोवैज्ञानिक और शारीरिक सत्य है कि] (**हि**) निश्चय ही (**यदि स्त्री न रोचेत**) यदि स्त्री सन्तुष्ट-प्रसन्न [३.६२] न रहे तो (**पुमांसं न प्रमोदयेत्**) वह पुरुष को भी सन्तुष्ट-प्रसन्न नहीं रख सकती, (**पुनः**) परिणामस्वरूप (**पुंसः अप्रमोदात्**) पुरुष की असंतुष्टि से कामोत्पत्ति न होने से (**प्रजनं न प्रवर्तते**) प्रजनन क्रिया में प्रवृत्ति नहीं होती और उससे सन्तान नहीं होती, अथवा स्वस्थ श्रेष्ठ सन्तान नहीं होती, अतः स्त्री की प्रसन्नता प्रथमतः आवश्यक है ॥ ६१ ॥

ऋषि-अर्थ—''यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रखे वा पुरुष को प्रहर्षित न करे तो अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर में कामोत्पत्ति कभी न होके सन्तान नहीं होते और यदि होते हैं तो दुष्ट [=दोषयुक्त] होते हैं।''

(सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

स्त्री की प्रसन्नता पर कुलों में प्रसन्नता—

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥ ६२ ॥
(४२)

(**स्त्रियां तु रोचमानायाम्**) स्त्री की प्रसन्नता से (**तत् सर्वं कुलं रोचते**) उस सम्पूर्ण कुल में प्रसन्नता आ जाती है, (**तस्यां तु अरोचमानायाम्**) स्त्री के अप्रसन्न या शोकग्रस्त होने पर (**सर्वमेव न रोचते**) घर में कुछ भी प्रसन्नतादायक नहीं लगता अर्थात् परिवार में प्रसन्नता का वातावरण स्त्री की प्रसन्नता पर ही निर्भर करता है ॥ ६२ ॥

ऋषि-अर्थ—''यदि पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने से सब कुल भर अप्रसन्न, शोकातुर रहता है, और जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है तब सब कुल आनन्दरूप दीखता है ॥''
(सं०वि०, गृहाश्रम०) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

(पञ्चमहायज्ञ-विषय)

[३.६७ से ३.२८६ तक]

पञ्चमहायज्ञों का विधान—

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥
(४३)

(**गृही**) गृहस्थ पुरुष (**वैवाहिके अग्नौ**) विवाह के समय प्रज्वलित की जाने वाली अग्नि में (**गृह्यं कर्म यथाविधि**) अग्नि से सिद्ध किये जाने वाले गृहस्थ के सभी कर्त्तव्यों को [जैसे पाचन, पाक्षिक याजन आदि] उचित विधि के अनुसार (**कुर्वीत**) करे (**च**) और (**पञ्चयज्ञविधानम्**) होम, दैव आदि [३.७०] पांचों महायज्ञों को (**च**) तथा (**आन्वाहिकीं पक्तिम्**) प्रतिदिन का भोजन पकाना भी करे ॥ ६७ ॥

पञ्चमहायज्ञों के अनुष्ठान का कारण—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ६८ ॥
(४४)

(**चुल्ली**) चूल्हा (**पेषणी**) चक्की (**उपस्करः**) झाड़ू (**कण्डनी**) ओखली (**च**) तथा (**उदकुम्भः**)

पानी का घड़ा (**गृहस्थस्य पञ्च सूनाः**) गृहस्थियों के ये पांच हिंसा-संभावित स्थान हैं (**याः तु वाहयन्**) जिनको प्रयोग में लाते हुए गृहस्थ व्यक्ति (**बध्यते**) हिंसा होने से उस विषयक पापों से बंध जाता है।

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥ ६९॥
(४५)

(**क्रमेण**) क्रम से (**तासां सर्वासां निष्कृत्यर्थम्**) उन सब [३.६८] हिंसा दोषों की निवृत्ति या परिशोधन के लिए (**गृहमेधिनां प्रत्यहम्**) गृहस्थ लोगों के प्रतिदिन करने के लिए (**महर्षिभिः पञ्चमहायज्ञाः क्लृप्ताः**) महर्षियों ने पांच महायज्ञों का विधान किया है॥ ६९॥

पञ्चमहायज्ञों के नाम एवं नामान्तर—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ ७०॥
(४६)

(**अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः**) वेद-शास्त्रों का पढ़ना-पढा़ना, सन्ध्योपासन करना [सावित्रीमप्यधीयीत २.७९ (२.१०४)] 'ब्रह्मयज्ञ' कहलाता है (**तु**) और (**तर्पणं पितृयज्ञः**) माता-पिता आदि की सेवा-सुश्रूषा तथा भोजन आदि से तृप्ति करना 'पितृयज्ञ' है (**होमः दैवः**) सायं-प्रातः हवन करना 'देवयज्ञ' है (**बलिः भौतः**) कीटों, पक्षियों, कुत्तों और कुष्ठी व्यक्तियों आदि को भोजन का भाग बचाकर देना 'भूतयज्ञ' या 'बलिवैश्वदेवयज्ञ' कहलाता है (**अतिथिपूजनम्**) अतिथियों को भोजन देना और सेवा करना सत्कार करना (**नृयज्ञः**) 'नृयज्ञ' अथवा 'अतिथियज्ञ' कहाता है॥ ७०॥

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥ ७१॥
(४७)

(**यः**) जो (**एतान् पञ्चमहायज्ञान् शक्तितः न**

हापयति) इन पांच महायज्ञों को यथाशक्ति नहीं छोड़ता (**सः**) वह (**गृहे+अपि वसन्**) घर में रहकर चूल्हा जलाना आदि कार्य करते हुए भी (**नित्यम्**) प्रतिदिन (**सूनादोषैः न लिप्यते**) चुल्ली=चूल्हा आदि में हुए हिंसा के दोषों से लिप्त नहीं होता [यतो हि यज्ञों के पुण्यों की अधिकता से उनके शमन होता रहता है] ॥ ७१ ॥

देवताऽतिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ७२ ॥
(४८)

(**यः**) जो गृहस्थ व्यक्ति (**देवता+अतिथि+ भृत्यानां पितॄणां च आत्मनः पञ्चानाम्**) अग्नि आदि देवताओं को [हवन के रूप में], अतिथियों को [अतिथि यज्ञ के रूप में], भरण-पोषण की अपेक्षा रखने वाले या दूसरों की सहायता पर आश्रित भिक्षार्थी आदि के लिए [भूतयज्ञ या बलिवैश्वदेव यज्ञ के रूप में], माता-पिता, पितामह आदि के लिए [पितृयज्ञ के रूप में] और अपनी आत्मा के लिए [ब्रह्मयज्ञ के रूप में] इन पांचों के लिए (**न निर्वपति**) उनके भागों को नहीं देता है, अर्थात् पांच दैनिक महायज्ञों को नहीं करता है (**सः**) वह (**उच्छ्वसन् न जीवति**) सांस लेते हुए भी वास्तव में नहीं जीता अर्थात् मरे हुए व्यक्ति के समान है ॥ ७२ ॥

पञ्चयज्ञों के नामान्तर—

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥ ७३ ॥
(४९)

(**पञ्चयज्ञान्**) इन पांच यज्ञों को (**अहुतं हुतं प्रहुतं ब्राह्म्यं हुतं च प्राशितं एव**) 'अहुत', 'हुत', 'प्रहुत', 'ब्राह्म्यहुत' और 'प्राशित' भी (**प्रचक्षते**) कहते हैं [तुलना-विवरण अगले श्लोक में] ॥ ७३ ॥

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥
(५०)

(**अहुतः जपः**) 'अहुत' 'जपयज्ञ' अर्थात् 'ब्रह्मयज्ञ' को कहते हैं (**हुतः होमः**) 'हुतः' होम अर्थात् 'देवयज्ञ' है (**प्रहुतः भौतिकः बलिः**) 'प्रहुत' भूतों के लिए भोजन का भाग रखना अर्थात् 'भूतयज्ञ' या 'बलिवैश्वदेवयज्ञ' है (**ब्राह्म्यं हुतम् द्विजाग्र्यार्चा**) विद्वानों की सेवा करना अर्थात् 'अतिथियज्ञ' है (**प्राशितं पितृतर्पणम्**) 'प्राशित' माता-पिता आदि का '**तर्पण**' अर्थात् तृप्ति करना 'पितृयज्ञ' है ॥ ७४ ॥

ब्रह्मयज्ञ एवं अग्निहोत्र का विधान—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्॥ ७५ ॥
(५१)

(**स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्**) मनुष्य को चाहिए कि वह वेदादि शास्त्रों को स्वयं पढ़ने-पढ़ाने और सन्ध्योपासन अर्थात् ब्रह्मयज्ञ के अनुष्ठान में नित्य लगा रहे अर्थात् प्रतिदिन अवश्य करे (**च**) और (**दैवे कर्मणि एव**) देवकर्म अर्थात् अग्निहोत्र भी अवश्य करे (**हि**) क्योंकि (**इह**) इस संसार में रहते हुए (**दैवकर्मणि युक्तः**) अग्निहोत्र करनेवाला व्यक्ति (**इदं चर+अचरं बिभर्ति**) इस समस्त चेतन और जड़ जगत् का पालन-पोषण करता है ॥ ७५ ॥

अनुशीलन—अग्निहोत्र से जल-वायु की शुद्धि, भक्ष्य पदार्थों की शुद्धि एवं पुष्टि होती है और उससे प्रजाओं तथा अन्य पदार्थों का कल्याण होता है। इस प्रकार चर और अचर-जगत् का पोषण होता है। अगले ही श्लोक में इसका स्पष्टीकरण है।

अग्निहोत्र से लाभ—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ ७६ ॥
(५२)

[वह पालन-पोषण और भला इस प्रकार होता है] (**अग्नौ सम्यक् प्रास्ता+आहुतिः**) अग्नि में विधि-पूर्वक डाली हुई घृत आदि पदार्थों की आहुति

(**आदित्यम्+उपतिष्ठते**) सूर्य को प्राप्त होती है—सूर्य की किरणों से वातावरण में मिलकर अपना प्रभाव डालती है, फिर (**आदित्यात्+जायते वृष्टिः**) सूर्य से वृष्टि होती है (**वृष्टेः+अन्नम्**) वृष्टि से अन्न पैदा होता है (**ततः प्रजाः**) उससे प्रजाओं का पालन-पोषण होता है ॥ ७६ ॥

गृहस्थाश्रम की महत्ता—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ ॥
(५३)

(**यथा वायुं समाश्रित्य**) जैसे वायु का आश्रय पाकर (**सर्वजन्तवः वर्तन्ते**) सब प्राणी जीवित रहते हैं, उनका जीवन बना रहता है (**तथा**) उसी प्रकार (**गृहस्थम्+आश्रित्य**) गृहस्थ के आश्रय से ही (**सर्वे+आश्रमाः**) चारों आश्रम=ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास (**वर्तन्ते**) अस्तित्व में रहते हैं और निर्वाह करते हैं ॥ ७७ ॥

ऋषि-अर्थ—''जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्तमान सिद्ध होता है, वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह होता है।'' (सं०वि०, गृहाश्रम०)

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥
(५४)

(**यस्मात्**) जिससे (**त्रयः+अपि+आश्रमिणः**) तीनों ही आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास (**अन्वहम्**) प्रतिदिन (**अन्नेन च दानेन**) अन्नदान और धन-वस्त्र आदि के दान से (**गृहस्थेन+एव**) गृहस्थ के द्वारा ही धारण किये जाते हैं (**तस्मात्**) इसलिए (**गृही ज्येष्ठाश्रमः**) गृहस्थ सब आश्रमों में ज्येष्ठ=बड़ा और महत्त्वपूर्ण है ॥ ७८ ॥

ऋषि-अर्थ—''जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी, इन तीन आश्रमियों को अन्न, वस्त्रादि दान

से नित्यप्रति गृहस्थ धारण-पोषण करता है, इसलिए व्यवहार में गृहाश्रम सबसे बड़ा है॥'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—गृहस्थ की ज्येष्ठता-सम्बन्धी मान्यता का कथन तथा ७७वें श्लोक के समान आलंकारिक विधि में वर्णन ६.८९-९० में द्रष्टव्य है।

गृहस्थ के योग्य कौन—

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥ ७९॥
(५५)

(**यः दुर्बल+इन्द्रियैः अधार्यः**) जो गृहस्थ आश्रम दुर्बल इन्द्रियों या शरीर वालों द्वारा धारण करने योग्य नहीं है (**सः**) उसको (**इह नित्यं सुखम् इच्छता**) इस लोक में निरन्तर सुख की इच्छा करने वाले (**च**) और (**अक्षयं स्वर्गम्+इच्छता**) अक्षय मोक्ष सुख की इच्छा रखने वाले को (**प्रयत्नेन संधार्यः**) प्रयत्न करके धारण करना चाहिए॥ ७९॥

ऋषि-अर्थ—''हे स्त्री-पुरुषो! जो तुम अक्षय मुक्ति-सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो जो दुर्बलेन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है, उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

अक्षय इतना ही मात्र है कि जितना समय मुक्ति का है। उतने समय में दुःख का संयोग, जैसे विषयेन्द्रिय के संयोगजन्य सुख में होता है, वैसा नहीं होता।'' (सं०वि० टिप्पणी, गृहास्थाश्रम प्रकरण)

अनुशीलन—**स्वर्ग से अभिप्राय**—इस श्लोक के प्रसंग में यहाँ मनु की स्वर्ग या स्वर्गलोक-सम्बन्धी मान्यताओं को स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा, क्योंकि प्रायः इस सम्बन्ध में भ्रान्ति पायी जाती है। मनुस्मृति की मान्यताओं के सन्दर्भ में भी वह भ्रान्ति न हो, इसलिए यहाँ इस विषय पर विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। मनु इस संसार से भिन्न कोई स्वर्ग या नरकलोक नहीं मानते। सुख

की प्राप्ति का नाम स्वर्ग है और दुःख की प्राप्ति का नाम नरक है, जो इसी संसार में जीवन में प्राप्त होते रहते हैं। इसमें प्रमाण हैं—

(१) मनु ने 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग इहसुख और मोक्षसुख दोनों सुखों के लिए किया है। इस श्लोक में अक्षय सुख और मोक्ष के लिए 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग है और उसके पर्यायवाची के रूप में इहसुख के लिए 'सुख' का प्रयोग है।

(२) सुख के अर्थ या पर्यायवाची रूप में मनुस्मृति में अन्यत्र भी स्वर्ग शब्द का प्रयोग किया है—

(क) ''**अस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।**'' (२.३२)

(ख) ''**दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह**''। (९.२८)

(ग) ''**स्वर्ग-आयुष्य-यशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्।**'' (४.१३)

(३) अक्षय सुख अर्थात् मोक्षसुख के लिए स्वर्ग का प्रयोग—

(क) प्रस्तुत ३.७९ श्लोक में ''**स्वर्गमक्षयमिच्छता**''।

(ख) **इदमन्विच्छतां स्वर्गम् इदमानन्त्यमिच्छताम्।**'' (६.८४)

(४) मनु ने १२.९, ३९-५२ श्लोकों में मृत्यु के बाद जीव को उसके कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाली योनियों का वर्णन किया है। उस प्रसंग में स्वर्गलोक या स्वर्गयोनि विशेष का कोई उल्लेख नहीं है।

(५) व्याकरण शास्त्रानुसार 'स्वर्ग' शब्द 'स्वर्' उपपद में 'गम्लृ-गतौ' धातु से '**डप्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते**' अ० ३.२४८ वार्तिकसूत्र से 'डः' प्रत्यय के योग से बनता है। गति के ज्ञान-गमन-प्राप्ति तीन अर्थ होते हैं। 'स्वः' सुख का अनुभव होना, सुख में प्रविष्ट होना, सुख की प्राप्ति होना ही स्वर्ग अर्थात् सुख है।

(६) इसी प्रकार 'स्वर्गलोक' का अर्थ है। 'लोकृ दर्शने' धातु से लोक शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'स्थान' है। जहाँ स्वर्ग प्राप्त होता है, सुख प्राप्त है वह स्वर्गलोक है। नरकसम्बन्धी विवेचन ४.९१ की अन्तर्विरोध समीक्षा में देखिए।

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता॥८०॥
(५६)

(**ऋषयः पितरः देवाः भूतानि तथा अतिथयः**) ऋषि-मुनि लोग, माता-पिता, चेतन-जड़ आदि देवता, भृत्य तथा कुष्ठी आदि प्राणी और अतिथि लोग (**कुटुम्बिभ्यः आशासते**) गृहस्थों से ही आशा रखते हैं अर्थात् सहायता, वातावरण शुद्धि की अपेक्षा रखते हैं, अतः (**विजानता तेभ्यः कार्यम्**) अपने गृहस्थ-सम्बन्धी कर्त्तव्यों को समझने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह इनके लिए अपने आगे वर्णित कर्त्तव्य का पालन करे॥ ८०॥

अनुशीलन—ऋषि, देवता, देव और पितर के अर्थज्ञान के लिए ३.८२ की समीक्षा देखिए।

पञ्चयज्ञों के मुख्य कर्म—

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥८१॥
(५७)

गृहस्थ (**यथाविधि**) निर्धारित विधि के अनुसार (**स्वाध्यायेन ऋषीन् अर्चयेत्**) स्वाध्याय अर्थात् ईश्वरोपासना, वेदाध्ययन-अध्यापन से ऋषियों का सत्कार करे=कृतज्ञता प्रकट करे, (**होमैः+देवान्**) अग्निहोत्र से अग्नि, वायु आदि देवों की शुद्धि करे, (**पितॄन् श्राद्धैः**) माता-पिता-दादा आदि पितरों को श्रद्धापूर्वक अन्न-वस्त्र आदि दान से और सेवा से सन्तुष्ट करे (**नॄन्+अन्नैः**) अतिथियों को अन्न-पान देकर सन्तुष्ट करे (**बलिकर्मणा भूतानि**) वैश्वदेव यज्ञ में बलि भाग निकालकर शेष सभी प्राणियों का उपकार करे॥ ८१॥

ऋषि-अर्थ—''स्वाध्याय से ऋषिपूजन, यथा-विधि होम से देवपूजन, श्राद्धों से पितृपूजन, अन्नों से मनुष्यपूजन और वैश्वदेव बलि से प्राणीमात्र का सत्कार करना चाहिए।'' (द०ल०ग्र०, पृ० २३)

पितृयज्ञ का विधान—

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥ ८२॥
(५८)

गृहस्थ व्यक्ति (**अन्नाद्येन वा उदकेन अपि वा पयः+मूल+फलैः**) अन्न आदि भोज्य पदार्थों से और जल, दूध, कन्दमूल, फल आदि से (**पितृभ्यः प्रीतिम् आवहन्**) माता-पिता, पितामही-पितामह आदि बुजुर्गों से अत्यन्त प्रेम प्रदर्शित करते हुए (**अहः+अहः श्राद्धं कुर्यात्**) प्रतिदिन श्राद्ध=श्रद्धा से किये जाने वाले सेवा-सुश्रूषा, भोजन देना आदि कर्त्तव्य-पालन करे॥ ८२॥

अनुशीलन—यहाँ पितृयज्ञ पर विस्तार से विचार किया जा रहा है। इससे श्राद्ध और तर्पणविषयक बातों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ेगा तथा मृतकश्राद्ध और तर्पण सम्बन्धी भ्रान्तियाँ भी दूर हो सकेंगी। तीसरा 'पितृयज्ञ' अर्थात् जिसमें जो देव, विद्वान्, ऋषि जो पढ़ने-पढ़ाने हारे पितर माता-पिता आदि वृद्धों की सेवा करनी होती है। इस विषय में विस्तृत विवेचन किया जाता है—पितृयज्ञ के दो भेद हैं—एक तर्पण, दूसरा श्राद्ध। **'येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितॄंश्च तर्पयन्ति=सुखयन्ति तत्तर्पणम्'** अर्थात् जिस कर्म से विद्वान्‌रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं, उसे तर्पण कहते हैं। **'यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते' तत् 'श्राद्धम्'**। अर्थात् जो इन लोगों का श्रद्धा से सेवन करना है, वह श्राद्ध कहाता है। यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं, उन्हीं में घटता है, मृतकों में नहीं; क्योंकि, उनकी प्राप्ति और उनका प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है। इसी से उनकी सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती, और जो उनका नाम लेकर देवे वह पदार्थ उनको कभी नहीं मिल सकता, इसलिए मृतकों को सुख पहुँचाना सर्वथा असम्भव है.....तर्पण आदि कर्म में सत्कार करने योग्य तीन हैं—देव, ऋषि और पितर।'' (द०ल०ग्र० सं० २४५)

(१) 'पितर' से अभिप्राय—

''पान्ति पालयन्ति रक्षन्ति अन्न-विद्या-सुशिक्षा-आदि-दानैः ते पितरः''=जो अन्न विद्या, सुशिक्षा आदि

से पालन-पोषण और रक्षण करते हैं वे 'पितर' कहलाते हैं। इसमें ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(अ) **''देवा वा एते पितरः''** (गो०उ० १.२४)

(आ) **''स्विष्टकृतो वै पितरः''** (गो०उ० १.२५)

अर्थात् सुखसुविधाओं द्वारा पालन-पोषण करने वाले और हितसम्पादन करने वाले विद्वान् व्यक्ति 'पितर' कहलाते हैं।

(इ) **'मर्त्याः पितरः'** (श० २.१.३.४)

जीवित मनुष्य ही 'पितर' हैं अर्थात् मृत नहीं।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मृत पितरों की मान्यता मात्र कल्पना और भ्रान्ति है। माता-पिता-पितामह-आचार्य आदि ही 'पितर' कहलाते हैं।

मनुस्मृति में स्थान-स्थान पर इन्हीं व्यक्तियों को पितर कहा है। ४.२५७ में उनके ऋण से अनृण होने के लिए कहा है—**'महर्षि-पितृ-देवानां गत्वानृण्यं यथाविधि'**। यह जीवितों के साथ ही सम्भव हो सकता है। मनुस्मृति के अन्य प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

(ई) **अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।**
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥ (२.१२६)

(उ) **पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः॥**
(१२.४९)

(ऊ) **पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्॥** (१२.९४)

(ए) **दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह॥**
(९.२८)

(ऐ) **ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।**
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता॥ (३.८०)

मनु ने ४.३०-३१ में जीवित, धार्मिक, वेदवित् विद्वानों को ही हव्य-कव्य देने का विधान किया है। वे श्लोक मनु की इस मान्यता को सिद्ध करते हैं कि हव्य-कव्य जीवित व्यक्तियों को ही दिये जाते हैं। यही श्राद्ध है। हव्य-कव्य आदि श्राद्ध-सम्बन्धी बातों का मृतक पितृश्राद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं।

(औ) **पितरों में वेद का प्रमाण**—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ (यजुः० २.३४)

अर्थ—'पिता वा स्वामी अपने पौत्र, स्त्री, नौकरों को सब दिन के लिए आज्ञा देके कहे कि—(**तर्पयत मे पितॄन्**) जो मेरे पिता, पितामह आदि माता, मातामह आदि तथा आचार्य और इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग अवस्था अथवा ज्ञान से वृद्ध, मान्य करने योग्य हों, उन सबकी आत्माओं को यथायोग्य सेवा से प्रसन्न किया करो। सेवा करने के पदार्थ ये हैं—(**ऊर्जं वहन्ती**) जो उत्तम-उत्तम जल (**अमृतम्**) अनेक विध रस (**घृतम्**) घी (**पयः**) दूध (**कीलालम्**) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करने वाले उत्तम-उत्तम अन्न (**परिस्रुतम्**) सब प्रकार के उत्तम-उत्तम फल हैं, इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रहो (**स्वधास्थ**) हे पूर्वोक्त पितृलोगो! तुम सब हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से सदा सुखी रहो।'' (द०ल०ग्र० सं० २४५-२५५)

(अं) **पितरों की गणना और उनका अभिप्राय**—

''जिनकी पितृसंज्ञा है और जो सेवा के योग्य हैं वे निम्न हैं—१. सोमसदः। २. अग्निष्वात्ताः। ३. बर्हिषदः। ४. सोमपाः।५. हविर्भुजः।६. आज्यपाः।७. सुकालिनः। ८. यमराजाः।९. पितृपितामहप्रपितामहाः।१०. मातृपितामहीप्रपितामह्यः। ११. सगोत्राः। १२. आचार्यादिसम्बन्धिनः।

१—**सोमसदः**—'**सोमे ईश्वरे सोमयागे वा सीदन्ति ये सोमगुणाश्च' ते 'सोमसदः**'=जो ईश्वर और सोमयज्ञ में निपुण और शान्ति आदि गुण सहित हैं, वे 'सोमसद्' कहलाते हैं।

२—**अग्निष्वात्ताः**—'**अग्निरीश्वरः सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात् पृथिवी= जल-व्योम-यान-यन्त्ररचनादिका पदार्थविद्या सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यैः' ते 'अग्निष्वात्ताः**'=अग्नि जो परमेश्वर वा भौतक अग्नि, उनके गुणज्ञात करके जिन्होंने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है, उनको 'अग्निष्वात्त' कहते हैं।

३—**बर्हिषदः**—'**बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि शम-दमादिषूत्तमेषु गुणेषु वा सीदन्ति' ते 'बर्हिषदः**'=जो सबसे उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम, दम, सत्य, विद्या आदि उत्तम गुणों में वर्तमान हैं, उनको 'बर्हिषद्' कहते हैं।

४—**सोमपाः**—‘**यज्ञेन उत्तमौषधिरसं पिबन्ति पाययन्ति वा**’ **ते** ‘**सोमपाः**’=जो यज्ञ करके सोमलता आदि उत्तम औषधियों के रस के पान करने और कराने वाले हैं, तथा जो सोमविद्या को जानते हैं, उनको ‘सोमपा’ कहते हैं।

५—**हविर्भुजः**—‘**हविर्हुतमेव यज्ञेन शोधितवृष्टि-जलादिकं भोक्तुं भोजयितुं वा शीलमेषां**’ **ते** ‘**हविर्भुजः**’=जो अग्निहोत्र आदि यज्ञ करके वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा सब जगत् का उपकार करते और जो यज्ञ से अन्नजलादि की शुद्धि करके खाने पीने वाले हैं, उनको ‘हविर्भुज्’ कहते हैं।

६—**आज्यपाः**—‘**आज्यं घृतम्, यद्वा** ‘**अज् गतिक्षेपणयोः**’ **धात्वर्थात् आज्यं विज्ञानम्, तद्दानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति रक्षयन्ति ये विद्वांसः**’ **ते** ‘**आज्यपाः**’=घृत, स्निग्धपदार्थ और विज्ञान को कहते हैं। जो उनके दान से रक्षा करने वाले हैं, उसको ‘आज्यप’ कहते हैं।

७—**सुकालिनः**—‘**ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च शोभनः कालो येषां ते। यद्वा ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूप सदैव कालो येषां**’ **ते** ‘**सुकालिनः**’=मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय और जो सदा उपदेश में ही वर्तमान हैं, उनको ‘सुकालिन्’ कहते हैं।

८—**यमराजाः**—‘**ये पक्षपातं विहाय न्याय-व्यवस्थाकर्त्तारः सन्ति**’ **ते** ‘**यमराजाः**’=जो पक्षपात को छोड़कर सदा सत्य न्यायव्यवस्था ही करने में रहते हैं, उनको ‘यमराज’ कहते हैं।

९—**पितृ-पितामह-प्रपितामहाः**—(**पितृ०**) ‘**ये सुष्ठुतया श्रेष्ठान् विदुषो गुणान् वासयन्तः तत्र वसन्तश्च, विज्ञानादि अनन्तधनाः स्वान् जनान् धारयन्तः पोषयन्तश्च, चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्याभ्यासकारिणः स्वे जनकाश्च सन्ति, ते पितरः** ‘**वसवः**’ **विज्ञेया ईश्वरोऽपि**’=जो वीर्य के निषेकादि कर्मों को करके उत्पत्ति और पालन करे और चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या को पढ़े, उसका नाम ‘पिता’ अथवा

'वसु' है। (पितामह) **'ये पक्षपात-रहिता दुष्टान् रोदयन्तः चतुश्चत्वारिंशत् वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्यसेवनेन कृतविद्याभ्यासाः ते 'रुद्राः' स्वे पितामहाश्च ग्राह्याः तथा रुद्र ईश्वरोऽपि'**=जो पिता का पिता हो और चवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास कर पक्षपातरहित होकर दुष्टों को रुलाने वाला है, उसका नाम 'पितामह' और 'रुद्र' है। (प्रपितामह) **'आदित्यवत् उत्तमगुणप्रकाशकाः' विद्वांसोऽष्टचत्वारिंशत् वर्षेण ब्रह्मचर्येण सर्वविद्यासम्पन्ना सूर्यवत्विद्याप्रकाशकाः त आदित्याः स्वे प्रपितामहाश्च ग्राह्याः तथा आदित्योऽविनाशीश्वरो वात्र गृह्यते'**=जो पितामह का पिता और आदित्य के समान उत्तम गुणों का प्रकाशक अड़तालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या पढ़के सब जगत् का उपकार करता हो, उसको 'प्रपितामह' अथवा 'आदित्य' कहते हैं, तथा जो पित्रादिकों के तुल्य पुरुष हैं उनकी भी पित्रादिकों के तुल्य सेवा करनी चाहिये।

१०—**मातृ-पितामही-प्रपितामह्यः—पित्रादि-सदृश्यो मात्रादयः सेव्या**=पित्रादिकों के समान विद्या स्वभाव वाली स्त्रियों की भी अत्यन्त सेवा करनी चाहिये। माता, दादी, परदादी आदि।

११—**सगोत्राः—'स्वसमीपं पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीयाः'**=जो समीपवर्ती ज्ञाति के पुरुष हैं, वे भी सेवा करने के योग्य हैं।

१२—**आचार्यादिसम्बन्धिनः—'ये गुर्वादि-सख्यन्ताः सन्ति ते हि सर्वदा सेवनीयाः'**—जो पूर्णविद्या के पढ़ाने वाले और श्वसुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्री हैं, उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए।'' (द०ल०ग्र० २४५-२५५)

इस प्रकार उपर्युक्त गुण वाले जीवित व्यक्तियों को ही 'पितर' कहा जाता है, उनकी सेवा करनी ही पितृयज्ञ है। मृतपितरों की कल्पना भ्रान्ति एवं अज्ञानता है।

(२) **'देव' से अभिप्राय**—

'दिवु=क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु' (दिवादि) धातु से **'पचाद्यच्'** से 'अच्' प्रत्यय अथवा 'दिवु-मर्दने' (चुरादि) या 'दिवु परिकूजने' (चुरादि) धातु से 'अच्'

प्रत्यय के योग से 'देव' शब्द निष्पन्न होता है। देव जड़ और चेतन दो प्रकार के होते हैं (विस्तृत विवरण १.६७) की समीक्षा में देखिए)। इस श्लोक में देव शब्द से चेतन देव अभीष्ट हैं। शतपथ में आता है—

(अ) "**द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति' तन्मनुष्येभ्य देवानुपैति।**" (शतपथ १.१.१.४-५)

"दो लक्षणों से मनुष्यों की दो संज्ञाएँ होती हैं अर्थात् देव और मनुष्य। वहाँ सत्य और झूठ दो कारण हैं। जो सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य कर्म करने वाले हैं वे 'देव' और वैसे ही झूठ मानने और झूठ कर्म करने वाले 'मनुष्य' कहाते हैं। जो झूठ से अलग होके सत्य को प्राप्त होवें वे देवजाति में गिने जाते हैं।"

(द०ल०ग्र० सं० २४५-२५५)

(आ) **विद्वांसो हि देवाः।** (शत० ३.७.६.१०)

(इ) **ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः॥**

(शत० २.४.३.१४)

(ई) **सत्यसंहिता वै देवाः।** (ऐ०ब्रा० १.१६)

अर्थात् विद्वान् मनुष्यों को देव कहते हैं। निरुक्त में देव शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है—"**देवो द्वानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता**" [निरु० ७.१५] अर्थात् दान देने से, दीप्त होने से, प्रकाशित करने से, द्युस्थानीय होने से 'देव' कहाते हैं। देव को ही देवता कहा जाता है। इस प्रकार विद्याओं से प्रकाशित और विद्याओं का दान देने वाले, दिव्य गुण एवं उत्तम आचरण वाले विद्वानों को 'देव' कहा जाता है।

मनुस्मृति में ऐसे ही विद्वानों को देव कहा है। निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

(उ) **ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।**
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्॥

(२.१२७)

(ऊ) **न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।**
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥

(२.१३१)

(३) ऋषि से अभिप्राय—

'ऋषी गतौ' धातु से 'इन्' प्रत्यय और 'इगुपधात्

कित्' के योग से 'ऋषि' शब्द की सिद्धि होती है। गति के ज्ञान, गमन और प्राप्ति, ये तीन अर्थ हैं। ऋषि सबसे उच्चस्तर का विद्वान् व्यक्ति होता है। वेदमन्त्रों के अर्थों का द्रष्टा, धर्म और ईश्वर का साक्षात्कार करने वाला आप्तपुरुष ऋषि कहलाता है। वेद, वेदार्थों और विद्याओं के गूढ़ ज्ञान को प्रत्यक्ष कराने की योग्यता उसमें होती है। वही धर्मोपदेष्टा होता है।

(क) निरुक्तकार ने ऋषि की निरुक्ति की है—**ऋषिः दर्शनात्। स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यवः।''** [निरु० २.११] अर्थात् ऋषि वेदार्थों और विद्याओं के रहस्यों को प्रत्यक्ष करने-कराने वाला होता है। औपमन्यव आचार्य का मत है कि मन्त्रद्रष्टा होने से ऋषि होता है। इसी प्रकार **'साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयोः बभूवुः'** अर्थात् ऋषि धर्म और ईश्वर के साक्षात्कर्त्ता होते हैं। [निरु० १.२०]।

(ख) ब्राह्मण ग्रन्थों में भी ऋषि की यही विशेषताएँ वर्णित की हैं—

(अ) **''यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः।''**

(श० ४.३.४.१९)

(आ) **''एते वै विप्रा यदृषयः।''** (श० १.४.२.७)

(ग) महर्षि मनु ने ऋषिचर्चा के प्रसंग में इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(इ) **न हायनैर्न पलितैः न वित्तेन न च बन्धुभिः।**
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥

(२.१२९)

(ई) **ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।**
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च॥ (४.९४)

(उ) **आर्षं धर्मोपदेशम् च॥** (१२.१०६)

(ऊ) **अथ यदेवानुब्रवीत। तेनर्षिभ्य ऋणं जायते, तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः॥**

(शत० १.४.५.३)

''अथार्षेयं प्रवृणीते। ऋषिभ्यश्चैवेनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्यं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते॥'' (शत० १.४.५.३)

अर्थ—सब विद्याओं को पढ़के जो पढ़ाना है 'ऋषिकर्म' कहाता है, उस पढ़ने और पढ़ाने से ऋषियों का ऋण अर्थात् उनको उत्तम-उत्तम पदार्थ देने से निवृत्त

होता है और जो इन ऋषियों की सेवा करता है, वह उनको सुख करने वाला होता है। यही व्यवहार अर्थात् विद्याकोश की रक्षा करने वाला होता है। जो सब विद्याओं को जानके सबको पढ़ाता है; उसको 'ऋषि' कहते हैं।

जो पढ़के, पढ़ाने के लिये विद्यार्थी का स्वीकार करना है, सो आर्षेय अर्थात् ऋषि का कर्म कहाता है। जो उस कर्म को करता हुआ उन ऋषियों और देवों के लिए प्रसन्न करने वाले पदार्थों का निवेदन तथा सेवा करता है, वह विद्वान् अति पराक्रमी होके विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। जो विद्वान् और विद्या को ग्रहण करने वाला है उसका 'ऋषि' नाम होता है।'' (द०ल०ग्र०सं० २४५-२५५)

इस प्रमाणयुक्त विस्तृत विवेचन से यह सिद्ध हो गया है कि पितर, ऋषि, देव जीवित मनुष्यों के स्तरविशेष पर आधारित या विशेषगुणों के आधार पर रखी गई संज्ञाएं हैं।

बलिवैश्वदेव यज्ञ का विधान—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥ ८४॥
(५९)

(**ब्राह्मणः**) ब्राह्मण अर्थात् प्रत्येक द्विज व्यक्ति (**गृह्ये अग्नौ**) पाकशाला की अग्नि में (**विधि-पूर्वकम्**) विधिपूर्वक (**सिद्धस्य वैश्वदेवस्य**) सिद्ध= तैयार हुए बलिवैश्वदेव यज्ञ के भाग वाले भोजन का (**अन्वहम्**) प्रतिदिन (**आभ्यः देवताभ्यः होमं कुर्यात्**) इन देवताओं=ईश्वरीय दिव्यगुणों के चिन्तनपूर्वक आहुति देकर हवन करे॥ ८४॥

ऋषि-अर्थ—''चौथा वैश्वदेव—अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो तब जो कुछ भोजनार्थ बने उसमें से खट्टा, लवणान्न और क्षार को छोड़के घृत, मिष्टयुक्त अन्न लेकर चूल्हे से अग्नि अलग धर निम्नलिखित मन्त्रों से....विधिपूर्वक होम नित्य करे। (स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—यज्ञ में लवणान्न की आहुति नहीं— यज्ञ में लवणयुक्त पदार्थ की आहुति डालने का विधान

नहीं है। लवणयुक्त भोजन को स्वयं के लिए प्रयोग करना चाहिए और लवणरहित अन्न, पदार्थ, मिष्टान्न आदि की यज्ञ में आहुति देनी चाहिए। मनु ने ६.१२ में यह मान्यता स्पष्ट की है।

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च॥ ८५॥
(६०)

(**आदौ**) प्रथम (**अग्नेः सोमस्य च एव**) अग्नि=पूज्य परमेश्वर और सोम=सब पदार्थों को उत्पन्न और पुष्ट करके सुख देनेवाले 'सोमरूप' परमात्मदेव के लिए [**'ओम् अग्नये स्वाहा' 'ओं सोमाय स्वाहा'** इन मन्त्रों द्वारा] (च) और (**तयोः समस्तयोः**) उन्हीं देवों के सर्वत्र व्याप्त रूपों के लिए संयुक्त रूप में [**'ओम् अग्नीषेमाभ्यां स्वाहा'** इस मन्त्र के द्वारा] अग्नि=जो प्राण अर्थात् सब प्राणियों के जीवन का हेतु है और सोम=जो अपान अर्थात् दुःख के नाश का हेतु है (**च**) और (**विश्वेभ्यः देवेभ्यः एव**) विश्वदेवों=संसार को प्रकाशित या संचालित करने वाले ईश्वरीय गुणों के लिए [**ओं विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा' इस मन्त्र द्वारा**] (**च**) तथा (**धन्वन्तरये एव**) धन्वन्तरि=जन्म-मरण आदि के अवसर पर आने वाले रोगों का नाश करने वाले ईश्वर के गुण के लिए [**'ओं धन्वन्तरये स्वाहा'** इस मन्त्र से] बलिवैश्वदेव यज्ञ में आहुति देवे॥ ८५॥

कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च।
सहद्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः॥ ८६॥
(६१)

(**च**) और (**कुह्वै**) अमावस्या की रचना करने वाली ईश्वरीय शक्ति अर्थात् कृष्णपक्ष को रचनेवाली परमेश्वर की शक्ति या गुण के लिए [**'ओं कुह्वै स्वाहा'** मन्त्र से] (**च**) तथा (**अनुमत्यै**) पूर्णिमा की रचयित्री ईश्वरीय शक्ति अर्थात् शुक्लपक्ष का निर्माण करने वाली परमेश्वर की शक्ति के लिए या परमेश्वर की

चितिशक्ति के लिए [**'ओं अनुमत्यै स्वाहा'** मन्त्र से] (**प्रजापतये एव**) सब जगत् को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर के सामर्थ्य गुण के लिए [**'ओं प्रजापतये स्वाहा'** मन्त्र से] (**सहद्यावापृथिव्याः**) ईश्वर द्वारा उत्पादित द्युलोक और पृथिवी लोक की पुष्टि के लिए [**'ओं सहद्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा'** मन्त्र से] (**तथा अन्ततः**) और अन्त में (**स्विष्टकृते**) अभीष्ट सुख देने वाले ईश्वर गुण के लिए [**'ओं स्विष्टकृते स्वाहा'** मन्त्र से] आहुति देवे॥ ८६॥

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत्॥ ८७॥

(६२)

(**एवम्**) इस प्रकार (**सम्यक् हविः हुत्वा**) अच्छी तरह उपर्युक्त आहुतियाँ देकर (**सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्**) सब दिशाओं में घूमकर (**सानुगेभ्यः इन्द्र+अन्तकः+अप्पति+इन्दुभ्यः**) परमेश्वर के सहचारी गुणों इन्द्र=सर्व प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त होना, अन्तक=यम और न्यायकारी होना, या प्राणियों के जन्म-मरण का नियन्त्रण रखने वाला गुण, अप्पति= वरुण अर्थात् सबके द्वारा वरणीय सबसे श्रेष्ठ परमात्मा, इन्द्र=सोम अर्थात् आनन्ददायक होना इनके लिए स्मरणपूर्वक [क्रमशः **'ओं सानुगायेन्द्राय नमः'** मन्त्र से पूर्व दिशा में, **'ओं सानुगाय यमाय नमः'** से दक्षिण दिशा में, **'ओं सानुगाय वरुणाय नमः'** से पश्चिम दिशा में, **'ओं सानुगाय सोमाय नमः'** से उत्तर दिशा में] (**बलिं हरेत्**) लघु प्राणियों के लिए भोजन के भाग अर्थात् बलि को रखे॥ ८७॥

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत्॥ ८८॥

(६३)

(**मरुद्भ्यः इति तु द्वारि**) मरुत्=जीवन के संचालक प्राणरूप परमात्मा के स्मरणपूर्वक [**'ओं मरुद्भ्यो नमः'** मन्त्र से] द्वार पर, (**अद्भ्यः इति+**

अपि अप्सु) सर्वत्र व्याप्त और सम्पूर्ण जगत् के आश्रय रूप परमात्मा के स्मरणपूर्वक [**'ओम् अद्भ्यो नमः'** से], जलों में (**क्षिपेत्**) बलि भाग को डाले, (**एवम्**) इसी प्रकार (**वनस्पतिभ्यः**) वनस्पतियों के समीप [**'ओं वनस्पतिभ्यो नमः'** से], (**मूसल+ उलूखले**) मूसल और ऊखल के समीप (**हरेत्**) लघुप्राणियों के लिए बलि अर्थात् भोजन के भाग रखे॥ ८८॥

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद् भद्रकाल्यै च पादतः।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत्॥ ८९॥
(६४)

(**श्रियै उच्छीर्षके**) सबके द्वारा सेव्य परमात्मा की सेवा से राज्यश्री अथवा लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए [**'ओं श्रियै नमः'** से] ईशान कोण की ओर (**च**) और (**ओं भद्रकाल्यै पादतः**) परमात्मा की कल्याणकारी शक्ति की प्राप्ति के लिए [**'ओं भद्रकाल्यै नमः'** से] पृष्ठभाग अर्थात् नैर्ऋत्य कोण की ओर (**कुर्यात्**) बलिभाग रखे (**तु**) और (**ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्याम्**) ब्रह्म—वेदविद्या की प्राप्ति के लिए वेदविद्या के दाता परमात्मा के लिए वास्तोष्पति=गृहसम्बन्धी पदार्थों के दाता ईश्वर से सहायता के लिए [**'ओं ब्रह्मपतये नमः' 'ओं वास्तुपतये नमः'** इन से] (**वास्तुमध्ये बलिं हरेत्**) घर के मध्य-भाग में लघुप्राणियों के लिए बलि अर्थात् भोजन के भाग रखे॥ ८९॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत्।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च॥ ९०॥
(६५)

(**च**) और (**विश्वेभ्यः देवेभ्यः**) संसार के साधक गुणों की प्राप्ति के लिए संसार के संचालक परमात्मा या विद्वानों के दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए (**आकाशे बलिम् उत्क्षिपेत्**) [**'ओं विश्वेभ्यः देवेभ्यः नमः'** से] आकाश की ओर अर्थात् घर के ऊपर बलि=भोजन भाग रखे (**च**) तथा (**दिवा-चरेभ्यः भूतेभ्यः**) दिन में विचरण करने वाले प्राणियों के लिए

[**'ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यः नमः'**] (**नक्तंचारिभ्यः एव**) और रात्रि में विचरण करने वाले प्राणियों के लिए [**'ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः'** मन्त्र से] बलि= भोजन भाग रखे॥ ९०॥

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्॥ ९१॥
(६६)

(**सर्वात्मभूतये**) सब प्राणियों में व्याप्त या आश्रयरूप परमात्मा की सत्ता को स्मरण करते हुए [**ओं सर्वात्मभूतये नमः'** से] (**पृष्ठवास्तुनि बलिं कुर्वीत**) घर के पृष्ठभाग में बलिभाग रखे (**सर्वं बलिशेषं तु**) शेष बलिभाग को (**पितृभ्यः**) माता-पिता, आचार्य, अतिथि, भृत्य आदिकों को सम्मान-पूर्वक भोजन कराने के कर्त्तव्य को स्मरण करने के लिए [**'ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः'** इस मन्त्र से] (**दक्षिणतः हरेत्**) घर के दक्षिण भाग में बलि= भोजन भाग रखे॥ ९१॥[1]

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥ ९२॥
(६७)

(**च**) और (**पतितानाम्**) जीविका कमाने में असमर्थ भिखारी आदि साधनहीन के लोगों के लिए (**च**) और (**श्वपचाम्**) गृह और जीविकाहीन चांडालों के लिए (**पापरोगिणाम्**) पापों के फलस्वरूप असाध्य गलितकुष्ठ आदि रोगों से ग्रस्त जीविकाहीन भिखारियों के लिए (**च**) और (**शुनां वायसानां च**

---

१. महर्षि-दयानन्द ने ८५ से ९१ श्लोकों का भाव ग्रहण करके स०प्र० चतुर्थ समु०, पञ्चमहायज्ञविधि द०ल०ग्र० २५८-२६३ तथा सं०वि० गृहाश्रमप्रकरण में बलिवैश्वदेव यज्ञ का वर्णन किया है, इन सभी श्लोकों में दिये गये मन्त्र तथा उनका भाव वहीं से लिया गया है, विधियां भी वही हैं। विस्तृत होने के कारण उस वर्णन को यहाँ उद्धृत नहीं किया जा रहा है। विशेष अध्ययन के लिए पाठक उक्त पुस्तक में देख सकते हैं।

कृमीणां) कुत्ते आदि जानवरों, कौवे आदि पक्षियों और कीट-पतंगों के लिए (**शनकैः भुवि निर्वपेत्**) सावधानीपूर्वक किसी पत्तल आदि में भोजन-भाग निकाल कर भूमि पर रखले, फिर उनके आने पर उन्हें दे दे ॥ ९२ ॥

ऋषि-अर्थ—''कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पापरोगी, काक और कृमि, इन छह नामों के छह भाग पृथिवी में धरे।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

''इस प्रकार '**श्वभ्यो नमः, पतितेभ्यो नमः, श्वपग्भ्यो नमः, पापरोगिभ्यो नमः, वायसेभ्यो नमः, कृमिभ्यो नमः**' से बलि धर कर पश्चात् किसी दुःखी बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते, कौवे आदि को दे देवे। यहाँ नमः शब्द का अर्थ अन्न अर्थात् कुत्ते, चाण्डाल, पापरोगी, कौवे और कृमि अर्थात् चींटी आदि को अन्न देना यह मनुस्मृति आदि की विधि है। (स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—इस श्लोक में 'भुविनिर्वपेद्' एक मुहावरा है। इसका अर्थ 'मिट्टी में रखना' नहीं है अपितु किसी पत्तल आदि में रखकर पृथिवी पर भाग रखना है। जैसे 'भूमि पर सोना' मुहावरे का अर्थ मिट्टी में सोना कभी नहीं होता, अपितु यह होता है कि चटाई, बिस्तर आदि लगाकर पृथिवी पर सोना।

यह भी सामान्य समझ की बात है कि भिखारियों को दिया जाने वाला भोज्य पदार्थ कभी कोई मिट्टी में नहीं रखता। यहाँ वाक्य का शब्दार्थ नहीं, अभिप्रायार्थ समझने की आवश्यकता है।

अतिथियज्ञ का विधान—

कृत्वैतद् बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत्।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद् ब्रह्मचारिणे॥ ९४॥
(६८)

(**एतत् बलिकर्म कृत्वा**) उपर्युक्त [३.८४-९२] बलिवैश्वदेव यज्ञ करके (**पूर्वम् अतिथिम् आशयेत्**) पहले यदि कोई अतिथि घर में आया हुआ हो तो उसको भोजन खिलाये (**च**) तथा (**भिक्षवे ब्रह्मचारिणे**

विधिवत् भिक्षां दद्यात्) भिक्षा के लिए आये हुए ब्रह्मचारी को विधिपूर्वक भिक्षा देवे॥ ९४॥

सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥ ९९॥
(६९)

(**तु**) और (**सम्प्राप्ताय अतिथये**) आये हुए अतिथि के लिए (**विधिपूर्वकं सत्कृत्य**) व्यवहारोचित विधि के अनुसार सत्कार करके (**यथाशक्ति**) सामर्थ्य के अनुसार (**आसन+उदके च अन्नम् एव**) आसन और जल तथा अन्न भी (**प्रदद्यात्**) प्रदान करे॥ ९९॥

सज्जनों के घर में सत्कारार्थ सदा उपलब्ध वस्तुएँ—

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ १०१॥
(७०)

क्योंकि (**तृणानि**) बैठने के लिए तृण आदि से बने आसन (**भूमिः**) बैठने या सोने के लिए स्थान (**उदकम्**) पानी (**च**) और (**सूनृता वाक्**) सत्कारयुक्त मीठी वाणी (**एतानि+अपि**) सत्कार करने की ये बातें या वस्तुएँ तो (**सतां गेहे**) श्रेष्ठ-सभ्य व्यक्तियों के घर में (**कदाचन न+उच्छिद्यन्ते**) कभी भी नष्ट नहीं होतीं अर्थात् श्रेष्ठ-सभ्य व्यक्ति इनके द्वारा तो अवश्य ही सत्कार करते हैं। श्रेष्ठ जन वही हैं जिनके घर में अतिथियों का कम से कम आसन, जल, वाणी द्वारा सत्कार किया जाता है॥ १०१॥

अतिथि का लक्षण—

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते॥१०२॥
(७१)

(**एकरात्रं तु निवसन्**) जो एक ही रात्रि तक पराये घर में रहे तो (**ब्राह्मणः**) वह विद्वान् व्यक्ति (**अतिथिः स्मृतः**) अतिथि कहा गया है (**हि यस्मात् अनित्यं स्थितः**) क्योंकि जिस कारण से वह थोड़े समय के लिए ठहरता है अथवा जिसका आना अनिश्चित होता

है, इसी कारण उसे (**अतिथिः उच्यते**) अतिथि कहा जाता है ॥ १०२ ॥

ऋषि अर्थ—''जिसके आगमन की कोई नियत तिथि न हो और स्थिति भी जिस की अनियत हो, वह अतिथि कहलाता है। अतिथियज्ञ का अधिकारी वही है, जो विद्वान् हो एवं जिसका आना, जाना और ठहरना अनियत हो, वह चाहे किसी वर्ण का हो, उसकी सेवा करना यह एक श्रेष्ठ कर्म है।'' (पू०प्र० १४३)

अतिथि कौन नहीं होते—

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा।
उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥१०३ ॥
(७२)

(**यत्र भार्या अपि वा अग्नयः**) जिसके घर में पत्नी हो और पंचयज्ञों की अग्नि जहाँ प्रज्वलित रहती हो अथवा जहाँ पाकाग्नि प्रज्वलित होती हो ऐसे घर में (**एकग्रामीणं तथा साङ्गतिकं विप्रं गृहे उपस्थितम्**) एक गांव में रहनेवाला तथा साथ रहा मित्र विद्वान् यदि घर में आया हुआ हो तो (**अतिथिं न विद्यात्**) उसे अतिथि के रूप में न समझें ॥ १०३ ॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥
(७३)

(**ये गृहस्थाः**) जो गृहस्थ (**परपाकम् उपासते**) दूसरों के घर बने भोजन को पाने-खाने की प्रवृत्ति रखकर उनके घर जाते रहते हैं (**ते अबुद्धयः**) वे बुद्धिहीन (**तेन**) उस परभोजन के लोभ के संस्कारों के कारण (**प्रेत्य**) पुनर्जन्मों में (**अन्नादिदायिनां पशुतां व्रजन्ति**) अन्न-भोजन देने वालों के पशु बनते हैं अर्थात् जन्मान्तर में वे पशुजन्म पाते हैं और दूसरों के दिये खाद्य पर निर्भर रहते हैं ॥ १०४ ॥

ऋषि-अर्थ—''यदि गृहस्थ होके पराये घर में भोजन आदि की इच्छा करते हैं तो वे बुद्धिहीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रह रूप पाप करके जन्मान्तर में अन्नादि

के दाताओं के पशु बनते हैं, क्योंकि अन्य से अन्न आदि का ग्रहण करना अतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

अनुशीलन—जो गृहस्थ लोभ-लालच के वशीभूत होकर यही मानते रहते हैं कि अपनी बचत हो जाए और दूसरों के यहाँ खाने का अवसर मिलता रहे। ऐसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर जो जीवन भर, दूसरों के भोजन में मन रखते हैं, उन्हें परजन्म में पशुत्व प्राप्त होता है। क्योंकि उनमें पशुत्व के संस्कार प्रबल और प्रभावी हो जाते हैं।

घर से अतिथि को न लौटाये—

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत्॥१०५॥
(७४)

(**गृहमेधिना**) गृहस्थ को चाहिए कि (**सूर्योढः अतिथिः अप्रणोद्यः**) सायंकाल सूर्य अस्त होने के बाद आये हुए किसी भी अतिथि को वापिस न लौटाये और (**काले प्राप्तः वा अकाले**) चाहे कोई भोजन के समय पर आये अथवा असमय पर आये (**अस्य गृहे अनश्नन् न वसेत्**) किन्तु किसी गृहस्थ के घर में कोई अतिथि बिना भोजन के नहीं रहना चाहिए॥ १०५॥

अतिथिपूजन सुख-आयु-यशोदायक—

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम्॥१०६॥
(७५)

(**यत् अतिथिं न भोजयेत्**) जिस पदार्थ को अतिथि को नहीं खिलावे (**तत् वै स्वयं न अश्नीयात्**) उसे गृहस्थ स्वयं भी न खावे, अभिप्राय यह है कि जैसा स्वयं भोजन करे वैसा ही अतिथि को भी दे (**अतिथिपूजनम्**) अतिथि का सत्कार करना (**धन्यं यशस्यम् आयुष्यं वा स्वर्ग्यम्**) सौभाग्य, यश, आयु और सुख को देने और बढ़ाने वाला है॥ १०६॥

अनुशीलन—अतिथिसेवा यश-आयु-सुख-सौभाग्यवर्धक—जिस प्रकार अभिवादनशील और वृद्धसेवी व्यक्तियों के यश, विद्या, आयु, बल बढ़ते हैं,

उसी प्रकार मनु द्वारा विहित [३.१०६] विद्वान्, धार्मिक, सद्‌गुण सम्पन्न अतिथियों की सेवा करने से यश मिलता है। उनके सान्निध्य से अच्छे आचरण की, धर्म की, श्रेष्ठ गुणों की शिक्षा से आयु, सौभाग्य और सुख बढ़ते हैं। [२.९६ (२.१२१) की अनुशीलन समीक्षा भी द्रष्टव्य]।

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम्।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम्॥ १०७॥
(७६)

अतिथि के (**आसन-अवसथौ**) आसन और निवास (**शय्याम्+अनुव्रज्याम्+उपासनाम्**) शय्या, सेवा-टहल, समीप बैठना आदि (**उत्तमेषु+उत्तमम्**) अपने से उत्तम गुण वालों में उत्तम स्तर के (**समे समम्**) समान गुण वालों में समान स्तर के (**हीने हीनम्**) हीन गुण वालों में हीन स्तर के अर्थात् यथायोग्य (**कुर्यात्**) करे॥ १०७॥

ऋषि-अर्थ—''जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें तब आसन, निवास, शय्या, पश्चात् गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा अर्थात् उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम, और निकृष्ट का निष्कृट करें, ऐसा न हो कि सब अन्न बारह पसेरी, कस्तूरी और धूड़ को बराबर समझे॥'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

दोबारा भोजन पकाने पर बलियज्ञ नहीं—

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत्॥ १०८॥
(७७)

(**वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते**) एक बार वैश्वदेव यज्ञ के सम्पन्न होने पर अर्थात् भोजन बन जाने और उसकी पकाशाला में आहुतियां दे देने के पश्चात् भी (**यदि+अन्यः+अतिथिः+आव्रजेत्**) यदि कोई और अतिथि आ जाये तो (**तस्य+अपि यथाशक्ति अन्नं प्रदद्यात्**) उसको भी यथाशक्ति भोजन कराये (**बलिं न हरेत्**) किन्तु दोबारा भोजन बनाने के बाद उससे बलिभाग

=बलिवैश्वदेव यज्ञ के भाग नहीं निकाले ॥ १०८ ॥

अतिथि सत्कार-विषयक नियम—

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत्।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ १०९ ॥
(७८)

(**विप्रः**) विद्वान् द्विज (**भोजनार्थम्**) अच्छा भोजन पाने के लिए (**स्वे कुलगोत्रे न निवेदयेत्**) अपने कुल और गोत्र की दुहाई न दे अर्थात् अपने बड़े कुल या प्रतिष्ठित वंश की प्रशंसा करके अच्छा भोजन पाने की प्रवृत्ति प्रकट न करे (**हि**) क्योंकि (**भोजनार्थं ते शंसन्**) भोजन पाने के लिए अपने कुल-गोत्रों की प्रशंसा करने वाला व्यक्ति (**बुधैः**) विद्वानों द्वारा (**'वान्ताशी' इति उच्यते**) 'उगलकर खाने वाला' इस निन्दित विशेषण से सम्बोधित किया जाता है ॥ १०९ ॥

अतिथियों से भिन्न व्यक्ति को भोजन कराना—

इतरानपि सख्यादीन्सम्प्रीत्या गृहमागतान्।
सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥ ११३ ॥
(७९)

पूर्वोक्त अतिथियों के अतिरिक्त (**भार्यया सह गृहम्+आगतान् इतरान् सख्यादीन अपि**) पत्नी के साथ घर में आये अन्य मित्र आदि को भी (**सत्कृत्य**) सत्कारपूर्वक (**संप्रीत्या**) प्रीतिपूर्वक (**यथाशक्ति अन्नं भोजयेत्**) अपने सामर्थ्य के अनुसार भोजन करावे ॥ ११३ ॥

अतिथि से पहले किन को भोजन दें—

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणी गर्भिणीः स्त्रियः।
अतिथिभ्योऽग्र एवेतान्भोजयेदविचारयन्॥ ११४ ॥
(८०)

(**सुवासिनीः च कुमारीः**) नव विवाहिताएँ और अल्पवयस्क कन्याएँ (**रोगिणः**) रोगी (**गर्भिणीः स्त्रियः**) गर्भवती स्त्रियाँ (**एतान्**) इन्हें (**अतिथिभ्यः +अग्रे+एव**) अतिथियों से पहले ही (**अविचारयन्**) बिना किसी शंका के अर्थात् बड़े-छोटे को पहले-पीछे

भोजन कराने का विचार किये बिना (**भोजयेत्**) खिला दे॥ ११४॥

गृहस्थ दम्पती को सबके बाद भोजन करना और यज्ञशेष भोजन करना—

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती॥ ११६॥
(८१)

(**अथ विप्रेषु भुक्तवत्सु**) पहले विद्वान् अतिथियों द्वारा भोजन कर लेने पर (**च**) और (**स्वेषु भृत्येषु एव हि**) पहले अपने सेवकों आदि के भी खा लेने पर (**ततः पश्चात्**) उसके बाद (**अवशिष्टम् तु**) शेष बचे भोजन को (**दम्पती भुञ्जीयाताम्**) पति-पत्नी खायें॥ ११६॥

देवानृषीन् मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत्॥११७॥
(८२)

(**देवान्**) दिव्यगुण वाले अग्नि आदि जड़देवताओं को अग्निहोत्र से (**ऋषीन्**) विद्या के प्रत्यक्ष कर्त्ता मन्त्रार्थ द्रष्टा ऋषियों को ब्रह्मयज्ञ से (**मनुष्यान्**) साधारण मनुष्यों को अतिथियज्ञ से (**च**) और (**पितॄन्**) जीवित माता-पिता आदि पालक व्यक्तियों को पितृयज्ञ से (**च**) तथा (**गृह्याः देवताः**) ईश्वरीय दिव्यगुणों [३.८४-९०] के स्मरणपूर्वक पाकशाला में आहुति देकर और गृहस्थ द्वारा भरण-पोषण की अपेक्षा रखने वाले भिक्षार्थी, असहाय, अनाथ, कुष्ठी, जीव-जन्तु [३.९१-९२] आदि को बलिवैश्वदेव यज्ञ से (**पूजयित्वा**) भोजन-दान द्वारा सत्कृत करके और उनका भाग निकालकर (**ततः पश्चात्**) उसके बाद (**गृहस्थः**) गृहस्थ (**शेषभुक् भवेत्**) इनसे शेष बचे भोजन को खाने वाला हो अर्थात् पांच महायज्ञों से शेष भोजन को खाया करे॥ ११७॥[१]

---

१. **प्रचलित अर्थ**—देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों, पितरों, गृहस्थित शालिग्राम आदि प्रतिमाओं की पूजा (देवर्षिपितृतर्पण, अतिथ्यादि भोजन, प्रतिमादि पूजन) कर गृहस्थ शेष बचे हुए अन्न का भोजन करे॥ ११७॥

अनुशीलन—**गृह्यदेवता**—(१) यहाँ 'गृह्यदेवता' से अभिप्राय श्लोक ३.८४-९१ में वर्णित ईश्वरीय दिव्य गुणों से है, जिनके स्मरण हेतु आहुतिपूर्वक गृहस्थ के आश्रय की अपेक्षा रखने वाले प्राणियों के लिए वैश्वदेव यज्ञ में भोजन का भाग निकाला जाता है। इसी अभिप्राय को मनु ने "**भूतानि बलिकर्मणा**" [३.८१] पदों से तथा ३.७२ में '**भृत्यानाम्**' पद से स्पष्ट किया है।

(२) देवता, ऋषि, पितर शब्दों के विस्तृत अर्थज्ञान के लिए ३.८२ की समीक्षा तथा भूमिका भाग देखिए।

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥ ११८॥
(८३)

(**यः केवलम् आत्मकारणात् पचति**) जो व्यक्ति केवल अपना पेट भरने के लिए ही भोजन पकाता है (**सः**) वह (**अघं भुङ्क्ते**) केवल पाप को खाता है अर्थात् इस प्रवृत्ति से परिवार और समाज में स्वार्थ, लोभ आदि की पाप भावना ही बढ़ती है (**हि**) क्योंकि (**एतत्**) यह उपर्युक्त [११७] (**यज्ञशिष्ट+ अशनम्**) यज्ञों पांच यज्ञों के करने के बाद शेष बचा भोजन ही (**सताम्+अन्नं विधीयते**) श्रेष्ठों, सज्जनों का भोजन माना गया है। इसके विपरीत बिना यज्ञ का भोजन असत्पुरुषों का भोजन है॥ ११८॥

गृहस्थ के लिए दो ही प्रकार के भोजनों का विधान—

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम्॥ २८५॥
(८४)

गृहस्थ को चाहिए कि वह (**नित्यं विघसाशी भवेत्**) प्रतिदिन 'विघस' भोजन को खाने वाला होवे (**वा**) अथवा (**अमृतभोजनः**) 'अमृत' भोजन को खाने वाला होवे (**भुक्तशेषं तु 'विघसः'**) अतिथि, मित्रों आदि सभी व्यक्तियों के खा लेने पर बचे भोजन को 'विघस' कहा जाता है [३.११६] (**तथा**) तथा (**यज्ञ-शेषम् 'अमृतम्'**) यज्ञ में आहुति देने के बाद बचा भोजन 'अमृत' कहलाता है। [३.११७-११८]॥ २८५॥

अनुशीलन—यज्ञशेष और शेषभुक् भोजन में अन्तर—यज्ञशेष और भुक्तशेष भोजन में श्लोकोक्त अन्तर के अतिरिक्त एक अन्तर यह है कि '**भुक्तशेष**' अन्न मीठे और लवण से युक्त कोई भी भोजन हो सकता है किन्तु '**यज्ञशेष**' भोजन लवणरहित ही रहता है। लवणयुक्त पक्वान्न की आहुति अग्निहोत्र में नहीं डाली जाती। यज्ञ में लवणयुक्त भोजन का मनु ने निषेध किया है [६.१२]। गृहस्थ लवणयुक्त भोजन को बलिभाग निकालने पर और अतिथियों आदि के खाने के पश्चात् खाये। यही भुक्तशेष है। यही विघस है। यज्ञाहुति से अवशिष्ट लवणरहित भोजन यज्ञशेष और अमृत है।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतहिन
विभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ गृहस्थाश्रमे समान

उपसंहार—

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्।
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति॥ २८६ ॥
(८५)

(**एतत् वः**) यह तुम्हें (**पाञ्चयज्ञिकं सर्वं विधानम् अभिहितम्**) पञ्चयज्ञसम्बन्धी सम्पूर्ण विधान कहा है। अब आगे (**द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयताम्**) द्विजातियों=ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य की प्रमुख आजीविका और जीवनचर्या के विधान को सुनो— ॥ २८६ ॥

दीभाष्य-समन्वितायाम्' अनुशीलन-समीक्षा-
वर्तन-विवाह-पञ्चयज्ञविधानात्मकस्तृतीयोऽध्यायः॥

अथ चतु

(हिन्दीभाष्य-'अनुशी

(गृहस्थान्तर्गत आजीविव

(आजीविका ४.

आयु के द्वितीय भाग में गृहस्थ बनें—

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥ १॥

(१)

(**द्विजः**) द्विज=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (**आद्यम्**) पहले (**आयुषः चतुर्थं भागम्**) आयु के चौथाई भाग तक [कम से कम पच्चीस वर्ष पर्यन्त] (**गुरौ उषित्वा**) गुरु के समीप रहकर अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक विद्याध्ययन करके (**आयुषः द्वितीयं भागम्**) आयु के दूसरे भाग में अर्थात् पच्चीस वर्ष के बाद (**कृतदारः**) विवाह करके (**गृहे वसेत्**) घर में निवास करे, गृहस्थ बने॥ १॥

अनुशीलन—विवाह की आयु के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन ३.४ की समीक्षा में द्रष्टव्य है।

गृहस्थ की जीविका परपीड़ारहित हो—

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि॥ २॥

(२)

(**विप्रः**) तीनों वर्णों के द्विज व्यक्ति (**अनापदि**) आपत्तिरहितकाल में (**भूतानाम् अद्रोहेण+एव**) दूसरे प्राणियों को जिससे किसी भी प्रकार की पीड़ा न पहुँचे, ऐसी (**वा**) अथवा (**पुनः**) ऐसी वृत्ति न मिलने पर बाद में (**अल्पद्रोहेण**) जिसमें प्राणियों को कम से कम कष्ट हो, ऐसी (**या वृत्तिः**) जो वृत्ति=आजीविका हो (**तां समास्थाय जीवेत्**) उसको अपनाकर जीवन-

र्थोऽध्यायः

लन'-समीक्षा सहित)

ता एवं व्रत पालन विषय)

१ से ४.१२ तक)

निर्वाह करे॥ २॥

धन-संग्रह जीवनयात्रा चलाने मात्र के लिए हो—

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम्॥ ३॥

(३)

(**स्वैः अगर्हितैः कर्मभिः**) अपने अनिन्दित अर्थात् शास्त्रोक्त श्रेष्ठकर्मों से [४.११] (**शरीरस्य अक्लेशेन**) शरीर को अधिक कष्ट न देते हुए (**यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थम्**) जीवनयात्रा को भलीभांति चलाने के प्रयोजन से ही अर्थात् केवल धनसंग्रह के उद्देश्य से नहीं [जिससे जीवन कष्टरहित रूप में चलता रहे और उसमें अधिक ऐश्वर्य संग्रह की कामना न हो] (**धन-संचयं कुर्वीत**) धन का संचय करे॥ ३॥

शास्त्रविरुद्ध जीविका न हो—

न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम्॥ ११॥

(४)

गृहस्थ द्विज (**वृत्तिहेतोः**) जीविका के लिए (**कथञ्चन**) कभी, किसी भी अवस्था में (**लोकवृत्तं न वर्तेत**) शास्त्रोक्त जीविका को छोड़कर लोकाचार =लोकव्यवहार का आश्रय न ले, अपितु सदैव (**अजि-ह्माम्**) कुटिलता, छल-कपट रहित (**अशठाम्**) बेईमानी और धोखे से रहित (**शुद्धाम्**) शुद्ध-पवित्र, धर्मानुकूल (**ब्राह्मणजीविकां जीवेत्**) वेद-शास्त्रोक्त शुद्ध भावयुक्त जीविका को करके जीवन बिताये॥ ११॥

ऋषि-अर्थ—''गृहस्थ जीविका के लिये भी कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का वर्ताव न वर्ते, किन्तु जिसमें किसी प्रकार की कुटिलता, मूर्खता, मिथ्यापन वा अधर्म न हो, उस वेदोक्त कर्मसम्बन्धी जीविका को करे।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

सन्तोष सुख का मूल है, असन्तोष दुःख का—

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥ १२॥ (५)

(**सुखार्थी**) सुख चाहने वाला व्यक्ति (**परमं सन्तोषम् आस्थाय**) अत्यन्त सन्तोष को धारण करके (**संयतः भवेत्**) संयत=अधिक धन के संग्रह की इच्छा न रखने वाला बने (**हि**) क्योंकि (**सन्तोषमूलं सुखम्**) सन्तोष ही सुख का मूल है (**विपर्ययः**) उससे उलटा अर्थात् असन्तोष (**दुःखमूलम्**) दुःख का मूल कारण है॥ १२॥

(स्नातक गृहस्थों के व्रत)

[४.१३ से ४.२५९ तक]

गृहस्थों के लिए सत्त्वगुणवर्धक व्रत—

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः।
स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्॥ १३॥ (६)

(**अतः**) इसलिए (**स्नातकः द्विजः**) स्नातक गृहस्थ द्विज (**अन्यतमया**) निर्धारित [१.८७-९१] वृत्तियों में से अपेक्षाकृत किसी श्रेष्ठ (**वृत्त्या**) आजीविका से (**जीवन्**) जीवननिर्वाह करते हुए (**स्वर्ग-आयुष्य-यशस्यानि इमानि व्रतानि धारयेत्**) इस लोक का सुख और मुक्ति सुख [३.२५९, २६०] आयु और यश बढ़ाने वाले इन व्रतों को धारण करे—॥ १३॥

अनुशीलन—मनु 'स्वर्ग' शब्द को सुख का पर्यायवाची मानते हैं। द्रष्टव्य ३.७९ पर समीक्षा।

गृहस्थों के लिये सत्त्वगुणवर्धक व्रत—

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्॥ १४॥
(७)

द्विज (**स्वकं वेदोदितं कर्म**) अपने वेदोक्त कर्म-समूह को (**अतन्द्रितः नित्यं कुर्यात्**) आलस्य-प्रमाद छोड़कर सदा किया करे (**तत्+हि यथाशक्ति कुर्वन्**) उस कर्म-समूह को प्रयत्नपूर्वक करते हुए द्विज निश्चय ही (**परमां गतिं प्राप्नोति**) सर्वोत्तम गति= सुख और मुक्ति को प्राप्त करता है॥ १४॥

ऋषि-अर्थ—''ब्राह्मण आदि द्विज, वेदोक्त अपने कर्म को आलस्य छोड़के नित्य किया करें। उसे अपने सामर्थ्य के अनुसार करते हुए वे मुक्ति पर्यन्त पदार्थों को प्राप्त होते हैं।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

अधर्म से धनसंग्रह न करें—

नेहेतार्थान् प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः॥ १५॥
(८)

गृहस्थ द्विज (**प्रसंगेन**) वस्तु के अभाव आदि के अनुसार अधिक मूल्य लेकर (**अर्थान् न ईहेत**) धनसंग्रह की इच्छा न करे, (**विरुद्धेन कर्मणा न**) शास्त्र-विरुद्ध या धर्मविरुद्ध कार्यों से भी धनसंचय न करे, (**अर्थेषु विद्यमानेषु न**) पर्याप्त धनों के होते हुए अधिक धनों का संग्रह न करें, अर्थात् जमाखोरी न करे, (**आर्त्याम्+अपि यतस्ततः न**) विपत्ति या कष्ट में होते हुए भी शास्त्रविरुद्ध उपायों या अनुचित उपायों से धन न कमाये॥ १५॥

ऋषि-अर्थ—''गृहस्थ, कभी किसी दुष्ट प्रसंग से द्रव्य संचय न करे। न विरुद्ध कर्म से, न विद्यमान पदार्थ होते हुए उन्हें गुप्त रखके, दूसरे से छल करके, और चाहे कितना भी दुःख आ पड़े तथापि अधर्म से द्रव्य संचय कभी न करे।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

इन्द्रियसक्ति-निषेध—

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत्॥ १६॥(९)

(**सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु**) सभी इन्द्रियों के विषयों में (**कामतः न प्रसज्येत**) चाहकर कभी न फंसे अर्थात् उनमें लिप्त होने की कभी इच्छा न करे। (**च**) और (**एतेषाम् अतिप्रसक्तिम्**) इन्द्रियों के विषयों में होने वाली अति आसक्ति को (**मनसा संनिवर्तयेत्**) मन से संकल्प करके यत्नपूर्वक दूर करे, रोके॥ १६॥

ऋषि-अर्थ—''इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फंसे और विषयों की अत्यन्त प्रसक्ति अर्थात् प्रसंग को मन से अच्छे प्रकार दूर करता रहे।''
(सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

स्वाध्याय से कृतकृत्यता—

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाऽध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥ १७॥
(१०)

(**स्वाध्यायस्य विरोधिनः**) वेद-शास्त्रों के अध्ययन और ईश्वरोपासना के विरोधी=बाधक (**सर्वान् अर्थान् परित्यजेत्**) सब कामों और व्यवहारों को छोड़ देवे। (**यथा-तथा अध्यापयन्+तु**) जिस तरह भी हो सके उसी प्रकार प्रयत्न करके स्वाध्याय करते अर्थात् पढ़ते—पढ़ाते रहना (**सा हि**) वही (**अस्य कृतकृत्यता**) द्विज गृहस्थ की पूर्णता या जन्म सफलता है॥ १७॥

ऋषि-अर्थ—''जो स्वाध्याय और धर्मविरोधी व्यवहार वा पदार्थ हैं, उन सबको छोड़ देवे। जिस किसी प्रकार से विद्या को पढ़ाते रहना ही, गृहस्थ को कृतकृत्य होना है।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

अनुशीलन—स्वाध्याय के विस्तृत अर्थ के लिए देखिए २.८२ [२.१०७] पर अनुशीलन।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥ १९॥
(११)

द्विज (**आशु बुद्धिवृद्धिकराणि**) बुद्धि को शीघ्र बढ़ाने वाले, (**च**) और (**धन्यानि च हितानि**) धन एवं सौभाग्य बढ़ाने वाले तथा हितकारी (**शास्त्राणि च वैदिकान् निगमान्**) वेदशास्त्रों तथा वेद से सम्बन्धित व्याख्या-ग्रन्थों=वेदांग आदि को (**नित्यम् अवेक्षेत**) सदा पढ़ता-विचारता रहे ॥ १९ ॥

ऋषि-अर्थ—"जो शीघ्र बुद्धि, धन और हित की वृद्धि करने हारे शास्त्र और वेद हैं उनको नित्य सुनें और सुनावें, ब्रह्मचर्याश्रम में जो पढ़े हों उनको स्त्री-पुरुष नित्य विचारा और पढ़ाया करें।" (स०प्र०, समु० ४)
(अन्यत्र व्याख्यात सं०वि० गृहाश्रम०)

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥ २०॥
(१२)

(**पुरुषः यथा यथा हि**) मनुष्य जैसे-जैसे (**शास्त्रं समधिगच्छति**) शास्त्रज्ञान में प्रवीण होता जाता है (**तथा तथा विजानाति**) वैसे-वैसे उसका ज्ञान बढ़ता जाता है (**च**) और (**विज्ञानम् अस्य रोचते**) गम्भीर ज्ञानप्राप्ति में इसकी रुचि बढ़ती जाती है ॥ २० ॥

ऋषि-अर्थ—"मनुष्य जैसे-जैसे शास्त्र का विचार कर उसके यथार्थ भाव को प्राप्त होता है वैसे-वैसे अधिक-अधिक जानता जाता है और इसकी प्रीति विज्ञान ही में होती जाती है।" (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)
(अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

पञ्चयज्ञों के पालन का निर्देश—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥ २१॥
(१३)

(**ऋषियज्ञं देवयज्ञं नृयज्ञं च पितृयज्ञम्**) ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ, अतिथियज्ञ और पितृयज्ञ इनको (**सर्वदा यथाशक्ति न हापयेत्**) सदा ही जहाँ तक हो कभी न छोड़े ॥ २१ ॥

अग्निहोत्र का विधान—

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि॥ २५॥
(१४)

गृहस्थ (**सदा**) प्रतिदिन (**द्यु-निशोः आद्यन्ते**) दिन-रात के आदि और अन्त में अर्थात् प्रातःसायं दोनों सन्धिवेलाओं में (**अग्निहोत्रम्**) अग्निहोत्रम् (**जुहुयात्**) करे (**च**) और (**अर्धमासान्ते-दर्शेन**) आधे मास के अन्त में दर्शयज्ञ अर्थात् अमावस्या के दिन अग्निहोत्र करे (**च**) तथा (**एवं हि पौर्णमासेन**) इसी प्रकार मास पूर्ण होने पर पूर्णिमा के दिन पौर्णमास यज्ञ करे॥ २५॥

अतिथिसत्कार का विधान—

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
नास्य कश्चिद्वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः॥ २९॥
(१५)

(**अस्य गेहे**) इस गृहस्थ के घर में (**कश्चित् अतिथिः**) कोई भी अतिथि (**आसन्+अशन-शय्याभिः**) आसन, भोजन, बिछौना आदि से (**वा**) अथवा (**अद्भिः-मूल-फलेन**) जल, कन्दमूल और फल आदि से (**शक्तितः**) सामर्थ्य के अनुसार (**अनर्चितः न वसेत्**) बिना सत्कार किये न रहे अर्थात् यथाशक्ति सबका सत्कार करना चाहिये॥ २९॥

सत्कार के अयोग्य व्यक्ति—

पाखण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥ ३०॥
(१६)

(**पाखण्डिनः**) पाखण्डियों अर्थात् वेदविरोधियों (**विकर्मस्थान्**) अपराधियों अथवा शास्त्रोक्त निर्धारित कर्त्तव्यों के विरुद्ध चलने वालों (**वैडालवृत्तिकान्**) विडालवृत्ति वालों=ढोंगी [४.१९५] (**शठान्**) धूर्त, ठग (**हैतुकान्**) कुतर्की बकवादी (**च**) और (**बक-वृत्तीन्**) बगुलाभक्त=छली-कपटी मनुष्यों का

[४.१९६] (**वाङ्मात्रेण+अपि न अर्चयेत्**) वाणी मात्र से भी सत्कार नहीं करना चाहिए॥ ३०॥

ऋषि-अर्थ—"(पाखंडी) अर्थात् वेदनिन्दक, वेदविरुद्ध आचरण करने हारे (विकर्मस्थ) जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्त्ता मिथ्याभाषणादियुक्त, जैसे बिड़ाला छिपके और स्थिर रह ताकता कूद झपट के मूषे आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है, वैसे जनों का नाम बैडालवृत्ति (शठ) अर्थात् हठी, दुराग्रही, अभिमानी आप जाने नहीं, और दूसरे का माने नहीं (हैतुक) कुतर्की, व्यर्थ बकने वाले जैसे कि आजकल के वेदान्ती हम ब्रह्म हैं और जगत् मिथ्या है, वेदादि शास्त्र और ईश्वर भी कल्पित है, इत्यादि बकवाद करने वाले, (बकवृत्ति) जैसे बगुला मच्छी के प्राण लेकर अपने पेट भरने के लिए ध्यानावस्थित होता है, वैसे वर्तमान जटाजूट वैरागी आदि हों उनका वाणीमात्र से भी सत्कार न करे।" (स०प्र०समु० ४) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, गृहाश्रम०, पू०प्र०पृ० १४३)

सत्कार के योग्य व्यक्ति—

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्छ्रोत्रियान् गृहमेधिनः।
पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत्॥ ३१॥
(१७)

(**वेदविद्याव्रतस्नातान्**) वेदों के विद्वान्, ज्ञानी और जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके स्नातक बने हैं उनका तथा (**श्रोत्रियान् गृहमेधिनः**) वेदपाठी=वेद का स्वाध्याय करने वाले गृहस्थ का (**हव्यकव्येन**) भोज्यपदार्थों और धन, वस्त्रदान आदि से (**पूजयेत्**) सत्कार करे (**विपरीतान् च वर्जयेत्**) और जो इनसे विपरीत हैं अर्थात् जो वेदशास्त्रों के विद्वान् और विधिवत् ब्रह्मचर्यस्नातक नहीं तथा जो वेदाध्ययन नहीं करते, उनका सत्कार न करे॥ ३१॥

अनुशीलन—हव्य-कव्य शब्दों का विवेचन—हव्य-कव्य के सम्बन्ध में परवर्ती टीकाकारों—भाष्यकारों को पर्याप्त भ्रान्ति रही है। वे परवर्ती पौराणिक रूढ़ार्थों के आधार पर इन्हें मृतक पितृश्राद्ध आदि के साथ जोड़ते हैं,

मनुस्मृति में इनका अर्थ मृतकश्राद्ध आदि से सम्बन्धित नहीं है। मनु मृतकश्राद्ध को मानते ही नहीं। यह इस श्लोक से भी सिद्ध है। यहाँ स्पष्टतः जीवित विद्वानों को हव्य-कव्य देने का कथन कर रहे हैं [अन्य प्रमाण द्रष्टव्य हैं ३.८१-८२ और ३.२८४ की समीक्षा में] मनुस्मृति में इनके धात्वनुसारी अर्थ हैं—

(क) '**हु दानादनयोः आदाने चेत्येके।** देना, भक्षण करना और लेना इस अर्थ वाली' धातु से 'यत्' प्रत्यय के योग से 'हव्य' शब्द बनता है। यज्ञप्रसंग में हव्य का अर्थ हवींषि =आहुतियाँ [निरु० ८.७] होता है, किन्तु व्यवहार में '**हव्यम्=अत्तव्यम् द्रव्यम्' दातव्यं दानादिकं वा**'= धार्मिक विद्वानों [४.३०-३१] को भोज्य पदार्थों का भोजन आदि का दान 'हव्य' कहलाता है। (ख) कव्य शब्द 'कवि' प्रातिपदिक से साध्वर्थ या हितार्थ में 'यत्' प्रत्यय के योग से बनता है। कवि शब्द का अर्थ भी क्रान्तदर्शी=सूक्ष्मद्रष्टा विद्वान् होता है [द्रष्टव्य २.१२६ (२.१५१) पर अनुशीलन]। '**कवयः=क्रान्तप्रज्ञाश्च विद्वांसः, तेभ्यो हितानि कर्माणि कव्यानि**'' [ऋ०द० यजुः० २.२९]। '**कव्यः=हितार्थ प्रदत्तं द्रव्यम्**'=विद्वानों के हित के लिए दिये जाने वाले धन, वस्त्र आदि दान 'कव्य' कहलाते हैं। (ग) किन्तु जहाँ 'हव्य-कव्य' का युग्म शब्द के रूप में प्रयोग होता है, वहाँ इसका समन्वित और विस्तृत अर्थ होता है—'विद्वानों को दान में दिये जाने वाले भोजन-छादन, उपहार आदि सम्बन्धी सभी पदार्थ।'

भिक्षा एवं बलिवैश्वदेव का विधान—

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना।
संविभागश्च भूतेभ्यः कर्त्तव्योऽनुपरोधतः॥ ३२॥
(१८)

(**गृहमेधिना**) गृहस्थों को (**अनुपरोधतः**) जिससे परिवार के भरण-पोषण में बाधा न पड़े इस प्रकार (**शक्तितः**) यथाशक्ति (**अपचमानेभ्यः**) अपने हाथ से जो पकाते नहीं, ऐसे ब्रह्मचारी, संन्यासी आदि को (**दातव्यम्**) अन्न-भोजन देना चाहिए (**च**) और (**भूतेभ्यः संविभागः कर्तव्यः**) प्राणियों—असहाय, विकलांगादि मनुष्यों तथा कुत्ता, पक्षी आदि

के लिये भी भोजन का भाग निकालना चाहिए॥ ३२ ॥

स्वाध्याय में तत्पर रहना—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च॥ ३५॥
(१९)

(**क्लृप्त-केश-नख-श्मश्रुः**) केश, नाखून और दाढी कटवाता रहे (**दान्तः**) संयमी रहे (**शुक्लाम्बरः**) स्वच्छ वस्त्र धारण करे (**शुचिः**) आन्तरिक और बाह्य शुद्धता-स्वच्छता रखे (**च**) और (**नित्यं स्वाध्याये च आत्महितेषु युक्तः स्यात्**) सदैव वेदों के स्वाध्याय और अपनी आत्मा की उन्नति में लगा रहे॥ ३५ ॥

रजस्वलागमन-निषेध एवं उससे हानि—

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।
समानशयने चैव न शयीत तया सह॥ ४०॥
(२०)

(**प्रमत्तः+अपि**) कामातुर होता हुआ भी (**आर्तवदर्शने**) मासिक धर्म के दिनों में (**स्त्रियं न+उपगच्छेत्**) स्त्री से सम्भोग न करे (**च**) और (**तया सह समानशयने न शयीत**) उसके साथ एक बिस्तर पर न सोये॥ ४० ॥

रजसाऽभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते॥ ४१ ॥(२१)

(**हि**) क्योंकि (**रजसा+अभिप्लुतां नारी**) रजस्वला स्त्री के (**उपगच्छतः नरस्य**) पास जाने वाले=सम्भोग करने वाले मनुष्य के (**प्रज्ञा तेजः बलं चक्षुः च आयुः एव प्रहीयते**) बुद्धि, तेज, बल, नेत्रज्योति और आयु ये सब क्षीण हो जाते हैं॥ ४१ ॥

रजस्वलागमन-त्याग से लाभ—

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम्।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते॥ ४२ ॥(२२)

(**रजसा समभिप्लुतां तां विवर्जयतः**) रज निकलती हुई अर्थात् रजस्वला स्त्री से सम्भोग न करने वाले (**तस्य**) उस मनुष्य के (**प्रज्ञा तेजः बलं चक्षुः**

च आयु एव प्रवर्धते) बुद्धि, तेज, बल, नेत्रज्योति और आयु ये सब बढ़ते हैं ॥ ४२ ॥

किन पशुओं से सवारी न करे या करे—

नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः ।
न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालाधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥

(२३)

(**अविनीतैः**) बिना सिखाये हुए, (**क्षुद्-व्याधि-पीडितैः**) भूख और रोग से पीड़ित (**भिन्न-शृंग-अक्षि-खुरैः**) जिनके सींग, नेत्र और खुर टूट-फूट गये हैं, (**वाल+अधिविरूपितैः**) जिनकी पूँछ कटी या घायल हो, ऐसे (**धुर्यैः न व्रजेत्**) गाड़ी में जुतने वाले घोड़े, बैल आदि पशुओं को रथ या गाड़ी में जोतकर न जाये ॥ ६७ ॥

विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः ।
वर्णरूपोपसम्पन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥

(२४)

(**विनीतैः**) सिखाये हुए, (**लक्षण+अन्वितैः**) स्वस्थ लक्षणों से युक्त (**वर्ण-रूप+उपसम्पन्नैः**) सुन्दर रंग-रूप से युक्त (**आशुगैः**) शीघ्रागामी पशुओं से (**प्रतोदेन भृशम् अतुदन्**) चाबुक की मार से बार-बार पीड़ा न देता हुआ (**व्रजेत्**) सवारी करे अर्थात् रथ या गाड़ी में जोतकर जाये ॥ ६८ ॥

दुष्टो का संग न करे—

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७९ ॥

(२५)

मनुष्य (**न पतितैः**) न निर्धारित कर्तव्य-व्यवस्था का पालन न करने वालों के साथ, (**न चाण्डालैः**) न क्रूर कर्म करने वालों के साथ, (**न पुल्कसैः**) न वर्ण से पूर्णतः बहिष्कृतों के साथ [पुल्=पूर्णतः, कसैः= निष्कासितैः], (**न मूर्खैः**) न मूर्खों के साथ, (**न अवलिप्तैः**) न घमण्डी लोगों के साथ, (**न+अन्त्यैः**) न वर्णव्यवस्था में अदीक्षित लोगों के साथ (**न+**

अन्त्यावसायिभिः) न नीच व्यवसाय करने वालों के साथ (**संवसेत्**) रहे ॥ ७९ ॥

ऋषि-अर्थ—''सज्जन गृहस्थ लोगों को योग्य है कि जो पतित दुष्टकर्म करने हारे हों उनके साथ तथा चांडाल, कंजर, मूर्ख, मिथ्याभिमानी और नीच निश्चय वाले मनुष्यों के साथ कभी निवास न करें।''

(सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

ब्राह्ममुहूर्त में जागरण—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशाँश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ९२ ॥

(२६)

मनुष्य (**ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत**) रात्रि के अन्तिम पहर में उठे (**च**) और (**धर्म-अर्थौ**) धर्मपालन तथा धर्मपूर्वक अर्थसंग्रह (**च**) और (**काय-क्लेशान् च तत्+मूलान्**) शरीर सम्बन्धी कष्टों और उनके उत्पादक कारणों (**च**) तथा (**वेदतत्त्वार्थम्+एव**) वेदोक्त उपदेशों पर (**अनुचिन्तयेत्**) चिन्तन और आचरण करे ॥ ९२ ॥

ऋषि-अर्थ—''रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात से उठे। आवश्यक कार्य करके धर्म और अर्थ, शरीर के रोगों और उनके कारणों को और परमात्मा का ध्यान करे, कभी अधर्म का आचरण न करे।'' (स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—इस श्लोक में ब्राह्म मुहूर्त में उठने का निर्देश है। ब्राह्ममुहूर्त की अवधि प्रातः ३ बजे से ६ बजे तक की होती है। इस निर्देश को सम्बन्धित अन्य निर्देशों के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए। २.१०१ में निर्देश है कि प्रातःकालीन सन्ध्या सूर्योदय तक सम्पन्न हो जानी चाहिए। उससे पूर्व की शौच, व्यायाम, स्नान आदि दिनचर्या भी की जानी है। इस प्रकार ब्राह्ममुहूर्त में जागने का समय लगभग ४-५ तक निर्धारित होता है। जागने के साथ सोने का निर्देश भी जुड़ा हुआ है। प्रातः चार बजे जागने वाले के लिए यह भी आवश्यक है कि वह रात्रि में ९-१० बजे तक सो जाये। देर से सोकर शीघ्र जागना

और शीघ्र सोकर देर से जागना दोनों दिनचर्याएं गलत हैं। आयुर्वेद के अनुसार ६-७ घण्टे नींद अवश्य लेनी चाहिए।
सन्ध्योपासन आदि नित्यचर्या का पालन एवं उससे दीर्घायु की प्राप्ति—

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम्॥ ९३॥
(२७)

(**उत्थाय**) ब्राह्ममुहूर्त में उठकर (**आवश्यकं कृत्वा**) दिनचर्या के आवश्यक शौच आदि कार्य सम्पन्न करके (**कृतशौचः**) स्नान आदि से स्वच्छ-पवित्र होकर (**समाहितः**) एकाग्रचित्त होकर (**पूर्वां संध्याम्**) प्रातःकालीन सन्ध्या को [२.१०१] भी (**जपन्**) गायत्री आदि मन्त्र अर्थसहित जपता हुआ [२.१०१, १०५] (**चिरं तिष्ठेत्**) देर तक उपासना में बैठे अर्थात् दोनों समय की सन्ध्योपासना शीघ्रता में न करे अपितु लम्बे समय तक करे॥ ९३॥

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च॥ ९४॥
(२८)

(**ऋषयः**) मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों ने (**दीर्घ-सन्ध्यत्वात्**) देर तक सन्ध्योपासना करने के कारण (**दीर्घम्+आयुः, प्रज्ञां, यशः, कीर्तिं, च ब्रह्मवर्चसम् अवाप्नुयुः**) लम्बी आयु, बुद्धि, यश, प्रसिद्धि और ब्रह्मतेज=आध्यात्मिक ऊर्जा को प्राप्त किया है॥ ९४॥

अनुशीलन—दीर्घसन्ध्या से दीर्घ-आयु आदि की प्राप्ति—(क) गायत्री आदि वेदमन्त्रों का जप अर्थसहित करना सन्ध्या है [२.७९ (१०४)] और यह नैत्यिक यज्ञों एवं स्वाध्याय के अन्तर्गत आता है। ध्यान के साथ इसमें प्राणायाम करना अनिवार्य है जिससे स्वास्थ्य लाभ होता है। इस प्रकार स्वाध्याय से आयु, तेज-बल आदि की प्राप्ति २.८२ (१९७) में भी वर्णित है। (ख) गायत्री आदि वेदमन्त्रों के मननपूर्वक दीर्घसन्ध्या= उपासना एवं ईश्वर से धारणवती बुद्धि की प्रार्थना करने से बुद्धि की वृद्धि होती है। वेदमन्त्रों के अनुसार आचरण से आयु की प्राप्ति, फिर

श्रेष्ठ आचरण से प्रसिद्धि एवं यश की प्राप्ति होती है। वेदमन्त्र पूर्वक मनन-चिन्तन, आचरण से ब्रह्मतेज बढ़ता है। मनुष्य वेद और ईश्वर के ज्ञान में समर्थ होता जाता है [२.५३ (७८)]। इस प्रकार दीर्घ सन्ध्या से श्लोकोक्त लाभ मिलते हैं। (ग) 'सन्ध्या' शब्द का अर्थ २.७७-७९ [१०३-१०५] श्लोकों में और उनकी समीक्षा में देखिए।

स्त्रीगमन में पर्वदिनों का त्याग करे—

अमावस्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः॥ १२८॥

(२९)

(**स्नातकः द्विजः**) गृहस्थ द्विज को चाहिये कि वह (**ऋतौ अपि**) पत्नी के ऋतुकाल की अवधि होते हुए भी (**अमावस्याम्+अष्टमीं पौर्णमासीं च चतुर्दशीम्**) अमावस्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी के दिन (**नित्यं ब्रह्मचारी भवेत्**) सर्वथा ब्रह्मचारी रहे॥ १२८॥

ऋषि-अर्थ—''जब ऋतुदान देना हो तब पर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान के १६ दिनों में पौर्णमासी, अमावस्या, चतुर्दशी वा अष्टमी आवे उसको छोड़ देवे। इनमें स्त्री-पुरुष रतिक्रिया कभी न करें।'' (सं०वि०, गर्भाधान प्रकरण)।

अनुशीलन—तुलनार्थ द्रष्टव्य है ३.४५ श्लोक। वहां भी मनु ने पर्व दिनों में ऋतुदान का निषेध किया है।

परस्त्री-सेवन का निषेध एवं त्याज्य व्यक्ति—

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम्॥ १३३॥

(३०)

गृहस्थ द्विज (**वैरिणम्**) शत्रु (**च**) और (**वैरिणः सहायं**) शत्रु के सहायक (**अधार्मिकं तस्करं च परस्य योषितम्**) अधार्मिक, चोर, पराई स्त्री, इनसे (**न+उप सेवेत**) मेलजोल न रखे और परस्त्रीगमन न करे॥ १३३॥

परस्त्री-सेवन से हानियाँ—

न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्॥ १३४॥
(३१)

गृहस्थ द्विज का (**इह लोके**) इस संसार में (**पुरुषस्य अनायुष्यम् ईदृशं किंचन न हि विद्यते**) पुरुष की आयु को घटाने वाला ऐसा कोई काम नहीं है (**यादृशम्**) जैसा कि (**परदारा-उपसेवनम्**) परस्त्री से मेलजोल रखना और परस्त्रीगमन करना है॥ १३४॥

आत्महीनता की भावना मन में न लाये—

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम्॥ १३७॥
(३२)

मनुष्य (**पूर्वाभिः+असमृद्धिभिः**) पहले की दरिद्रताओं या अभावों को याद करके (**आत्मानं न अवमन्येत**) अपने को तुच्छ या दीन-हीन न समझे (**आमृत्योः**) मृत्युपर्यन्त (**श्रियम्+अन्विच्छेत्**) धन-ऐश्वर्य, आदि की प्राप्ति के लिए लग्नपूर्वक पुरुषार्थ करे (**एनां दुर्लभां न मन्येत**) इनको दुर्लभ न माने अर्थात् दुर्लभ मानकर निराश-हताश होकर न बैठे, अपितु पुरुषार्थ करता रहे॥ १३७॥

ऋषि-अर्थ—''गृहस्थ लोग जो कभी पहले पुष्कल धनी होके पश्चात् दरिद्र हो जायें, उससे अपने आत्मा का अवमान न करें कि 'हाय, हम निर्धन हो गये' इत्यादि विाप भी न करें, किन्तु मृत्युपर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति में पुरुषार्थ किया करें और लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें॥''

(सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

अनुशीलन—अभिप्राय यह है कि जीवन में धन आदि के अभाव की स्थिति आने पर या आपत्तिकाल में मनुष्य को कभी अपने मन में आत्महीनता, निराशा, हताशा की भावना नहीं आने देनी चाहिए, अपितु इन बातों को त्यागकर सतत पुरुषार्थ में प्रयत्नशील रहना चाहिए। यही मनुष्य जीवन की सफलता, समृद्धि और उन्नति का आधार है। पहले रही दरिद्रता को स्मरण करके भी

आत्महीनता की भावना मन में न लाये। सदा स्वाभिमान का भाव रखे और पुरुषार्थ करता रहे।

सत्य तथा प्रियाभाषण करे—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ १३८॥
(३३)

मनुष्य (**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्**) सदा सत्य बोले और उसको प्रिय अर्थात् मधुर, शिष्ट एवं हितकर रूप में बोले (**सत्यम्+अप्रियं न ब्रूयात्**) सत्यभाषण भी अप्रिय और अहितकर भाव से न बोले, जैसे अन्धे को अंधा, काणे को काणा, लंगड़े को लंगड़ा आदि न कहे। (**च**) और (**प्रियं अनृतं न ब्रूयात्**) प्रिय या हितकर भी झूठ हो तो उसे न बोले अर्थात् दूसरे की चाटुकारिता और प्रसन्नता के लिए असत्यभाषण न करे, (**एषः सनातनः धर्मः**) यह सदा-सर्वदा पालनीय धर्म है॥ १३८॥

ऋषि-अर्थ—''मनुष्य सदैव सत्य बोले और दूसरे का कल्याणकारक उपदेश करें, काणे को काणा, मूर्ख को मूर्ख आदि अप्रिय वचन उनके सम्मुख कभी न बोलें और जिस मिथ्याभाषण से दूसरा प्रसन्न होता हो उसको भी न बोलें, यह सनातन धर्म है॥'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—**प्रिय का अर्थ**—इस श्लोक में प्रिय शब्द का अर्थ व्यवहार में प्रचलित 'प्रिय लगने वाला' ग्रहण किया जाता है। मनु का यह अभिप्राय नहीं है। यहाँ 'प्रिय' से कल्याणकारक, हितकारक या प्रिय भाव और शैली का अभिप्राय है। इसकी पुष्टि अग्रिम श्लोक में पठित 'भद्र' पदों से होती है। भद्र का अर्थ कल्याणकारक या हितकर होता है। वह श्लोक इसका अर्थवाद है। 'प्रिय लगने वाला' अर्थ करने से तो मनु का 'सत्यभाषण' धर्मलक्षण ही व्यर्थ हो जायेगा।

भद्र व्यवहार करे व भद्रवाणी बोले—

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद् भद्रमित्येव वा वदेत्।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह॥ १३९॥
(३४)

मनुष्य (**भद्रं भद्रम्+इति ब्रूयात्**) सदा शिष्ट, कल्याणकर या हितकर बात को ही कहे (**वा**) अथवा (**भद्रम्+ इति+एव वदेत्**) जो भी बोले उसे शिष्ट एवं हितकर भाव से ही बोले। (**केनचित् सह**) किसी के भी साथ (**शुष्कवैरं च विवादं न कुर्यात्**) व्यर्थ विरोध और विवाद एवं झगड़ा न करे॥ १३९॥

ऋषि-अर्थ—''सदा भद्र अर्थात् सबके हितकारी वचन बोला करे। शुष्कवैर अर्थात् विना अपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे। जो-जो दूसरे का हितकारी हो और बुरा भी माने तथापि कहे विना न रहे।'' (स०प्र०,समु० ४)

हीन, विकलांग आदि पर व्यंग्य न करे—

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोऽधिकान्।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत्॥ १४१॥
(३५)

(**हीन+अङ्गान्**) विकृत या कम शारीरिक अंगों वालों अर्थात् अपंगों (**अतिरिक्त+अङ्गान्**) अधिक अंगों वालों (**विद्याहीनान्**) अनपढ़, मूर्ख (**वय+ अधिकान्**) आयु में बड़े (**च**) और (**रूप-द्रव्य-विहीनान्**) रूप और धन से रहित (**च**) और (**जातिहीनान्**) अपने से निम्न वर्ण वाले, इन पर (**न आक्षिपेत्**) उनकी न्यूनताओं पर कभी आक्षेप [=व्यंग्य या हंसी-मजाक] न करे॥ १४१॥

कल्याणकारी यज्ञ-सन्ध्या आदि कार्य करे—

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः॥ १४५॥
(३६)

मनुष्य सदा (**मङ्गल+आचार+युक्तः**) कल्याण-कारी आचरण करे, (**प्रयतात्मा**) आत्मा की उन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील रहे, (**जितेन्द्रियः**) जितेन्द्रिय (**स्यात्**) होवे (**च**) और (**अतन्द्रितः**) आलस्यरहित होकर (**नित्यम् एव**) प्रतिदिन अवश्य ही (**जपेत्**) जपोपासना अर्थात् सन्ध्या करे (**च**) तथा (**अग्निं-**

जुहुयात्) अग्नि में हवन करे॥ १४५॥

यज्ञ-सन्ध्या आदि कल्याणकारी कार्यों से लाभ—

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते॥ १४६॥
(३७)

(**मङ्गल+आचार+युक्तानाम्**) जो सदा कल्याण-कारी आचरण और कार्यों में लगे रहते हैं (**च**) और (**नित्यं प्रयतात्मनाम्**) जो सदा आत्मा की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं (**च**) तथा (**जपताम्**) जो प्रतिदिन सन्ध्या द्वारा परमात्मा का जप एवं उपासना करते हैं (**च**) और (**जुह्वताम्**) जो प्रतिदिन हवन करते हैं, उनका जीवन में कभी (**विनिपातः**) पतन (**न विद्यते**) नहीं होता अर्थात् उनका जीवन बुराइयों की ओर नहीं जाता॥ १४६॥

वेदाभ्यास परमधर्म है—

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते॥ १४७॥
(३८)

द्विज (**नित्यम्**) सदा (**यथाकालम्**) जितना भी अधिक समय लगा सके उसके अनुसार (**अतन्द्रितः**) आलस्यरहित होकर (**वेदम्+एव+अभ्यसेत्**) वेद का ही अभ्यास करे, वेद का स्वाध्याय करे (**हि**) क्योंकि (**तम् अस्य परं धर्मम् आहुः**) वेदाभ्यास को द्विजों का सर्वोत्तम धर्म या कर्त्तव्य कहा है (**अन्यः उपधर्मः उच्यते**) वेदाभ्यास के समक्ष अन्य सब धर्म या कर्त्तव्य गौण हैं॥ १४७॥

वेदाभ्यास का कथन और उसका फल—

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम्॥ १४८॥
(३९)

मनुष्य (**सततं वेदाभ्यासेन**) निरन्तर वेद का अभ्यास अर्थात् स्वाध्याय करने से (**शौचेन**) आत्मिक तथा शारीरिक पवित्रता से (**च**) तथा (**तपसा**)

तपस्या से (**च**) और (**भूतानाम् अद्रोहेण**) प्राणियों के साथ द्रोह-भावना न रखते हुए अर्थात् अहिंसा की भावना रखते हुए (**पौर्विकीं जातिं स्मरति**) पूर्वजन्म की अवस्था को स्मरण कर लेता है ॥ १४८ ॥

अनुशीलन—योगदर्शन से पूर्व जन्मज्ञान की पुष्टि—योगदर्शनकार ने भी इस मान्यता को २.३९ सूत्र में वर्णित किया है। मनु ने वेदाभ्यास, अहिंसा, शौच= अशुद्धिभाव से असंसर्ग आदि द्वारा पूर्वजन्म एवं जन्मकारणों का बोध होना कहा है। उसी प्रकार योगदर्शन में भी है—

''**अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंता सम्बोधः ॥**'' (१.२.३९)

अपरिग्रह में अहिंसा, वेदादि श्रेष्ठ शास्त्रों तथा श्रेष्ठों की संगति, विषयों में अनासक्ति आदि बातें होती हैं। इन अपरिग्रह की बातों में स्थिरता होने से भूत और वर्तमान जन्मों एवं जन्मकारणों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥
(४०)

(**पौर्विकीं जातिं संस्मरन्**) पूर्वजन्म की अवस्था का स्मरण कर लेने पर (**पुनः ब्रह्म+एव+ अभ्यसते**) फिर भी यदि वेद के अभ्यास=स्वाध्याय में लगा रहता है तो (**अजस्रं ब्रह्माभ्यासेन**) निरन्तर वेद का अभ्यास करने से (**अनन्तं सुखम्+अश्नुते**) मोक्ष-सुख को प्राप्त कर लेता है ॥ १४९ ॥

अनुशीलन—इन्हीं भावों की तुलना के लिए द्रष्टव्य है १२.१०२ श्लोक।

वृद्धों का अभिवादन एवं स्वागत—

अभिवादयेद् वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम्।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठोऽन्वियात् ॥ १५४ ॥
(४१)

मनुष्य सदा (**वृद्धान् अभिवादयेत्**) वृद्धजनों= विद्या और आयु में बड़ों को पहले अभिवादन= नमस्कार करे (**च**) और (**स्वकम् आसनम् एव दद्यात्**) आने पर बैठने के लिए अपनी ओर से आसन

प्रदान करे, [बैठ जाने पर फिर] (**कृताञ्जलिः उपासीत**) हाथ जोड़ने की शिष्टता के बाद उनके पास बैठे और उनके योग्य कर्त्तव्य पूछे और उस को पूर्ण करे, (**गच्छतः**) लौटते हुए (**पृष्ठतः+अनु+इयात्**) कुछ दूर तक पीछे-पीछे जाकर विदा करे॥ १५४॥

ऋषि-अर्थ—''सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को नमस्ते अर्थात् उनका मान्य किया करे। जब वे अपने समीप आवें तब उठ कर, मान्यपूर्वक ला, अपने आसन पर बैठावे, और हाथ जोड़ के आप उनके समीप बैठे, उनसे प्रश्न पूछे और वे उत्तर देवें। और जब वे जाने लगें तब थोड़ी दूर पीछे-पीछे जाकर नमस्ते कर, विदा किया करे।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

सदाचार-धर्म का मूल तथा उसका फल—

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः॥ १५५॥
(४२)

मनुष्य सदा (**अतन्द्रितः**) आलस्य-प्रमाद छोड़ कर अर्थात् सावधान रहकर (**श्रुति-स्मृति+उदितम्**) वेद और स्मृति [२.६, ९, १२] में कहे गये (**स्वेषु कर्मसु सम्यक्+ निबद्धम्**) जो सभी कर्त्तव्यों का आधार है, अर्थात् जो सभी कर्त्तव्यों के साथ अनिवार्य रूप से पालनीय है उस (**धर्ममूलम्**) धर्म के मूल (**सदाचारं निषेवेत**) सदाचार का पालन करे॥ १५५॥

ऋषि-अर्थ—''गृहस्थ सदा आलस्य को छोड़कर वेद और मनुस्मृति में वेदानुकूल कहे हुए अपने कर्मों में निबद्ध और धर्म का मूल सदाचार अर्थात् सत्य और सत्पुरुष आप्त धर्मात्माओं का जो आचरण है, उसका सेवन सदा किया करें॥'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥ १५६॥
(४३)

(**आचारात् हि आयुः**) सदाचार या धर्माचरण से ही दीर्घायु (**आचारात्+ईप्सिताः प्रजाः**) सदाचार से

ही मनचाही उत्तम सन्तान (**आचारात् अक्षय्यं धनम्**) सदाचार से ही अक्षय धन (**लभते**) प्राप्त होता है (**आचारः अलक्षणं हन्ति**) धर्माचरण सारे अधर्मयुक्त बुरे लक्षणों का नाश कर देता है ॥ १५६ ॥

ऋषि-अर्थ—''मनुष्य धर्माचरण ही से दीर्घायु, उत्तम प्रजा और अक्षय धन को प्राप्त होता है धर्माचार बुरे अधर्मयुक्त लक्षणों का नाश कर देता है।'' (सं०वि० गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

दुराचार से हानि—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥ १५७॥
(४४)

(**दुराचारः हि पुरुषः**) जो दुराचारी पुरुष है वह (**लोके निन्दितः भवति**) संसार में निन्दा का पात्र बनता है (**च**) और (**सततं व्याधितः**) निरन्तर रोगों से ग्रस्त रहता हुआ (**दुःखभागी**) दुःख को भोगने वाला (**च**) और (**अल्पायुः+एव भवति**) कम आयु वाला होता है अर्थात् उसकी आयु घट जाती है और शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ १५७ ॥

ऋषि-अर्थ—''जो दुष्टाचारी होता है वह सर्वत्र निन्दित, दुःखभागी और व्याधि से सदा अल्पायु हो जाता है।'' (सं०वि० गृहाश्रमप्रकरण), (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥ १५८॥
(४५)

(**यः नरः**) जो मनुष्य (**सर्वलक्षणहीनः+ अपि**) विहित विद्या आदि सब लक्षणों से रहित होते हुए भी यदि (**सदाचारवान्**) सदाचारी है, (**श्रद्दधानः च अनसूयः**) सत्कर्मों के प्रति श्रद्धावान् है और ईर्ष्या-द्वेष-निन्दा से रहित है, वह (**शतं वर्षाणि जीवति**) सौ वर्ष पर्यन्त जीता है अर्थात् इन गुणों वाले व्यक्ति की आयु बढ़कर सौ वर्ष तक हो जाती है ॥ १५८ ॥

ऋषि-अर्थ—''जो सब अच्छे लक्षणों से हीन होकर भी सदाचारयुक्त, सत्य में श्रद्धावान् और निन्दा आदि दोषरहित होता है, वह सुख से सौ वर्ष पर्यन्त जीता है।'' (सं०वि० गृहाश्रमप्रकरण)

परवश कर्मों का त्याग—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत्सेवेत यत्नतः॥ १५९॥
(४६)

मनुष्य (**यत्+यत् परवशं कर्म**) जो-जो पराधीन कर्म है (**तत्+तत् यत्नेन वर्जयेत्**) उस-उस को प्रयत्नपूर्वक छोड़ देवे (**तु**) और (**यत्+यत्+ आत्मवशं स्यात्**) जो-जो अपने अधीन कर्म हो (**तत्+तत् यत्नतः सेवेत**) उस-उस को यत्नपूर्वक किया करे॥ १५९॥

ऋषि-अर्थ—स०प्र०, समु० ४, सं०वि०गृहाश्रम०।

सुख-दुःख का लक्षण—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥ १६०॥
(४७)

क्योंकि (**परवशं सर्वं दुःखम्**) जो कुछ भी पराधीन कर्म है वह सब दुःख रूप है, और (**आत्मवशं सर्वं सुखम्**) जो-जो स्वाधीन कर्म है वह सुखरूप है। (**एतत् समासेन**) यह संक्षेप से (**सुखदुःखयोः लक्षणं विद्यात्**) सुख और दुःख का लक्षण जाने अर्थात् सुख और दुःख की पहचान कराने वाला कर्म समझें॥ १६०॥

ऋषि-अर्थ—''क्योंकि जो-जो पराधीनता है वह-वह सब दुःख और जो-जो स्वाधीनता है वह-वह सब सुख, संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानना चाहिए।'' (स०प्र०, समु० ४) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि० गृहाश्रम०)

आत्मा के प्रसन्नताकारक कार्य ही करे—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥ १६१॥
(४८)

(**यत् कर्म कुर्वतः**) जिस कर्म के करने से (**अस्य अन्तरात्मनः परितोषः स्यात्**) मनुष्य की आत्मा को सन्तुष्टि एवं प्रसन्नता का अनुभव हो अर्थात् भय, शंका, लज्जा का अनुभव न हो (**तत्-तत् प्रयत्नेन कुर्वीत**) उस-उस कर्म को प्रयत्नपूर्वक करे (**विपरीतं तु वर्जयेत्**) जिससे सन्तुष्टि एवं प्रसन्नता न हो अर्थात् जिस कर्म को करते समय भय, शंका, लज्जा अनुभव हो उस कर्म को न करे॥ १६१ ॥

अनुशीलन—आत्मा के प्रसन्नताकारक कार्य किस प्रकार के होते हैं इसके लिए विस्तृत विवेचन १.१२५ [२.६] पर '**'आत्मनस्तुष्टि'**' शीर्षक अनुशीलन भी देखिए।

माता-पिता-आचार्यादि की हिंसा न करे—

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः॥
१६२॥ (४९)

(**आचार्यं प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुं ब्राह्मणान् गाः च सर्वान् तपस्विनः**) वेद को पढ़ाने वाला [२.१४०], वेद-शास्त्रों का प्रवचन करने वाला, पिता, माता, गुरु [२.१४२], विद्वान् ब्राह्मण, गाय और सभी तपस्वी इनको (**न हिंस्यात्**) न मारे, न प्रताड़ित करे॥ १६२ ॥

नास्तिकता, वेदनिन्दा आदि निषिद्ध कर्म—

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत्॥ १६३॥
(५०)

(**नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां कुत्सनम्**) नास्तिकता अर्थात् ईश्वर, आत्मा में अविश्वास करना, वेदों की निन्दा और सदाचारी विद्वानों की निन्दा (**द्वेषं दम्भं मानं क्रोधं च तैक्ष्ण्यं वर्जयेत्**) द्वेष, पाखण्ड, अभिमान, क्रोध, उग्रता=स्वभाव में तीव्रता इनको छोड़ देवे॥ १६३ ॥

शिष्य को केवल शिक्षार्थ ताड़ना करे—

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत्।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ॥ १६४॥
(५१)

(**पुत्रात् वा शिष्यात् अन्यत्र**) पुत्र और शिष्य से भिन्न (**परस्य दण्डं न+उद्यच्छेत्**) अन्य किसी व्यक्ति पर दण्डा न उठाये अर्थात् दण्डा आदि से न मारे (**क्रुद्धः एव न निपातयेत्**) और पुत्र तथा शिष्य को भी क्रोधित होकर न मारे, ताड़ना न करे, (**तौ तु शिष्ट्यर्थं ताडयेत्**) उन पुत्र और शिष्य को भी केवल शिक्षा देने की भावना से ही ताड़ना करे॥ १६४॥

इसी भाव का ऋषि वाक्य—''परन्तु माता, पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष से ताड़न न करें किन्तु ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रखें''।
(स०प्र० समु० २)

अनुशीलन—इसी सन्दर्भ में ४.१७५ श्लोक भी द्रष्टव्य है। उसमें निर्देश है कि न अमर्यादित वाणी बोले, न अमर्यादित ताड़ना करे, न लोभवश किसी पर अन्याय करे। शिष्यों से संयमपूर्वक व्यवहार करे।

अधर्म-निन्दा एवं अधर्म से दुःखप्राप्ति—

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते॥ १७०॥
(५२)

(**यः+हि नरः अधार्मिकः**) जो मनुष्य अधार्मिक है, अधर्म के कार्य करता है, (**च**) और (**यस्य अनृतं धनम्**) जिसका अधर्म-असत्य से संचित किया हुआ धन है (**च**) और (**यः हिंसारतः**) जो हिंसा में रत है, दूसरों को पीड़ा देता है (**असौ**) ऐसा मनुष्य (**इह सुखं न एधते**) इस जीवन में कभी सुख प्राप्त नहीं कर सकता है और अधर्म के कारण उसे परजन्मों में भी सुख नहीं मिलता॥ १७०॥

ऋषि-अर्थ—''जो अधार्मिक मनुष्य है और जिसका अधर्म से संचित किया हुआ धन है और जो

सदा हिंसा में अर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है वह इस लोक और परलोक अर्थात् परजन्म में सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम्॥१७१॥
(५३)

(**अधार्मिकाणां पापानां आशु विपर्ययम्**) अधार्मिक पापियों का [१७४ में वर्णित रूप में यदि पापों से उनकी उन्नति और समृद्धि हो गई है तो भी] फिर से विनाश तीव्र गति से होता है (**पश्यन्**) यह समझते हुए (**धर्मेण सीदन्+अपि**) धर्माचरण से कष्ट उठाता हुआ भी (**अधर्मे मनः न निवेशयेत्**) अधर्म में मन को न लगावे अर्थात् धर्म में मन रखे और धर्म का ही पालन करता रहे॥ १७१॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥ १७२॥
(५४)

(**लोके चरितः अधर्मः**) संसार में किया हुआ अधर्म, (**गौः+इव**) जैसे गाय को पालने-खिलाने का दुग्ध-प्राप्ति आदि फल तुरन्त प्राप्त नहीं होता अपितु समय-विशेष पर ही होता है; उसी प्रकार (**सद्यः न फलति**) तुरन्त फल नहीं देता, समय आने पर ही देता है (**तु**) किन्तु (**शनैः+आवर्तमानः**) धीरे-धीरे उसको चारों ओर से घेर कर (**कर्त्तुः+मूलानि कृन्तति**) अधर्म-कर्त्ता की जड़ों को ही काट डालता है अर्थात् उसका धीरे-धीरे पूर्णतः सर्वनाश कर देता है॥ १७२॥

ऋषि-अर्थ—''किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता परन्तु जिस समय अधर्म करता है, उसी समय फल भी नहीं होता; इसलिए अज्ञानी लोग अधर्माचरण से नहीं डरते परन्तु निश्चय जानो कि वह अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है।'' (स०प्र० १०४) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि० गृहाश्रम०)

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥
(५५)

अधर्म का जो फल (**यदि आत्मनि न**) यदि कर्ता के अपने जीवन में पूर्ण नहीं मिलता तो (**पुत्रेषु**) अधर्म में भागीदार पुत्रों के जीवन में मिलता है, (**पुत्रेषु न चेत्**) यदि पुत्रों के जीवन में पूर्ण नहीं मिलता तो (**नप्तृषु**) अधर्म में भागीदार नातियों-पोतों के जीवन में मिलता है, (**तु**) किन्तु (**कर्त्तुः कृतः+अधर्मः**) कर्त्ता के द्वारा किया गया अधर्म (**तु+एव निष्फलः न भवति**) कभी भी निष्फल नहीं होता अर्थात् अधर्म में भागीदार को उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है॥ १७३ ॥

ऋषि-अर्थ—''यदि अधर्म का फल कर्ता की विद्यमानता में न हो तो पुत्रों, और पुत्रों के समय में न हो तो नातियों के समय में अवश्य प्राप्त होता है किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि कर्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

अनुशीलन—कर्मफल का भोक्ता कौन?— ४.२४० में कर्त्ता को ही सुकृत-दुष्कृत का भोक्ता माना है, जबकि यहाँ किये हुए अधर्म का फल पुत्र-पौत्रों तक प्राप्त होना कहा है। इस प्रकार विरोध-सा प्रतीत होता है, किन्तु इनमें परस्परविरोध नहीं है। वहाँ व्यक्तिगत स्तर पर किये जाने वाले सुकृत-दुष्कृत का कर्त्ता को व्यक्तिगत रूप में ही भोक्ता माना है, जबकि यहाँ प्रसंग अधर्मपूर्वक भोगों के संग्रह का है [४.१७०-१७४]। व्यक्ति, हिंसा, अधर्म आदि से [४.१७०] यदि धनसंग्रह करता है और वह एकाएक समृद्ध होता हुआ भी दृष्टिगत होता है, किन्तु अन्ततः समूल विनाश के रूप में उसे फल भोगना पड़ता है [४.१७०]। अधर्म, हिंसा आदि से प्राप्त किये धन-भोगों के सेवन में जो-जो भी पुत्र-पौत्रादि पारिवारिक जन सम्मिलित होते हैं, वे भी उस अधर्म में भागीदार होने के कारण उसके फल को भोगते हैं। इसकी पुष्टि के लिए हिंसा के प्रसंग में मनु की मान्यता ५.५१ में देखिए। वहाँ हिंसा में किसी भी प्रकार का भाग लेने वाले प्रत्येक आठ प्रकार

के व्यक्तियों को अधर्मी=पापी माना है। इसी प्रकार सभी अधर्मों के कामों में समझना चाहिए। जब वह अधर्मी है तो उसके दुख:रूप फल का भी भागी होगा, किन्तु कर्त्ता के भोगने योग्य निजी फल को कोई नहीं बांट सकता है [४.२४०]। सब अपने-अपने फल के भोक्ता स्वयं होते हैं।

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥ १७४॥
(५६)

मनुष्य (**अधर्मेण तावत् एधते**) अधर्माचरण के द्वारा पहले-पहले उन्नति करता है, (**ततः भद्राणि पश्यति**) उससे वह अपना कल्याण=सुख-सुविधा, मान-प्रतिष्ठा प्राप्ति होते हुए भी अनुभव करता है, (**ततः सपत्नान्+जयति**) उससे शत्रुओं पर भी बढ़ोतरी प्राप्त करता है (**तु**) किन्तु अन्ततः उस अधर्मकर्त्ता का (**समूलः विनश्यति**) जड़ से ही सर्वनाश हो जाता है॥ १७४॥

ऋषि-अर्थ—''जब धर्मात्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़ (जैसा तालाब के बंध को तोड़कर जल चारों ओर फैल जाता है वैसे) मिथ्याभाषण, कपट, पाखण्ड अर्थात् रक्षा करने वाले वेदों का खण्डन और विश्वासघात आदि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर प्रथम बढ़ता है, पश्चात् धनादि ऐश्वर्य से खान-पान, वस्त्र, आभूषण, यान, स्थान, मान-प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है, पश्चात् शीघ्र नष्ट हो जाता है। जैसे जड़ कटा हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है, वैसे अधर्मी नष्ट हो जाता है।'' (स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—अधर्म दु:ख का कारण है और धर्म सुख का कारण है। इस मान्यता की पुष्टि के लिए ६.६४ श्लोक द्रष्टव्य है।

सत्यधर्म का पालन करे—

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः॥ १७५॥
(५७)

मनुष्य (**सत्यधर्म+आर्यवृत्तेषु**) सत्यधर्म और आर्य=उत्तम, सदाचारयुक्त आचरण में (**च**) और (**शौचे**) मन-वचन-कर्म की पवित्रता तथा शरीर की शुद्धि में (**सदा एव आरमेत्**) सदैव प्रयत्नशील रहे (**च**) और (**वाक्+बाहू+उदर-संयतः**) वाणी, बाहु, उदर अर्थात् जन्म, धन आदि पाने के लोभ को वश में रखते हुए (**धर्मेण**) धर्मपूर्वक (**शिष्यान् शिष्यात्**) शिष्यों को शिक्षा दे और उन पर अनुशासन रखे॥ १७५॥

ऋषि अर्थ—''इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि सत्यधर्म और आर्य अर्थात् उत्तम पुरुषों के आचरणों और भीतर-बाहर की पवित्रता में सदा रमण करें। अपनी वाणी, बाहू, उदर को नियम और सत्यधर्म के साथ वर्तमान रखके शिष्यों को सदा शिक्षा किया करें।'' (सं०वि० गृहाश्रम० में दो बार) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

धर्मवर्जित अर्थ-काम का त्याग—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥ १७६॥
(५८)

(**यौ अर्थकामौ धर्मवर्जितौ स्याताम्**) जो अर्थ =धन-ऐश्वर्य और कामनापूर्ति धर्म से रहित हो अर्थात् अधर्म से सिद्ध होती हो, उसको (**परित्यजेत्**) छोड़ देवे (**च**) और (**असुखोदर्कम्**) भविष्य में दुःख उत्पन्न करने वाला (**च**) और (**लोकविक्रुष्टम् एव**) लोगों द्वारा निन्दित हो (**धर्मम् अपि**) ऐसे नाममात्र के धर्म या धर्माभास को भी छोड़ देवे॥ १७६॥

ऋषि-अर्थ—''जो धर्म से वर्जित धनादिपदार्थ और काम हों उन्हें सर्वथा शीघ्र छोड़ देवे और जो धर्माभास अर्थात् उत्तरकाल में दुःखदायक कर्म हैं और जो लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करने वाले कर्म हैं उनसे भी दूर रहें।'' (सं०वि० गृहाश्रम० में दो बार)

अनुशीलन—(१) श्लोक में उक्त बातों को

उदाहरणपूर्वक स्पष्ट किया जाता है—

(क) **धर्मवर्जित अर्थ**=जैसे—चोरी, डकैती, रिश्वत, भ्रष्टाचार, छलकपट, हिंसा, परपीड़ा, अधर्म आदि से प्राप्त धन। ऐसा धन धर्मवर्जित है [द्रष्टव्य ४.२, ३, ११, १५, १७० ॥ ८.३०-३६]।

(ख) **धर्मवर्जितकाम**=जैसे—अतिविषयाक्ति [४.१६], परस्त्रीगमन [४.१३३-१३४], बाल्यकाल में विवाह [३.१-४], पर्वदिनों में या ऋतुकाल के बिना स्त्रीसमागम [३.४५; ४.१२८] विधिरहित नियोग [९.५९-६३] आदि कामभावना और अन्य शास्त्रनिषिद्ध सांसारिक कामनाओं की पूर्ति आदि धर्मविरुद्ध कार्यों के अन्तर्गत आते हैं।

(ग) **उत्तरकाल में असुखकारक धर्म**—जैसे—स्त्री-पुत्रों के रहते हुए सर्वस्व दान कर देना, अतितपस्या से शरीर को क्षीण करना [२.७५ (२.१००)] आदि बातें धर्माभास हैं, जिनसे उत्तरकाल में दुःखप्राप्ति होती है।

(घ) **लोकविक्रुष्ट धर्म**—अकाल या अभाव में कर ग्रहण करना, काणे को काणा कहना, हीन को हीन कहना, आदि बातें सत्य होते हुए भी लोकनिन्दित एवं शिष्टधर्म के विरुद्ध हैं। मनु ने कहा है—'सत्य बोले किन्तु हितकर सत्य बोले' [४.१३८]। अप्रिय बातें नहीं कहनी चाहिएँ [४.१४१]।

(२) **धर्म, अर्थ, काम का स्वरूप**—धर्म, अर्थ, काम के स्वरूप को समझने के लिए ७.२६ की समीक्षा देखिए।

चपलता का त्याग—

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः।
न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः॥ १७७॥
(५९)

मनुष्य (**पाणि-पाद-चपलः न**) हाथ-पैरों से चंचल न हो, (**नेत्र-चपलः न**) नेत्रों से चंचल न हो, (**अनृजुः**) कुटिलता रहित रहे, (**च एव**) और इसी प्रकार (**वाक्-चपलः न**) वाणी से चंचल न हो (**च**) और (**परद्रोह-कर्मधीः न स्यात्**) ईर्ष्या व द्वेषभाव से दूसरों के काम बिगाड़ने या हानि करने में मन लगाने

वाला न हो ॥ १७७ ॥

अनुशीलन—अंगों की चंचलता अशिष्ट व्यवहार, अप्रौढ़ता और अजितेन्द्रियता की सूचक है। ईर्ष्या-द्वेष की बुद्धि रखकर दूसरों के काम बिगाड़ने की सोचते रहने से अन्ततः मनुष्य स्वयं तन-मन का रोगी हो जाता है। आज का चिकित्सा विज्ञान भी स्वीकार करता है कि अनेक रोग मन की नकारात्मकता से उत्पन्न होते हैं।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥ १७८॥
(६०)

(**येन+अस्य पितरः याताः**) जिस उत्तम और उन्नति के मार्ग पर किसी के माता-पिता चले हैं, और (**येन पितामहाः याताः**) जिस उत्तम मार्ग से किसी के दादा-दादी आदि चले हैं (**तेन सतां मार्गम् यायात्**) उन उत्तम सदाचारी लोगों के मार्ग पर ही चले अर्थात् असदाचारियों के या अश्रेष्ठ मार्ग पर न चले (**तेन गच्छन्**) उस श्रेष्ठ मार्ग पर चलने से मनुष्य (**न रिष्यते**) कभी दुःख को नहीं प्राप्त करता और न कभी अवनति को प्राप्त होता है ॥ १७८ ॥

विवाद न करने योग्य व्यक्ति—

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः॥ १७९॥
मातापितृभ्यां यामिभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥ १८०॥
(६१, ६२)

मनुष्य कभी (**ऋत्विक्-पुरोहित-आचार्यैः**) ऋत्विक्=विशेष यज्ञ कराने वालों [२.१४३], कुल-पुरोहित [७.७८], शिक्षा देने वालों [२.१४०] से, (**मातुल+अतिथि-संश्रितैः**) मामा, अतिथियों [३.१०२], आश्रित जनों आदि से, (**बाल-वृद्ध-आतुरैः**) बालकों, बूढ़ों, रोगियों से (**वैद्यैः**) वैद्यों, (**ज्ञाति-सम्बन्धि-बान्धवैः**) अपने वंशवालों, रिश्तेदारों, मित्रों से, (**माता-पितृभ्याम्**) माता-पिता से,

(**जामीभिः**) बहनों से (**भ्रात्रा**) भाइयों से, (**पुत्रेण**) पुत्र से (**भार्यया**) पत्नी से (**दुहित्रा**) पुत्री से (**दासवर्गेण**) सेवकों से (**विवादं न समाचरेत्**) कभी लड़ाई-झगड़ा न करें॥ १७९-१८०॥ (ऋषि व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

प्रतिग्रह का लालच न रखे—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत्।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति॥ १८६॥
(६३)

ब्राह्मण (**प्रतिग्रहः समर्थः+अपि**) दान लेने का अधिकारी होते हुए भी (**तत्र प्रसंगं वर्जयेत्**) दानप्राप्ति में आसक्तिभाव अर्थात् उससे धनसंग्रह की प्रवृत्ति को छोड़ देवे (**हि**) क्योंकि (**प्रतिग्रहेण**) दान लेने में आसक्ति रखने से अर्थात् लोभ-लालच की प्रवृत्ति होने से (**अस्य ब्राह्मं तेजः**) ब्राह्मण का ब्राह्मतेज=आत्मिक गौरव अथवा स्वाभिमान (**आशु-प्रशाम्यति**) शीघ्र क्षीण होने लगता है॥ १८६॥

प्रतिग्रह की विधियाँ—

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा॥ १८७॥
(६४)

(**प्राज्ञः**) बुद्धिमान् ब्राह्मण को चाहिए कि (**द्रव्याणां प्रतिग्रहे धर्म्यं विधिम् अविज्ञाय**) द्रव्यों के दान लेने में धर्मानुसार विधि को बिना विचारे (**क्षुधा अवसीदन्+अपि**) भूख से पीड़ित होता हुआ भी (**प्रतिग्रहं न कुर्यात्**) दानग्रहण न करे॥ १८७॥[1]

अनुशीलन—दानग्रहण की धर्मविधि—इस लोक में प्रतिग्रहरूप में द्रव्यों की दान लेने की धर्मविधि क्या है, इसको समझने के लिए मनु की निम्नलिखित मान्यताएँ

---

१. **प्रचलित अर्थ**—द्रव्यों के दान लेने में उनकी धर्मयुक्त विधि (ग्राह्य देवता, प्रतिग्रहमन्त्र आदि) को बिना जाने भूख से पीड़ित होता हुआ भी बुद्धिमान् ब्राह्मण दान को न ले॥ १८७॥]

व प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—(क) १.८८ में वेदाध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन में निरन्तररत व्यक्ति को ही दान लेने का अधिकार दिया है। दान लेने के वे ही अधिकारी हैं, जो इन कार्यों को धर्म मानकर निरन्तर करते हैं; इस बात का निर्देश मनु ने स्थान-स्थान पर किया है [२.७९-८१ (१०४-१०७), १४०-१४३ (१६५-१६८); ४.१७-२०, ३१, १४७, १४९; ११.२४५]। इस प्रकार धर्मविधि का एक भाग यह है कि अधिकारी ही दान लें। (ख) उपर्युक्त कार्यों में तल्लीन न रहने वाले व्यक्ति, वेद को एकबार पढ़कर उसका अभ्यास-मनन न करने वाले व्यक्ति, अतपस्वी, स्वभाव से छली-कपटी आदि दान लेने के अनधिकारी हैं [४.३०, १९०-१९१ आदि]। अनधिकारियों को दिया गया दान निष्फल होता है और लेने वाले पापी होते हैं। (ग) अधर्मी और वेद, यज्ञ आदि से हीन व्यक्तियों से दान नहीं लेना चाहिए [२.१५८, १६० (१८३, १८५)]। (घ) मनु द्वारा भक्ष्यरूप में विहित पदार्थ दान में ग्राह्य हैं। निषिद्ध अभक्ष्य मांस तामसिक आदि पदार्थ अग्राह्य हैं [५.५-९, ४५-५१; ६.१४ आदि], और सांसारिक विषयों में फसाने वाले पदार्थ भी अग्राह्य हैं [६.५८, ५७, ५५, २६ आदि]। इन बातों को जानना 'प्रतिग्रह की धर्मविधि' का ज्ञान करना है।

दान लेने के अनधिकारी तीन प्रकार के व्यक्ति—

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति॥ १९०॥

(६५)

(**अतपाः**) ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन, धर्मपालन, प्राणायाम, कष्टसहन आदि तपों [२.१६४-१६७; ६.७०, ७१] से रहित (**अनधीयानः**) प्रतिदिन वेदाभ्यास, सन्ध्योपासना, पंचयज्ञ आदि न करनेवाला [२.१०५, १०६] (**द्विजः**) जो द्विज (**प्रतिग्रह-रुचिः**) दान लेने की इच्छा रखता है, वह (**अश्म-प्लवेन अम्भसि इव**) पत्थर की नौका पर बैठने वाला जैसे निश्चित रूप से पानी में डूबता है, वैसे ही (**तेन सह एव मज्जति**) उस दान लेने की लोभभावना से दुःखसागर में डूब जाता है अथवा पतन के गर्त में गिर

जाता है ॥ १९० ॥

ऋषि-अर्थ—"एक—ब्रह्मचर्य सत्यभाषण आदि तप रहित, दूसरा—बिना पढ़ा हुआ, तीसरा—अत्यन्त सुखार्थ दूसरों से दान लेने वाला, ये तीनों पत्थर की नौका से समुद्र में तैरने के समान, अपने दुष्ट कर्मों के साथ ही दुःखसागर में डूबते हैं।" (स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—'अनधीयानः' की व्याख्या के लिए देखिए ४.१९२ की समीक्षा।

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित्॥ १९२॥
(६६)

(**धर्मवित्**) धर्म को जानने वाले व्यक्ति को चाहिए कि (**वैडालव्रतिके द्विजे**) 'वैडालव्रतिक' [=बिल्ली जैसे कपटी स्वभाव वाले ४.१९५] को (**बकव्रतिके**) 'बकव्रतिक' [=बगुले जैसे धोखेबाज स्वभाव वाले ४.१९६] (**विप्रे**) ब्राह्मण को, और (**अवेदविदि**) वेद को न जानने-पढ़ने वाले ब्राह्मण को (**वारि+अपि न प्रयच्छेत्**) जल भी न दे, अन्य-दान-दक्षिणा देने का तो प्रश्न ही नहीं उठता॥ १९२ ॥

अनुशीलन—**तीन प्रकार के असम्मान्य व्यक्ति**—(क) इस श्लोक में १९० में वर्णित व्यक्तियों को सादृश्यपरक दूसरी संज्ञाओं से वर्णित किया है, जैसे—अनधीयानः=अवेदवित्, अतपाः=सत्याचरण से रहित किन्तु द्विजनामधारी अर्थात् बकव्रतिक (ढोंगी), प्रतिग्रहरुचिः (प्रतिग्रह का लालची)=वैडालव्रतिक। आगे ४.१९५-१९६ में आखिरी दो के लक्षण भी स्पष्ट कर दिये हैं। ये वेदानुसारी आचरण के त्याग करनेवाले हैं। इस प्रकार इस श्लोक में पुनरुक्ति न होकर उनके स्पष्ट गुणों के आधार पर पर्यायवाची संज्ञाएँ दी हैं। (ख) 'अनधीयानः या अवेदवित्' का यहाँ अर्थ अविद्वान् नहीं है, अपितु उन व्यक्तियों से अभिप्राय है जो शिक्षण काल में एक बार वेद पढ़कर उसका निरन्तर स्वाध्याय, मनन-चिन्तन छोड़ देते हैं। ऐसे लोग वेदों के विद्वान् नहीं होते। मनु ने ब्राह्मणों को सदैव वेदों का स्वाध्याय-अभ्यास करते

रहने का निर्देश दिया है [२.७९-८१ (१०४-१०७), २.१४०-१४३ (२.१६५-१६८); ४.१७-२०, १४७, १४९; ११.२४५ आदि] निरन्तर वेदाभ्यासी, यजन-याजनशील, वेदाध्ययन-अध्यापन कराने वाले को ही मनु दान लेने का अधिकार देते हैं [१.८८, ४.३१]। अन्य शूद्रवत् होते हैं [२.१४३]। (ग) ४.३० में भी इन व्यक्तियों और इस प्रकार के अन्य व्यक्तियों को भी दान-सम्मान न देने का कथन है।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च॥ १९३॥ (६७)

(**विधिना अर्जितं धनम् अपि**) धर्म के अनुसार [४.२.१५, १७६ आदि] संचित किया हुआ धन भी (**एतेषु त्रिषु दत्तम्**) वैडालव्रतिक, बकव्रतिक और अवेदवित् इन तीनों को दिया हुआ (**हि**) निश्चय ही (**दातुः**) दानदाता के लिए (**च**) और (**आदातुः**) दान लेने वाले के लिए (**परत्र**) इस जन्म और परजन्म में प्राप्त होने वाले भावी फलविपाक के रूप में (**अनर्थाय एव भवति**) अनर्थ=अहित करने वाला ही होता है, उसका अच्छा फल नहीं मिलता॥ १९३॥

ऋषि-अर्थ—"जो धर्म से प्राप्त हुए धन का उक्त तीनों को देना है वह दान, दाता का नाश इसी जन्म और लेने वाले का नाश परजन्म में करता है।"

(स०प्र०, समु० ४)

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन्।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ॥ १९४॥ (६८)

(**यथा**) जैसे (**उपलेन प्लवेन**) पत्थर की नौका से (**उदके तरन्**) जल में तैरने वाला मनुष्य (**निमज्जति**) अवश्य डूबता है (**तथा**) उसी प्रकार (**अज्ञौ दातृ-प्रतीच्छकौ**) दानविधि के अज्ञानी दाता और दानगृहीता (**अधस्तात् निमज्जतः**) अधोगति रूपी दुःखसागर में डूब जाते हैं॥ १९४॥

(ऋषि अर्थ— स०प्र०, समु० ४)

वैडालव्रतिक का लक्षण—

धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः॥ १९५॥
(६९)

(**धर्मध्वजी**) धार्मिक न होते हुए भी धर्म का दिखावा करने वाला, (**सदालुब्धः**) सदा लोभ-लालच में ग्रस्त, (**छाद्मिकः**) कपटी, (**लोक-दम्भकः**) लोगों के सामने मिथ्यादम्भ करने वाला, अपनी झूठी बड़ाई करने वाला, (**हिंस्रः**) वैर-विरोध और क्रूर स्वभाव वाला, (**सर्वाभिसन्धकः**) स्वार्थ के कारण अच्छे-बुरों सबसे मेल कर लेने वाला (**वैडालव्रतिकः ज्ञेयः**) वैडालव्रतिक=बिल्ली जैसे स्वभाव वाला जानना चाहिये॥ १९५॥

ऋषि-अर्थ—''धर्म कुछ भी न करे, परन्तु धर्म के नाम से लोगों को ठगे, सर्वदा लोभ से युक्त, कपटी, संसारी मनुष्यों के सामने अपनी बड़ाई के गपोड़े मारा करे, प्राणियों का घातक, अन्य से वैरबुद्धि रखनेवाला, सब अच्छे और बुरों से भी मेल रखे उसको वैडाल-व्रतिक अर्थात् विडाल के समान धूर्त और नीच समझो।'' (स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—इनका वर्णन ४.३०, १९२ में भी द्रष्टव्य है।

बकव्रतिक का लक्षण—

अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः॥ १९६॥
(७०)

(**अधोदृष्टिः**) अपने को श्रेष्ठ दिखाने के लिए नीचे दृष्टि रखने का पाखण्ड करने वाला, (**नैष्कृतिकः**) बदला लेने की भावना रखने वाला, (**स्वार्थसाधन-तत्परः**) सदा सभी उपायों से स्वार्थ सिद्ध करने में यत्नशील, (**शठः**) धूर्त (**मिथ्या-विनीतः**) झूठी विनम्रता दिखाने वाला (**द्विजः**) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (**बकव्रतचरः**) बगुले के समान स्वभाव और आचरण

वाला जानना चाहिये ॥ १९६ ॥

ऋषि-अर्थ—''कीर्ति के लिए नीचे दृष्टि रखे, ईर्ष्यक, किसी ने उसका पैसा-भर अपराध किया हो तो उसका बदला प्राण तक लेने को तत्पर रहे। चाहे कपट, अधर्म, विश्वासघात क्यों न हो अपना प्रयोजन साधने में चतुर, चाहे अपनी बात झूठी क्यों न हो, परन्तु हठ कभी न छोड़े, झूठ-मूठ ऊपर से शील, सन्तोष और साधुता दिखलावे, उसको बगुले के समान नीच समझो।'' (स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—बकव्रतिक व्यक्तियों की चर्चा और निन्दा ४.३०, १९२ में भी द्रष्टव्य है।

दूसरों के स्नान किये जल में न नहाये—

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन।
निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते॥ २०१ ॥
(७१)

(**परकीयनिपानेषु कदाचन न स्नायात्**) दूसरों के हौज या टब में कभी न नहाये (**तु**) क्योंकि (**स्नात्वा**) वहाँ नहाकर नहाने वाला (**निपानकर्त्तुः दुष्कृतांशेन लिप्यते**) हौज या टब वाले की गन्दगी और बिमारी से लिप्त हो जाता है अर्थात् उसकी बीमारियाँ लग जाती हैं ॥ २०१ ॥[1]

अनुशीलन—यहां 'दुष्कृत' का 'पाप' अर्थ अप्रासंगिक एवं अयुक्तियुक्त है। प्रसंगानुसार 'रोगकारक जीवाणु' और 'गन्दगी' अर्थ ही उचित है।

किन जलों में स्नान करे—

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्त्रवणेषु च॥ २०३ ॥
(७२)

---

१. **प्रचलित अर्थ**—दूसरों के बनवाये हुए जलाशय (पोखरा, बावड़ी, कुआं आदि) में कभी स्नान न करे। और स्नान कर उक्त जलाशय बनवाने वाले के पाप के चौथाई भाग से (स्नान करने वाला मनुष्य) युक्त होता है ॥ २०१ ॥

(**नदीषु**) नदियों में (**देवखातेषु**) प्राकृतिक जलाशयों=झीलों में (**तडागेषु**) तालाबों में (**सरःसु**) झरनों में (**च**) और (**गर्तप्रस्त्रवणेषु**) ऐसे गड्ढ़ों में जिनका बहता पानी हो, आदि में (**नित्यं स्नानं समाचरेत्**) सदा स्नान करना चाहिए॥ २०३ ॥

यम-सेवन की प्रधानता—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥ २०४॥
(७३)

(**बुधः**) बुद्धिमान् मनुष्य (**यमान् सततं सेवेत**) यमों का निरन्तर पालन अवश्य किया करे (**केवलान् नियमान् न**) केवल नियमों का ही पालन करने का आग्रह न करे, क्योंकि (**केवलान् नियमान् भजन्**) केवल नियमों का पालन करते हुए और (**यमान् अकुर्वाणः**) यमों पर आचरण न करते हुए (**पतति**) जीवन में पतित हो जाता है अर्थात् यम और नियम दोनों का ही पालन करना उन्नतिकारक है॥ २०४॥

(ऋषि व्याख्यात—सं०वि० गृहाश्रम०)

अनुशीलन—(क) **यमसेवन के बिना पतन कैसे ?**—यहाँ मनु ने कहा है कि 'मनुष्य यमों का पालन न करके यदि नियमों के ही पालन में लगा रहे तो उसके पतित होने का भय रहता है', क्योंकि यम मुख्यरूप से आत्मा से सम्बद्ध आचरण हैं, जबकि नियम प्रमुखतः बाह्याचरण हैं। केवल बाह्याचरणों के सेवन से व्यक्ति की आत्मिक उन्नति नहीं हो सकती और न उसकी आत्मा में दृढ़ता रहती है। आत्मा से सम्बद्ध श्रेष्ठाचरणरूप यमों के पालन से मनुष्य वस्तुतः श्रेष्ठ बन जाता है। बाह्याचरण वाला व्यक्ति पाखण्ड भी कर सकता है, जबकि आत्मिक आचरण में पाखण्ड नहीं होता। इस प्रकार केवल नियमों के पालन के स्तर तक व्यक्ति के पतन की सम्भावना बनी रहती है। (ख) **यमों और नियमों की गणना एवं व्याख्या**—योगदर्शन २.३०-४५ सूत्रों में इनकी गणना की गई है। यहाँ यमों और नियमों का संक्षेप से उल्लेख किया जाता है—

"**अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः यमाः।**"
(योग० २.३०)

(१) **अहिंसा**—सब प्रकार से, सब काल में, सब प्राणियों के साथ हिंसा और वैरबुद्धि छोड़ के प्रेम—प्रीति से वर्त्तना। (२) **सत्य**—जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने। (३) **अस्तेय**—पदार्थवाले की आज्ञा के विना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना। इसी को चोरी-त्याग कहते हैं। (४) **ब्रह्मचर्य**—विद्या पढ़ने के लिए बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह का करना; परस्त्री, वेश्या आदि का त्यागना; सदा ऋतुगामी होना, विद्या को ठीक-ठीक पढ़के सदा पढ़ाते रहना; और उपस्थ इन्द्रिय का सदा नियम करना। (५) **अपरिग्रह**—विषय और अभिमान आदि दोषों से रहित होना।"
(ऋ०भा०भू०, उपासनाविषय)

"**शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः।**" (योग० २.३२)

"(१) **शौच**—पवित्रता करनी। सो भी दो प्रकार की है—एक भीतर की और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण, विद्याभ्यास, सत्सङ्ग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जल आदि से शरीर, स्थान, मार्ग, वस्त्र, खाना-पीना आदि शुद्ध करने से होती है। (२) **सन्तोष**—सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना, और दुःख में शोकातुर न होना, किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नहीं है। (३) **तप**—जैसे सोने को अग्नि में तपाके निर्मल कर देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभगुणों के आचरणरूप तप से निर्मल कर देना। (४) **स्वाध्याय**—मोक्षविद्याविधायक वेदशास्त्र का पढ़ना-पढ़ाना और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना-कराना, और (५) **ईश्वरप्रणिधान**—अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिए समर्पण करना।"
(ऋ०भा०भू०, उपासना विषय)

दानधर्म के पालन का कथन—

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः॥ २२७॥
(७४)

मनुष्य (**पात्रम्+आसाद्य**) सुपात्र को देखकर श्रेष्ठ कार्यों के लिए (**परितुष्टेन भावेन**) आत्मा की सन्तुष्टि और निःस्वार्थ, निर्लोभ एवं श्रद्धा भाव से [१२.२७-३७] (**शक्तितः**) शक्ति के अनुसार (**नित्यम्**) सदैव (**ऐष्टिकपौर्तिकम्**) इष्ट यज्ञों के आयोजन-सम्बन्धी और पौर्तिक=परोपकार के काम में आने वाले कुआ, तालाब आदि निर्माण सम्बन्धी कार्यों के लिए (**दानधर्मं निषेवेत**) दानधर्म का पालन करे अर्थात् दान दिया करे॥ २२७॥

वेद-दान की सर्वश्रेष्ठता—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥ २३३॥
(७५)

(**वारि+अन्न-गो-मही-वासः-तिल-कांचन-सर्पिषाम्**) जल, अन्न, गाय, भूमि, वस्त्र, तिल, स्वर्ण, घृत आदि (**सर्वेषाम्+एव दानानाम्**) दानों में (**ब्रह्मदानं विशिष्यते**) वेदविद्या का अध्यापन सर्वश्रेष्ठ है॥ २३३॥ (ऋषि व्याख्यात—स०प्र०, समु० ३)

धर्मसंचय का विधान एवं धर्मप्रशंसा—

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वलोकान्यपीडयन्॥ २३८॥
(७६)

मनुष्य (**परलोक सहायार्थम्**) परलोक=परजन्मों में सुख प्राप्ति के लिए या उत्तम परजन्म की प्राप्ति के लिए (**सर्वभूतानि+अपीडयन्**) किसी भी प्राणी को पीड़ा न देते हुए (**पुत्तिकाः वल्मीकम् इव**) दीमक जैसे बांबी का उत्तरोत्तर निर्माण करती है, ऐसे (**शनैः**) सावधानीपूर्वक उत्तरोत्तर (**धर्मं संचिनुयात्**) धर्म का अधिकाधिक संचय करे॥ २३८॥

ऋषि-अर्थ—''जैसे दीमक धीरे-धीरे बड़े भारी घर को बना लेती है, वैसे मनुष्य परजन्म के सहाय के लिए सब प्राणियों को पीड़ा न देकर धर्म का संचय धीरे-धीरे किया करे॥'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—यहाँ 'धीरे-धीरे' से अभिप्राय सावधानी पूर्वक उत्तरोत्तर धर्मसंचय करने से है। जैसे दीमक अपनी बांबी को बनाते हुए सावधानी बरतती है तथा उत्तरोत्तर उसे बढ़ाती जाती है और उसे गिरने नहीं देती इसी प्रकार मनुष्य भी अपने को कभी धर्म से गिरने न दे। कहीं कोई अधर्म न हो जाये, इस बात की सावधानी रखे।

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ २३९॥
(७७)

(**हि**) क्योंकि (**अमुत्र**) परजन्मों में (**सहायतार्थम्**) मनुष्य की सहायता करने के लिए (**माता च पिता न तिष्ठतः**) माता और पिता नहीं होते हैं, (**न पुत्र-दारा**) न पुत्र और स्त्री रहते हैं, (**न ज्ञातिः**) न सगे-सम्बन्धी रहते हैं, अर्थात् इनमें से कोई साथ नहीं जाता जो उसकी किसी प्रकार की सहायता कर सके (**केवलः धर्मः+तिष्ठति**) मनुष्य के साथ केवल सहायक के रूप में उसका किया धर्म ही साथ जाता है। वही मनुष्य को सुखप्राप्ति या श्रेष्ठजन्मप्राप्ति में सहायता करता है॥ २३९॥ (ऋषि व्याख्यात—स०प्र०, समु० ४)

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एको नु भुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥ २४०॥
(७८)

(**जन्तुः**) प्रत्येक जीव (**एकः प्रजायते**) अकेला ही जन्म ग्रहण करता है अर्थात् केवल अपने स्वयं के कर्मों के आधार पर ही जन्म ग्रहण करता है (**एकः+एव प्रलीयते**) अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है,

(**एकः सुकृतम् अनुभुङ्क्ते**) अकेला ही श्रेष्ठ कर्मों के सुखरूप फल को भोगता है (**च**) और (**एकः+एव दुष्कृतम्**) अकेला ही दुष्टकर्मों के पापरूप फल को भोगता है ॥ २४० ॥ (ऋषि व्याख्यात—स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—कर्मफल का भोक्ता कर्त्ता—इस श्लोक में व्यक्तिगत स्तर के सुकृत, दुष्कृत करने पर कर्त्ता को ही फल का भोक्ता माना है, किन्तु यदि उसके साथ अधर्म में और अधर्म से प्राप्त उसके भोगों, धर्मों-अधर्मों में अन्य व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं तो उस अधर्म का फल उनको भी प्राप्त होता है। मनु ने यह मान्यता अधर्म से धनसंग्रह के प्रसंग में [४.१७० में] स्पष्ट की है [४.१७३]। (द्रष्टव्य ४.१७३ पर भी इस विषयक अनुशीलन)। अभिप्राय यह है कि कर्त्ता के भोगने योग्य निजी फल को कोई दूसरा नहीं बांट सकता जब तक कि वह कर्म में भागीदार न हो। एक अन्य श्लोक मिलता है—

एकः पापनि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥

''यह भी समझ लो कि कुटुम्ब में एक पुरुष पाप करके पदार्थ लाता है और महाजन अर्थात् कुटुम्ब उसको भोगता है। भोगने वाले दोष-भागी नहीं होते किन्तु अधर्म का कर्त्ता ही दोष का भागी होता है॥'' (स०प्र०, समु० ४) यहाँ महर्षि दयानन्द ने भी अपराधकर्म की दृष्टि से कर्त्ता को ही दोषी माना है। दोषभागी होने के कारण कानूनी रूप से वही उस अपराध में दण्डनीय होता है। कुटुम्ब उसके आश्रित होता है, उसे पापकर्म से लायी कमाई का कभी ज्ञान नहीं होता है तो कभी होता है। इस प्रकार भोक्ता होते हुए भी कर्त्ता न होने के कारण कुटुम्ब उस अपराध कर्म में कानून में दोषी नहीं माना जाता है, किन्तु व्यक्तिगत स्तर पर पापफल की प्राप्ति में वह भागी अवश्य है। [४.१७०]।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥
(७९)

(**मृतं शरीरम्**) किसी के मर जाने पर उसके शरीर को (**काष्ठ-लोष्ठसमं क्षितौ उत्सृज्य**) लक्कड़ और

मिट्टी के ढ़ेले के समान भूमि (=चिता) पर रखकर (**बान्धवाः**) सगे-सम्बन्धी (**विमुखाः यान्ति**) मुंह फेर कर चले जाते हैं अर्थात् छोड़कर चले जाते हैं (**तम्**) उसके साथ परजन्म में केवल (**धर्मः+ अनुगच्छति**) धर्म ही साथ-साथ जाता है, अन्य कोई सगा-सम्बन्धी, धन, पदार्थ साथ नहीं जाता॥ २४१ ॥

ऋषि-अर्थ—''जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है उसको मिट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़कर, पीठ दे, बन्धुवर्ग विमुख होकर चले जाते हैं, कोई उसके साथ जाने वाला नहीं होता, किन्तु एक धर्म ही उसका संगी होता है।'' (स०प्र०, समु० ४)

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥ २४२ ॥
(८०)

(**तस्मात्**) इसलिए (**सहायार्थम्**) परजन्मों में सहायता के लिए (**नित्यं शनैः**) सदैव सावधानीपूर्वक (**धर्मं संचिनुयात्**) उत्तरोत्तर धर्म का संचय करे [४.२३८], (**हि**) क्योंकि (**धर्मेण सहायेन**) धर्म के ही सहाय से (**दुस्तरं तमः तरति**) दुष्कर दुःख-सागर को जीव तैर जाता है अर्थात् धर्म ही दुःखसागर से पार उतार कर परजन्म में सुख और मोक्ष प्राप्त करने में एक मात्र सहायक होता है॥ २४२ ॥

ऋषि-अर्थ—''उस हेतु से परलोक अर्थात् परमसुख और परजन्म के सहायार्थ नित्य धर्म का संचय धीरे-धीरे करता जाये, क्योंकि धर्म ही के सहाय से बड़े-बड़े दुस्तर दुःखसागर को जीव तर सकता है।''
(स०प्र०, समु० ४)

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्विषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम्॥ २४३ ॥
(८१)

(**तपसा हतकिल्विषम्**) धर्मपालन रूप तप से जिसके पापभाव नष्ट हो चुके हैं उस (**धर्मप्रधानम्**) धर्माचरण की प्रधानता वाले (**भास्वन्तम्**) धर्म से

देदीप्यमान (**खशरीरिणम्**) सूक्ष्मशरीरी अर्थात् देहान्त हो जाने पर परलोक में जाने को तैयार सूक्ष्म शरीर वाले (**पुरुषम्**) व्यक्ति को=जीव को (**आशु परलोकं नयति**) धर्म ही त्वरित गति से ब्रह्मलोक में ले जाता है अर्थात् धर्म ही शीघ्र ईश्वर को प्राप्त कराता है॥ २४३ ॥

ऋषि-अर्थ—''जो पुरुष धर्म को ही प्रधान समझता, जिसका धर्म के अनुष्ठान से कर्त्तव्य पाप दूर हो गया, उसको प्रकाशस्वरूप और आकाश जिसका शरीरवत् है उस परलोक अर्थात् परम दर्शनीय परमात्मा को धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है।'' (स०प्र०, समु० ४)

उत्तमों की संगति करें—

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत्॥ २४४॥
(८२)

जो मनुष्य (**कुलम्+उत्कर्षं निनीषुः**) अपने सहित सम्पूर्ण कुल का उत्थान चाहता है, वह (**नित्यम्**) सदैव (**उत्तमैः+उत्तमैः सह सम्बन्धान्+आचरेत्**) श्रेष्ठ-श्रेष्ठ लोगों के साथ ही सम्बन्ध एवं संगति रखे, और (**अधमान्+अधमान् त्यजेत्**) गुण-आचरण की दृष्टि से निकृष्टों-निकृष्टों की संगति छोड़ दे॥ २४४॥[१] (ऋषि व्याख्यात—स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—यहाँ उत्तम का अर्थ बड़ा नहीं है अपितु श्रेष्ठ है, और अधम का 'नीच'। यह अगले अर्थवादरूप श्लोक से भी सिद्ध है।

उत्तमानुत्तमान् गच्छन् हीनान्हीनांश्च वर्जयन्।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम्॥ २४५॥
(८३)

(**ब्राह्मणः**) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विज (**उत्तमान्+उत्तमान् गच्छन्**) श्रेष्ठ-श्रेष्ठ लोगों के साथ

---

१. **प्रचलित अर्थ**—वंश को उन्नत करने की इच्छा वाला सर्वदा (अपने से) बड़ों-बड़ों के साथ सम्बन्ध करे और (अपने से) नीचों-नीचों को छोड़ दे (उनसे सम्बन्ध न करे)॥ २४४॥

सम्बन्ध और संगति करते हुए (**च**) तथा (**हीनान्-हीनान् वर्जयन्**) गुणहीनों की संगति छोड़कर (**श्रेष्ठताम्+ एति**) अधिक श्रेष्ठता को प्राप्त करता है और (**प्रत्यवायेन**) इसके विपरीत आचरण करने पर अर्थात् गुणहीनों से सम्बन्ध रखकर (**शूद्रताम्**) शूद्रत्व को प्राप्त करता है अर्थात् गुणशून्य होकर शूद्र बन जाता है॥ २४५ ॥

अनुशीलन—ब्राह्मण शब्द से अभिप्राय—इस श्लोक में 'ब्राह्मण' शब्द उपलक्षण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार अन्य वर्णों को भी श्रेष्ठता और शूद्रता प्राप्त होती है, यह अभिप्राय भी इस श्लोक में सन्निहित है। मनु की यह शैली है कि कहीं-कहीं छन्दपूर्त्यर्थ अथवा उपलक्षण रूप में उस प्रकार के शब्दों का प्रयोग विस्तृत अर्थ के लिए करते हैं; यथा—प्राणायामों का विधान सबके लिए है, किन्तु ६.७० में सभी वर्णों के लिए ब्राह्मण शब्द का उपलक्षणरूप में प्रयोग है। इसी प्रकार ६.९१ में चारों आश्रमवासियों के लिए धर्म के लक्षणों का विधान करते हुए भी उसी प्रसंग में ६.८८, ९४ श्लोकों में 'विप्र' शब्द का प्रयोग किया है, जो उपलक्षण रूप में है। २.१५ में भी ब्राह्मण शब्द का उपलक्षणात्मक प्रयोग है। शास्त्रों का यह सिद्धान्त है कि उपनयन दीक्षा प्राप्त करने के बाद सामान्यत: सभी वर्ण 'ब्राह्मण' कहलाते हैं—

''तस्मादपि (दीक्षितं) राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्। ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञात् जायते।''

(शत०ब्रा० ३.२.१.४०)

अर्थात् 'उपनयन आदि यज्ञों में दीक्षित होने के बाद क्षत्रिय अथवा वैश्य को भी 'ब्राह्मण' ही कह ले क्योंकि जो भी द्विज यज्ञ की दीक्षा प्राप्त करता है वह ब्राह्मण ही कहा जाता है।' ६.९७ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है। विशेष विधान के अतिरिक्त ब्राह्मण से 'द्विज' अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए।

स्वर्गप्राप्ति में सहायक गुण—

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन्।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः॥ २४६॥

(८४)

(**तथाव्रतः**) उत्तमों की संगति करने तथा गुणहीनों की संगति न करने का व्रतधारी जो द्विज (**दृढकारी**) दृढ़ता से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है और (**मृदुः**) दयालु स्वभाव वाला है (**दान्तः**) जितेन्द्रिय है (**अहिंस्रः**) हिंसा न करने वाला है या परपीड़ा का जिसका स्वभाव नहीं है, वह (**क्रूराचारैः +असंवसन्**) क्रूर-हिंसक आचरण वालों के साथ न रहते हुए (**दमदानाभ्याम्**) मन के संयम और विद्या आदि के दान से (**स्वर्गं जयेत्**) सुख पर अधिकार कर लेता है अथवा मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है ॥ २४६ ॥

ऋषि-अर्थ—''सदा दृढ़कारी, कोमल स्वभाव, जितेन्द्रिय हो, हिंसक, क्रूर, दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहने हारा, धर्मात्मा मन को जीत और विद्या-आदि दान से सुख को प्राप्त होवे।'' (स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—स्वर्ग का अर्थ इहलौकिक और मोक्षसुख है। इस विषयक विस्तृत अनुशीलन ३.७९ पर द्रष्टव्य है।

आत्मा के विरुद्ध बोलने वाला पापी है—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥ २५५ ॥
(८५)

(**यः**) जो व्यक्ति (**आत्मानम् अन्यथा सन्तम्**) आत्मा में कुछ अन्य विचार होते हुए अथवा अन्य आचरण होते हुए (**सत्सु**) श्रेष्ठ जनों में (**अन्यथा भाषते**) अन्य कुछ बताता है या बोलता है अर्थात् असत्य कथन करता है (**सः**) वह (**लोके पापकृत्तमः**) लोक में महान् पापी माना गया है, क्योंकि वह (**आत्मापहारकः स्तेनः**) आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाला, आत्मा का हनन करने वाला होता है। आत्मा के विचारों के विरुद्ध भाषण एवं आचरण 'आत्महत्या' भी है और चोरी भी है ॥ २५५ ॥

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥ २५६॥
(८६)

(**वाचि सर्वे अर्थाः नियताः**) वाणी में ही सब अर्थ=व्यवहार निश्चित हैं, सम्बन्धित हैं (**वाङ्मूलाः**) वाणी ही जिनका मूल और (**वाग्विनिःसृताः**) जिस वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं (**यः नरः**) जो मनुष्य (**तां वाचं स्तेनयेत्**) उस वाणी को चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है (**सः सर्वस्तेयकृत्**) वह जानो सब चोरी आदि पाप को करता है, इसलिए मिथ्याभाषण को छोड़के सदा सत्यभाषण ही किया करे॥ २५६॥

ऋषि-अर्थ—''परन्तु यह भी ध्यान में रखे कि जिस वाणी में अर्थ अर्थात् व्यवहार निश्चित होते हैं, यह वाणी ही उनका मूल और वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, उस वाणी को जो चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है, वह सब चोरी आदि पापों का करने वाला है।'' (स०प्र०, समु० ४)

योग्य पुत्र में गृह-कार्यों का समर्पण—

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः॥ २५७॥
(८७)

(**यथाविधि**) उक्त विधि के अनुसार (**महर्षि-पितृ-देवानाम् आनृण्यं गत्वा**) व्यक्ति [ब्रह्मचर्य-पालन एवं अध्ययन-अध्यापन से] ऋषि-ऋण को, [माता-पिता आदि बुजुर्गों की सेवा एवं सन्तानोत्पत्ति से] पितृ-ऋण को, [यज्ञों के अनुष्ठान से] देवऋण को चुकाकर (**सर्वं पुत्रे समासज्य**) घर की सारी जिम्मेदारी पुत्र को सौंपकर [तत्पश्चात् वानप्रस्थ लेने से पूर्व जब तक घर में रहे तब तक] (**माध्यस्थम्+ आश्रितः**) मध्यममार्ग के आश्रित होकर अर्थात् सांसारिक मोह-माया में लिप्त न होते हुए तटस्थ भाव से (**वसेत्**) घर में निवास करे॥ २५७॥

अनुशीलन—महर्षि, देव, पितृ शब्दों की विस्तृत विशेष व्यवस्था के ज्ञान के लिए ३.८२ देखिये।

आत्मचिन्तन का आदेश एवं फल—

एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति॥ २५८॥
(८८)

मनुष्य (**नित्यम्**) प्रतिदिन (**विविक्ते**) एकान्त में बैठकर (**एकाकी**) अकेला अर्थात् स्वयं अपनी आत्मा में (**आत्मनः हितं चिन्तयेत्**) आत्म-कल्याण की बातों का चिन्तन करें (**हि**) क्योंकि (**एकाकी चिन्तयानः**) एकाकी चिन्तन करने वाला व्यक्ति (**परं श्रेयः+अधिगच्छति**) अधिकाधिक कल्याण को प्राप्त करता जाता है॥ २५८॥

विषय का उपसंहार—

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती।
स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः॥ २५९॥
(८९)

(**एषा**) यह (**गृहस्थस्य विप्रस्य**) गृहस्थ विद्वान् द्विज=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की (**शाश्वती वृत्तिः**) सदा पालनीय वृत्ति=जीविका (**उदिता**) कही (**च**)

इति महर्षिमनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमार
समीक्षाभ्यां विभूषितायाञ्च विशुद्धमनु

और (**सत्त्ववृद्धिकरः शुभः**) सत्त्वगुण की वृद्धि करने वाला श्रेष्ठ (**स्नातकव्रतकल्पः**) स्नातक गृहस्थ के व्रतों के विधान को अर्थात् आचार-व्यवहार की विधि को भी कहा॥ २५९ ॥

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित्।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते॥ २६० ॥
(९०)

(**वेदशास्त्रवित् विप्रः**) वेदशास्त्र का ज्ञाता द्विज =ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (**अनेन वृत्तेन वर्तयन्**) इस जीविका या व्यवहार से वर्ताव करता हुआ (**व्यपेत-कल्मषः**) पापरहित अर्थात् पुण्यजीवी होकर (**नित्यं ब्रह्मलोके महीयते**) सदा ब्रह्मलोक अर्थात् ब्रह्म के आश्रय में मग्न रहकर आनन्द को प्राप्त करता है॥ २६० ॥

अनुशीलन—लोक का अर्थ—'लोकृ दर्शने' धातु के अनुसार 'लोक' शब्द का 'दर्शन' या 'स्थान' अर्थ भी है। यहाँ ब्रह्मलोक का अर्थ ब्रह्मदर्शन अथवा परमात्मा में आश्रय प्राप्त करना है। मोक्ष में जीव परमात्मा के आश्रय में रहकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त करते हैं। अथवा ऐसा व्यक्ति संसार में निवास करते हुए भी ईश्वर के प्रति समर्पित रहकर आध्यात्मिक जीवन जीता है।

कृतहिन्दीभाष्यसमन्वितायाम्, अनुशीलन-
स्मृतौ गृहस्थ-वृत्तिव्रतात्मकश्चतुर्थोऽध्यायः॥

अथ पञ्च

(हिन्दीभाष्य-'अनुशी

(गृहस्थान्तर्गत-भक्ष्याभक्ष्य-देहश

(भक्ष्याभक्ष्य ५.१ से ५.५६ तक)

द्विजातियों के लिए अभक्ष्य पदार्थ—

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च॥ ५॥
(१)

(**लशुनं गृञ्जनं पलाण्डुं च कवकानि**) लहसुन, सलगम, प्याज, कुकुरमुत्ता [छत्राक या कुम्हठा] (**च**) और (**अमेध्यप्रभवणि**) अशुद्ध स्थान में होने वाले सभी पदार्थ (**द्विजातीनाम् अभक्ष्याणि**) द्विजातियों और शूद्रों के लिये अभक्ष्य हैं॥ ५॥

ऋषि अर्थ—''द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को मलीन, विष्ठा मूत्र आदि के संसर्ग से उत्पन्न हुए शाक, फल-मूल आदि न खाना।'' (स०प्र०, समु० १०)

अनुशीलन—गृञ्जन का अर्थ शलगम—(क) यद्यपि 'गृञ्जन' शब्द का वर्तमान में 'गाजर' अर्थ प्रसिद्ध है, किन्तु प्राचीन काल में यह 'शलगम' के लिए प्रमुख रूप से प्रयुक्त होता था। धन्वन्तरि निघण्टु करवीरादि वर्ग ४.१० में गृञ्जन की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि 'गृञ्जन' के मूल पर शिखा होती है, यह यवनों को बहुत प्रिय है, गोलवत् है, गांठदार मूल है। इसके अन्य नाम हैं—शिखाकन्द, कन्द, डिण्डीरमोदक। वह स्वाद में कटु, उष्ण और दुर्गन्ध युक्त है'—**गृञ्जनं शिखिमूलं च यवनेष्टं च वर्तुलम्। ग्रन्थिमूलं शिखाकन्दं कन्दं डिण्डीरमोदकम्॥ गृञ्जनं कटुकोष्णं च दुर्गन्धं गुल्मनाशनम्।**'' ये लक्षण वर्तमान प्रसिद्ध पीत, रक्त या कृष्ण वर्ण और लम्बे आकार

मोऽध्यायः

लन'-समीक्षा सहित)

ुद्धि-द्रव्यशुद्धि-स्त्रीधर्म विषय)

वाले गाजर में नहीं घटते।

(ख) **परिगणित पदार्थों के अभक्ष्य होने में कारण**—इन पदार्थों को अभक्ष्य इस कारण माना गया है कि आयुर्वेद के अनुसार इनमें दुर्गुण की प्रमुखता है। ये सभी दुर्गन्धियुक्त पदार्थ हैं। लहशुन अत्यन्त राजसिक है, प्याज अत्यन्त तामसिक है, शलगम भी राजसिक है, छत्राक को दूषित पदार्थ माना गया है। मलिन और तामसिक-राजसिक भोजन से खाने वाले का मन भी वैसा ही बनता है। अतः ये निषिद्ध हैं। [अभक्ष्य पदार्थों का विधान ६.१४ में भी द्रष्टव्य है।]

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा।
आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः॥८॥

(२)

(**अनिर्दशायाः गोः क्षीरम्**) ब्याई हुई गौ का पहले दश दिन का दूध (**औष्ट्रम्**) ऊंटनी का दूध (**तथा ऐकशफम्**) तथा एक खुर वाली घोड़ी आदि का दूध (**आविकम्**) भेड़ का दूध (**सन्धिनीक्षीरम्**) सांड के संसर्ग को चाहने वाली गौ का दूध (च) और (**विवत्सायाः गोः पयः**) जिसका बछड़ा या बछिया मर गई हो उस गौ के दूध को भी छोड़ देवे। ['वर्ज्यानि' क्रिया अग्रिम श्लोक में है]॥८॥

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि॥९॥

(३)

(**माहिषं विना**) भैंस के दूध को छोड़कर (**सर्वेषाम् आरण्यानां मृगाणाम्**) सब जंगली पशुओं

का दूध (**च**) और (**स्त्रीक्षीरम्**) बालकों के लिए छोड़कर स्त्री का दूध (**च+एव**) तथा (**सर्व-शुक्तानि**) सब प्रकार के खट्टे पदार्थ कांजी आदि भी (**वर्ज्यानि**) वर्जित हैं ॥ ९ ॥

भक्ष्य पदार्थ—

दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम्।
यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः॥ १०॥ (४)

(**शुक्तेषु**) खट्टे पदार्थों में (**दधि च सर्वं दधिसंभवम् भक्ष्यम्**) दही और दही से बनने वाले सभी छाछ, मक्खन आदि पदार्थ खाने योग्य हैं (**च**) और (**यानि**) जितने खटाई युक्त पदार्थ (**शुभैः**) हितकारी या गुणकारक (**पुष्प-मूल-फलैः अभिषूयन्ते**) फूल, मूल, फलों से तैयार किये जाते हैं, वे भी खाने योग्य हैं ॥ १० ॥

अनुशीलन—श्रेष्ठ भक्ष्य पदार्थों का विधान ६.७, १३ में भी द्रष्टव्य है—

यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं भोज्यं भोज्यमगर्हितम्।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत्॥ २४॥ (५)

तथा (**अगर्हितम्**) दोषरहित या अनिन्दित अर्थात् निन्दित मांस आदि भोजन [५.४५-४९, ५१] से रहित और (**यत् किंचित् भोज्यं स्नेह-संयुक्तम्**) जो कोई खाने की वस्तु चिकनाई अर्थात् घृत आदि से मिलकर बनायी गयी हो (**तत् पर्युषितम्+अपि**) वह बासी भी खा लेनी चाहिए (**च**) तथा (**यत् हविःशेषं भवेत्**) जो यज्ञ की हवि से बची खाद्य-वस्तु हो वह भी (**आद्यम्**) खा लेनी चाहिए॥ २४॥

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया॥ २५॥ (६)

(**द्विजातिभिः**) द्विजातियों को (**यव-गोधूमजं सर्वम्**) जौ और गेहूं से बने पदार्थ (**च**) तथा (**पयसः**

विक्रिया एव) दूध के विकार से बने खोया, मिठाई आदि पदार्थ (**अस्नेहाक्तम्**) घृत आदि चिकनी वस्तु के मेल से न बने हों तो भी (**चिरस्थितम्+अपि**) देर से बने हुए भी (**आद्यम्**) खा लेने चाहिएं॥ २५॥

निन्दित भोजन मांस हिंसामूलक होने से पाप है—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते॥ ४५॥
(७)

(**यः**) जो व्यक्ति (**आत्मसुख+इच्छया**) अपने सुख की इच्छा से (**अहिंसकानि भूतानि**) कभी न मारने योग्य प्राणियों की (**हिनस्ति**) हत्या करता है (**सः**) वह (**जीवन् च मृतः**) जीते हुए और मरकर भी (**क्वचित् सुखं न एधते**) कहीं भी सुख-शान्ति को प्राप्त नहीं करता अर्थात् प्राणियों की हत्या करने वाले को इस जन्म और परजन्म में दुःख प्राप्त होता है॥ ४५॥

अनुशीलन—४५ वें श्लोक की प्रसंगसम्बद्धता पर विचार—५.२४-२५ श्लोकों में '**अगर्हितम्** पद से अनिन्द्य भोजन का विधान किया है। मांस आदि का भोजन शास्त्र एवं लोक—दोनों द्वारा निन्दित है। उन श्लोकों की प्रसंगप्राप्त्यनुसार ४५-४९, ५१ श्लोकों में इस बात का वर्णन किया है कि—'मांस एक निन्दित भोजन है, और किस प्रकार वह निन्दित है।' इस प्रकार २४-२५ श्लोकों से ४५ वें श्लोक की प्रसंगबद्धता सिद्ध होती है।

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥ ४६॥
(८)

(**यः**) जो व्यक्ति (**प्राणिनां बन्धन-वध-क्लेशान् न चिकीर्षति**) प्राणियों को पकड़ने के लिए बन्धन में डालने, वध करने, उनको पीड़ा पहुंचाने की इच्छा नहीं करता (**सः**) वह (**सर्वस्य हितप्रेप्सुः**) सब प्राणियों का हितैषी है और वह (**अत्यन्तं सुखम्+अश्नुते**) इस जन्म तथा परजन्म में बहुत अधिक सुख-शान्ति को प्राप्त करता है॥ ४६॥

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन॥ ४७॥
(९)

(**यः**) जो व्यक्ति (**किंचन न हिनस्ति**) किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता वह (**यत् ध्यायति**) जिसका ध्यान करता है (**यत् कुरुते**) जिस काम को करता है (**च**) और (**यत्र धृतिं बध्नाति**) जहां धैर्ययुक्त मन को लगाता है (**तत्**) उसको (**अयत्नेन**) सुगमता से (**अवाप्नोति**) प्राप्त कर लेता है अर्थात् उसको जीवन में शीघ्र सफलता मिलती है।

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ ४८॥
(१०)

(**प्राणिनां हिंसाम् अकृत्वा क्वचित् मांसं न उत्पद्यते**) प्राणियों की हिंसा किये बिना कभी मांस प्राप्त नहीं होता (**च**) और (**प्राणिवधः**) जीवों की हत्या करना (**न स्वर्ग्यः**) सुखदायक और मोक्षदायक [४.७९] नहीं है (**तस्मात्**) इस कारण (**मांसं विवर्जयेत्**) मांस नहीं खाना चाहिए॥ ४८॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥ ४९॥
(११)

(**च**) और (**मांसस्य समुत्पत्तिम्**) मांस की उत्पत्ति जैसे होती है उस घृणित क्रिया को (**देहिनां वध-बन्धौ च**) और प्राणियों की हत्या और बन्धन से होने वाले उनके कष्टों को (**प्रसमीक्ष्य**) देख-विचार कर (**सर्वमांसस्य भक्षणात्**) मनुष्य सब प्रकार के मांसभक्षण से (**निवर्तेत**) दूर रहे॥ ४९॥

मांसभक्षण-प्रसंग में आठ प्रकार के पापियों की गणना—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥५१॥
(१२)

(**अनुमन्ता**) किसी भी प्राणी को मारने की

अनुमति या आज्ञा देने वाला (**विशसिता**) मांस को काटने वाला (**निहन्ता**) पशु-पक्षी आदि को मारने वाला (**क्रय-विक्रयी**) मारने के लिए पशुओं को मोल लेने वाला और बेचने वाला तथा मांस को खरीदने एवं बेचने वाला (**संस्कर्त्ता**) पकाने वाला (**उपहर्त्ता**) परोसने वाला (**च**) और (**खादकः**) खाने वाला (**इति घातकाः**) ये सब हत्यारे और पापी हैं अर्थात् हत्या में भागीदार होने से पापी हैं॥ ५१ ॥

ऋषि अर्थ—''अनुमति=मारने की आज्ञा देने, मांस के काटने, पशु आदि के मारने, उनको मारने के लिए और बेचने, मांस के पकाने, परोसने और खाने वाले, आठ मनुष्य घातक=हिंसक अर्थात् ये सब पापकारी हैं''। (द० ल० गोकरुणा० ४११)

अनुशीलन—सभी अधर्मों में आठ पापी—जैसे हिंसा के पाप में आठ प्रकार के पापी होते हैं उसी प्रकार अन्य अधर्म के कार्यों में भी ये सब पापी होते हैं, और सभी को उसका फल मिलता है। इसकी सिद्धि के लिए ४.१७३ वाँ श्लोक प्रमाणरूप में द्रष्टव्य है।

(गृहस्थान्तर्गत देहशुद्धि-विषय)

[५.५७ से ५.११० तक]

देहशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः॥५७॥(१३)

(**चतुर्णाम्+अपि वर्णानाम्**) अब मैं चारों वर्णों के लिए (**अनुपूर्वशः**) क्रमशः [पहले] (**देह-शुद्धिम्**) शरीर और शरीरसम्बन्धी शुद्धि [१०५-११०] (**च**) और [फिर] (**तथा+एव**) उसी प्रकार चारों वर्णों के लिए (**द्रव्यशुद्धिम्**) पात्र, वस्त्र आदि पदार्थों की शुद्धि [१११-१४६] को (**प्रवक्ष्यामि**) कहूंगा— ॥५७॥[1]

---

१ **प्रचलित अर्थ**—प्रचलित संस्करणों में इस श्लोक के प्रथम पाद में 'देह-शुद्धिम्' के स्थान पर 'प्रेतशुद्धिम्' पाठ ग्रहण करके निम्न अर्थ प्रचलित है—
''चारों वर्णों के प्रेतशुद्धि (मरणाशौच से शुद्धि) तथा

अनुशीलन—**'देहशुद्धिम्' पाठ मौलिक**—इस श्लोक के प्रथम पाद में **'प्रेतशुद्धिम्'** पाठ प्रचलित संस्करणों में प्रचलित है। इसके स्थान पर **'देहशुद्धिम्'** पाठ होना चाहिये, ऐसा मनु की शैली और विषयविवेचन से संकेत मिलता है। प्रतीत होता है कि अन्य प्रक्षेपों के समान कालान्तर में जब प्रेत-क्रिया और जन्म आदि में शुद्धिक्रिया एक कर्म-काण्ड का रूप ले गयी, तब यह पाठभेद करके प्रेतादि विषयक श्लोक मिला दिये गये। 'प्रेतशुद्धिम्' पाठ की अमौलिकता और 'देहशुद्धिम्' पाठ की मौलिकता निम्न प्रमाणों एवं युक्तियों से सिद्ध होती है—

(क) मनु की यह शैली है कि वे जिस विषय का प्रारम्भ जिस विषय संकेत से करते हैं, उसी संकेत से उसकी समाप्ति करते हैं [द्रष्टव्य ३.२८६ और ४.२५९ ॥ ५.१ और ९.२५०; १०.१३१ और ११.२६६ आदि], लेकिन यहां उस शैली से विपरीत उपलब्ध संस्करणों में विषय का प्रारम्भ **'प्रेतशुद्धि'** से दर्शाया गया है [५.५७] और समाप्ति **'शरीरशुद्धि'** से [५.११०]। विषय समाप्ति के सूचक श्लोक [५.१४६] के पदों से यह सिद्ध होता है कि यह **'शरीरशुद्धि'** का विषय था न किस प्रेतशुद्धि का। अत: इस श्लोक में समानार्थक 'देहशुद्धि' शब्द ही मनुसम्मत सिद्ध होता है। (ख) प्रचलित पाठ में इस प्रसंग का वर्णन भी **देह** [५.१०५], **गात्र** [५.१०९], **शरीर** [११०] आदि शब्दों से किया है, जो यह सिद्ध करता है कि यह वर्णन प्रेतविषयक नहीं अपितु देहशुद्धि-विषयक है। (ग) अग्रिम प्रसंग में वर्णित कुछ विषय संस्कार के अन्तर्गत आते हैं, जैसे सूतक अशुद्धि जातकर्म संस्कार में, मुण्डन अशुद्धि मुण्डन संस्कार में, प्रेत-अशुद्धि अन्त्येष्टि संस्कार में। यदि मनु के मतानुसार ये अशुद्धियां स्वीकार्य होती तो उनका कथन उक्त संस्कारों के वर्णन-प्रसंग में भी होता, किन्तु वहां नहीं है, जो यह सिद्ध करता है कि यह परवर्ती-प्रक्षेप है। (घ) प्रचलित पाठ के अनुसार यदि प्रेतशुद्धि पाठ को सही मानकर यहाँ इसी विषय का प्रसंग मान लिया जाये, तो यह आपत्ति आती

द्रव्यशुद्धि (तैजसादि पदार्थों की शुद्धि) को क्रम से यथायोग्य कहूंगा॥ ५७॥''

है कि प्रेतशुद्धि-विषय में दन्तोत्पत्तिकालीन शुद्धि, सूतकशुद्धि, शरीर, मन, आत्मा आदि की शुद्धि का वर्णन क्यों किया? प्रेत के मन और आत्मा होते ही नहीं। शरीरशुद्धि का भी उससे सम्बन्ध नहीं है। ये विषय प्रेतशुद्धि के अन्तर्गत नहीं आ सकते। इस प्रकार विषय-संकेतक श्लोक में और वर्णन में तालमेल का न होना भी यह सिद्ध करता है कि प्रक्षेपों का समायोजन करने के लिये यह पाठभेद बाद में किया गया है। वर्णनशृंखला में जुड़ा हुआ पाठ 'देहशुद्धिम्' ही है, और मन तथा आत्मा आदि शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ हैं। अतः इसी पाठ को मान्य पाठ के रूप में स्वीकार किया है।

देहधारियों के शुद्धिकारक पदार्थों की गणना—

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम्॥ १०५॥

(१४)

(**ज्ञानं तपः+अग्निः+आहारः**) सत्यज्ञान की प्राप्ति, धर्म रूप तप या कष्ट सहन करना, अग्नि का प्रयोग शुद्ध या रोग-नाशक आहार, (**मृत्+मनः+वारि+उपाञ्जनम्**) मिट्टी से धोना, शुद्ध संकल्प विकल्प, जल, उबटन, (**वायुः+कर्म+अर्ककालौ च**)सूर्य का प्रकाश या धूप, काल की अवधि ये (**देहिनां शुद्धेः कर्तॄणि**) देहधारियों के तन-मन को शुद्ध करने वाले पदार्थ हैं॥ १०५॥

सर्वोत्तम शुद्धि अर्थशुचिता—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥ १०६॥

(१५)

(**सर्वेषाम्+एव शौचानाम्**) सभी शुद्धिओं-पवित्रताओं में (**अर्थशौचं परं स्मृतम्**) धर्म से अर्थात् पवित्रता से अर्थसंग्रह करना ही [४.१७५] सर्वश्रेष्ठ शुद्धता-पवित्रता है। (**यः+अर्थे शुचिः**) जो अर्थ=धन संग्रह के विषय में पवित्र है अर्थात् अधर्म-अन्याय से धन ग्रहण नहीं करता (**सः शुचिः**) वही सर्वश्रेष्ठ शुद्ध-पवित्र कहलाता है (**मृद्+वारि शुचिः न शुचिः**) मिट्टी और जल

से होने वाली शुद्धिता-पवित्रता वैसी उत्तम शुद्धि नहीं है अर्थात् वह तो केवल बाह्य शुद्धिता है। वास्तविक शुद्धि तो मन-आत्मा की पवित्रता है।

ऋषि अर्थ—''जो धर्म से ही सब पदार्थों का संचय करना है वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता अर्थात् जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता वही पवित्र है, किन्तु जल, मृत्तिका आदि से जो पवित्रता होती है वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं होती।'' (सं०वि०, गृहाश्रम०)

धर्माचरण से विविध चरित्र-दोषों की शुद्धि—

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः॥ १०७॥
(१६)

(**विद्वांसः क्षान्त्या**) विद्वान् क्षान्ति=निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, हानि-लाभ, क्षमा आदि को सहन करने से, (**अकार्यकारिणः दानेन**) निर्धारित कर्त्तव्य से विरुद्ध कर्म करने वाले प्रायश्चित्तपूर्वक यज्ञ, सत्संग, विद्या, परोपकार हेतु दान देने से [११.४५] (**प्रच्छन्नपापाः जप्येन**) गुप्त रूप से पाप करने वाले अथवा मन से पाप का विचार करने वाले प्रायश्चित्त-पूर्वक ईश्वर का नाम और मन्त्रों का जप करने से, और (**वेदवित्तमाः तपसा**) वेदों के ज्ञाता धर्माचरण रूप तप करने से शुद्ध-पवित्र या निर्मल रहते हैं अर्थात् उनकी पाप भावना उक्त प्रकार से नष्ट हो जाती है॥ १०७॥

ऋषि अर्थ—विद्वान् लोग क्षमा से, दुष्ट कर्मकारी सत्संग और विद्या आदि शुभ गुणों के दान से, गुप्त पाप करने हारे विचार से त्याग कर और ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषण आदि से वेदवित् उत्तम विद्वान् शुद्ध होते हैं।'' (सं०वि०, गृहाश्रम०)

अनुशीलन—**दान से शुद्धि**—मनु ने ४.२३३ में कहा है—''**सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।**'' वेदादि के स्वाध्याय से श्रेष्ठता की प्राप्ति होती है। इन मान्यताओं की पुष्टि के लिये द्रष्टव्य है ११.२२६, २२७ श्लोक। शुद्ध होने से यहां अभिप्राय पाप भावना से रहित

होने से है, पापफल के क्षीण होने से नहीं। द्रष्टव्य ११.२२७ पर एतद्विषयक अनुशीलन।

शरीर, मन, आत्मा, बुद्धि की शुद्धि—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥ १०९॥
(१७)

(**गात्राणि अद्भिः शुद्ध्यन्ति**) शरीर और शरीर के अंग जल से शुद्ध-निर्मल होते हैं, (**मनः सत्येन शुद्ध्यति**) मन सत्य संकल्प, सत्यभाषण और सत्याचरण से शुद्ध होता है, (**भूतात्मा विद्या-तपोभ्यां**) जीवात्मा विद्याप्राप्ति और धर्मपालन रूप तप से, तथा (**बुद्धिः+ज्ञानेन शुद्ध्यति**) बुद्धि अधिकाधिक सत्यज्ञान के अर्जन से शुद्ध या निर्मल होती है॥ १०९॥

ऋषि-अर्थ—''जल से ऊपर के अङ्ग पवित्र होते हैं आत्मा और मन नहीं, मन तो सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध और जीवात्मा विद्या, योगाभ्यास और धर्माचरण ही से पवित्र तथा बुद्धि-ज्ञान से ही शुद्ध होती है, जल मृत्तिकादि से नहीं'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः।
नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम्॥ ११०॥
(१८)

(**एषः**) यह (**शारीरस्य शौचस्य विनिर्णयः**) शरीर और शरीर सम्बन्धी मन, बुद्धि, आत्मा की शुद्धि का निर्णय (**वः प्रोक्तः**) तुमसे कहा, अब (**नाना-विधानां द्रव्याणां शुद्धेः निर्णयं शृणुत**) विभिन्न प्रकार के पदार्थों की शुद्धि का निर्णय सुनो—॥ ११०॥

(द्रव्य-शुद्धि विषय)

[५.१११ से ५.१४६ तक]

पात्रों की शुद्धि का प्रकार—

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च।
भस्मनाऽद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः॥ १११॥
(१९)

(**तैजसाम्**) तैजस पदार्थ चमकीले सोना आदि की (**च**) और (**मणीनाम्**) मणियों तथा उनके पात्रों की (**च**) और (**सर्वस्य+अश्ममयस्य**) सब प्रकार के पत्थरों के पात्रों की (**शुद्धिः**) शुद्धि (**मनीषिभिः**) विद्वानों ने (**भस्मना+ अद्भिः च मृदा एव उक्ता**) भस्म=राख, जल और मिट्टी से कही है॥ १११॥

निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति।
अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम्॥ ११२॥
(२०)

(**निर्लेपम्**) जिसमें किसी चिकनाई, जूठन आदि का लेप न लगा हो ऐसा (**काञ्चनम्**) सोने का (**भाण्डम्**) पात्र, (**अब्जम्**) जल में उत्पन्न होने वाले मोती, शंख आदि से बना पात्र, पदार्थ या जलोत्पन्न पदार्थों से निर्मित कमण्डलु आदि (**च**) और (**अश्ममयम्**) पत्थरों के पात्र जैसे कुण्डी खरल आदि (**अनुपस्कृतं राजतम्**) चित्रकारी की खुदाई से रहित चांदी का पात्र (**अद्भिः+ एव विशुद्ध्यति**) केवल जल से ही शुद्ध हो जाता है॥ ११२॥

अनुशीलन—यहां 'निर्लेपम्' शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक प्रकार के पात्र से है।

ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च।
शौचं यथार्हं कर्त्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः॥११४॥
(२१)

(**ताम्र+अयः-कांस्य-रैत्यानां त्रपुणः च सीसकस्य शौचम्**) तांबा, लोहा, कांसा, पीतल, रांगा और सीसा, इनके बर्तनों की शुद्धि (**यथार्हम्**) यथा आवश्यक (**क्षार+अम्ल+उदक वारिभिः**) राख, खट्टा पदार्थ और जल से (**कर्त्तव्यम्**) करनी चाहिए॥ ११४॥

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम्।
प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम्॥ ११५॥
(२२)

(**सर्वेषां द्रवाणाम्**) सब घी, तेल आदि द्रव पदार्थों की (**शुद्धिः**) शुद्धि (**उत्पवनम्**) साफ करने और छान लेने से (**च**) और (**संहतानां प्रोक्षणम्**) ठोस

वस्तु जैसे लकड़ी की चौकी आदि की जल छिड़क कर पोंछने से (**च**) तथा (**दारवाणाम् तक्षणम्**) लकड़ी के पात्रों की शुद्धि घिसने या छीलने से (**स्मृतम्**) मानी है॥ ११५॥

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि।
चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु॥ ११६॥
(२३)

(**यज्ञकर्मणि**) यज्ञ कार्य में प्रयुक्त (**यज्ञ-पात्राणाम्**) यज्ञ के पात्रों की, (**चमसानां च ग्रहाणां शुद्धिः**) चमचों और कटोरों की शुद्धि (**पाणिना मार्जनं तु प्रक्षालनेन**) हाथ से रगड़कर मांजने और धोने से होती है॥ ११६॥

अनुशीलन—यह शुद्धि चिकनाईरहित पात्रों की कही है।

चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा।
स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च॥ ११७॥
(२४)

[घृत आदि की चिकनाई लगे पात्रों की शुद्धि की विधि यह है—] (**चरूणाम्**) यज्ञ के लिए पाक बनाने के पात्र चरुस्थाली आदि (**स्रुक्स्रुवाणाम्**) स्रुक् और स्रुव नामक चम्मचविशेष पात्रों की (**स्फ्य-शूर्प-शकटानाम्**) स्फ्य=तलवार की आकृति का खादिर वृक्ष का बना खड्ग, शूर्प=छाज, शकट=यज्ञियपदार्थ ढ़ोने की गाड़ी (**च**) और (**मुसल+उलूखलस्य च**) मूसल और ऊखल आदि यज्ञिय पदार्थों की (**शुद्धिः**) शुद्धि (**उष्णेन वारिणा**) गर्म जल से धोने से होती है॥ ११७॥

अनुशीलन—यज्ञपात्रों का परिचय एवं विवरण—मनु ने यहां संकेतरूप में कुछ ही पात्रों का उल्लेख किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौतसूत्र ग्रन्थों में अनेक यज्ञिय साधनों और यज्ञपात्रों का वर्णन आता है। श्लोकोक्त पात्रों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—(१) **स्रुक्**—यद्यपि स्रु क् और स्रुवों के अनेक प्रकार हैं, किन्तु प्रमुखतः चार स्रु क् हैं—जुहूः, उपभृत्, ध्रुवा और अग्नि-

होत्रहवनी। (२) **स्त्रुव**—वैकङ्कत स्त्रु व और खादिर स्त्रुव दो प्रमुख हैं। (३) **स्फ्य**—खदिर वृक्ष की लकड़ी का बना २२ अंगुल लम्बा खड्ग। (४) **शूर्प**=पदार्थों की सफाई के लिए छाज। (५) **शकट**=यज्ञ का सामान ढोने की गाड़ी। (६) **मुसल-उलूखल**—ऊखल सामान्यतः पलाश का बना होता है और नाभि तक ऊंचाई वाला होता है। मूसल सामान्यतः शिर तक लम्बा खदिर का बना होता है। ये इच्छित प्रमाण में और अन्य वृक्ष के भी हो सकते हैं।

अन्य प्रमुख यज्ञपात्र और यज्ञोपयोगी पदार्थ हैं—(७) आज्यस्थाली, (८) पुरोडाशपात्री, (९) प्रणीता, (१०) शम्या, (११) शृतावदानम्, (१२) उपवेषः, (१३) मकराकारकूर्चः, (१४) दृषत्, (१५) उपलः, (१६) षडवत्तम्, (१७) अभ्रिः, (१८) अधरारणिः, (१९) उत्तरारणिः, (२०) चात्रम्, (२१) प्रमन्थः, (२२) नेत्रम् अथवा रज्जुः, (२३) ओविली, (२४) इडापात्री, (२५) हविर्धानपात्री, (२६) यजमान-पात्री, (२७) पत्नीपात्री, (२८) अन्तर्धानकटः, (२९) प्राशित्रहरणम्, (३०) कृष्णाजिनम्, (३१) यजमानासनम्, (३२) पत्न्यासनम्, (३३) ब्रह्मासनम्, (३४) होत्रासनम्, (३५) चमस, (३६) ग्रह, आदि-आदि।

अन्य वस्त्रादि पदार्थों की शुद्धि—

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम्।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते॥ ११८॥
(२५)

(**बहूनां धान्यवाससां शौचम् अद्भिः प्रोक्षणम्**) बहुत-से अन्नों और वस्त्रों की शुद्धि जल से धोने अर्थात् डुबाने-पोंछने मात्र से हो जाती है (**तु**) किन्तु (**अल्पानाम्**) कुछ अन्न एवं वस्त्रों की (**शौचम्**) शुद्धि (**अद्भिः प्रक्षालनेन विधीयते**) जल से मसल कर धोने से होती है॥ ११८॥

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च।
शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते॥ ११९॥
(२६)

(**चर्मणां शुद्धिः चैलवत्**) चमड़े के बर्तनों की

शुद्धि वस्त्रों के समान होती है (**वैदलानां तथैव**) बांस के पात्रों की शुद्धि भी उसी प्रकार होती है (**च**) और (**शाक-मूल-फलानां शुद्धिः धान्यवत् इष्यते**) शाक, कन्दमूल और फलों की शुद्धि अन्नों के समान [५.११८] जल में धोने से होती है ॥ ११९ ॥

कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः ।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥
(२७)

(**कौशेय+आविकयोः**) रेशमी और ऊनी वस्त्रों की शुद्धि (**ऊषैः**) क्षारमिश्रित पदार्थों से (**कुतपानाम्**) कम्बलों की शुद्धि (**अरिष्टकैः**) रीठों से (**अंशुपट्टानां श्रीफलैः**) मलमल के कपड़ों की शुद्धि बेलफलों से (**क्षौमाणां गौरसर्षपैः**) अलसी आदि की छाल से बने वस्त्रों=वल्कल वस्त्रों की शुद्धि पीली सरसों से होती है ॥ १२० ॥

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च ।
शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥
(२८)

(**शंख-शृङ्गाणां अस्थि-दन्तमयस्य शुद्धिः**) शंख, सींग, हड्डी, दांत, इन से बने पदार्थों की शुद्धि (**विजानता**) बुद्धिमान् व्यक्ति को (**क्षौमवत्**) छाल=वल्कल से बने वस्त्रों के समान (**वा**) अथवा (**गोमूत्रेण+उदकेन**) गोमूत्र और पानी से (**कार्या**) करनी चाहिए ॥ १२१ ॥

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुध्यति ।
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥
(२९)

(**तृण-काष्ठं च पलालम्**) घास, काष्ठ और पुआल से बना पदार्थ (**प्रोक्षणात् शुद्ध्यति**) जल में डुबाकर पोंछने से शुद्ध होता है (**वेश्म**) घर की शुद्धि (**मार्जन+उपाञ्जनैः**) धोने-बुहारने और लीपने से होती है (**मृद्+मयं पुनः पाकेन**) मिट्टी का पात्र या पदार्थ फिर से आग पर रखकर उसमें जल आदि पका कर धोने से शुद्ध होता

है॥ १२२॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृन्मयम्॥ १२३॥
(३०)

(**मद्यैः मूत्रैः पुरीषैः ष्ठीवनैः पूयशोणितैः**) शराब, मूत्र, मल, थूक, राद, खून इनसे (**संस्पृष्टं मृन्मयम्**) लिपा हुआ मिट्टी का बर्तन (**पुनः पाकेन नैव शुद्ध्येत**) फिर पकाने से भी शुद्ध नहीं होता॥ १२३॥

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च।
गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः॥ १२४॥
(३१)

(**संमार्जन+उपाञ्जनेन सेकेन+उल्लेखनेन च गवां परिवासेन पञ्चभिः**) बुहारना, लीपना, छिड़काव करना या धोना, खुरचना और गौओं का निवास—इन पांच कामों से (भूमिः शुद्ध्यति) भूमि=स्थान शुद्ध होता है॥ १२४॥

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद् गन्धो लेपश्च तत्कृतः।
तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु॥ १२६॥
(३२)

(**यावत्**) जब तक (**अमेध्य+अक्तात्**) अशुद्ध वस्तु से सने पात्र से (**तत्कृतः गन्धः च लेपः**) उस अशुद्ध वस्तु की गन्ध और लेप [=पदार्थ का लगा रहना] (**न अपैति**) नहीं दूर हो जाता है (**सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु**) मिट्टी और जल से धोये जाने वाले सब पदार्थों की शुद्धि के लिए उन्हें (**तावत्**) तब तक (**मृद्+वारि आदेयम्**) मिट्टी और जल से धोते रहना चाहिए॥ १२६॥

एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत॥ १४६॥
(३३)

(**एषः**) यह (**सर्ववर्णानां कृत्स्नः शौच-विधिः**) सब वर्णों के लिए सम्पूर्ण शरीर-शुद्धि अर्थात् देह, मन, बुद्धि, आत्मा की शुद्धि (**च**) और (**तथा+ एव**) उसी

प्रकार (**द्रव्यशुद्धिः**) पदार्थों की शुद्धि (**वः उक्तः**) तुम्हें कही (**स्त्रीणां धर्मान् निबोधत**) अब स्त्रियों के धर्मों=कर्त्तव्यों को सुनो— ॥ १४६ ॥

(गृहस्थान्तर्गत पत्नीधर्म विषय)

[५.१४७ से ५.१६६ तक]

स्त्री के पिता, पति, पुत्र से अलग रहने से हानि की आशंका—

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले॥ १४९॥
(३४)

(**स्त्री**) कोई भी स्त्री (**पित्रा भर्त्रा वा सुतैः अपि**) पिता, पति अथवा पुत्रों से (**आत्मनः विरहं न इच्छेत्**) अपना बिछोह=सम्बन्ध विच्छेद करके अलग एकाकी रहने की इच्छा न करे (**हि**) क्योंकि (**एषां विरहेण**) इनसे अलग रहने से (**उभे कुले गर्ह्ये कुर्यात्**) यह आशंका रहती है कि कभी कोई ऐसी बात न हो जाये जिससे दोनों—पिता तथा पति के कुलों की निन्दा या अपयश हो जाये। अभिप्राय यह है कि स्त्री को सर्वदा परिजनों की सहायता अपेक्षित रखनी चाहिए, उसके बिना उसकी असुरक्षा की आशंका बनी रहती है॥ १४९ ॥

पत्नी में कौन से गुण होने चाहिएँ—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥ १५०॥
(३५)

पत्नी को (**सदा प्रहृष्टया भाव्यम्**) सदा अति प्रसन्न रहना चाहिये और (**गृहकार्येषु दक्षया**) गृह-सम्बन्धी कार्यों में चतुर होना चाहिये (**सुसंस्कृत+उपस्करया**) सब पदार्थों को स्वच्छ-शुद्ध रखने वाली होना चाहिये (**च**) और (**व्यये अमुक्तहस्तया**) खर्च करने में खुले हाथ वाली न हो अर्थात् धन को बहुत खर्च करने वाली नहीं होनी चाहिये॥ १५० ॥

ऋषि अर्थ—''स्त्री को योग्य है कि सदा आनन्दित

होके चतुरता से गृहकार्यों में वर्तमान रहे तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र, वस्त्र, गृह आदि के संस्कार और घर के भोजनादि में जितना धन नित्य आदि लगे उस व्यय के यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे॥'' (स०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४)

पति की सेवा-सुश्रूष करे—

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमते पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्॥ १५१॥
(३६)

(**पिता तु एनां यस्मै दद्यात्**) पिता इस कन्या को विवाहविधि के अनुसार [३.२९-३०] जिसे दे अर्थात् जिसके साथ विवाह करे (**वा**) अथवा (**पितुः अनुमते भ्राता**) पिता की सहमति से भाई जिससे विवाह कर दे (**तं जीवन्तं शुश्रूषेत**) उस पति के जीवित रहते हुए उसकी सेवा करे (**च**) और (**संस्थितं न लङ्घयेत्**) पति के साथ घर में स्थित रहते हुए अवमानना, व्यभिचार आदि से उसका उल्लंघन न करे। **अन्यार्थ** में-मर जाने पर व्यभिचार से पतिव्रत-धर्म का उल्लंघन न करे॥ १५१॥[१]

अनुशीलन—'संस्थित' शब्द का विवेचन— 'सम्' पूर्वक 'स्था' धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से संस्थित शब्द बनता है। अन्य टीकाकारों ने इसका केवल रूढार्थ 'मरने पर' अर्थ किया है, किन्तु यह उतना प्रासंगिक नहीं है, यतोहि—(क) यहां जीवित, अवस्था में साथ-साथ रहते हुए स्त्री के कर्त्तव्यों के विधान का प्रसंग है। [९.५६-६३]। इस प्रकार इस भाष्य में किया अर्थ—प्रासंगिक एवं मनुसम्मत है।

(ग) ९.७६, ८१ श्लोकों में विशेष कारणों से और विदेशगमन में अधिक समय बीतने पर जीते जी स्त्री-पुरुष दोनों के लिए नियोग अथवा विवाह का विधान किया है।

---

१. **प्रचलित अर्थ**—पिता या पिता की अनुमति से भाई उस (स्त्री को) जिसके लिए दे अर्थात् जिसके साथ विवाह कर दे, (स्त्री) जीते हुए उस (पति) की सेवा करे, उसके मरने पर (भी व्यभिचार, उसके श्राद्ध आदि का त्याग तथा पारलौकिक कार्य के खण्डन से) उस पति का उल्लंघन न करे॥ १५१॥

इस प्रकार प्रथम अर्थ मनुसम्मत अधिक प्रतीत होता है। यद्यपि 'पति के मर जाने पर पत्नी व्यभिचार से पतिव्रत धर्म का उल्लंघन न करे' यह अर्थ भी स्वीकार्य हो सकता है, किन्तु इसे नियोग या पुनर्विवाह निषेध के साथ नहीं जोड़ना चाहिए।

पत्नी पर यज्ञपूर्वक विवाह के बाद पति का स्वामित्व—

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम्॥ १५२॥
(३७)

(**विवाहेषु**) विवाहों में (**स्वस्त्ययनं च प्रजापतेः यज्ञः**) जो स्वस्तिपाठ [=शुभकामना के लिए मन्त्र पाठ] और प्रजापति-यज्ञ=[वैवाहिक यज्ञ] किया जाता है वह (**आसां मङ्गलार्थं प्रयुज्यते**) इनके कल्याण की भावना से ही किया जाता है (**प्रदानं स्वाम्यकारणम्**) विवाह में स्त्रियों को पति के लिए सौंप देना ही इन पर पति का कानूनी अधिकार होने का कारण है अर्थात् जो विवाह संस्कारपूर्वक स्त्री को पति के लिए दे दिया जाता है, इस दान के पश्चात् ही उन पर पति का अधिकार होता है, उससे पूर्व नहीं। इसी प्रकार पत्नी का पति पर अधिकार हो जाता है॥ १५२॥

पूर्वपति को छोड़कर दूसरे श्रेष्ठ पति को अपनाने की निन्दा—

पतिं हित्वाऽपकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते॥ १६३॥
(३८)

[विवाह होने के बाद तुलनात्मक रूप में] किसी अच्छे व्यक्ति के मिलने की संभावना होने पर (**या स्वम् अपकृष्टं पतिं हित्वा उत्कृष्टं पतिं निषेवते**) जो स्त्री अपने निम्न कुल या गुणों वाले पति को छोड़कर उत्तम कुल या गुणों वाले पति का सेवन करती है (**सा**) वह (**लोके निन्द्या+एव भवेत्**) लोगों में निन्दा प्राप्त करती है (**च**) और (**परपूर्वा+इति उच्यते**) 'पहले यह दूसरे की पत्नी थी' यह आक्षेप उस पर सदा होता रहता है। अतः इस कारण से पति का त्याग नहीं करना

चाहिए॥ १६३॥

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥
१६५॥(३९)

(**या**) जो स्त्री (**मनः-वाक्-देह-संयता**) मन, वाणी और शरीर को संयम में रखकर (**पतिं न+अभिचरति**) पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती (**सा**) वह (**भर्तृलोकम्+आप्नोति**) पतिलोक अर्थात् पति के हृदय में आदर का स्थान प्राप्त करती है (**च**) और (**सद्भिः 'साध्वी'+इति उच्यते**) श्रेष्ठ लोग उसकी 'पतिव्रता या अच्छी पत्नी' कहकर प्रशंसा करते हैं॥ १६५॥[1]

अनुशीलन—**'लोक' शब्द का विवेचन**—'लोकम्' शब्द 'लोकृ दर्शने' धातु से सिद्ध होता है। इस प्रकार इसका अर्थ 'दृष्टि' 'दर्शन' 'स्थान' भी है। यहां 'भर्तृ-लोकम् आप्नोति' मुहावरे के रूप में प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है—'पतिव्रता स्त्री' पति के हृदय स्थान में बस जाती है या पति की दृष्टि में प्रिय, आदरणीय बन जाती है। यहां परलोक आदि का कोई प्रसंग नहीं है।

स्त्री की मृत्यु पर यज्ञ से अग्निसंस्कार—

एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम्।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित्॥ १६७॥
(४०)

इति महर्षिमनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमार
समीक्षाभ्यां विभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृत
स्त्रीधर्मविषयात

१. **प्रचलित अर्थ**—मन, वचन तथा काम में संयत रहती हुई जो स्त्री पति के विरुद्ध कोई कार्य (व्यभिचार आदि) नहीं करती है, वह पतिलोक को प्राप्त करती है तथा उसे सज्जन 'पतिव्रता' कहते हैं॥ १६५॥

(**एव वृत्तां सवर्णां स्त्रीम्**) इस पूर्वोक्त आचरण का पालन करने वाली अपने वर्ण की स्त्री को (**पूर्वमारिणीम्**) यदि वह पति से पहले ही मर जाये तो (**धर्मवित्**) धर्म का जानने वाला व्यक्ति (**यज्ञपात्रैः**) यज्ञपात्रों का प्रयोग करके (**अग्निहोत्रेण दाहयेत्**) अग्निहोत्र की विधि से उसका दाहसंस्कार करे अर्थात् यज्ञपूर्वक उसका अन्त्येष्टि संस्कार करे॥ १६७॥

अनुशीलन—यज्ञपात्रों का परिचय एवं विवरण ५.११७ की समीक्षा में देखिए।

उपसंहार—

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत्।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥ १६९॥
(४१)

गृहस्थ (**अनेन विधिना**) इस [४.१ से ५.१६७ तक] पूर्वोक्त विधि के अनुसार रहते हुए (**पञ्चयज्ञान् न हापयेत्**) पंचयज्ञों को कभी न छोड़े और (**आयुषः द्वितीयं भागम्**) आयु के दूसरे भाग तक अर्थात् पचास वर्ष तक (**कृतदारः**) विवाहित होकर अर्थात् विवाहोपरान्त स्त्री-सहित (**गृहे वसेत्**) घर में निवास करे॥ १६९॥

कृतहिन्दीभाष्यसमन्वितायाम्, अनुशीलन-
ौ गृहस्थान्तर्गत-भक्ष्याभक्ष्य-देहशुद्धिद्रव्यशुद्धि-
त्मकः पञ्चमोऽध्यायः॥

अथ षष्ठ

(हिन्दीभाष्य-'अनुशी

(वानप्रस्थ-संन्य

(वानप्रस्थ-विषय

द्विज वानप्रस्थ धारण करें—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः॥ १ ॥ (१)

(**स्नातकः द्विजः**) ब्रह्मचर्याश्रम के पालनपूर्वक शिक्षा प्राप्त करके स्नातक बना द्विज=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (**एवं विधिवत् गृहाश्रमे स्थित्वा**) पूर्वोक्त प्रकार से शास्त्रोक्त विधि के अनुसार गृहाश्रम का पालन करके (**यथावत् नियतः विजितेन्द्रियः**) आगे कहे हुए नियमों के अनुसार जितेन्द्रिय होकर (**वने वसेत्**) बन में निवास करे अर्थात् वानप्रस्थ आश्रम को धारण करके वन में रहे॥ १ ॥

ऋषि-अर्थ—''इस प्रकार **स्नातक** अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहाश्रम का कर्त्ता द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहाश्रम में ठहरकर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीत के वन में वसे''। (स०प्र०, समु० ४) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, वानप्रस्थ०)

अनुशीलन—(१) **'जितेन्द्रिय' का लक्षण**—यह लक्षण २.७३[२.९८] में वर्णित है। वहाँ द्रष्टव्य है।

(२) **वानप्रस्थ धारण में ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाण**—द्विजों के लिए वानप्रस्थ का विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में और वेदों में विहित है। यहाँ तुलनार्थ शत० का० १४ का वचन प्रस्तुत है—''**ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।**''=ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण करके गृहस्थ बने, गृहस्थाश्रम को पूर्ण करके वानप्रस्थ बने, वानप्रस्थ आश्रम को पूर्ण करके संन्यासी बने।

ोऽध्यायः

लन'-समीक्षा सहित)

ास-धर्म-विषय)

.१ से ६.३२ तक)

(३) वेद का प्रमाण ६.२ की समीक्षा में उल्लिखित है।

द्विजों के वानप्रस्थ धारण का समय—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत्॥ २॥

(२)

(**गृहस्थः**) गृहस्थ (**यदा तु**) जब (**आत्मनः-वली-पलितं पश्येत्**) अपने शरीर की त्वचा ढ़ीली होती देखें या सफेद बाल होते देखें (**च**) और (**अपत्यस्य+एव अपत्यम्**) पुत्र का भी पुत्र=पोता हुआ देख लें (**तदा**) उसके पश्चात् (**अरण्यं समाश्रयेत्**) वन का आश्रय ग्रहण करें अर्थात् वानप्रस्थ धारण कर वन में जाकर रहें॥ २॥

ऋषि अर्थ—''जब गृहस्थ के शिर के केश श्वेत और त्वचा ढीली हो जाये और लड़के का लड़का भी हो गया हो तब वन में जाके बसे।'' (स०प्र०, समु० ५) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, वानप्रस्थ०)

अनुशीलन—१. **वानप्रस्थ धारण में वेद के प्रमाण**—मनु ने ६.२-४ श्लोकों में वेद के आधार पर विधान किये हैं। तुलनार्थ द्रष्टव्य है ऋग्वेद १०.४.५ का वेदमन्त्र—

''कूचित् जायते सनयासु नव्यो
वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः।''

अर्थात्—(कूचित्) जब किसी भी घर में (सनसायु नव्यः जायते) प्राचीन सन्ततियों अर्थात् अवस्थावृद्ध

गृहस्थों में नवीन सन्तति पैदा हो जाये अर्थात् अपने पुत्र का भी पुत्र=पौत्र हो जाये, या (पलितः) पके केशों वाला हो जाये [६.२ में वर्णित] तब (धूमकेतुः) धूमकेतुः= अग्नि अर्थात् अग्निहोत्र आदि सामग्री लेकर (वने तस्थौ) वन में प्रस्थान करे, वानप्रस्थ बन जाये [६.४ में वर्णित] ''**वनर्गू=वनगामिनौ**'' [निरु० ३.१४] अकेला अथवा पति और पत्नी दोनों वनगामी=वानप्रस्थ बनें॥

२. पुत्रीवान् का वानप्रस्थ—यहां 'पुत्र' शब्द पुत्र और पुत्री दोनों का द्योतक है। जिसके केवल पुत्री हो, वह व्यक्ति नाती के उत्पन्न होने के बाद वानप्रस्थ धारण करे।

वानप्रस्थ धारण की विधि—

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥ ३॥

(३)

वानप्रस्थ धारण करने वाला द्विज (**ग्राम्यम्+ आहारं च सर्वम् एव परिच्छदम्**) गांव के सभी भोज्य पदार्थ और घर के सभी धन-सम्पत्ति, पशु आदि पदार्थ (**संत्यज्य**) वहीं छोड़कर (**भार्यां पुत्रेषु निक्षिप्य**) यदि पत्नी साथ न जाना चाहे तो उसे पुत्रों को सौंपकर (**वा**) अथवा (**सह+एव**) वह चाहे तो उसे साथ लेकर (**वनं गच्छेत्**) वन में निवास करने के लिए चला जाये॥ ३॥

ऋषि अर्थ—''जब वानप्रस्थ आश्रम की दीक्षा लेवें तब ग्रामों में उत्पन्न हुए पदार्थों का आहार और घर के सब पदार्थों को छोड़ के पुत्रों में अपनी पत्नी को छोड़ अथवा संग में लेके वन को जावे।'' (सं०वि०, वानप्रस्थप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ५)

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः॥ ४॥

(४)

वानप्रस्थ=धारण करने वाला (**अग्निहोत्रं समादाय**) अग्निहोत्र आदि पंचमहायज्ञों के अनुष्ठान की सामग्री साथ लेकर [६.५] (**च**) और (**गृह्यं अग्निपरिच्छदम्**) गृह्य अग्नि अर्थात् पाचन आदि कार्यों में उपयोगी सारे उपकरण (**समादाय**) साथ

लेकर (**ग्रामात् अरण्यं निःसृत्य**) गांव को त्याग वन में जा कर (**नियतेन्द्रियःनिवसेत्**) जितेन्द्रिय होकर निवास करे॥ ४॥

ऋषि अर्थ—''जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब अग्निहोत्र को सामग्री-सहित लेके ग्राम से निकल, जंगल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे।'' (सं०वि०, वानप्रस्थप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ५)

वानप्रस्थ के लिए पञ्चमहायज्ञों का विधान—

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम्॥ ५॥ (५)

वानप्रस्थ (**मेध्यैः**) पवित्र, (**विविधैः मुनि+अन्नैः**) मुनियों के द्वारा सेवन किये जाने वाले नीवार आदि अनेक प्रकार के अन्नों से (**वा**) अथवा (**शाक-मूल-फलेन**) शाकों, कन्दमूलों, फलों से (**एतान्+एव महायज्ञान्**) इन्हीं पूर्वोक्त और आगे वर्णित पांच महायज्ञों [ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, बलिवैश्वदेव ३.७०-७४, ४.२१] को (**विधिपूर्वकं निर्वपेत्**) विधिपूर्वक अनुष्ठित करे॥ ५॥

अतिथि-यज्ञ एवं बलिवैश्वदेव यज्ञ का विधान—

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद् बलिं भिक्षां य शक्तितः।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान्॥ ७॥ (६)

(**यत् भक्ष्यं स्यात्**) जो भी खाने का भोजन बना हो [६.५] (**ततः**) उससे ही (**बलिं दद्यात्**) बलि-वैश्वदेव यज्ञ करे (**च शक्तितः भिक्षाम्**) और यथाशक्ति भिक्षा भी दे (**आश्रम+आगतान्**) आश्रम में आये अतिथियों को (**अप्+मूल-फल-भिक्षाभिः**) जल, कन्दमूल, फल आदि प्रदान करके (**अर्चयेत्**) उनका सत्कार करे॥ ७॥

ब्रह्मयज्ञ का विधान—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥ ८॥ (७)

वानप्रस्थ (**स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्**) सदा

वेदशास्त्रों के अध्ययन तथा ईश्वरोपासना में लगा रहे। (**दान्तः**) जितेन्द्रिय रहे, (**मैत्रः**) सबसे मित्रभाव रखे, (**समाहितः**) धर्मपालन में सावधान रहे, (**दाता**) विद्या, धन आदि का दान करे, (**नित्यम्+अनादाता**) कभी किसी से दान न ले, (**सर्वभूत+अनुकम्पकः**) सब प्राणियों पर कृपा-दया रखे॥ ८॥

ऋषि अर्थ—''वहां जङ्गल में वेदादि शास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने में नित्ययुक्त मन और इन्द्रियों को जीतकर यदि स्व-स्त्री भी समीप हो तथापि उससे सेवा के सिवाय विषय-सेवन अर्थात् प्रसंग कभी न करे, सब से मित्रभाव, सावधान, नित्य देने हारा और किसी से कुछ भी न लेवे, सब प्राणिमात्र पर अनुकंपा=कृपा करने हारा होवे।'' (सं०वि०, वानप्रस्थप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ५)

अग्निहोत्र का विधान—

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि।
दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः॥ ९॥ (८)

वानप्रस्थ (**यथाविधि**) पूर्वोक्त विधि के अनुसार (**अग्निहोत्रम्**) दैनिक यज्ञ को (**च**) और (**वैतानिकम्**) विशेष अवसरों पर किये जाने वाले बृहत् यज्ञों को (**दर्शं च पौर्णमासं पर्व अस्कन्दयन्**) अमावस्या और पूर्णिमा आदि पर्वों पर किये जाने पर्वयज्ञों को भी करते हुए (**योगतः जुहुयात्**) निष्ठापूर्वक आहुति दिया करे॥ ९॥

अनुशीलन—'वैतानिक' से अभिप्राय— 'वैतानिक' शब्द से विस्तृत अर्थात् विशेष अवसरों पर आयोजित होने वाले यज्ञों से अभिप्राय है। यज्ञों के साथ 'वैतानिक' शब्द का अन्यत्र भी प्रयोग मिलता है। ६.१० का वर्णन उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है। द्रष्टव्य है ७.७८-७९ और २.११८ (२.१४३) श्लोकों के प्रयोग। २.३ [२.२८] में भी ऐसे महायज्ञों का विधान है।

विशेष यज्ञों का आयोजन करे—

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत्।
तुरायणं च क्रमशो दक्षस्यायनमेव च॥ १०॥ (९)

(**ऋक्षेष्टि**) नक्षत्रयज्ञ (**आग्रयणम्**) नये अन्न का यज्ञ (**च**) और (**चातुर्मास्यानि**) चातुर्मास्य का यज्ञ अथवा वर्षा ऋतुकालीन चार मास तक चलने वाला यज्ञ (**च**) तथा (**क्रमशः तुरायणं च दक्षस्यायनं एव आहरेत्**) क्रमशः उत्तरायण और दक्षिणायन, इन अवसरों पर भी विशेष यज्ञों का आयोजन करे॥ १०॥

अनुशीलन—नक्षत्रों की गणना—(१) नक्षत्र परिवर्तन के समय भी विशेष या बृहत् यज्ञ का अनुष्ठान करे। नक्षत्र २७ हैं—'१. अश्विनी, २. भरणी, ३. कृत्तिका, ४. रोहिणी, ५. मृगशीर्ष, ६. आर्द्रा, ७. पुनर्वसु, ८. पुष्य, ९. आश्लेषा, १०. मघा, ११. पूर्वाफाल्गुनी, १२. उत्तराफाल्गुनी, १३. हस्त, १४. चित्रा, १५. स्वाति, १६. विशाखा, १७. अनुराधा, १८. ज्येष्ठा, १९. मूल, २०. पूर्वाषाढ़ा, २१. उत्तराषाढा, २२. श्रवण, २३. धनिष्ठा, २४. शतभिषज्, २५. पूर्वाभाद्रपदा, २६. उत्तराभाद्रपदा, २७. रेवती।

(२) **चातुर्मास्य यज्ञ**—प्रत्येक चार महीने के पश्चात् अनुष्ठेय यज्ञ अर्थात् कार्तिक, फाल्गुन, और आषाढ़ के प्रारम्भ में अथवा वर्षा ऋतु में चार मास तक जो यज्ञ चलता है, उसे चातुर्मास्य यज्ञ कहते हैं।

(३) भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर सूर्य की स्थिति, जो मकर से कर्क राशि संक्रान्ति तक का काल है, उसे उत्तरायण कहते हैं।

(४) भूमध्यरेखा से दक्षिण की ओर सूर्य की स्थिति का समय दक्षिणायन कहलाता है। (अयन विषयक विस्तृत विवेचन १.६७ की समीक्षा में द्रष्टव्य है।)

इन अवसरों पर विशेष यज्ञों का अनुष्ठान करे।

बलिवैश्वदेव यज्ञ का विधान—

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक्॥ ११॥
(१०)

(**वासन्त-शारदैः मेध्यैः स्वयम्+आहृतैः अन्नैः**) वसन्त और शरद् ऋतु में प्राप्त होने वाले पवित्र और स्वयं लाये हुए नीवार आदि मुनि-अन्नों से (**पुरोडाशान्

च चरून् विधिवत् पृथक् निर्वपेत्) पुरोडाश और चरु नामक यज्ञिय हव्यों को विधि अनुसार अलग-अलग तैयार करे ॥ ११ ॥

अनुशीलन—पुरोडाश और चरु—चावल आदि अन्न को पीसकर यज्ञ के लिए बनायी गयी आहुति को 'पुरोडाश' कहते हैं। इसे पुरोडाश पात्र में रखा जाता है। चावल आदि अन्न को उबालकर आहुति देने के लिए रखे गये भोज्यान्न को 'चरु' कहा जाता है।

देवताभ्यस्तु तद्हुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम्॥ १२॥
(११)

(**तत् मेध्यतरं वन्यं हविः देवताभ्यः हुत्वा**) उस पवित्र, वन के अन्नों से निर्मित हवि को देवताओं [३.८४-९४] के लिये होम कर=आहुति देकर (**शेषम्**) शेष भोजन को (**च**) और (**स्वयं कृतं लवणम्**) अपने लिए बनाये गये लवणयुक्त पदार्थों को (**आत्मनि युञ्जीत**) अपने खाने के लिए प्रयोग में लाये ॥ १२ ॥

अनुशीलन—'**लवणशब्द-विवेचन**'—यहां 'लवण' शब्द का अर्थ 'प्रत्येक लवणयुक्त भोजन' है। व्याकरणानुसार संसृष्ट अर्थ में लवण शब्द से ''लवणाल्लुक्'' [अ० ४.४.२४] सूत्र द्वारा पूर्वप्राप्त ठक् प्रत्यय का लुक् हो जाता है, अतः 'लवण' शब्द ही रह जाता है, किन्तु उपर्युक्त रूप में अर्थ व्यापक रहता है।

पवित्र भोजन करे—

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसम्भवान्॥१३॥
(१२)

(**स्थलज+औदक-शाकानि**) भूमि और जल में उत्पन्न शाकों को (**मेध्यवृक्ष+उद्भवानि पुष्प-मूल-फलानि**) पवित्र वृक्षों से उत्पन्न होने वाले फूल, कन्दमूल और फलों को (**च**) और (**फलसंभवान् स्नेहान्**) फलों से प्राप्त होने वाले रसों, [=सूप, जूस

आदि] तैलों या अर्कों को (**अद्यात्**) खाये ॥ १३ ॥

अनुशीलन—भक्ष्य पदार्थों का विधान ५.८-१०, २४-२५ में भी द्रष्टव्य है।

अभक्ष्य पदार्थ—

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च॥ १४॥
(१३)

(**मधु**) सब मदकारी मदिरा, भांग आदि पदार्थ (**मांसम्**) सब प्रकार के मांस (**च**) और (**भौमानि कवकानि**) भूमि में उत्पन्न होने वाले कवक= छत्राक=कुकुरमुत्ता (**च**) और (**भूस्तृणम्**) भूतृण नामक [=शरवाण] शाक विशेष, (**शिग्रुकम्**) सफेद सहिंजन (**च**) और (**श्लेष्मातकफलानि**) लिसौड़े के फल (**वर्जयेत्**) इन्हें भोजन में वर्जित रखे अर्थात् कभी न खाये ॥ १४ ॥

अनुशीलन—(१) यहां मधु का अर्थ 'मद्य अर्थात् नशा करने वाले मदिरा, भांग आदि पदार्थ' हैं। मांस के साथ पठित 'मधु' शब्द का अर्थ 'मदिरा' होता है। 'शहद' अर्थ इसलिए ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि मनु ने उसे भक्ष्य (२.४) माना है। प्रमाणयुक्त अर्थविवेचन २.१५२ [२.१७७] में देखिए।

(२) अभक्ष्य पदार्थों का वर्णन २.१५२ (२.१७७) में भी है। इन पदार्थों को सभी आश्रमवासियों के लिए अभक्ष्य माना है।

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसञ्चितम्।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च॥ १५॥
(१४)

(**पूर्वसंचितं मुन्यन्नम्**) पहले इकट्ठे किये हुए नीवार आदि मुनि-अन्नों को (**च**) और (**जीर्णानि वासांसि**) पुराने वस्त्रों को (च) और (**शाकमूल-फलानि**) पूर्वसंचित शाक, कन्दमूल, फलों को (**आश्वयुजे मासि त्यजेत्**) आश्विन के महीने में छोड़ देवे अर्थात् नये ग्रहण करे ॥ १५ ॥

वानप्रस्थ ग्रामोत्पन्न पदार्थ न खाये—

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च॥ १६॥
(१५)

(**फालकृष्टम्**) हल से जोतने पर भूमि में उत्पन्न पदार्थों को (**केनचित् उत्सृष्टम्+अपि**) किसी के द्वारा दिये जाने पर भी (**च**) और (**ग्रामजातानि मूलानि च फलानि**) ग्राम में जोतकर या उगाकर उत्पन्न किये गये मूल और फलों को (**आर्त्तः+अपि न अश्नीयात्**) भूख से पीड़ित होते हुए भी न खाये॥ १६॥

अनुशीलन—वानप्रस्थ के लिए ग्रामोत्पन्न वस्तुओं के निषेध में कारण—वनस्थ के लिए ग्रामोत्पन्न वस्तुओं का निषेध इसलिए है कि उसकी गृहस्थ के सदृश सुख में प्रवृत्ति न हो। इस श्लोक का सम्बन्ध २६वें श्लोक से है, जो इस श्लोक के निषेध का कारणरूप वर्णन है। विशेष समीक्षा २६वें श्लोक के अनुशीलन में देखिए।

सांसारिक सुखों में आसक्ति न रखते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करे—

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥ २६॥ (१६)

वानप्रस्थ (**सुखार्थेषु अप्रयत्नः**) सुखसाधक भोजन, निवास आदि कर्मों में प्रवृत्ति न रखे, (**ब्रह्मचारी**) ब्रह्मचर्य का पालन करे, (**धराशयः**) भूमि में शयन करे, (**च**) और (**शरणेषु+अममः**) घरों, आवासों में ममत्व न रखे, (**वृक्षमूल-निकेतनः एव**) वन में वृक्षों के नीचे पर्णकुटी बनाकर निवास करे॥ २६॥

ऋषि अर्थ—''शरीर के सुख के लिए अतिप्रयत्न न करे किन्तु ब्रह्मचारी अर्थात् अपनी स्त्री साथ हो तथापि उससे विषयचेष्टा कुछ न करे, भूमि में सोवे, अपने वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे, वृक्ष के मूल में निवास करे।'' (स०प्र०, समु० ५)

अनुशीलन—२६वें श्लोक की संगति का

विवेचन—इस श्लोक की संगति १६वें से है। उसमें सभी ग्रामोत्पन्न पदार्थों का ग्रहण न करने का आदेश है, चाहे कोई भेंट के रूप में भी लाया हो। इस श्लोक में उसका कारण प्रदर्शित है कि वनस्थ को सुख-सुविधाओं में ध्यान नहीं लगाना चाहिए। तभी वह मोह-ममता से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। ऐसा न करने पर विषयों की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है। संन्यासी के प्रसंग में इस बात को दूसरे प्रकार से स्पष्ट किया है—**भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति** (६.५५) अर्थात्—भिक्षा के लालच में मन रखने वाला संन्यासी विषयों में भी फंस जाता है। यही धारणा १६ और २६वें श्लोकों के मूल में है।

तपस्वियों के घरों से भिक्षा का ग्रहण—

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु॥ २७॥
(१७)

(**तापसेषु+एव विप्रेषु**) वन में तपस्यारत विद्वानों के घरों में (**च**) और (**अन्येषु वनवासिषु गृहमेधिषु द्विजेषु**) अन्य वनवासी गृहस्थ या वानप्रस्थ द्विजों के घरों में (**यात्रिकं भैक्षम्+आहरेत्**) जीवनयात्रा चलाने योग्य भिक्षा प्राप्त कर ले॥ २७॥

ऋषि अर्थ—''जो जंगल में पढ़ाने और योगाभ्यास करने हारे तपस्वी, धर्मात्मा विद्वान् लोग रहते हों, जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों, उनके घरों में से ही भिक्षा ग्रहण करे।''

(सं०वि०, वानप्रस्थप्रकरण)

आत्मशुद्धि के लिए वेदमन्त्रों का मनन-चिन्तन—

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥ २९॥
(१८)

(**विप्रः**) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (**वने वसन्**) वन में निवास करते हुए (**आत्मसंसिद्धये**) आत्मोन्नति और परमात्मा की सिद्धि प्राप्त करने के लिए (**एताः च अन्याः दीक्षाः**) इस प्रकरण में कही और अन्य ब्रह्मचर्य या संन्यास प्रकरणों में कही गयी दीक्षाओं=

व्रतात्मक प्रतिज्ञाओं का (च) और (**औपनिषदीः विविधाः श्रुतीः**) उपनिषद्=परमात्मा के ज्ञान-उपासना विधायक नाना प्रकार की श्रुतियों=वेदमन्त्रों का (**सेवेत**) सेवन करे अर्थात् चिन्तन-मनन पूर्वक उनको आचरण में लाये ॥ २९ ॥

ऋषि अर्थ—''इस प्रकार वन में वसता हुआ इन और अन्य दीक्षाओं का सेवन करे और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिए नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना-विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे।'' (सं०वि०, वानप्रस्थप्रकरण)

अनुशीलन—यहां उपनिषद् से 'पुस्तकविशेष' अर्थ अभिप्रेत नहीं अपितु 'उपनिषद् विद्या' से अभिप्राय है।

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये॥ ३०॥
(१९)

(**ऋषिभिः ब्राह्मणैः गृहस्थैः एव**) ऋषियों, ब्राह्मणों और गृहस्थों ने भी (**विद्या+तपः विवृद्ध्यर्थम्**) विद्या और तप की वृद्धि के लिए (**च**) और (**शरीरस्य शुद्धये**) शरीर की शुद्धि के लिए (**सेविताः**) इन दीक्षाओं=व्रतों और श्रुतियों=वेदमन्त्रों [६.२९] का सेवन किया है अर्थात् चिन्तन-मनन और आचरण किया है, अतः वानप्रस्थ भी विद्या और तप की वृद्धि के लिए इनका सेवन करे।

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम्।
वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते॥ ३२॥
(२०)

(**आसां महर्षिचर्याणाम् अन्यतमया तनुं त्यक्त्वा**) इन पूर्वोक्त महर्षियों द्वारा पालनीय दिन-चर्याओं का पालन करते हुए किसी भी दिनचर्या के अनुसार भी शरीर छूटने पर (**वीतशोकभयः विप्रः**) शोक और भय से रहित हुआ विद्वान् (**ब्रह्मलोके महीयते**) मुक्ति में जाकर आनन्द पाता है॥ ३२॥

(संन्यास-धर्म-विषय)

[६.३३ से ६.८५ तक]

वानप्रस्थ के बाद संन्यास ग्रहण का विधान—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत्॥ ३३॥
(२१)

वानप्रस्थ द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य [६.१] (**एवम्**) पूर्वोक्त वानप्रस्थ विधि के अनुसार (**वनेषु आयुषः तृतीयं भागं विहृत्य**) वनों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् सत्तर से पिचहत्तर वर्ष तक व्यतीत करके (**आयुषः चतुर्थं भागम्**) आयु के चौथे भाग में (**संगान् त्यक्त्वा**) संसार के सभी पदार्थों एवं प्राणियों में आसक्तिभाव अर्थात् उनकी इच्छा, मोह, ममता को छोड़कर (**परिव्रजेत्**) संन्यास आश्रम को धारण करे॥ ३३॥

ऋषि अर्थ—''इस प्रकार जंगलों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् अधिक-से-अधिक पच्चीस वर्ष अथवा शून्य-से-शून्य बारह वर्ष तक विहार करके आयु के चौथे भाग अर्थात् सत्तर वर्ष के पश्चात् सब मोह आदि संगों को छोड़कर (परिव्रजेत्) परिव्राजक अर्थात् संन्यासी हो जावे।'' (सं०वि०, संन्यासप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ५)

अनुशीलन—'**परिव्राजक की व्युत्पत्ति**—परिव्रजन करने से अभिप्राय परिव्राजक अर्थात् संन्यासी होने से है। '**परितः व्रजति-इति परिव्राजकः**'=जो सांसारिक एषणाओं को त्यागकर लोकोपकार के लिए सर्वत्र विचरण करे, वह परिव्राजक अर्थात् संन्यासी होता है। संन्यासी की परिभाषा ऋषि दयानन्द ने निम्न प्रकार की है—''संन्यास-संस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़के, विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे अर्थात् ''**सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन वा सम्यङ् नित्यं सत्कर्मस्वास्ते उपविशति स्थिरीभवति येन सः, संन्यासो विद्यते यस्य स संन्यासी।**''
(सं०वि०, संन्यासप्रकरण)

वानप्रस्थ के पश्चात् संन्यासधारण—

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥ ३६॥
(२२)

द्विज (**वेदान् विधिवत् अधीत्य**) ब्रह्मचर्याश्रम में वेदों को विधिपूर्वक पढ़कर (**च**) और (**धर्मतः पुत्रान् उत्पाद्य**) गृहाश्रम में धर्मानुसार सन्तानों को उत्पन्न करके (**शक्तितः यज्ञैः इष्ट्वा**) वानप्रस्थ आश्रम में यथाशक्ति यज्ञों से यजन करके (**मोक्षे मनः निवेशयेत्**) मोक्ष प्राप्ति में मन को लगाये अर्थात् संन्यास आश्रम को धारण करके मोक्षप्राप्ति हेतु यत्न करे॥ ३६॥

ऋषि अर्थ—''विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम से सब वेदों को पढ़कर और गृहाश्रमी होकर, धर्म से पुत्रोत्पत्ति कर, वानप्रस्थ में सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ करके मोक्ष में अर्थात् संन्यास-आश्रम में मन को लगावे।''

(सं०वि०, संन्यासप्रकरण)

परमात्मा-प्राप्ति हेतु गृहाश्रम से भी संन्यास ले सकता है—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥ ३८॥
(२३)

(**ब्राह्मणः**) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विज (**सर्ववेदस्-दक्षिणाम्**) जिसमें सर्वस्व दक्षिणा में दे दिया जाता है उस (**प्राजापत्याम् इष्टिं निरूप्य**) 'प्राजापत्य इष्टि' नामक यज्ञ को अनुष्ठित करके (**अग्नीन् आत्मनि समारोप्य**) गृहस्थ और वानप्रस्थ में प्रयुक्त की जाने वाली गार्हपत्य, आहवनीय, दाक्षिणात्य आदि अग्नियों का बाह्य उपयोग त्याग कर उनके उद्देश्यों को आत्मा में धारण करके अर्थात् पाचन, यजन-याजन आदि कार्य छोड़कर (**गृहात् प्रव्रजेत्**) गृहस्थ अपना गृह त्यागकर गृहाश्रम से भी संन्यास धारण कर ले॥ ३८॥

ऋषि अर्थ—''प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के

निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है, कर आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके ब्राह्मण विद्वान् गृहाश्रम से ही संन्यास लेवे।''

(सं०वि०, संन्यासप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ५)

अनुशीलन—(१) संन्यास वानप्रस्थ से और सीधे गृहस्थ से भी—यद्यपि संन्यासाश्रम में जाने का सामान्य क्रम वानप्रस्थ के पश्चात् ही है, जिसका विधान क्रमानुसार ६.३३ में किया गया है। इस क्रम को अपनाकर मनुष्य सांसारिक नि:सारता एवं उसके कष्टों को अनुभव कर लेता है और उसके 'काम' आदि विकार शान्त हो जाते हैं। उसमें वैराग्य के संस्कार उत्पन्न होने लगते हैं। इसमें अन्य विकल्प भी हैं।

(२) गृहस्थ से संन्यास—३८-४१ श्लोकों में गृहस्थ से भी संन्यास लेने का वैकल्पिक विधान है। ब्रह्मचर्य या गृहस्थ या वानप्रस्थ से सीधा संन्यास लेने का विधान ब्राह्मणग्रन्थों में इसी प्रकार पाया जाता है, किन्तु वह विशेष अवस्था में है। इसे ऋषि दयानन्द ने निम्न प्रकार उद्धृत किया है—

''**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद् वा गृहाद् वा।**'' (यह ब्राह्मण ग्रन्थ का वाक्य है)

अर्थ—जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे, उसी दिन, चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो, अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे, क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।

तृतीय प्रकार—'**ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्।**' (यह भी ब्रह्मण ग्रन्थ का वचन है) यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर, विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सबके उपकार करने की इच्छा होवे, और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यनत यथावत् संन्यास धर्म का निर्वाह कर सकूँगा, तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण

कर ही के संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे।'' (सं० वि० संन्यास प्रकरण)

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥ ३९॥
(२४)

(**यः**) जो द्विज (**सर्वभूतेभ्यः अभयं दत्त्वा**) सब प्राणियों के लिए अभयदान की घोषणा करके अर्थात् प्राणियों को दु:खों के भय से मुक्त कराने के लिए लोकोपकार करने की प्रतिज्ञा करके (**गृहात् प्रव्रजति**) वानप्रस्थ गृह=अपना स्थायी आवास त्यागकर अथवा गृहस्थ अपना घर छोड़कर संन्यास ग्रहण करता है (**तस्य ब्रह्मवादिनः**) उस वेद और ईश्वर के उपदेशक ब्रह्मज्ञानी के (**तेजोमयाः लोकाः भवन्ति**) लोक-परलोक अर्थात् जन्म-जन्मान्तर अथवा मोक्ष लोक ब्रह्म=ज्ञान एवं परमात्मा के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं अर्थात् उसका जीवन, परजन्म ज्ञान और ब्रह्ममय होता है अथवा मोक्षप्राप्ति हो जाती है॥ ३९॥

ऋषि-अर्थ—''जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान सत्योपदेश देकर गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेता है, उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी को मोक्ष लोक और सब लोक-लोकान्तर तेजोमय ज्ञान से प्रकाशित हो जाते हैं।'' (सं०वि०, संन्यासप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ५)

अनुशीलन—**संन्यासी द्वारा अभयदान**—संन्यासी में सब प्राणियों के प्रति निर्वैरता होती है, वह केवल लोकोपकार ही करता है। इस कारण वह सबको अभयदान देता है। यह अभयदान की प्रतिज्ञा ब्राह्मणग्रन्थों में भी इसी प्रकार विहित है—

''**पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता, मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु।**'' (शत० १४.६.४.१)

संसार में सन्तान-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, प्रसिद्धि-प्राप्ति की ये तीन इच्छाएं ही प्रधान हैं। जिनके वशीभूत होकर व्यक्ति ईर्ष्या-द्वेष आदि में फंसता है। इनसे मुक्त होकर ही व्यक्ति वास्तव में संन्यासी बनता है। तब उनसे सब प्राणियों को

अभय होता है।

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन॥ ४०॥
(२५)

(**यस्मात् द्विजात्**) जिस द्विज से (**भूतानाम् अणु+अपि भयं न+उत्पद्यते**) प्राणियों को थोड़ा-सा भी भय नहीं होता, जो सबका उपकारकर्त्ता होता है (**तस्य**) उसको (**देहात् विमुक्तस्य**) देह से युक्त होने पर (**कुतश्चन भयं न अस्ति**) कहीं भी भय=दुःख नहीं रहता अर्थात् वह या तो स्वर्गमय जन्म प्राप्त करता है, या भयादि दुःख रहित मोक्षप्राप्त करता है।

वैराग्य होने पर गृहस्थ या ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यासग्रहण—

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्॥ ४१॥
(२६)

संन्यास-इच्छुक द्विज (**आगारात्+अभि-निष्क्रान्तः**) वानप्रस्थ अपना स्थायी आवास अथवा गृहस्थ गृहाश्रम को त्यागकर (**मुनिः**) वेद, ब्रह्म और जीवन विषयक मननशील होकर (**पवित्र+उपचितः**) पवित्र संस्कारों एवं कर्मों को धारण करता हुआ और (**समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः**) अन्तःकरण में संचित सांसारिक कामनाओं-तृष्णाओं को छोड़कर (**परिव्रजेत्**) संन्यासी बनकर लोकोपकार के लिए विचरण करे॥ ४१॥

ऋषि-अर्थ—''जब सब कामों को जीत लेवे और उनकी अपेक्षा न रहे, पवित्रात्मा और पवित्रान्तःकरण मननशील हो जावे, तभी गृहाश्रम से निकलकर संन्यासाश्रम का ग्रहण करे अथवा ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण कर लेवे।'' (सं०वि०, संन्यासप्रकरण)

संन्यासी एकाकी विचरण करे—

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान्।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते॥ ४२॥
(२७)

संन्यासी (**एकस्य सिद्धिम् संपश्यन्**) अकेले की ही मुक्ति होती है, इस बात को जानते हुए (**सिद्ध्यर्थम्**) मोक्षसिद्धि के लिए (**असहायवान्**) किसी के सहारे या आश्रय की इच्छा से रहित होकर (**नित्यम्**) सर्वदा (**एकः+एव चरेत्**) एकाकी ही विचरण करे अर्थात् किसी पुत्र-पौत्र, सम्बन्धी, मित्र आदि का आश्रय न ले और न उनका साथ करे, इस प्रकार रहने से (**न जहाति न हीयते**) न वह किसी को छोड़ता है, न उसे कोई छोड़ता है अर्थात् वह मोह रहित हो जाता है और मृत्यु के समय बिछुड़ने के दुःख की भावना से रहित हो जाता है, उसे मृत्यु का दुःख नहीं होता ॥ ४२ ॥

निर्लिप्त भाव से गांवों में भिक्षा ग्रहण करे—

अनग्निरनिकेतः स्यात् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥
(२८)

संन्यासी (**अनग्निः**) गृहस्थ, वानप्रस्थ में जो आहवनीय, पाकाग्नि आदि अग्नियों में पाक, यज्ञ, बलिवैश्वदेव, अतिथि यज्ञ आदि के अनुष्ठान विहित हैं, उन बाह्य अग्निपरक विधानों से मुक्त हुआ, (**अनिकेतः**) स्वयं का घर-निवासस्थान आदि न रखता हुआ (**स्यात्**) जीवन बिताये, और (**अन्नार्थं ग्रामम् आश्रयेत्**) भोजन के लिए गांवों का आश्रय ले अर्थात् गांवों से भिक्षा मांगकर खाया करे, तथा (**उपेक्षकः**) बुरों से उदासीनता का व्यवहार रखता हुआ, (**असंकुसुकः**) स्थिर बुद्धि रहता हुआ (**मुनिः**) ब्रह्म में मननशील और (**भाव समाहितः**) ब्रह्म में ही भावना रखता हुआ विचरण करे ॥ ४३ ॥[१]

ऋषि-अर्थ—''वह संन्यासी अनग्निः=

१. **प्रचलित अर्थ**—लौकिक अग्नियों से रहित, गृह से रहित, शरीर में रोगादि होने पर भी चिकित्सा आदि का प्रबन्ध न करने वाला, स्थित बुद्धि वाला, ब्रह्म का मनन करने वाला, और ब्रह्म में भी भाव रखने वाला संन्यासी भिक्षा के लिए ग्राम में प्रवेश करे ॥ ४३ ॥

आहवनीय आदि अग्नियों से रहित, और कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बांधे, और अन्न-वस्त्र आदि के लिये ग्राम का आश्रय लेवे, बुरे मनुष्यों की उपेक्षाकर्ता और स्थिरबुद्धि मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे।''

(सं०वि०, संन्यासप्रकरण)

अनुशीलन—**'अनग्निः' का अभिप्राय**—अनग्नि पद के प्रसङ्ग में महर्षि दयानन्द ने जो विशिष्ट टिप्पणी दी है, वह उल्लेखनीय है—''इसी पद से भ्रान्ति में पड़के संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते। यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया। यहां आहवनीय आदि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है।'' (सं०वि०, संन्यासप्रकरण)

'अनग्निः' पद अग्नियुक्त का विपरीतार्थक है। मनुस्मृति में ''**अग्निपक्वाशनः**'' (६.१७), ''**अग्नि-परिक्रिया**'' (२.६७), ''**अग्निपरिच्छदम्**'' (६.४) आदि से अर्थ पकाने वाली गृह्याग्नि और आवास तथा यज्ञ किये जाने वाली आहवनीयाग्नि से है। यहां संन्यासी को 'अनग्नि' कहने का अभिप्राय इन अग्नियों का त्याग करने से है। संन्यासी को सभी संसार सापेक्ष अनुष्ठानों के त्याग (६.३८) और बाह्य चिह्नों के त्याग (६.५२) का आदेश है अतः वह यज्ञानुष्ठान भी त्याग देता है और भोजन पकाना भी। इसी कारण उसे सभी अग्नियों को आत्मा में स्थापित करने के लिए कहा है (६.१८), अन्त्येष्टि संस्कार का त्याग कहीं नहीं लिखा। 'अनग्नि' के नाम पर यह भ्रान्ति फैला रखी है। विडम्बना यह है कि आज के संन्यासी न तो स्थायी आवास छोड़ते हैं, न पाचनकर्म आदि। संन्यास की आड़ में यज्ञोपवीत, शिखा यज्ञ आदि अवश्य छोड़कर उनके दायित्व से मुक्त हो जाते हैं, किन्तु उसके बदले साधना, परिव्रजन आदि का पालन नहीं करते। संन्यासी के अन्य कर्त्तव्यों का पालन भी नहीं करते।

(२) प्रचलित टीकाओं में 'उपेक्षकः' का अव्यावहारिक, अयुक्तियुक्त अर्थ प्रचलित है। इस टीका का अर्थ ग्राह्य है। योगदर्शन में साधक के लिए भी ऐसा ही निर्देश है—''**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-**

पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्'' (१.१३) अर्थात् उत्तम जनों से मैत्री, दुःखियों पर करुणा, पुण्यात्माओं के संग से प्रसन्नता, पापियों से अप्रीति रखने की भावना से साधक का चित्त प्रसन्न रहता है।

जीवन-मरण के प्रति समदृष्टि—

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा॥ ४५॥

(२९)

संन्यासी (**न मरणं अभिनन्देत**) न मृत्यु की चिन्ता करे या मृत्यु के दुःख पर विचार करे (**न जीवितम् अभिनन्देत**) न जीने में आनन्द-मोह का अनुभव करे, (**यथा भृतकः निर्देशम्**) जैसे भृत्य स्वामी के आदेश की तटस्थ भाव से प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार (**कालं प्रतीक्षेत**) मृत्यु समय की प्रतीक्षा करता हुआ तटस्थ और निर्लिप्त भाव से जीवन व्यतीत करे॥ ४५॥

ऋषि-अर्थ—''न तो अपने जीवन में आनन्द और न अपने मृत्यु में दुःख माने, किन्तु जैसे क्षुद्र भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है वैसे ही काल और मृत्य की प्रतीक्षा करता रहे।''

(सं०वि०, संन्यासप्रकरण)

अनुशीलन—काल की प्रतीक्षा कैसे ?—यहां स्वामी-भृत्य के उदाहरणपूर्वक काल की प्रतीक्षा से अभिप्राय है कि संन्यासी मृत्यु का भय अपने मन में न रखे, अपितु सृष्टिक्रम की व्यवस्थानुसार प्राप्त होने वाली मृत्यु को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करने के लिए तैयार रहे। योगदर्शन साधनपाद सूत्र ९ में मृत्यु के भय को 'अभिनिवेश' कहा है और उसे पंचक्लेशों में माना है—'**स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।**' संन्यासी को यह भय या क्लेश नहीं होना चाहिए अपितु स्वामी की आज्ञा को सुनकर प्रसन्नता अनुभव करने वाले भृत्य के समान मृत्युरूपी ईश्वरीय नियम को स्वीकार करके भय रहित प्रसन्नता का अनुभव करना चाहिए।

पवित्र एवं सत्य आचरण करे—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वेदद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ ४६ ॥(३०)

संन्यासी (**दृष्टिपूतं पादं न्यसेत्**) चलते समय दृष्टि को पवित्र रख कर अर्थात् किसी को हानि न पहुंचाता हुआ सावधान होकर चले, अशुद्धि पर या लघु जीवों पर पैर न रखे, (**वस्त्रपूतं जलं पिबेत्**) वस्त्र से छानकर पवित्र किया हुआ जल पीये, (**सत्यपूतां वाचं वदेत्**) सत्य से पवित्र की हुई वाणी ही बोले अर्थात् सत्य ही बोले (**मनःपूतं समाचेरत्**) मन से पवित्र करके अर्थात् पवित्र संकल्प से प्रत्येक आचरण करे, मिथ्या या अधर्माचरण न करे॥ ४६ ॥

ऋषि-अर्थ—''चलते समय आगे-आगे देखके पग धरे, सदा वस्त्र से छानकर जल पीवे, सबसे सत्य वाणी बोले अर्थात् सत्योपदेश ही किया करे, जो कुछ व्यवहार करे वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे।'' (सं०वि०, संन्यासप्रकरण; अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ५)

अपमान को सहन करे—

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ ४७॥
(३१)

(**अतिवादान् तितिक्षेत**) कठोर वचनों-आक्षेपों, अवमानना को सहन करले (**कंचन न+अवमन्येत**) बदले में कभी किसी का तिरस्कार या अपमान न करे (**च**) और (**इमं देहम्+आश्रित्य**) इस शरीर का आश्रय लेकर अर्थात् अपने शरीर—मन, वाणी, कर्म से (**केनचित् वैरं न कुर्वीत**) किसी से कभी वैर न करे॥ ४७॥

क्रोध आदि न करे—

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥ ४८ ॥
(३२)

संन्यासी (**क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येत्**) लोकोपकार के समय यदि कोई क्रोधपूर्ण आचरण करे तो बदले में क्रोध का आचरण न करे, (**आक्रुष्टः कुशलं वदेत्**) दूसरे के द्वारा आक्षेप-किये जाने पर भी उससे कल्याण कर वचन बोले (**च**) और (**सप्तद्वार-अवकीर्णाम् अनृतां वाचं न वदेत्**) सात द्वारों अर्थात् दो कान, दो आँख, दो नासिकापुट और एक मुख इनमें व्याप्त वाणी को असत्य न बोले अर्थात् इन इन्द्रियों से सम्बन्धित कोई अधर्माचरण या मिथ्याचरण न करे॥ ४९ ॥

ऋषि-अर्थ—''जब कहीं उपदेश वा संवाद आदि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे, अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप क्रोध न करे किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे, और एक मुख के, दो नासिका के, दो आंख के, और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले।'' (स०प्र०, समु० ५)

अनुशीलन—४७-४८ श्लोकों के भावों की पुष्टि और तुलना के लिए २.१३६-१३७ [२.१६१-१६२] श्लोक भी द्रष्टव्य हैं। मनु ने वहां यही विचार प्रकट किये हैं। ६.६० में भी इस मान्यता का कारण स्पष्ट किया है।

आध्यात्मिक आचरण में स्थित रहे—

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥ ४९ ॥(३३)

(**इह**) इस जीवन या संसार में रहते हुए (**अध्यात्मरतिः+आसीनः**) परमात्मा के प्रेम में मग्न रहता हुआ और उसी की उपासना करता हुआ (**निरपेक्षः**) किसी की अपेक्षा=आश्रय न चाहता हुआ [६.४२] (**निरामिषः**) मांस-भोजन से रहित रहकर (**आत्मना+एव सहायेन**) स्वयं अपनी सहायता अर्थात् कार्य करता हुआ (**सुखार्थी**) मोक्ष सुख की इच्छा करता हुआ (**विचरेत्**) विचरण करे॥ ४९ ॥

ऋषि-अर्थ—''इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित सर्वथा अपेक्षा रहित, मांस-मद्य आदि का त्यागी, आत्मा के सहाय से ही सुखार्थी होकर विचरा करे और

सबको सत्योपदेश करता रहे।'' (सं०वि०, संन्यास-प्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ५)

ऋषि-अर्थ—''अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर, अपेक्षारहित, मद्य-मांसादि-वर्जित होकर, आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर, इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिए सदा विचरता रहे''
(स०प्र०, समु० ५)

मुण्डनपूर्वक गेरुवे वस्त्र धारण करके रहे—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन्॥५२॥(३४)

संन्यासी (**नित्यम्**) सदैव (**क्लृप्त-केश-नख-श्मश्रुः**) कटा लिये हैं केश, नाखून, दाढ़ी-मूंछ जिसने ऐसा, अर्थात् दाढ़ी-मूंछ केश मुंडवाकर रहे (**पात्री**) अपना पात्र साथ रखे हुए (**दण्डी**) दण्ड धारण किये हुए, (**कुसुम्भवान्**) केसरिया या गेरवे वस्त्र धारण किये हुए, (**नियतः**) जितेन्द्रिय रहते हुए (**सर्व-भूतानि+अपीडयन्**) किसी भी प्राणी को पीड़ा न देते हुए (विचरेत्) विचरण करे॥५२॥

ऋषि-अर्थ—'सब शिर के बाल, दाढ़ी, मूंछ और नखों का समय-समय पर छेदन कराता रहे। पात्री, दण्डी और कुसुंभ के रंगे हुए वस्त्रों को धारण किया करे। सब भूत=प्राणिमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढ़ात्मा होकर नित्य विचरा करे''। (सं०वि०, संन्यासप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ५)

एक समय ही भिक्षा मांगे—

एककालं चेरद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति॥ ५५॥
(३५)

संन्यासी (**एककालं भैक्षं चरेत्**) एक ही समय भिक्षा मांगे (**विस्तरे न प्रसज्जेत**) भिक्षा से अधिक संग्रह अर्थात् लालच में न पड़े (**हि**) क्योंकि (**भैक्षे प्रसक्तः यति**) भिक्षा के लालच में या स्वाद में मन लगाने वाला संन्यासी (**विषयेषु+अपि सज्जति**)

इन्द्रियों के अन्य विषयों में भी फंस जाता है ॥ ५५ ॥

भिक्षा न प्राप्त होने पर दुःख का अनुभव न करे—

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥ ५७ ॥

(३६)

(**अलाभे विषादी न स्यात्**) भिक्षा के न मिलने पर दुःखी न हो (**च**) और (**लाभे एव न हर्षयेत्**) मिलने पर प्रसन्नता अनुभव न करे (**मात्रासंगात् विनिर्गतः**) अधिक-कम, स्वादिष्ट-अस्वादिष्ट भिक्षा की स्वल्प-अधिक मात्रा का लोभ न करके अर्थात् जैसी भी भिक्षा मिल जाये उसे ग्रहण करके (**प्राणयात्रिकमात्रः स्यात्**) केवल अपनी प्राणयात्रा को चलाने योग्य भिक्षा प्राप्त करता रहे ॥ ५७ ॥

प्रशंसा-लाभ आदि से बचे—

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते ॥ ५८ ॥

(३७)

(**तु**) और (**अभिपूजितलाभान्**) अधिक आदर-सत्कार से मिलने वाली भिक्षा, सम्मान या अन्य सुखप्रद सभी सांसारिक लाभों से [२.१६२, १६३] (**सर्वशः एव जुगुप्सेत**) सर्वथा उदासीनता बरते, क्योंकि (**मुक्तः+ अपि यतिः अभिपूजितलाभैः बद्ध्यते**) मुक्त संन्यासी भी अधिक आदर-सत्कार से मिलने वाले सांसारिक लाभों से विषयों और सांसारिक बन्धनों में फंस जाता है ॥ ५८ ॥

इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखकर मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाए—

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहः स्थानासनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

(३८)

(**विषयैःह्रियमाणानि इन्द्रियाणि**) विषयों के द्वारा उनकी ओर आकर्षित होने वाली इन्द्रियों को (**अल्प+ अन्न+अभ्यवहारेण**) थोड़ा भोजन करके (**च**) और (**रहः स्थान+आसनेन**) एकान्त स्थान में

निवास और उपासना में स्थित होकर (**निवर्तयेत्**) वश में करे, विषयों की ओर से लौटा दे॥ ५९॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥ ६०॥ (३९)

(**इन्द्रियाणां निरोधेन**) इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति रोकने से (**च**) और (**राग-द्वेष-क्षयेण**) मोह और द्वेष के क्षीण होने से (**च**) और (**भूतानाम् अहिंसया**) सब प्राणियों के प्रति मन-वचन-कर्म से अहिंसा का आचरण रखने से (**अमृतत्वाय कल्पते**) मनुष्य मोक्षप्राप्ति में सफल हो जाता है॥ ६०॥

ऋषि-अर्थ—''जो संन्यासी बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध, राग-द्वेषादि दोषों के क्षय और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है।'' (सं०वि०, संन्यासप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ५)

अनुशीलन—**'इन्द्रियनिरोध' में योग के प्रमाण**—योगदर्शन के सूत्रों द्वारा इस श्लोक की व्याख्या को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। ''**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**'' [१.२] अर्थात् योग से इन्द्रियों के विषयों का निरोध होता है और यह निरोध ''**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः** [१.१२] अभ्यास-वैराग्य से सिद्ध होता है। ''**सुखानुशयी रागः**'' ''**दुःखानुशयी द्वेषः**'' [२.७, ८]=सुख की तृष्णा राग है, दुःख-विषय में क्रोध भावना द्वेष है। इसके त्याग से और ''**अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः**'' [२.३५], अहिंसा सिद्धि से निर्वैरता प्राप्त करके व्यक्ति मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाने में सफल होता है।

मनुष्य-जीवन की दुःखमय गति-स्थितियाँ और उनका चिन्तन—

अवेक्षेत गतीर्नॄणां कर्मदोषसमुद्भवाः।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये॥ ६१॥ (४०)

(**कर्मदोषसमुद्भवाः नॄणां गतीः**) कर्मों के दोष से होने वाली मनुष्यों की कष्टयुक्त बुरी गतियों को (**च**) और (**निरये पतनम्**) कष्टरूपी नरक में जीवन बिताने को (**च**) तथा (**यमक्षये यातनाः**) प्राणक्षय में

मृत्यु के समय होने वाली पीड़ाओं को (**अवेक्षेत**) गम्भीरता से विचारे और विचारकर जन्म-मरण के दु:ख से रहित मुक्ति के लिए प्रयत्न करे ॥ ६१ ॥

विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम्॥ ६२ ॥
देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च सम्भवम्।
योनिकोटिसहस्त्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः॥ ६३ ॥
(४१, ४२)

(**च**) और (**प्रियैः विप्रयोगम्**) प्रियजनों से वियोग हो जाना (**तथा अप्रियैः संयोगम्**) तथा शत्रुओं से सम्पर्क होना और उससे फिर कष्टप्राप्ति होना (**च**) और (**जरया अभिभवनम्**) बुढ़ापे से आक्रान्त होना (**च**) तथा (**व्याधिभिः उपपीडनम्**) रोगों से पीड़ित होना (**च**) और (**अस्मात् देहात्+ उत्क्रमणम्**) फिर इस शरीर से जीव का निकल जाना (**गर्भे पुनः सम्भवम्**) गर्भ में पुनः जन्म लेना (**च**) और इस प्रकार (**अस्य+अन्तरात्मनः**) इस जीव का (**योनि-कोटिसहस्त्रेषु सृतीः**) सहस्त्रों प्रकार की अर्थात् अनेकविध योनियों में आवागमन होना—इनको विचारे और इनके कष्टों को देखकर मुक्ति के लिए प्रयत्न करे॥ ६२, ६३ ॥

अधर्म से दु:ख और धर्म से सुख-प्राप्ति—

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम्॥ ६४॥ (४३)

(**शरीरिणां दुःखयोगं अधर्मप्रभवम् एव**) यह निश्चित है कि प्राणियों को सभी प्रकार के दु:ख अधर्म से ही मिलते हैं (**च**) और (**अक्षयं सुखसंयोगं धर्मार्थ-प्रभवम् एव**) अक्षयसुखों=मोक्ष की अवधि तक रहने वाले सुखों की प्राप्ति केवल धर्म मूल वाले कर्मों से ही होती है। इसको भी विचारे और तदनुसार धर्माचारण करे॥ ६४॥

अनुशीलन—अधर्म से दु:ख की प्राप्ति कैसे होती है इसका वर्णन ४.१७०-१७६ में द्रष्टव्य है।

योग से परमात्मा का प्रत्यक्ष करे—

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च॥ ६५॥(४४)

(**च**) और (**योगेन परमात्मनः सूक्ष्मताम्**) योगाभ्यास से परमात्मा की सूक्ष्मता=सर्वव्यापकता को (**च**) तथा (**उत्तमेषु च अधमेषु देहेषु समुत्पत्तिम्**) उत्तम तथा अधम शरीरों में जीव की जन्मप्राप्ति के विषय में (**अनु-अवेक्षेत**) गम्भीरता से चिन्तन करे और उसी के अनुसार अनुकूल उपाय किया करे॥ ६५॥

अनुशीलन—योग की परिभाषा एवं योग से ईश्वर प्राप्ति—योग-दर्शन में योग की परिभाषा और उससे परमात्मा की प्राप्ति इस प्रकार बतलायी है—

(क) "**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**"=चित्तवृत्तियों का निरोध करना योग है (१.२)।

(ख) पुनः चित्तवृत्तियों के निरोध से समाधिसिद्धि होने पर "**तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्**" [१.३]=तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है। इसमें वेद का प्रमाण भी उल्लेखनीय है—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥

(ऋग्० १.४.२)

अर्थ—"(**युञ्जानः**) योग करने वाले मनुष्य (**तत्त्वाय**) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिए (**प्रथमं मनः**) जब अपने मन को पहले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (**सविता**) परमेश्वर उनकी (**धियम्**) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। (**अग्नेः ज्योति०**) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (**अध्याभरत्**) यथावत् धारण करते हैं (**पृथिव्याः**) पृथिवी के बीच में योगी का यही लक्षण है।"

(ऋ०भू० उपासना विषय)।

दूषित आदि प्रत्येक अवस्था में धर्म का पालन आवश्यक—

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम्॥ ६६॥ (४५)

मनुष्य (**यत्र तत्र+आश्रमे रतः**) किसी भी आश्रम

में स्थित रहते हुए (**दूषितः+अपि**) दूषित स्थिति में भी, अथवा लोगों के द्वारा दोषों से आरोपित या निन्दित किये जाने पर भी (**धर्मं चरेत्**) धर्म का पालन करे अर्थात् दुःखी होकर या किसी भी दूषित स्थिति में धार्मिक कर्त्तव्यों का त्याग न करे और (**सर्वेषु भूतेषु समः**) सब मनुष्यों से भेदभाव रहित होकर समानता का व्यवहार करे। [इस तथ्य को भलीभांति समझ लें कि] (**लिङ्गं धर्मकारणं न**) बाह्य चिह्न गेरुवे वस्त्र, वेशभूषा, केश, दण्ड, कमण्डलु आदि धर्मसंचय का कारण= आधार नहीं हैं अर्थात् बाह्य चिह्न तो किसी धर्म की और आश्रम की पहचान मात्र हैं। बाह्य चिह्नों को धारण करके यह न समझें कि मैं धर्म का पालन कर रहा हूं या मेरा आश्रम सफल है। वास्तविक फल तो धर्म या आश्रम-धर्म के पालन से मिलता है, अतः धर्माचरण को मुख्य मानें। आचरण के बिना बाह्य चिह्न पाखण्ड मात्र हैं॥ ६६॥

ऋषि-अर्थ—''कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे तो भी जिस किसी आश्रम में वर्तता हुआ पुरुष अर्थात् संन्यासी सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे। और यह अपने मन में निश्चित जाने कि दण्ड, कमण्डलु और कषायवस्त्र आदि चिह्नधारण धर्म का कारण नहीं है। सब मनुष्यादि प्राणियों के सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य धर्म है॥'' (स०प्र०, समु० ५) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ५)

धर्माचरण के बिना बाहरी दिखावे से श्रेष्ठ फल नहीं—

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति॥ ६७॥ (४६)

जैसे (**यद्यपि कतकवृक्षस्य फलम् अम्बुप्रसादकम्**) यद्यपि कतक=निर्मली वृक्ष का रीठा नामक फल जल को स्वच्छ करने वाला होता है, तथापि (**तस्य नाम-ग्रहणात्+एव**) उस रीठा का नाम लेने मात्र से

(**वारि न प्रसीदति**) जल स्वच्छ नहीं हो जाता। उसी प्रकार किसी धर्म या आश्रम का नाम लेने या बाह्य चिह्न धारण करने मात्र से कोई धार्मिक नहीं कहाता, उसका आश्रम-धारण सफल नहीं माना जा सकता। वस्तुतः, फल तो धर्माचरण से ही मिलता है॥ ६७॥

ऋषि अर्थ—"यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करने वाला है तथापि उसके नामग्रहण मात्र से जल शुद्ध नहीं होता किन्तु उसको ले, पीस, जल में डालने ही से जल शुद्ध होता है; वैसे नाममात्र आश्रम से कुछ भी नहीं होता किन्तु अपने-अपने आश्रम के धर्मयुक्त कर्म करने ही से आश्रमधारण सफल होता है, अन्यथा नहीं।" (सं०वि०, संन्यासप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ५)

अनुशीलन—कतक वृक्ष के फल को हिन्दी में 'रीठा' कहते हैं।

प्राणायाम अवश्य करे—

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः॥ ७०॥

(४७)

(**ब्राह्मण्यस्य**) ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व्यक्ति या संन्यासी के द्वारा जो (**विधिवत्**) विधि के अनुसार (**व्याहृतिःप्रणवैः युक्ताः**) प्रणव अर्थात् ओङ्कारपूर्वक और 'भूः, भुवः, स्वः' आदि सप्तव्याहृतियों के जप सहित (**त्रयः+ अपि**) शक्ति के अनुसार तीनों प्रकार के बाह्य, आभ्यन्तर, और स्तम्भक, प्राणायाम, अथवा न्यून से न्यून तीन प्राणायाम (**कृताः**) किये जाते हैं, (**परमं तपः विज्ञेयम्**) वह इसका परम=उत्तम तप होता है॥ ७०॥

ऋषि अर्थ—"ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओंकारपूर्वक सप्तव्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो उतने करे परन्तु तीन से तो न्यून प्राणायाम कभी न करे। यही संन्यासी का परम तप है।" (स०प्र०, समु० ५) (अन्यत्र व्याख्यात

सं०वि०, संन्यास०)

अनुशीलन—(१) **प्राणायाम की विधि एवं लक्षण**—प्राणायाम की विधि योगदर्शन में विहित है। १.२७-२८ में ओंकारपूर्वक ईश्वर जप का भी विधान है। यहां वही विधि व्यासभाष्य पर आधारित ऋषि दयानन्द के भाष्य-सहित प्रस्तुत की जाती है। इस विधि को अपना कर उपासक मानसिक एवं शारीरिक अशुद्धिक्षय, ईश्वर-सिद्धि और बलपराक्रम की वृद्धि करे। प्राणायाम का लक्षण है—

(क) **तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोः गतिविच्छेदः प्राणायामः।** (२.४९)

"जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उसको श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है उसको प्रश्वास कहते हैं। उन दोनों के जाने-आने को विचार से रोके। नासिका को हाथ से कभी न पकड़े किन्तु ज्ञान से ही उनके रोकने को प्राणायाम कहते हैं।"

(ख) **प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।** (१.३४)

"जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकालके सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोके। पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इसी प्रकार बारम्बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप, अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिए। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बारम्बार मग्न करना चाहिए।"

(ऋ०भा०भू० उपासना विषय)

(२) प्राणायाम के भेद—प्राणायाम के भेदों का वर्णन करते हुए योगदर्शन में प्रमुखरूप से प्राणायाम के चार भेद माने हैं—

(ग) **स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥** (२.५०)

(घ) **बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥** (२.५१)

वे मुख्य चार भेद हैं, बाह्य विषय=रेचक, आभ्यन्तर= पूरक और स्तम्भवृत्ति। ये देशकाल संख्यानुसार दीर्घ, सूक्ष्म होते हैं। चौथा भेद '**बाह्याभ्यन्तरविषयापेक्षी**' है। इनकी विधि निम्न प्रकार है—

(अ) रेचक=श्वास को भीतर से वमन के समान बाहर निकालना और उसे उसी स्थिति में रोकना=नियंत्रण करना। **(आ) पूरक**=श्वास को बाहर से भीतर धारण करके उसी स्थिति में रोकना=नियंत्रण करना। **(इ) स्तम्भक**=आते, जाते, जहां के तहां श्वास को रोकना। (ई) '**बाह्याभ्यन्तरविषयापेक्षी**' अर्थात् जब श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ-कुछ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे तब उसको भीतर ही थोड़ा-थोड़ा रोकता रहे, यह चौथा भेद है। इसकी पृथक् गणना इस कारण है क्योंकि वह बाह्याभ्यन्तर पर आधारित है।

कोई-कोई बाह्य=रेचक और आभ्यन्तर=पूरक के साथ रोकना प्रक्रिया को नहीं मानते। यह विचार ठीक नहीं। इस प्रकार तो वे मात्र उच्छ्वास निःश्वास, प्रश्वास ही कहलायेंगे। प्राणायाम शब्द का अर्थ ही उनकी इस मान्यता को गलत सिद्ध कर देता है। आयाम का अर्थ है='प्रसार, विस्तार, फैलाव या नियन्त्रण' इस प्रकार प्राणायाम शब्द का अर्थ हुआ 'प्राण का विस्तार या नियन्त्रण' करना। प्राणायाम शब्द सभी भेदों के साथ संयुक्त है। अतः उनका अर्थ भी प्राणायाम शब्द के अर्थ को साथ जोड़कर करना चाहिए। जैसे=बाह्यप्राणायाम, आभ्यन्तरप्राणायाम, स्तम्भकप्राणायाम।

(३) प्राणायाम मन्त्र—

शास्त्रों में व्याहृतियों की गणना तीन और सात के रूप में मिलती है। ऋषि दयानन्द ने सात व्याहृतियों की गणना स्वीकार करके प्राणायाम की विधि प्रदर्शित की है, क्योंकि तीन व्याहृतियां उनके अन्तर्गत ही आ जाती हैं। उन्होंने व्याहृति और मन्त्र निम्न प्रकार दिये हैं— ''इस पवित्र आश्रम को सफल करने के लिए संन्यासी पुरुष विधिवत् योगशास्त्र की रीति से सात व्याहृतियों के पूर्व सात प्रणव लगाके जैसा कि प्राणायाम का मन्त्र लिखा है, उसको मन से जपता हुआ तीन भी प्राणायाम करे तो जानो अत्युत्कृष्ट तप करता है।'' (सं०वि०, संन्यासप्रकरण) वह प्राणायाम

मन्त्र इस प्रकार है—

"**ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम्।**"

इसी रीति से कम से कम तीन और अधिक से अधिक इक्कीस प्राणायाम करें।"

(सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

प्राणायाम से इन्द्रियों के दोषों का क्षय—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ ७१॥

(४८)

(**यथा**) जैसे (**ध्मायमानानां धातूनां मलाः दह्यन्ते**) धौंकने से=आग में तपाने और गलाने से सोना, चांदी आदि धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं (**तथा हि**) उसी प्रकार, निश्चय ही (**प्राणस्य निग्रहात्**) प्राणों को रोकने-वश में करने से (**इन्द्रियाणां दोषाः दह्यन्ते**) मन, आंख, कान आदि इन्द्रियों के विषय-दोष और व्याधि-दोष नष्ट हो जाते हैं अर्थात् इन्द्रियां वश में होती हैं और उनके रोग मिट जाते हैं॥ ७१॥

अनुशीलन—प्राणायाम से दोषों का निवारण— इसमें योगदर्शन का प्रमाण भी है—

(क) **योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।** (२.२८)

प्राणायाम भी योग का एक प्रमुख अंग है। "जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।" "इसी प्रकार बारंबार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है।" (ऋ०भा०भू०, उपासना विषय)

(ख) **ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥** (२.५२)

प्राणायाम सिद्धि और प्राणायाम पूर्वक उपासना के पश्चात् आत्मा के ज्ञान को ढांपने वाले इन्द्रियों का दोष—अज्ञानरूपी जो आवरण है, वह नष्ट हो जाता है। और ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। महर्षि दयानन्द ने

इस विषय में लिखा है—

''प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियां भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्यवृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा।''

(स०प्र०, समु० ३)

प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार से दोषों का क्षय—

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्॥ ७२॥

(४९)

मनुष्य (**प्राणायामैः दोषान्**) प्राणायामों के द्वारा इन्द्रियों के विषय सम्बन्धी और व्याधि-दोषों को (**च**) और (**धारणाभिः किल्बिषम्**) मन की एकाग्रता-पूर्वक संकल्प करने से मन की पापभावनाओं को (**प्रत्याहारेण संसर्गान्**) मन को इन्द्रियों के विषय से हटाकर नियन्त्रण में करने से इन्द्रियों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले दोषों को (**च**) और (**ध्यानेन+अनीश्वरान् गुणान्**) ईश्वर में मन को एकाग्र कर उसकी उपासना से ईश्वर-भिन्न अज्ञान, अविद्या, लोभ, पक्षपात आदि दोषों को (**दहेत्**) भस्म करे॥ ७२॥

ऋषि-अर्थ—''इसलिए संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा, अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से संगदोष, ध्यान से अनीश्वरता के गुणों अर्थात् हर्ष, शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करे।'' (स०प्र०, समु० ५)

अनुशीलन—धारणा और प्रत्याहार-विवेचन में योग का प्रमाण—श्लोक में उक्त बातों का सप्रमाण विवेचन योगदर्शन के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है—

१. प्राणायाम से इन्द्रियों के दोषों का दहन किस प्रकार होता है, यह ६.७१ की समीक्षा में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है।

२. धारणाओं से अन्तःकरण के किल्विष अर्थात्

बुराई को दूर करे। ''**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**'' (योग ३.१)=''धारणा उसको कहते हैं कि मन को चंचलता से छुड़ाके, नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है उसका विचार करना।'' (ऋ०भा०भू०, उपासनाविषय) अथवा बुराइयों को, दोषों को समझकर उनको छोड़ने के लिए व्रतों को धारण करना भी धारणा है।

''**धारणासु च योग्यता मनसः।**'' (योग० २.५३)= धारणाओं से मन में ज्ञान की योग्यता और विवेक बढ़ता है, जिससे बुराइयों का त्याग होता है। ['किल्बिषम्' के अर्थ पर विशेष अनुशीलन ८.३१६ पर भी द्रष्टव्य है]।

३. प्रत्याहार के द्वारा संसर्गजन्य दोष को छोड़े। ''**स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः**''॥ (योग० २.५४)

''प्रत्याहार उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलाने वाला है।'' (ऋ०भा०भू०, उपासनाविषय) परिणामस्वरूप इन्द्रियां अपने-अपने विषयों के संगों, अभिमान आदि दोषों से निवृत्त हो जाती हैं। प्रत्याहार से मन स्ववश में हो जाता है और इन्द्रियों पर दृढ़ वशीभूतता हो जाती है—

''**ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्।**'' (योग २. ५५)

''तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहां अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे उसी में ठहरा और चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं।''

(ऋ०भा०भू०, उपासनाविषय)

योगदर्शन के व्यासभाष्य में भी अपरिग्रह को स्पष्ट करते हुए लिखा है—''**विषयाणामर्जन-रक्षण-क्षय-सङ्ग-हिंसादोषदर्शनात् अस्वीकरणम् अपरिग्रहः।**'' (योग २.२०)=विषयों में अर्जनदोष, रक्षणदोष, क्षयदोष, संगदोष तथा हिंसादोष देखने से उनका जो अस्वीकार अर्थात् त्याग है, वह अपरिग्रह कहा जाता है।

४. ध्यान से अनीश्वर गुणों अर्थात् अविद्या, अज्ञान आदि का त्याग करके ईश्वरीय गुणों को धारण करना।

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (योग० ३.२)="धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में, अत्यन्त विचार और प्रेम-भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना। इसी का नाम ध्यान है।"

(ऋ०भा०भू०, उपासना विषय)

५. '**किल्बिषनाश**' के लिए द्रष्टव्य ११.२२७ पर अनुशीलन और शब्दार्थ के लिए ८.३१६ का अनुशीलन।

ध्यान से परमात्मा की गति का ज्ञान—

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः॥ ७३॥
(५०)

(**उच्च+अवचेषु भूतेषु**) बड़े-छोटे अर्थात् संसार के सभी प्राणियों और पदार्थों में विद्यमान और (**अकृतात्मभिः दुर्ज्ञेयाम्**) अज्ञानी या अशुद्ध-आत्मा वालों के द्वारा जो जानने योग्य नहीं है (**अस्य अन्तरात्मनः गतिम्**) उस अन्तर्यामी परमात्मा की सत्ता एवं व्यापकता को [६.६५] (**ध्यानयोगेन सम्पश्येत्**) ध्यान रूप योगाभ्यास के द्वारा देखे, अनुभव करे॥ ७३॥

ऋषि-अर्थ—"बड़े-छोटे प्राणी और अप्राणियों में जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है, उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति को ध्यानयोग से ही संन्यासी देखा करे।" (सं०वि०, संन्यासप्रकरण)

अनुशीलन—'ध्यानयोग' के लिए ६.७२ पर अनुशीलन संख्या ४ द्रष्टव्य है।

यथार्थ ज्ञान से कर्मबन्धन का विनाश—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्ध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिद्यते॥ ७४॥ (५१)

(**सम्यक् दर्शनसम्पन्नः**) जिसने भलीभांति परमात्मा का अनुभव वा साक्षात्कार कर लिया है

[६.७३] वह (**कर्मभिः+न निबद्ध्यते**) सांसारिक कर्मों के बंधन में नहीं बंधता अर्थात् कर्मबन्धन से मुक्त होकर जन्म-मरण के चक्र से छूटकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है (**तु**) किन्तु (**दर्शनेन विहीनः**) जो परमात्मा के अनुभव और दर्शन से रहित है, वह (**संसारं प्रतिपद्यते**) संसार में जन्म ग्रहण करता रहता है अर्थात् जन्म-मरण और दुःखों को झेलता रहता है ॥ ७४ ॥

ऋषि-अर्थ—''जो संन्यासी यथार्थ ज्ञान वा षड्दर्शनों से युक्त है वह दुष्टकर्मों से बद्ध नहीं होता, और जो ज्ञान, विद्या, योगाभ्यास, सत्संग, धर्मानुष्ठान वा षड् दर्शनों से रहित विज्ञान हीन होकर संन्यास लेता है वह संन्यास पदवी और मोक्ष को प्राप्त न होकर जन्म-मरण रूप संसार को प्राप्त होता है।''

(सं०वि०, संन्यासप्रकरण)

अनुशीलन—दर्शन एवं ध्यानयोग का विवेचन— (१) उपर्युक्त ७२-७३ श्लोकों में उक्त यथार्थ ज्ञान से ध्यानयोग की सिद्धि होने पर परमात्मा के दर्शन होते हैं और वह—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ योग० ४.६ ॥

जो ध्यानयोग से सिद्ध चित्त है वह यथार्थ ज्ञान से अनाशयम्=कर्मवासना और क्लेशवासना से रहित होता है। कर्मों से बद्ध नहीं होता। उसके कर्म दग्धबीज के समान होने से फिर फलाभिमुख नहीं होते। वही फिर मोक्ष की स्थिति में पहुंचता है।

अहिंसा आदि वैदिक कर्मों से परमात्मा पद की प्राप्ति—

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥
(५२)

(**अहिंसा**) सब प्राणियों के साथ मन-वचन-कर्म के द्वारा अहिंसा का व्यवहार करने से (**च**) और (**वैदिकैः कर्मभिः**) वेदोक्त कर्मों के आचरण से (**च**) और (**उग्रैः तपसश्चरणैः**) कठोर द्वन्द्वसहनों, व्रतों के पालन से (**इह**) इस जन्म में संन्यासी या साधक जन (**तत् पदं साधयन्ति**) उस मोक्ष पद को सिद्ध करते

हैं ॥ ७५ ॥

ऋषि-अर्थ—''जो निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों के बंधन से पृथक् वैदिक कर्माचरणों और प्राणायाम, सत्यभाषणादि उत्तम उग्र कर्मों से सहित संन्यासी लोग होते हैं, वे इसी जन्म इसी वर्तमान समय में परमेश्वर की प्राप्तिरूप पद को प्राप्त होते हैं, उनका संन्यास लेना सफल और धन्यवाद के योग्य है।'' (स०प्र० समु० ५) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, संन्यास०)

निःस्पृहता से सुख एवं मोक्षप्राप्ति—

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥ ८० ॥
(५३)

(**यदा**) जब संन्यासी (**भावेन सर्वभावेषु निस्पृहः भवति**) वास्तविक रूप से सब भावनाओं में आकांक्षारहित या निर्लिप्त हो जाता है (**तदा**) तब (**इह च प्रेत्य**) इस जन्म में और परलोक में अर्थात् मुक्ति में (**शाश्वतं सुखम्+अवाप्नोति**) चिरस्थायी सुख को प्राप्त करता है ॥ ८० ॥

ऋषि-अर्थ—''जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निस्पृह, कांक्षारहित और सब बाहर-भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है, तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है।''
(स०प्र०, समु० ५)

''निरन्तर शब्द का इतना ही अर्थ है कि मुक्ति के नियत समय के मध्य में दुःख आकर विघ्न नहीं कर सकता।'' (सं०वि०, संन्यासप्रकरण में टिप्पणी)

परमात्मा में अधिष्ठान—

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगाञ्छनैः शनैः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥ ८१ ॥ (५४)

संन्यासी (**अनेन विधिना**) पूर्वोक्त विधि के अनुसार (**सर्वान् संगान्**) सब इन्द्रियों के संसर्ग से उत्पन्न दोषों को अथवा संसार-संसर्गज दोषों को (**शनैः शनैः त्यक्त्वा**) सावधानीपूर्वक छोड़कर (**सर्वद्वन्द्व-**

विनिर्मुक्तः) सब सांसारिक सुख-दुःखों से पृथक् होकर (**ब्रह्मणि+एव+अवतिष्ठते**) ब्रह्म में ही स्थित हो जाता है॥ ८१॥

ऋषि-अर्थ—"इस विधि से धीरे-धीरे सब संग से हुए दोषों को छोड़ के सब हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से विशेषकर निर्मुक्त हो के विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है।" (सं०वि०, संन्यासप्रकरण)

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम्।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते॥ ८२॥ (५५)

(**यत्+एतत्+अभिशब्दितम्**) यह जो कुछ पहले कहा गया है (**एतत् सर्वम्+एव ध्यानिकम्**) यह सब ध्यानयोग के द्वारा सिद्ध होने वाला है (**अन्+अध्यात्म-वित् कश्चित्**) अध्यात्मज्ञान से रहित कोई भी व्यक्ति (**क्रियाफलं न हि उपाश्नुते**) उपर्युक्त कर्मों के फल को नहीं पा सकता॥ ८२॥

परमात्मा ही सुख का स्थान है—

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम्।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम्॥ ८४॥ (५६)

(**इदम् अज्ञानां शरणम्**) परमात्मा ही अज्ञानियों= स्वल्पज्ञानी साधकों का भी आश्रय है और (**इदम्+एव विजानताम्**) यही महाज्ञानी साधकों—संन्यासियों का भी आश्रय है (**इदं स्वर्गम्+अन्विच्छताम्**) यही सुख की इच्छा करने वालों का आश्रय है (**इदम्+आनन्त्यम् +इच्छताम्**) यही अनन्त अर्थात् चिरस्थायी मोक्षसुख को चाहने वालों का आश्रय स्थान है॥ ८४॥[१]

ऋषि-अर्थ—"यही अज्ञानियों का शरण अर्थात् गौण संन्यासियों और यही विद्वान् संन्यासियों का और

१. **प्रचलित अर्थ**—वेदार्थ को नहीं जानने वालों के लिये यही वेद शरण (गति) है, (क्योंकि अर्थज्ञान के बिना भी वेदपाठ करने से पापक्षय होता है) और वेदार्थ जानने वालों के लिए स्वर्ग (तथा मोक्ष) चाहने वालों के लिए भी यही वेद शरण (गति) है॥ ८४॥

यही सुख की खोज करने हारे और यही अनन्त सुख की इच्छा करने हारे मनुष्यों का आश्रय है।''

(सं०वि०, संन्यासप्रकरण)

''जो विविदिषा अर्थात् जानने की इच्छा करके गौण संन्यास लेवे, वह भी विद्या का अभ्यास, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास और ओंकार का जप और उसके अर्थ परमेश्वर का विचार भी किया करे।'' (सं०वि०, संन्यासप्रकरण)

१. ''अनन्त इतना ही है कि मुक्ति-सुख के समय में अन्त अर्थात् जिसका नाश न होवे।''

(सं०वि०, संन्यासप्रकरण में टिप्पणी)

अनुशीलन—मोक्षसुख का आश्रय परमात्मा— (१) परमेश्वर मोक्ष सुख और अन्य सुख का आश्रय है, इसका विधायक एक वेदमन्त्र तुलनार्थ द्रष्टव्य है—

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या॥ ऋ० १.४.३॥

अर्थ—''(**वयम्**) हम लोग (**स्वर्ग्याय**) मोक्षसुख के लिए (**शक्त्या**) यथायोग्य सामर्थ्य के बल से (**देवस्य**) परमेश्वर की सृष्टि में उपासना योग करके, अपने आत्मा को शुद्ध करें कि जिससे (**युक्तेन मनसा**) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों।'' (ऋ०भा०भू०, उपासनाविषय)

(२) इसकी संगति वेद से नहीं अपितु परमात्मा से है। परमात्मा ही मोक्षसुख आदि के लिए शरण हो सकता है। टीकाकारों ने इसका जो वेदपरक अर्थ किया है वह प्रसंगानुकूल नहीं है। यहां पूर्वापर प्रसंग परमात्मा की प्राप्ति का है।

(३) स्वर्ग के अर्थ के लिए द्रष्टव्य है—३.७९ श्लोक पर का अनुशीलन।

उपसंहार—

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति॥८५॥(५७)

(**यः द्विजः**) जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (**अनेन क्रमयोगेन**) पूर्वोक्त विधि-विधान के अनुसार (**परिव्रजति**) संन्यासी बनकर विचरण करता

है, संन्यासी-धर्म का पालन करता है (**सः**) वह (**पाप्मानम् इह विधूय**) सब पापभावों को इस संसार में ही भस्म करके (**परं ब्रह्म+अधिगच्छति**) परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, उसकी शरण में जाकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥ ८५॥

ऋषि अर्थ—''इस क्रमानुसार संन्यास योग से जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य संन्यास ग्रहण करता है। वह इस संसार और शरीर में सब पापों को छोड़-छुड़ाके परब्रह्म को प्राप्त होता है।''

(सं०वि०, संन्यासप्रकरण)

आश्रम-धर्मों की समाप्ति पर उपसंहार—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥८७॥(५८)

(**ब्रह्मचारी गृहस्थः वानप्रस्थः तथा यतिः**) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास (**एते चत्वारः पृथक् आश्रमाः**) ये चारों अलग-अलग आश्रम (**गृहस्थप्रभवाः**) गृहस्थाश्रम से ही उत्पन्न हुए हैं॥ ८७॥

आश्रमधर्मों के पालन से मोक्ष की ओर प्रगति—

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्॥ ८८॥
(५९)

(**एते सर्वे+अपि क्रमशः यथाशास्त्रं निषेविताः**) ये सब क्रमानुसार कहे गये पूर्वोक्त ये चारों आश्रम शास्त्रोक्त विधानों के अनुसार पालन करने पर (**यथा+उक्तकारिणं विप्रम्**) कर्त्तव्यों का यथोक्त विधि से पालन करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विज को (**परमां गतिं नयन्ति**) उत्तम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कराते हैं॥ ८८॥

गृहस्थ की श्रेष्ठता—

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि॥ ८९॥
(६०)

(**वेद-स्मृतिविधानतः**) वेदों और स्मृतियों में कहे अनुसार (**एषां सर्वेषाम्+अपि**) इन सब आश्रमों में (**गृहस्थः श्रेष्ठः उच्यते**) गृहस्थ सबसे श्रेष्ठ है (**हि**) क्योंकि (**सः**) वह (**एतान् त्रीन् बिभर्ति**) इन तीनों का ही भरण-पोषण करता है अर्थात् उत्पत्ति और जीवनयापन की दृष्टि से ये तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम पर आश्रित हैं ॥ ८९ ॥

अनुशीलन—गृहस्थ कैसे तीन आश्रमों और सबका भरण-पोषण करता है, इसका कारणपूर्वक वर्णन ३.७८, ८० में वर्णित है। ३.७७ में भी इसको आधार बताया है।

गृहस्थ समुद्रवत् है—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ ९० ॥
(६१)

(**यथा**) जैसे (**सर्वे नदी-नदाः**) सब नदियां और बड़े नद (**सागरे संस्थितिं यान्ति**) समुद्र में पहुंचकर आश्रय पाते हैं (**तथैव**) उसी प्रकार (**सर्वे आश्रमिणः**) सब आश्रम=चारों आश्रम (**गृहस्थे संस्थितिं यान्ति**) गृहाश्रम में ही आश्रय पाते हैं और उसी के कारण उनकी सत्ता और स्थिति है ॥ ९० ॥

ऋषि-अर्थ—''जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं, जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते। वैसे गृहस्थ के ही आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं। बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता।'' (स०प्र० समु० ४) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, संन्यास०)

अनुशीलन—तुलना के लिए देखिए ३.७७ वाँ श्लोक।

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥ ९१ ॥ (६२)

(**एतैः चतुर्भिः+अपि आश्रमिभिः+द्विजैः**) ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी इन चारों

आश्रमस्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, द्विजों को (**दश-लक्षणकः धर्मः**) दश लक्षण वाला अग्रिम धर्म (**प्रयत्नतः सेवितव्यः**) पूरा प्रयत्न करते हुए पालन करना चाहिये॥ ९१ ॥

धर्म के दश लक्षण—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ ९२ ॥

(६३)

(**धृतिः**) कष्ट या विपत्ति में भी धैर्य बनाये रखना और दुःखी एवं विचलित न होना तथा धर्म पालन में कष्ट आने पर भी धैर्य रखकर पालन करते रहना, दुःखी या विचलित होकर धर्म का त्याग न करना, (**क्षमा**) धर्मपालन के लिए निन्दा-स्तुति, मान-अपमान को सहन करना, (**दमः**) ईर्ष्या, लोभ, मोह, वैर आदि अधर्म रूप संकल्पों या विचारों से मन को वश में करके रखना, (**अस्तेयम्**) चोरी, डकैती, झूठ, छल-कपट, भ्रष्टाचार, अन्याय, अधर्माचरण से किसी की वस्तु, धन आदि न लेना, (**शौचम्**) तन और मन की पवित्रता रखना, (**इन्द्रियनिग्रहः**) इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों के अधर्म और आसक्ति से रोककर रखना, (**धीः**) बुद्धि की उन्नति करना, मननशील होकर बुद्धिवर्धक उपायों को करना और बुद्धिनाशक नशा आदि न करना, (**विद्या**) सत्यविद्याओं की प्राप्ति में अधिकाधिक यत्न करके विद्या और ज्ञान की उन्नति करना, (**सत्यम्**) मन, वचन, कर्म से सत्य मानना, सत्यभाषण व सत्याचरण करना, आत्मविरुद्ध मिथ्याचरण न करना, (**अक्रोधः**) क्रोध के व्यवहार और बदले की भावना का त्याग कर शान्ति आदि गुणों को ग्रहण करना, (**दशकं धर्मलक्षणम्**) ये दश धर्म के लक्षण हैं। इन गुणों से धर्मपालन की पहचान होती है और ये मनुष्यों को 'धार्मिक है' ऐसा लक्षित=सिद्ध करते हैं। ये धर्म के सर्वसामान्य दश लक्षण हैं॥ ९२ ॥

ऋषि-अर्थ—पहिला लक्षण—(**धृति**) सदा धैर्य

रखना, दूसरा—(**क्षमा**) जो कि निन्दा-स्तुति मान-अपमान, हानि-लाभ आदि दु:खों में भी सहनशील रहना; तीसरा—(**दम**) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे, चौथा—(**अस्तेय**) चोरी त्याग अर्थात् विना आज्ञा वा छल-कपट, विश्वासघात वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से पर-पदार्थ का ग्रहण करना चोरी, और इसको छोड़ देना साहूकारी कहाती है, पांचवां—(**शौच**) राग-द्वेष पक्षपात छोड़के भीतर और जल, मृत्तिका, मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी, छठा—(**इन्द्रिय-निग्रह**) अधर्माचरणों से रोकके इन्द्रियों को धर्म ही में सदा चलाना, सातवां—(**धी:**) मादक द्रव्य बुद्धिनाशक अन्य पदार्थ, दुष्टों का संग, आलस्य, प्रमाद आदि को छोड़के श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास से बुद्धि बढ़ाना; आठवाँ—(**विद्या**) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त यथार्थ ज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना; इसके विपरीत अविद्या है; नववां—**(सत्य)** जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में बर्तना, जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना, वैसा ही करना भी; तथा दशवां—(**अक्रोध**) क्रोधादि दोषों को छोड़के शान्त्यादि गुणों को ग्रहण करना (धर्मलक्षणम्) धर्म का लक्षण है ॥ ९२ ॥
(स०प्र०, समु० ५) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, गृहाश्रम०)

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्रा समधीयते।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम्॥ ९३ ॥
(६४)

(**धर्मस्य दशलक्षणानि**) धर्म के दश लक्षणों का (**ये विप्रा:**) जो द्विज (**सम्+अधीयते**) अध्ययन-मनन करते हैं (**च**) और (**अधीत्य**) अध्ययन-मनन करके (**अनुवर्तन्ते**) इनका पालन करते हैं (**ते**) वे (**परमां गतिं यान्ति**) उत्तम गति को प्राप्त करते हैं ॥ ९३ ॥

आश्रमधर्मों एवं ब्राह्मण धर्मों का उपसंहार—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत॥ ९७॥
(६५)

(**एषः**) यह, यहां तक (**पुण्यः**) इस जन्म में पुण्यरूप और (**प्रेत्य अक्षयफलः**) मरने के बाद चिरस्थायी मोक्षसुख को देने वाला (**ब्राह्मणस्य चतुर्विधः धर्मः**) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य द्विजों का ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास सम्बन्धी चार प्रकार का धर्म और ब्राह्मण का वर्णधर्म भी (**वः-अभिहितः**) तुमको कहा, अब [शेष वर्णों के धर्मों में] (**राज्ञां धर्मं निबोधत**) राजाओं और क्षत्रिय वर्ण वालों का धर्म आगे सुनिये—९७॥

ऋषि-अर्थ—''मनु जी महाराज कहते हैं कि हे ऋषियो! यह चार प्रकार अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है। यहां वर्तमान में आनन्द का देने वाला संन्यास धर्म है। इसके आगे राजाओं का धर्म मुझसे सुनो।'' (स० प्र०, समु० ५)

अनुशीलन—१. ब्राह्मण शब्द का उपलक्षणात्मक प्रयोग—इस श्लोक तथा सर्वसामान्य प्रकरणों में ब्राह्मण शब्द का 'ब्राह्मण' मुख्य अर्थ के साथ-साथ अन्य द्विजों के लिए उपलक्षण रूप में प्रयोग है। १.१४४ [२.२५] श्लोक से वर्णाश्रम धर्मों का प्रारम्भ किया है। तदनुसार यहां तक ब्राह्मण वर्ण के सम्पूर्ण धर्म=धार्मिक तथा लौकिक कर्त्तव्य पूर्ण हो गये हैं और साथ-साथ द्विजों के चारों आश्रमों (द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय से पंचम में गृहस्थ और षष्ठ में वानप्रस्थ और संन्यास) के धर्म भी [६.९१] पूर्ण हो गये हैं। इस प्रकार ब्राह्मण शब्द

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमार
समीक्षाभ्यां विभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृ

से मुख्य प्रसंगानुसार 'ब्राह्मण' वर्ण और सहचारी रूप में क्षत्रिय और वैश्य का भी ग्रहण होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस विषयक प्रमाण भी हैं—

''तस्मादपि (दीक्षितं) राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्। ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञात् जायते।''
(शत० ब्रा० ३.२.१.४०)

अर्थात्—'किसी यज्ञ की दीक्षा लेने के पश्चात् क्षत्रिय और वैश्य को 'ब्राह्मण' ही कह ले, क्योंकि जो यज्ञदीक्षा प्राप्त करता है वह ब्राह्मण ही होता है।'

(२) ब्राह्मण शब्द ग्रहण करने का एक विशेष अभिप्राय यह भी है कि सभी द्विज संन्यासाश्रम में आकर संन्यास के धर्मों को धारण करके ब्रह्मत्व प्राप्त करते हैं। ब्रह्मप्राप्ति का एक ही उद्देश्य होने से उनके कर्त्तव्यों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। अतः ब्राह्मण शब्द से ही उनका ग्रहण किया है।

(३) इन अध्यायों में विभिन्न स्थानों पर '**द्विज**', '**विप्र**' शब्दों को ब्राह्मण के पयार्यवाची रूप में भी ग्रहण किया है, यथा **द्विजः**—६.१, ४०, ८५, ९१, ९४; **विप्रः**— ६.२९, ८८, ९३; **ब्राह्मणः**—६.३०, ३८, ७०, ९७ श्लोकों पर्याय रूप में प्रयोग है। ६.२७ में एक ही श्लोक में 'द्विज' और 'विप्र' शब्द का पर्याय रूप में प्रयोग है। छठे अध्याय का आरम्भ भी ''**स्नातको द्विजः**'' शब्दों से किया है जो तीनों वर्णों का वाचक है। वह यह सिद्ध करता है कि वानप्रस्थ, संन्यास का विधान द्विजमात्र अर्थात् तीनों वर्णों के लिए है। इसके प्रमाण ६.८५, ९१ श्लोक हैं जिनमें संन्यास के विधानों के लिए 'द्विज' शब्द का प्रयोग है। विशेष विधान को छोड़कर 'ब्राह्मण' शब्द से सामान्य अर्थ 'द्विज' ही ग्रहण करना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिये कि 'ब्राह्मण' शब्द द्विजमात्र का उपलक्षक और पर्याय है। यही मनु को अभीष्ट है। इस विषयक ४.२५४ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

कृतहिन्दी-भाष्यसमन्वितायाम् अनुशीलन-
तौ वानप्रस्थसंन्यासधर्मविषयकः षष्ठोऽध्यायः ॥

अथ सप्त

(हिन्दीभाष्य-'अनुशी

(राजधर्म विषय ७.

राजा की नियुक्ति एवं सिद्धि (७.१ से ७.३५ तक)—

राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा॥ १॥

(१)

ब्राह्मण वर्ण और साथ-साथ चारों आश्रमों के कर्त्तव्य कहने के पश्चात् अब मैं (**राजधर्मान्**) राजा के और क्षत्रिय वर्ण के कर्त्तव्यों को और (**नृपः यथावृत्तः भवेत्**) राजा का जैसा आचरण होना चाहिए, (**तस्य यथासम्भवः**) उसका चयन या नियुक्ति जिस प्रकार होनी चाहिए, (**च**) और (**यथा परमा सिद्धिः**) जिस प्रकार उसको अपने कार्यों में अधिकाधिक सफलता प्राप्त हो वह सब (**प्रवक्ष्यामि**) आगे कहूंगा॥ १॥

ऋषि अर्थ—''अब मनु जी महाराज ऋषियों से कहते हैं कि चारों वर्ण और चारों आश्रमों के व्यवहार कथन के पश्चात् राजधर्मों को कहेंगे कि जिस प्रकार राजा होना चाहिए और जैसे उसको सम्भव=बनना तथा जैसे उसको परमसिद्धि प्राप्त होवे, उसको सब प्रकार कहते हैं।'' (स०प्र०, समु० ६)

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम्॥ २॥

(२)

(**यथाविधि**) शास्त्रोक्त विधि के अनुसार (**ब्राह्मं संस्कारं प्राप्तेन क्षत्रियेण**) उपनयन संस्कार कराके ब्रह्मचर्य पूर्वक क्षत्रिय वर्ण के लिए निर्धारित शिक्षा प्राप्त किये हुए क्षत्रिय वर्ण के व्यक्ति को (**अस्य सर्वस्य**)

मोऽध्यायः

लन'-समीक्षा सहित)

१ से ९.३३६ तक)

अपने राज्य और जनता की (**यथान्यायं परिरक्षणं कर्त्तव्यम्**) न्याय के अनुसार सब प्रकार की सुरक्षा करनी चाहिए॥ २ ॥

ऋषि अर्थ—''जैसा परम विद्वान् ब्राह्मण होता है, वैसा विद्वान् सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है कि इस सब राज्य की रक्षा न्याय से यथावत् करे।''

(स०प्र०, समु० ६)

राजा बनने की आवश्यकता—

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥ ३॥ (३)

(**हि**) क्योंकि (**अराजके अस्मिन् लोके**) राजा के बिना इस जगत् में (**सर्वतः भयात् विद्रुते**) सब ओर भय और अराजकता फैल जाने के कारण, अर्थात् राजा के बिना असुरक्षा और अराजकता हो जाती है अतः (**अस्य सर्वस्य रक्षार्थम्**) इस सब राज्य और जनता की सुरक्षा के लिए (**प्रभुः राजानम्+असृजत्**) प्रभु ने 'राजा' पद को बनाया है अर्थात् राजा बनाने की प्रेरणा वेदों के द्वारा मानवों को दी है॥ ३ ॥

राजा के आठ विशिष्ट गुण—

इन्द्राऽनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥ ४॥ (४)

उस राजा के पद को (**इन्द्र-अनिल-यम-अर्काणाम् अग्नेः**) विद्युत्, वायु, यम, सूर्य, अग्नि (**च**) और (**वरुणस्य**) जल, (**चन्द्र-वित्तेशयोः च एव**) चन्द्र तथा कुबेर=धनाध्यक्ष इनकी (**शाश्वतीः**

मात्राः निर्हृत्य) स्वाभाविक मात्राओं अर्थात् गुणों को ग्रहण करके बनाया है, अर्थात् राजा को विद्युत् के समान समृद्धि कर्त्ता, वायु के समान राज्य की सब स्थितियों का ज्ञाता, यम=ईश्वर के समान न्यायकारी, सूर्य के समान अज्ञाननाशक और कर ग्रहणकर्त्ता, अग्नि के समान पाप-अपराध नाशक, जल के समान अपराधियों का बन्धनकर्ता, चन्द्र के समान प्रसन्नता-दाता और धनाध्यक्ष के समान पालन-पोषणकर्ता होना चाहिए॥ ४॥

ऋषि अर्थ—''यह सभेश राजा इन्द्र अर्थात् विद्युत् के समान शीघ्र ऐश्वर्यकर्त्ता, वायु के समान सबको प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जानने हारा, यम-पक्षपातरहित न्यायाधीश के समान वर्त्तने वाला, सूर्य के समान न्याय, धर्म, विद्या का प्रकाशक, अन्धकार अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने हारा, वरुण अर्थात् बांधने वाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष के समान कोशों का पूर्ण करने वाला सभापति होवे।''

(स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—राजा के आठ विशिष्ट गुणों की व्याख्या—(क) महर्षि मनु ने इस श्लोक में कहा है कि राजा को आठ विशिष्ट गुणों से युक्त होना चाहिए। जैसे श्लोकोक्त आठ ईश्वरीय दिव्यशक्तियों का कार्य या स्वभाव है, वैसा ही राजा का स्वभाव और आचरण होना चाहिए। मनु ने ९.३०३ से ३११ श्लोकों में स्वयं इन गुणों की व्याख्या की है, जो निम्न प्रकार—

(१) **इन्द्र** [=वृष्टिकारक शक्ति या विद्युत्] जैसे भरपूर जल बरसाकर जगत् को तृप्त करता है, वैसे राजा अपनी प्रजाओं को सुख-सुविधाएं, ऐश्वर्य प्रदान करे। उनकी कामनाओं को पूर्ण कर सन्तुष्ट रखे (९.३०४)। [इदि परमैश्वर्ये भ्वादि धातु से '**ऋजेन्द्राग्नवज्र**' (उणादि २.२८) सूत्र से 'रन्' प्रत्यय के योग से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। '**इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः**' (निरुक्त १०.८)=

ऐश्वर्यप्रदाता होने से इन्द्र कहलाता है] मनु० ७.७ श्लोक में इसके पर्यायवाची रूप में 'महेन्द्र' का प्रयोग है।

(२) **वायु**—जैसे वायु सब प्राणियों, स्थानों में प्रविष्ट होकर विचरण करता है, उसी प्रकार राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रविष्ट होकर सब स्थानों की, अपनी तथा शत्रु की प्रजाओं की बातों की जानकारी रखनी चाहिए [९.३०६]। [वायुः=वा गतिगन्धनयोः अदादि धातु '**कृवापाजि०**' (उणादि १.१) सूत्र से 'उः' प्रत्यय। '**वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः**' (निरुक्त १०.१)]। में ९.३०६ श्लोक में 'मारुत' का प्रयोग है।

(३) **यम** [=ईश्वर की मारक या नियन्त्रक शक्ति] जैसे यम=ईश्वर कर्मफल का समय आने पर श्रेष्ठ और दुष्ट सबको धर्मपूर्वक अर्थात् न्यायानुसार दण्डित करता है या मारता है, उसी प्रकार राजा को भी अपराध करने पर अपने वा पराये सभी को न्यायपूर्वक दण्ड देना चाहिए और उनको अपने नियन्त्रण में रखना चाहिए [९.३०७]।७.७ श्लोक में मनु ने यम का 'धर्मराट्' पर्यायवाची ग्रहण किया है। धर्म अर्थात् न्यायपूर्वक शासन करने वाला 'धर्मराट्' होता है। ['यमु उपरमे' भ्वादि धातु से कर्त्तरि **पचाद्यच्**। "**यमः यच्छतीति सतः**" (निरु० १०.१९)]।

(४) **अर्क**=सूर्य जैसे प्रकाश से अन्धकार को नष्ट करता है उसी प्रकार राजा अज्ञान-अविद्या निवारक हो तथा जैसे सूर्य अपनी किरणों द्वारा बिना संतप्त किये जलग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजा को कष्ट और हानि पहुंचाये बिना (७.१२७-१३९) अपने अधिकारों के द्वारा शास्त्रोक्त कर ग्रहण करे (९.३०५)। [अर्च- पूजायाम् भ्वादि धातु से '**कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः**' (उणादि ३.४०) सूत्र से 'कः' प्रत्यय]। मनु० ९.३०५ श्लोक में पर्यायवाची रूप में 'आदित्य' का प्रयोग है।

(५) **अग्नि**—जैसे अग्नि अशुद्धि का नाश करके शुद्धि करने वाली और तेजयुक्त होती है, उसी प्रकार राजा अपराध, हानि एवं दुष्टता करने वालों तथा प्रजा को पीड़ित करने वालों को प्रभावशाली ढंग से सन्तापित करने वाला, भयभीत करने वाला एवं दण्ड से सुधारने वाला होवे (९.३१०)। [अगि-गतौ धातु से "**अङ्गेर्नलोपश्च**" (उणादि ४.५०) सूत्र से 'निः' प्रत्यय, नि लोप।]

(६) **वरुण**=जल जैसे अपने तरंग या भंवररूपी पाश में प्राणियों को फंसा लेता है, उसी प्रकार राजा अपराधियों और शत्रुओं को बन्धन या कारागार में डाले (९.३०८)। [वृञ्-वरणे स्वादि धातु से '**कृवृदारिभ्य उनन्**' (उणादि ३.५३) सूत्र से 'उनन्' प्रत्यय]।

(७) **चन्द्र**—मनु ने कहा है कि राजा पिता के समान होता है और प्रजा पुत्रवत् होती है। राजा को प्रजाओं से पितृवत् व्यवहार करना चाहिए—"**वर्तेत पितृवत् नृषु**" [७.८०] जैसे चन्द्र शीतलता प्रदान करता और पूर्णिमा के चांद को देखकर जैसे हृदय में प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार राजा प्रजाओं को शान्ति तथा प्रसन्नता प्रदान करने वाला होवे। ऐसे राजा के रूप में पाकर प्रजा को हर्ष का अनुभव हो (९.३०९)। [चदि आह्लादने दीप्तौ च भ्वादिधातु से '**स्फायितञ्चिवञ्चि०**' (उणादि २.१३) सूत्र से 'रक्' प्रत्यय।] मनु० ७.७ श्लोक में 'सोम' चन्द्र का पर्यायवाची है।

(८) **वित्तेश** अर्थात् ऐश्वर्यवान्। मनु० ७.७ श्लोक में कुबेर और ९.३११ में इसके पर्यायवाची के रूप में 'धरा' 'पृथ्वी' शब्दों का ग्रहण है। जैसे धरती या धनस्वामी परमेश्वर समान भाव से सब प्राणियों का पालन-पोषण करते हैं, उसी प्रकार राजा पक्षपातरहित होकर समानभाव से प्रजाओं का पुत्रवत् पालन करे (९.३११)।

(ख) वेद में राजा के आठ गुणों का वर्णन—

मनु के इस विधान का आधार वेद है। राजा के ये गुण भी वेदमन्त्रों के आधार पर ही वर्णित किये हैं। द्रष्टव्य है एक मन्त्र—

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि। तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशां अभक्षयन्॥ (ऋ० १०.१६७.३)

अर्थ—(राज्ञः सोमस्य वरुणस्य धर्मणि) राजा= अग्नि, सोम=चन्द्रमा, और वरुणस्य=जल के धर्म में (उ) तथा (बृहस्पतेः अनुमत्या शर्मणि) बृहस्पति=सूर्य, अनुमत्या=लक्ष्मी अर्थात् वित्तेश या धरा के आश्रय में (मघवन्! धात! विधात!) और हे इन्द्र! हे वायु! हे यम!

(अहम् अद्य तव उपस्तुतौ) मैंने तुम्हारी उपस्तुति= सान्निध्य में रहकर, तुम्हारे गुणों का धारण करके (सोमकलशान् अभक्षयन्) ऐश्वर्य कलशों अर्थात् राज्यैश्वर्यों का सेवन किया है। अभिप्राय: यह है कि इन गुणों के अंशों को धारण करके तदनुसार आचरण से राज्यसंचालन में सफलता प्राप्त होती है।

राजा दिव्यगुणों के कारण प्रभावशाली—

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥ ५॥ (५)

(**यस्मात्**) क्योंकि (**एषां सुरेन्द्राणाम्**) इन पूर्वोक्त (७.४) शक्तिशाली इन्द्र आदि देवताओं= दिव्य पदार्थों के (**मात्राभ्यः**) सारभूत गुणों के अंश से (**नृपः निर्मितः**) 'राजा' पद को बनाया है (**तस्मात्**) इसीलिए (**एषः**) यह राजा (**तेजसा**) अपने तेज= शक्ति के प्रभाव से (**सर्वभूतानि अभिभवति**) सब प्राणियों को वशीभूत एवं नियन्त्रित रखता है॥ ५॥

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्॥ ६॥ (६)

(**एषः**) यह राजा (**आदित्यवत् चक्षूंषि च मनांसि तपति**) जैसे सूर्य लोगों की आंखों और मनों को अपने तेज से सन्तप्त करता है उसी प्रकार अपने प्रभाव से प्रभावित रखता है, (**एनं भुवि कश्चिद्-अपि**) प्रभावशाली होने के कारण राजा को पृथिवी पर कोई भी (**अभिवीक्षितुम् न शक्नोति**) कठोर दृष्टि से देखने में समर्थ नहीं होता अर्थात् आंखें नहीं दिखा सकता॥ ६॥

ऋषि अर्थ—"जो सूर्यवत् प्रतापी, सबके बाहर और भीतर मनों को अपने तेज से तपाने हारा है, जिसको पृथिवी में कड़ी दृष्टि से देखने को कोई भी समर्थ नहीं होता।" (स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—राजा में तेजस्विता, प्रभावशालिता आदि गुण होने चाहिएं। इन गुणों से युक्त होकर राजा सफल एवं प्रजाओं पर प्रभावी रहता है।

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥ ७॥

(७)

(**सः**) वह राजा (**प्रभावतः**) अपने प्रभाव= सामर्थ्य के कारण (**अग्निः**) अग्नि के समान दुष्टों= अपराधियों का विनाश करने वाला (**च**) और (**वायुः**) वायु के समान गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र गतिशील होकर राज्य की प्रत्येक स्थिति की जानकारी रखने वाला (**अर्कः**) सूर्य द्वारा किरणों से जलग्रहण करने के समान कष्टरहित कर=टैक्स ग्रहण करने वाला अथवा प्रजा के अज्ञान अविद्या का नाशक (**सोमः**) चन्द्रमा के समान शान्ति—प्रसन्नता देने वाला (**धर्मराट्**) न्यायानुसार दण्ड देने वाला (**कुबेरः**) ऐश्वर्यप्रद परमेश्वर के समान समभाव से प्रजा का पालन-पोषण करने वाला (**वरुणः**) जलीय तरंगों या भंवरों के समान अपराधियों और शत्रुओं को बन्धनों या कारागार में डालने वाला और (**सः**) वही (**महेन्द्रः**) वर्षाकारक शक्ति इन्द्र के समान सुख-सुविधा का वर्षक=प्रदाता (**भवति**) है॥ ७॥

ऋषि अर्थ—''जो अपने से अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्म, प्रकाशक, धनवर्द्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्य वाला हो वही सभाध्यक्ष सभेश होने योग्य होवे।'' (स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—इन शब्दों की व्याख्या मनु ने स्वयं की है। देखिए ७.४ की समीक्षा तथा ९.३०३-३११ श्लोक।

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत्॥ १३॥

(८)

(**तस्मात्**) इसलिए (**सः नराधिपः**) वह राजा (**यं धर्मम्**) जिस धर्म अर्थात् कानून का (**इष्टेषु व्यवस्येत्**) पालनीय विषयों में आवश्यकता-अनुसार निर्धारण करे (**च**) और (**अनिष्टेषु अपि अनिष्टम्**)

अपालनीय विषयों में जिसका निषेध करे (**तं धर्मं न विचालयेत्**) उस धर्म अर्थात् कानून व्यवस्था का उल्लंघन कोई न करे ॥ १३ ॥

दण्ड की सृष्टि और उपयोग विधि—

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत् पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥ (९)

(**तस्य+अर्थे**) उस राजा के प्रयोग के लिए (**पूर्वम्**) सृष्टि के प्रारम्भ से ही (**ईश्वरः**) ईश्वर ने (**सर्वभूतानां गोप्तारम्**) सब प्राणियों की सुरक्षा करने वाले (**ब्रह्मतेजोमयम्**) ब्रह्मतेजोमय अर्थात् शिक्षाप्रद और अपराधनाशक गुण वाले (**धर्ममात्मजम्**) धर्म-स्वरूपात्मक=न्याय के प्रतीक (**दण्डम्+ असृजत्**) दण्ड को रचा अर्थात् दण्ड देने की व्यवस्था का विधान किया है और उसे यह अधिकार वेदों में दिया है ॥ १४ ॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्हतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥ १६ ॥ (१०)

(**देशकालौ शक्तिं च विद्याम्**) देश, समय, शक्ति और न्याय अर्थात् अपराध के अनुसार न्यायोचित दण्ड का ज्ञान, इन सब बातों को (**तत्त्वतः अवेक्ष्य**) ठीक-ठीक विचार कर (**अन्यायवर्तिषु**) अन्याय का आचरण करने वाले (**नरेषु**) लोगों में (**तम्**) उस दण्ड को (**यथार्हतः सम्प्रणयेत्**) यथायोग्य रूप में प्रयुक्त करे ॥ १६ ॥

दण्ड का महत्त्व—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ १७ ॥
(११)

(**सः दण्डः पुरुषः राजा**) जो दण्ड है वही पुरुष, राजा (**सः नेता**) वही न्याय का प्रचारकर्त्ता (**च**) और (**शासिता**) सबका शासनकर्त्ता (**सः**) वही (**चतुर्णाम्+आश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः**) चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् जामिन् [=जिम्मेदार] है ॥ १७ ॥ (स०प्र०, समु० ६)

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ १८॥
(१२)

वास्तव में (**दण्डः सर्वाः प्रजाः शास्ति**) दण्ड= दण्डविधान ही सब प्रजाओं पर शासन करता है और उन्हें अनुशासन में रखता है (**दण्डः+एव**) दण्ड ही (**अभिरक्षति**) प्रजाओं की सब ओर से [दुष्टों आदि से] रक्षा करता है (**सुप्तेषु**) सोती हुई प्रजाओं में (**दण्डः जागर्ति**) दण्ड ही जागता रहता है अर्थात् असावधानी प्रमाद और एकान्त में होने वाले अपराधों के समय दण्ड का ध्यान ही उन्हें भयभीत करके उनसे रोकता है, दण्ड का भय एक ऐसा भय है जो सोते हुए भी रक्षक बना रहता है, इसीलिए (**बुधाः**) बुद्धिमान् लोग (**दण्डं धर्मं विदुः**) दण्ड=न्यायोचित दण्ड-विधान [७.१६] को राजा का प्रमुख धर्म मानते हैं॥ १८॥

ऋषि अर्थ—"जैसा विद्वान् लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं, वैसा सब लोग जानें, क्योंकि दण्ड ही प्रजा का शासन अर्थात् नियम में रखने वाला, दण्ड ही सब का सब ओर से रक्षक और दण्ड ही सोते हुओं में जागता है। चोरादि दुष्ट भी दण्ड के ही भय से पाप कर्म नहीं कर सकते॥" (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ६)

न्यायानुसार दण्ड ही हितकारी—

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥ १९॥
(१३)

(**सः सम्यक् समीक्ष्य धृतः**) वह दण्ड भली-भांति विचारकर प्रयुक्त करने पर (**सर्वाः प्रजाः रञ्जयति**) सब लोगों को प्रसन्न-सन्तुष्ट रखता है, (**तु**) किन्तु (**असमीक्ष्य प्रणीतः**) बिना विचारे अर्थात् अन्यायपूर्वक प्रयुक्त करने पर (**सर्वतः विनाशयति**) राजा का सभी प्रकार का विनाश कर देता है॥ १९॥

ऋषि अर्थ—जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाये तो वह सब प्रजा को आनन्दित कर देता और जो विना विचारे चलाया जाये तो सब ओर से राजा का विनाश कर देता है॥ (स०प्र०, समु० ६)

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात्॥ २४॥
(१४)

(**दण्डस्य विभ्रमात्**) दण्ड के यथायोग्य और न्यायानुसार प्रयोग न होने पर (**सर्ववर्णाः दुष्येयुः**) चारों वर्णों की व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी, (**सर्वसेतवः भिद्येरन्**) सब मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न हो जायेंगी, (**च सर्वलोकप्रकोपः**) और राज्य के सब लोगों में आक्रोश उत्पन्न हो जायेगा॥ २४॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति॥ २५॥
(१५)

(**यत्र**) जिस राज्य में (**श्यामः लोहिताक्षः**) श्यामवर्ण और रक्तनेत्र अर्थात् स्मरणमात्र से ही भयकारी और देखने मात्र से ही (**पापहा**) पाप-अपराध से दूर रखने वाला (**दण्डः चरति**) दण्ड प्रयुक्त होता है, (**चेत्**) यदि (**नेता**) राज्य का संचालक राजा (**साधु पश्यति**) भलीभांति विचारकर दण्ड का प्रयोग करता है तो (**तत्र प्रजाः न मुह्यन्ति**) उस राज्य में प्रजाएँ कभी कर्त्तव्य में प्रमाद नहीं करती॥ २५॥

ऋषि अर्थ—''जहां कृष्णवर्ण रक्तनेत्र, भयंकर पुरुष के समान पापों का नाश करने हारा दण्ड विचरता है, वहाँ प्रजा मोह को प्राप्त न होके आनन्दित होती हैं, परन्तु जो दण्ड का चलाने वाला पक्षपात रहित विद्वान् हो तो।'' (स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—दण्ड का आलंकारिक चित्र—इस श्लोक में आलंकारिक वर्णन के आधार पर दण्ड का रेखाचित्र प्रस्तुत किया गया है। जैसे कोई काले रंग

का और क्रोधयुक्त लाल आंखों वाला व्यक्ति भयकारी प्रतीत होता है, उसी प्रकार दण्ड भी भयकारक है, और अपराधियों-पापियों को क्रोधाग्नि में जला देने वाला होता है। उसके भयंकर रूप का ध्यान करके ही प्रजाएँ अपने कर्त्तव्यों में प्रमाद नहीं करतीं। किन्तु वह तब है जब राजा पक्षपातरहित होकर अपराधियों को न्यायानुसार और अवश्य दण्डित करे।

दण्ड देने का अधिकारी राजा कौन—

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्॥ २६ ॥
(१६)

(**तस्य संप्रणेतारं राजानं आहुः**) उस दण्ड के प्रयोग करने वाले राजा और राजपुरुष में जो गुण होने चाहियें, उनको कहते हैं कि वह (**सत्यवादिनम्**) सत्य बोलने वाला हो, (**समीक्ष्यकारिणम्**) भलीभांति विचार करके ही दण्डविधान का प्रयोग करने वाला हो, (**प्राज्ञम्**) दण्ड-विधान का विद्वान् और विशेषज्ञ हो, (**धर्म-काम-अर्थ-कोविदम्**) धर्म, काम और अर्थ के सही स्वरूप का ज्ञाता हो॥ २६ ॥

ऋषि अर्थ—''उस दण्ड को अच्छे प्रकार चलाने हारे उस राजा को कहते हैं कि जो सत्यवादी, विचार ही करके कार्य का कर्त्ता विद्वान् धर्म, काम और अर्थ का यथावत् जानने हारा हो।'' (सं०वि०, गृहाश्रम०) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—**धर्म, अर्थ, और काम का स्वरूप**—धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का शास्त्रों में बहुशः वर्णन आता है। इन्हें '*पुरुषार्थचतुष्टय*' के नाम से भी जाना जाता है। धर्म-अर्थ-काम के वर्ग को '*त्रिवर्ग*' कहते हैं।

(१) **धर्म का स्वरूप**—'**धारणात् धर्मः**' '**ध्रियते अनेन लोकः इति**' व्युत्पत्तियों के अनुसार प्रत्येक धारण किये जाने वाले सदाचार, कर्त्तव्य, आदर्श, मर्यादा, श्रेष्ठ विधान या समाज-व्यवस्था को धर्म कहा जाता है। मनुस्मृतिकार मुख्यरूप से ''**यतो अभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः**'' (वैशे० १.१.२) अर्थात् जिसके

आचरण करने से उत्तम सुख, आत्मिक-मानसिक-शारीरिक त्रिविध उन्नति और मोक्षसुख की प्राप्ति हो, उसको धर्म मानते हैं। विभिन्न श्लोकों में मनु ने इन मान्यताओं को स्पष्ट किया है [४.२३८, २३९, १५६, २४२, १७५, २२७; ६.९२; २.९(१.१२८)] आदि। इस सम्बन्धी विस्तृत विवेचन १.२ की समीक्षा में देखिए।

(२) **काम**—व्यावहारिक कामनाओं की पूर्ति, कामविकारों की शान्ति, (जो धर्मपूर्वक हो)।

(३) **अर्थ**—धन और सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति, (जो धर्मपूर्वक हो)।

(४) **मोक्ष**—जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाकर निश्चित अवधि तक मुक्ति की स्थिति में रहना।

धर्म प्रत्येक स्थिति में स्वीकार्य और पालनीय होता है और मोक्षप्राप्ति भी सबका परम उद्देश्य है, किन्तु काम और अर्थ के विषय में छूट नहीं है, अपितु मनु ने उन्हें सीमित और विहितरूप में ही ग्राह्य माना है। वे ही अर्थ और काम ग्राह्य हैं जो धर्मानुकूल हैं, अन्य त्याज्य हैं—

(क) ''**परित्येजदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ**''। ४.१७६॥

=धर्म से रहित अर्थ और काम असेवनीय हैं।

(ख) ''**अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।**'' [१.१३२ (२.१३)]

=अर्थ और काम में आसक्ति न रखने वाले व्यक्ति को ही धर्म का ज्ञान एवं सिद्धि प्राप्त होती है।

(ग) अर्थसिद्धि के नियम—

नेहेतार्थान् प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः॥ ४.१५॥

(घ) कामसिद्धि की सीमाएँ—

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत्॥ ४.१६॥

धर्मानुकूल काम और अर्थ कौनसे हैं, इसकी मनु ने विभिन्न स्थानों पर चर्चा भी की है। अन्यत्र भी इस प्रकार की सीमाएँ विहित हैं—

(ङ) काम-सन्तुष्टि के विषय में मनु ने प्रत्येक मनुष्य और राजा को जितेन्द्रिय रहते हुए कामसेवन का विधान किया है [७.४४]। ऋतुकालाभिगामी होने का निर्देश है।

ऐसे नियम का पालन करने वाला ब्रह्मचारी ही होता है [३.४५, ५०]। अतिकामासक्ति का निषेध है, क्योंकि वह हानिकारक है [७.२७, ४८]। एक सीमा में ही कामसिद्धि होनी चाहिए।

(च) इसी प्रकार धन-ऐश्वर्य की प्राप्ति भी धर्मपूर्वक ही रखनी चाहिए। इस विषय में लालची न होने का निर्देश है [७.४९], क्योंकि अर्थलालची व्यक्ति के धर्म आदि सब समूल नष्ट हो जाते हैं। अर्थ-शुचिता को मनु ने जीवन में आवश्यक माना है [५.१०६]। इसीलिए अर्थप्राप्ति के लिए साधारण व्यक्तियों की भी सीमा बांधी है, और कहा है कि वह सन्तोषपूर्वक दूसरे प्राणियों को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुंचाते हुए अर्थप्राप्ति करें [४.२, ३, ११, १२]। राजाओं के लिए भी अर्थसंग्रह के लिए समुचित निर्देश ७.१२७-१२९, १३९; ९.३०५ में दिये हैं।

इन धर्मादि की सिद्धि के आवश्यक नियमों-विधानों के ज्ञाता को और तदनुसार आचरण करने वाले को 'धर्म-कामार्थकोविद' कहा जाता है। इनकी प्राप्ति करना मनुष्य जीवन का उद्देश्य है, और इनकी सिद्धि होना मनुष्य जीवन की सफलता और सुख का प्रतीक माना जाता है।

अन्यायपूर्वक दण्डप्रयोग राजा का विनाशक—

तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते॥ २७॥
(१७)

(**तं सम्यक् प्रणयन् राजा**) उस दण्ड को भली-भांति विचारकर न्यायानुसार प्रयोग करने वाला राजा (**त्रिवर्गेण+अभिवर्धते**) धर्म, अर्थ और कामनाओं से भरपूर बढ़ता है, और जो (**कामात्मा**) विषय-वासना में संलिप्त है, (**विषमः**) किसी के साथ न्याय और किसी के साथ अन्याय करता है, (**क्षुद्रः**) विचार और ज्ञान से रहित है, वह (**दण्डेन+एव निहन्यते**) उस अन्याययुक्त दण्ड से ही विनाश को प्राप्त हो जाता है॥ २७॥

ऋषि अर्थ—''जो दण्ड को अच्छे प्रकार राजा चलाता है वह धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि को

बढ़ाता है और जो विषय में लम्पट, टेढ़ा, ईर्ष्या करने हारा, क्षुद्र, नीचबुद्धि न्यायाधीश राजा होता है, वह दण्ड से ही मारा जाता है।'' (स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—'विषमः' का अभिप्राय— 'विषमः' से इस श्लोक में 'न्याय में ईर्ष्या आदि के कारण असमान बर्ताव अर्थात् पक्षपात करने से अभिप्राय है। पक्षपातयुक्त दण्डव्यवस्था होने से राजा का विनाश हो जाता है।

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥ २८॥
(१८)

(**दण्डः हि सुमहत् तेजः**) दण्ड निश्चय ही महान् तेजयुक्त है, जो (**अकृतात्मभिः दुर्धरः**) आत्म-नियन्त्रण से रहित अधर्मात्मा लोगों के द्वारा प्रयुक्त करना कठिन है, क्योंकि (**धर्मात् विचलितं नृपम्**) दण्ड-धर्म अर्थात् न्याय का त्याग करने वाले राजा को (**सबान्धवम् एव हन्ति**) बन्धु-बान्धवों सहित अवश्य विनष्ट कर देता है॥ २८॥

ऋषि अर्थ—''दण्ड बड़ा तेजोमय है, उसको अविद्वान् अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता, तब वह दण्ड धर्म से रहित राजा ही का नाश कर देता है॥
(स०प्र०, समु० ६)

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च॥ ३०॥
(१९)

(**सः**) वह दण्ड-विधान (**असहायेन**) उत्तम सहायकों-परामर्शदाताओं से विहीन राजा से (**मूढेन**) मूर्ख से, (**लुब्धेन**) लोभी से, (**अकृतबुद्धिना**) सुशिक्षा से रहित से, (**च**) और (**विषयेषु सक्तेन**) विषय-वासनाओं में संलिप्त रहने वाले राजा से, (**न्यायतः नेतुं न शक्यः**) न्यायपूर्वक नहीं चलाया जा सकता॥ ३०॥

ऋषि अर्थ—'' क्योंकि जो आप्तपुरुषों के सहाय,

विद्या, सुशिक्षा से रहित, विषयों में आसक्त मूढ़ है, वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकता।'' (स०प्र०, समु० ६) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, गृहाश्रम०)

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता॥ ३१॥
(२०)

(**शुचिना**) धन आदि से पवित्रात्मा (**सत्य-सन्धेन**) सत्य संकल्प, (**यथाशास्त्र+अनुसारिणा**) न्यायशास्त्र के अनुसार चलने वाले, (**सुसहायेन**) उत्तम सहायकों—परामर्शदाताओं से युक्त, (**धीमता**) बुद्धिमान् राजा से (**दण्डः प्रणेतुं शक्यते**) वह दण्डविधान न्यायानुसार चलाना सम्भव है॥ ३१॥

ऋषि अर्थ—''इसलिए जो पवित्र, सत्पुरुषों का संगी, राजनीतिशास्त्र के अनुकूल चलने हारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त बुद्धिमान् राजा हो, वही इस दण्ड को धारण करके चला सकता है।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ६)

न्यायानुसार दण्डादि देने से राजा की यशोवृद्धि—

एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि॥ ३३॥
(२१)

(**एवं वृत्तस्य नृपतेः**) इस प्रकार न्यायपूर्वक [१३-३१] दण्ड का प्रयोग करने वाले राजा का (**शिलोञ्छेन अपि+जीवतः**) शिल-उञ्छ से निर्वाह करते हुए भी अर्थात् राजा के धनहीन होते हुए भी (**यशः**) यश (**अम्भसि तैलबिन्दुः इव**) जैसे पानी पर डालने से तैल की बूंद चारों ओर फैल जाती है ऐसे (**लोके विस्तीर्यते**) सम्पूर्ण जगत् में फैल जाता है॥ ३३॥

अनुशीलन—शिल और उञ्छ—काटने के बाद खेत में पड़ी बालियों को 'शिल' कहते हैं और पड़े रह गये दानों को 'उञ्छ' कहते हैं। 'शिल-उञ्छ से जीना'

यह एक मुहावरा है, जिसका अभिप्राय स्वल्प धनयुक्त होना अथवा धन या ऐश्वर्यहीन होना है। न्यायानुसार चलने वाला स्वल्प धन-सम्पत्ति वाला राजा भी यश पाता है। ७.१४८ में भी इसी भाव को एक मुहावरे के द्वारा व्यक्त किया है।

न्यायविरुद्ध आचरण से यशोनाश—

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि॥ ३४॥
(२२)

(**अतः तु विपरीतस्य**) पूर्वोक्त व्यवहार से विपरीत चलने वाले अर्थात् न्याय और सावधानीपूर्वक दण्ड का व्यवहार न करने वाले (**अजितात्मनः नृपतेः**) अजितेन्द्रिय राजा का (**यशः**) यश (**अम्भसि घृत-बिन्दुः+इव**) जल में पड़े घी के बिन्दु के समान (**लोके संक्षिप्यते**) लोक में कम होता जाता है॥ ३४॥

राजा की नियुक्ति नामक विषय का उपसंहार—

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥ ३५॥
(२३)

(**स्वे स्वे धर्मे निविष्टानाम्**) अपने-अपने धर्मों में संलग्न (**अनुपूर्वशः सर्वेषां वर्णानां च आश्रमाणाम्**) क्रमशः चारों वर्णों और आश्रमों के 'रक्षक' के रूप में राजा को बनाया है अर्थात् राजा के पद पर आसीन व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह सब वर्णस्थ और आश्रमस्थ व्यक्तियों को उनके धर्मों में प्रवृत्त रखे और उनकी सुरक्षा करे। समाज को धर्म अर्थात् नियम-व्यवस्था में चलाने के लिए और उसकी सुरक्षा के लिए ही राजा और राज्य की संकल्पना होती है॥ ३५॥

अनुशीलन—राजा वर्णाश्रम धर्मों का रक्षक होना चाहिए—मनु के श्लोक में वर्णित मान्यता को यथावत् ग्रहण करते हुए कौटिल्य ने भी 'वर्ण-आश्रम-धर्मों और मर्यादाओं की रक्षा करना' राजा का प्रमुख कर्त्तव्य बतलाया है—

चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षणात्।
नश्यतां सर्वधर्माणां राजधर्मप्रवर्त्तकः॥

(प्र० ५६-५७, अ०१)

राजा की जीवनचर्या और भृत्यों आदि की नियुक्ति सम्बन्धी विधान—

तेन यद्यत् सभृत्येन कर्त्तव्यं रक्षता प्रजाः।
तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥ ३६॥(२४)

(**तेन**) उस राजा को (**प्रजाः रक्षता**) प्रजाओं की रक्षा करते हुए (**सभृत्येन**) अपने अमात्य, मन्त्री आदि सहायकों सहित (**यत्-यत् कर्त्तव्यम्**) जो-जो कर्त्तव्य करना चाहिए (**तत्-तत्**) उस उसको (**अनुपूर्वशः**) क्रमशः (**वः**) तुमको (**अहं यथावत् प्रवक्ष्यामि**) मैं ठीक-ठीक कहूंगा— ॥ ३६ ॥

अनुशीलन—१. श्लोक का महत्त्वपूर्ण विधान— पाठक इस श्लोक की विशेष भाषा पर ध्यान दें। राजर्षि मनु ने यहाँ से आगे राजा के जो कर्त्तव्य विहित किये हैं वे सभृत्य हैं अर्थात् राजा के सभासदों, अधिकारियों और कर्मचारियों के द्वारा भी यथायोग्य वे कर्त्तव्य करणीय हैं। अतः अग्रिम सभी श्लोकों के साथ 'सभृत्य' की संगति लगाकर व्याख्या करनी चाहिए।

२. भृत्य से अभिप्राय—राजा की ओर से भरण-पोषण की अपेक्षा रखने वाले सभी व्यक्ति भृत्य होते हैं। '**भृत्यः=बिभर्तेः, भृ-धातोः क्यप् तक् च**'। इस प्रकार राजा से भरण-पोषण पाने वाले अमात्यों, मन्त्रियों से लेकर साधारण सेवकों तक सभी कर्मचारी भृत्यवर्ग में आते हैं, द्रष्टव्य ७.२२६ श्लोक। अग्रिम सम्पूर्ण प्रसंग, जिसमें अमात्यों-मन्त्रियों से लेकर साधारण सेवकादि की नियुक्ति का विधान है, भी इसी अर्थ का द्योतक है। इस विषय में ७.२२६ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

राजा वेदवेत्ता आचार्यों की मर्यादा में रहे—

ब्राह्मणान् पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषस्तिष्ठेत् तेषां च शासने॥ ३७॥
(२५)

(**पार्थिवः**) राजा (**प्रातः+उत्थाय**) सवेरे उठकर [७.१४५ में वर्णित दिनचर्या को सम्पन्न करने के

बाद] (**त्रैविद्यवृद्धान् विदुषः ब्राह्मणान्**) ऋक्, साम, यजु रूप त्रयीविद्या [१.२३; ११.२६३-२६४] में बढ़े-चढ़े अर्थात् पारंगत आचार्य, ऋत्विज् आदि [७.४३, ७८] विद्वान् ब्राह्मणों की (**परि+उपासीत**) अभिवादन आदि से सत्कार एवं शिक्षा के लिए संगति करे (**च**) और सभी राजसभासदों सहित [७.३६] (**तेषाम्**) उन शिक्षक विद्वानों के (**शासने तिष्ठेत्**) निर्देशन और मर्यादा में स्थित रहे ॥ ३७ ॥

अनुशीलन—राजा की जीवनचर्या और दिनचर्या—(१) राजा के सम्पूर्ण जीवन के लिए जो विधान हैं, वे जीवनचर्या के अन्तर्गत आते हैं। ये विधान दैनन्दिन न होकर जीवन में आवश्यकतानुसार पालन किये जाते हैं। इस ७.३७ श्लोक से लेकर ९.३२५ तक इनका वर्णन है। ७.१४५-२२६ तक राजा की दैनिकचर्या का वर्णन है, जो विषय की दृष्टि से जीवनचर्या के अन्तर्गत आ जाती है [द्रष्टव्य ७.१४५ की समीक्षा]। वहाँ प्रतिदिन पालनीय कर्त्तव्य विहित हैं।

(२) **श्लोकार्थ पर विचार**—यहाँ यह विधान जीवनचर्या की दृष्टि से किया गया है, अतः उसी दृष्टि से प्रातः विद्वानों से शिक्षा ग्रहण करने का कथन है, किन्तु इसकी व्याख्या ७.१४५ की सहायता से पूर्ण होगी। वहाँ प्रथम पहर में उठकर पहले राजा के लिए सन्ध्या, अग्निहोत्रादि आवश्यक दिनचर्या करने का विधान है, पुनः विद्वानों की सङ्गति का कथन है। इस प्रकार यहाँ उस श्लोक के अनुसार अर्थ लगाया गया है, जो मनुसम्मत है।

(३) **राजा की जीवनचर्या और कौटिलीय अर्थशास्त्र**—यद्यपि कौटिलीय अर्थशास्त्र में अन्य शास्त्रों के सार-ग्रहण के साथ-साथ स्वतन्त्र चिन्तन भी है, किन्तु उसमें वर्णित राजा की जीवनचर्या और वर्णनक्रम का प्रमुख आधार मनु का शास्त्र रहा है। उसमें प्रथम प्रकरण के प्रथम तीन अध्यायों में वर्णाश्रम धर्मों का वर्णन और दण्ड की महिमा का कथन है। पुनः राजा की जीवनचर्या आदि का मनुस्मृति के क्रम से उल्लेख है। वहाँ राजा की जीवनचर्या का कथन करते हुए कौटिल्य ने इन बातों पर निम्न प्रकार प्रकाश डाला है—''**वृद्धसंयोगेन प्रज्ञाम्**'' [प्र० ३, अ० ६]।

मर्यादां स्थापयेदाचार्यानमात्यान् वा।

य एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुः। (प्र० ३, अ० ६)

पुरोहितम्.....कुर्वीत। तमाचार्यं शिष्यः, पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्तेत [प्र० ४, अ० ८]।

अर्थात् विद्वान् पुरुषों की संगति में रहकर बुद्धि का विकास करे। आचार्य आदि गुरुजन और अमात्यवर्ग राजा की मर्यादा को निर्धारित करें। वे ही राजा को गलत कामों से रोकते रहें। जैसे आचार्य के निर्देशन में शिष्य, पिता के निर्देशन में पुत्र, स्वामी के निर्देशन में भृत्य चलता है, उसी प्रकार अपने ऋत्विक् के निर्देशन में राजा चले।

राजा शिक्षक वेदवेत्ताओं का आदर-सत्कार करे—

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान् वेदविदः शुचीन्।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते॥ ३८॥ (२६)

(**च**) और उन (**शुचीन्**) शुद्ध आत्मा वाले (**वेदविदः**) वेद के ज्ञाता (**वृद्धान् विप्रान्**) ज्ञान एवं तपस्या में बढ़े-चढ़े विद्वानों की (**नित्यं सेवेत**) प्रतिदिन सेवा करे अर्थात् आदर-सत्कार और संगति करे (**हि**) क्योंकि (**सततं वृद्धसेवी**) सदैव ज्ञान आदि से बढ़े-चढ़े विद्वानों का सेवा करने वाले राजा का (**रक्षोभिः +अपि पूज्यते**) राक्षस अर्थात् विरोधी भी आदर करते हैं, अर्थात् मर्यादाओं-व्यवस्थाओं को भंग करने वाले पापकर्मकारी राक्षस भी उस राजा का सम्मान करते हैं और उस से भयभीत होकर वश में रहते हैं, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है! वे तो स्वतः वशीभूत रहेंगे॥ ३८॥

अनुशीलन—''**अभिवादनशीलस्य**'' [२.१२१] श्लोक में भी वृद्धसेवी अभिवादनशील व्यक्ति को आयु, विद्या, यश और बल की प्राप्ति होना कहा है। सभी के लिए यह एक शिष्टाचार था—''**अभिवादयेद् वृद्धांश्च**'' [४.१५४]

राजा वेदवेत्ताओं से अनुशासन की शिक्षा ले—

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित्॥ ३९॥
(२७)

(**विनीत+आत्मा+अपि**) विनयी अर्थात् राजनीतिक अनुशासन एवं मर्यादाओं में रहने के स्वभाव वाला होते हुए भी राजा अपने राजसभासदों-भृत्यों सहित [७.३६] (**तेभ्यः**) उन [७.३७-३८] वेदवेत्ता गुरुजनों से (**नित्यशः**) प्रतिदिन (**विनयम् अधिगच्छेत्**) अनुशासन और मर्यादा की शिक्षा ग्रहण करे (**हि**) क्योंकि (**विनीत+आत्मा नृपतिः**) अनुशासन में रहने वाला और नीति जानने वाला राजा (**कर्हिचित् न विनश्यति**) [स्वच्छन्द या उद्धत होकर अनर्थकारी कार्य न करने के कारण] कभी विनाश को प्राप्त नहीं करता परन्तु स्वेच्छाचारी राजा अवश्य विनष्ट हो जाता है—

अनुशीलन—राजा के अनुशासन-विषय में कौटिल्य का मत—आचार्य कौटिल्य ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

(क) **विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः।**
अनन्यां पृथिवीं भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रतः॥

(प्र० २, अ० ४)

अर्थात् विद्यावान् और अनुशासन-मर्यादा में रहने वाला एवं नीति को जानने वाला तथा प्रजाओं के हित में तत्पर राजा ही सम्पूर्ण पृथिवी का उपभोग करता है।

(ग) **अविनीतस्वामिलाभात् अस्वामिलाभः श्रेयान्।**

(चाणक्य सूत्र १४)

=विनयहीन=अनुशासन या मर्यादा में न रहने के स्वभाव वाले राजा की प्राप्ति की अपेक्षा राजा का न होना ही श्रेयस्कर है।

राजा विद्वानों से विद्याएँ ग्रहण करे—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्त्तारम्भाँश्च लोकतः॥ ४३॥ (२८)

राजसभासदों-भृत्यों सहित [७.३६] राजा (**त्रैविद्येभ्यः त्रयीं विद्याम्**) ऋक्, यजु, साम रूप तीन वेदों की विद्याओं के ज्ञाता विद्वानों से तीनों विद्याओं को [१२.१११, ११२] (**च**) और (**शाश्वतीं**

दण्डनीतिम्) सनातन दण्डविद्या को, च और (**आन्वीक्षिकीम्**) न्यायविद्या को, (**आत्मविद्याम्**) अध्यात्मविद्या को (**च**) और (**लोकतः वार्तारम्भान्**) जनता से राज्य के लिए आवश्यक व्यवसायों का आरम्भ करना सीखे और राज्यसम्बन्धी समाचार जाने ॥ ४३ ॥

ऋषि अर्थ—''राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं कि जब वे चारों वेदों की कर्म, उपासना, ज्ञान विद्याओं के जानने वालों से तीनों विद्या सनातन दण्डनीति, न्यायविद्या, आत्मविद्या अर्थात् परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभावरूप को यथावत् जानने रूप ब्रह्मविद्या और लोक से वार्त्ताओं का आरम्भ (कहना और सुनना) सीखकर सभासद् या सभापति हो सकें'' ॥ ४३ ॥ (स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—**त्रयी विद्या से अभिप्राय**—(१) त्रयीविद्या सम्बन्धी विशेष विस्तृत ज्ञान के लिए द्रष्टव्य हैं १.२३; ३.१; २.३; ११.२६३, २६४; १२.११२ श्लोक। वहाँ तथा अन्य अनेक स्थलों पर ऋक्, यजु, साम इन तीन वेदों के नामोल्लेख पूर्व इनको 'त्रयीविद्या' कहा है और उनके ज्ञाता को '**त्रैविद्य**' कहा है। मनु ने एक श्लोक में इसकी व्याख्या स्वयं की है—

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च।
एषः ज्ञेयस्त्रिवृत् वेदो यो वेदैनं स वेदवित्॥

(११.२६४)

अर्थात्—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ये तीनों 'त्रिवृत्-वेद' कहाते हैं। जो इन तीनों वेदों को जानता है वह वस्तुतः 'वेदवित्' कहाता है। १.२३ श्लोक में ऋक्, यजु, साम तीन वेदों की प्रकटता अग्नि, वायु और रवि इन तीन ऋषियों के माध्यम से मानी है।

(२) **विद्याग्रहण के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार**—कौटिल्य ने इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

(क) ''**वृत्तोपनयनस्त्रयीमान्वीक्षिकीं च शिष्टेभ्यः, वार्त्तामध्यक्षेभ्यः, दण्डनीतिं वक्तृप्रयोक्तृभ्यः श्रुताद्धि प्रज्ञोपजायते, प्रज्ञया योगो, योगादात्मवत्तेत्ति विद्या-**

सामर्थ्यम्।'' (कौ० अर्थ० प्र० २, अ०)

=उपनयन के पश्चात् राजा शिष्ट [मनु० १२.१०९] अर्थात् सदाचारी वेदवेत्ताओं से त्रयीविद्या और न्यायविद्या को सीखे। विविध विभागीय अध्यक्षों से व्यापार और वक्ता-प्रयोक्ता विशेषज्ञों से दण्डनीति सीखे, क्योंकि शास्त्रादि श्रवण से बुद्धि का विकास होता है। उससे योग में रुचि और योग से आत्मबल प्राप्त होता है। यही विद्या का सुपरिणाम है।

(ख) **''वृद्धसेवया विज्ञानम्। विज्ञानेन आत्मानं सम्पादयेत्। सम्पादितात्मा जितात्मा भवति॥''**

(चाण० सू० ८-९)

=ज्ञानवृद्ध विद्वानों से विशेष विद्याज्ञान प्राप्त करके आत्मा की उन्नति करे। आत्मोन्नति से सम्पन्न ही जितेन्द्रिय हो सकता है।

जितेन्द्रिय राजा ही प्रजाओं को वश में रख सकता है—

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥ ४४॥

(२९)

राजसभासदों-भृत्यों सहित राजा (**दिवानिशम्**) दिन-रात (**इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेत्**) इन्द्रियों को वश में रखने में प्रयत्न करता रहे, (**हि**) क्योंकि (**जितेन्द्रियः प्रजाः वशे स्थाययितुं शक्नोति**) इन्द्रियों को वश में रख सकने वाला राजा ही प्रजाओं को वश में अर्थात् अनुशासन में स्थापित रख सकता है॥ ४४॥

ऋषि अर्थ—''जब सभासद् और सभापति इन्द्रियों को जीतने अर्थात् अपने वश में रखके सदा धर्म में वर्तें और अधर्म से हटे-हटाए रहें; इसलिए रात-दिन नियत समय में योगाभ्यास भी करते रहें। क्योंकि जो जितेन्द्रिय कि अपनी इन्द्रियों—जो मन, प्राण और शरीर प्रजा है इसको जीते बिना बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता।''

(स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—कौटिल्य द्वारा इन्द्रियजय पर प्रकाश—मनु ने इन्द्रियजय अर्थात् जितेन्द्रियता को ही प्रधान रूप से राज्यवशीकरण का गुण माना है। राजा की

शिक्षा-दीक्षा, अनुशासनाभ्यास आदि सभी बातों का उद्देश्य इन्द्रियजय ही होता है। इन सबका परस्पर सम्बन्ध है, जैसा कि श्लोक ३७, ३९, ४३ में और उनकी समीक्षा में दिखाया जा चुका है। कौटिल्य ने भी मनु के अनुसार इन्द्रियजय को सर्वप्रमुख महत्त्व दिया है और अपने अर्थशास्त्र तथा सूत्र ग्रन्थ में प्रकाश डाला है—

(क) ''**विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः, कामक्रोधलोभमान-मदहर्षत्यागात्कायः। कर्णत्वगक्षिजिह्वाघ्राणेन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेष्वविप्रतिपत्तिरिन्द्रियजयः। शास्त्र-अनुष्ठानं वा कृत्स्नं हि शास्त्रमिदमिन्द्रियजयः। तद्विरुद्ध-वृत्तिरवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति।**

(कौ०अर्थ०प्र० ३, अ० ५)

''**जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्यते।**'' (चा०सू० १०)

अर्थात्—विद्या और विनय का हेतु=उद्देश्य इन्द्रियजय है। अतः काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष के त्याग से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नासिका को उनके विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में प्रवृत्त न होने देना ही इन्द्रियजय कहलाता है। अथवा संक्षेप में शास्त्रों का मूल कारण इन्द्रियजय है। शास्त्रविहित कर्त्तव्यों के विपरीत आचरण करने वाला इन्द्रियलोलुप राजा सारी पृथिवी का अधिपति होता हुआ भी शीघ्र विनष्ट हो जाता है। जितेन्द्रिय राजा ही समस्त समृद्धियों को प्राप्त करता है।

(२) इन्द्रियजय का मनुप्रोक्त लक्षण २.७३ [२.९८] में देखिए।

वेद में भी स्पष्ट कहा है कि राजा जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर ही तपस्या से राष्ट्र की रक्षा कर सकता है—प्रजाओं को वश में कर सकता है। **ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति॥** अथर्व० ११.५.४॥ मनु ने उसी भाव को इस श्लोक में ग्रहण किया है—

व्यसनों की गणना—

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥ ४५॥

(३०)

सभी सभासदों और भृत्यों सहित राजा (**दश**

कामसमुत्थानि) काम से उत्पन्न होने वाले मृगया आदि दश [७.४७], (**तथा**) तथा (**अष्टौ क्रोध-जानि**) क्रोध से उत्पन्न होने वाले पैशुन्य आदि आठ [७.४८] (**दुरन्तानि व्यसनानि**) कठिन व्यसनों को (**प्रयत्नेन विवर्जयेत्**) प्रयत्न करके छोड़ देवे अथवा प्रयत्नपूर्वक उनसे दूर रहे ॥ ४५ ॥

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥
(३१)

(**हि**) क्योंकि (**महीपतिः**) सभासदों-भृत्यों सहित जो राजा (**कामजेषु प्रसक्तः**) काम से उत्पन्न हुए दश [७.४७] दुष्ट व्यसनों में फंसता है वह (**अर्थ-धर्माभ्यां वियुज्यते**) अर्थ अर्थात् राज्य-धन-आदि और धर्म से रहित हो जाता है, (**तु**) और (**क्रोधजेषु**) जो क्रोध से उत्पन्न हुए आठ [७.४८] बुरे व्यसनों में फंसता है (**आत्मना एव**) वह जीवन से ही हाथ धो बैठता है ॥ ४६ ॥ (स०प्र०, समु० ६)

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥
(३२)

(**मृगया**) शिकार खेलना (**अक्षः**) अक्ष अर्थात् चोपड़, जुआ आदि खेलना (**दिवास्वप्नः**) दिन में सोना (**परिवादः**) काम कथा वा दूसरों की निन्दा करना (**स्त्रियः**) स्त्रियों का संग (**मदः**) मादक द्रव्य अर्थात् मद्य, अफीम, भांग, गांजा, चरस आदि का सेवन (**तौर्यत्रिकम्**) गाना, बजाना, नाचना व नाच कराना, और देखना (**वृथाट्या**) व्यर्थ ही इधर-उधर घूमते रहना (**दश कामजः गणः**) ये दश कामोत्पन्न होने वाले व्यसन हैं ॥ ४७ ॥

अनुशीलन—'तौर्यत्रिकम्', 'मृगया', 'स्त्रियः' शब्दों पर विशेष विचार—(१) तूर्य=तुरही या वाद्य को कहते हैं, त्रिकम्—नाचना, गाना, बजाना इन तीन क्रियाओं के समूह को कहा जाता है। इस प्रकार तौर्यत्रिकम् का अर्थ

'वाद्यों के साथ नाचना, गाना, बजाना' होता है। (२) **'स्त्रियः'** बहुवचन [७.५० में भी] के प्रयोग से मनु अपनी उस मान्यता की ओर संकेत तथा उसकी पुष्टि कर रहे हैं कि राजा को भी एक से अधिक स्त्रियों का सेवन नहीं करना चाहिए। एक ही स्त्री से विवाह करना चाहिए। (३) (**मृगं याति अनया सा मृगया, घञर्थे कः**) पशुओं का पीछा करना अर्थात् शिकार करने की क्रिया।

क्रोधज आठ व्यसन—

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥ ४८॥
(३३)

(**पैशुन्यम्**) चुगली करना (**साहसम्**) सभी दुस्साहस के व्यवहार (**द्रोहः**) द्रोह रखना (**ईर्ष्या**) दूसरे की बड़ाई वा उन्नति देखकर जला करना (**असूया**) असूया—दोषों में गुण और गुणों में दोषारोपण करना (**अर्थदूषणम्**) अधर्मयुक्त बुरे कामों में धन आदि का व्यय करना (**वाग् दण्डजम्**) कठोर वचन बोलना और बिना अपराध के कड़ा वचन बोलना (**च**) वा (**पारुष्यम्**) अतिकठोर दण्ड देना अथवा बिना अपराध के दण्ड देना (**अष्टकः क्रोधजः+अपि गणः**) ये आठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं॥ ४८॥

सभी व्यसनों का मूल लोभ—

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ॥ ४९॥
(३४)

(**सर्वे कवयः**) सब विद्वान् जन (**एतयोः द्वयोः+अपि मूलं यं लोभम्**) इन पूर्वोक्त कामज और क्रोधज अठारह दोषों का मूल लोभ को (**विदुः**) जानते हैं (**तं यत्नेन जयेत्**) उस लोभ को प्रयत्न से राजा जीते, क्योंकि (**तज्जौ+एतौ+उभौ गणौ**) लोभ से ही पूर्वोक्त दोनों प्रकार के व्यसन उत्पन्न होते हैं, लोभ नहीं होगा तो उक्त दोष भी जीवन में नहीं आयेंगे॥ ४९॥

ऋषि अर्थ—(स०प्र०, समु० ६; सं०वि०,

गृहाश्रम०)

कामज और क्रोधज व्यसनों में अधिक कष्टदायक व्यसन—

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे॥५०॥
(३५)

(**कामजे गणे**) कामज व्यसनों में (**पानम्**) मद्य, भांग आदि मदकारक द्रव्यों का सेवन, (**अक्षाः**) पासों आदि से किसी प्रकार का भी जुआ खेलना, (**स्त्रियः एव**) परस्त्री और एक से अधिक स्त्रियों का सङ्ग, (**मृगया**) मृगया शिकार खेलना (**एतत्**) ये (**चतुष्कं**) चार (**यथाक्रमम्**) क्रम से पूर्व-पूर्व से आगे वाला अधिकाधिक (**कष्टतमं विद्यात्**) कष्टदायक व्यसन हैं॥५०॥

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा॥५१॥
(३६)

(**च**) और (**क्रोधजे+अपि गणे**) क्रोधज व्यसनों में (**दण्डस्य पातनम्**) बिना अपराध दण्ड देना (**वाक्पारुष्य+अर्थदूषणे**) बिना अपराध कठोर वचन बोलना और धन आदि का अधर्म अन्याय में खर्च करना (**एतत्-त्रिकं सदा कष्टं विद्यात्**) इन क्रोध से उत्पन्न हुए तीन व्यसनों को सदा कष्टदायक माने॥५१॥

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद् व्यसनमात्मवान्॥५२॥
(३७)

(**अस्य सप्तकस्य वर्गस्य**) इस [५०-५१ में वर्णित] सात प्रकार के दुर्गुणों के वर्ग में (**सर्वत्र+एव+अनुषङ्गिणः**) जो सब स्थानों पर प्रायः मनुष्यों के व्यवहार में पाये जाते हैं उनमें (**पूर्वं पूर्वं व्यसनं गुरुतरं विद्यात्**) पहले-पहले व्यसन को अधिक कष्टप्रद समझे, अर्थात् अधर्म में व्यय से कठोर वचन,

उससे कठोर दण्ड, उससे शिकार खेलना, उससे परस्त्री और अनेक स्त्रियों का संग, उससे द्यूत खेलना, उससे मद्य आदि का सेवन अधिक दुष्ट दोष हैं॥५२॥

ऋषि अर्थ—''जो ये सात दुर्गुण दोनों कामज और क्रोधज दोषों में गिने हैं, इनमें से पूर्व-पूर्व अर्थात् व्यर्थ व्यय से कठोर वचन, कठोर वचन से अन्याय से दण्ड देना, इससे मृगया खेलना, इससे स्त्रियों का अत्यन्त सङ्ग, इससे जुआ अर्थात् द्यूत करना और इससे भी मद्यादि सेवना करना बड़ा दुष्ट व्यसन है।''

(स०प्र०, समु० ६)

व्यसन मृत्यु से भी अधिक कष्टदायी—

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः॥५३॥

(३८)

(**व्यसनस्य च मृत्योः च**) व्यसन और मृत्यु में (**व्यसनं कष्टम्+उच्यते**) व्यसन को ही अधिक कष्टदायक कहा गया है, क्योंकि (**व्यसनी**) व्यसन में फंसा रहने वाला व्यक्ति (**अधः अधः याति**) दिन-प्रतिदिन दुर्गुणों और कष्टों में फंसता ही जाता है और उसका पतन ही होता जाता है, किन्तु (**अव्यसनी**) व्यसन से रहित व्यक्ति (**मृतः**) मरकर भी (**स्वर्याति**) स्वर्ग=सुख को [४.७९] प्राप्त करता है अर्थात् उसे परजन्म में सुख मिलता है॥५३॥

ऋषि अर्थ—''इसमें यह निश्चय है कि दुष्ट व्यसन में फसने से मर जाना अच्छा है, क्योंकि जो दुष्टाचारी पुरुष है, वह अधिक जीयेगा तो अधिक-अधिक पाप करके नीच-नीच गति अर्थात् अधिक-अधिक दु:ख को प्राप्त होता जायेगा और जो किसी व्यसन में नहीं फसा वह मर भी जायेगा तो भी सुख को प्राप्त होता जायेगा; इसलिए विशेषत: राजा को और सब मनुष्यों को उचित है कि कभी मृगया और मद्यपान आदि दुष्टकामों में न फसें और दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर धर्मयुक्त, गुण-कर्म-स्वभावों में सदा वर्तके

अच्छे-अच्छे काम किया करें।'' (स०प्र०, समु० ६)

मन्त्रियों की नियुक्ति—

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्ष्यान्कुलोद्गतान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा कुर्वीत सुपरीक्षितान्॥ ५४॥
(३९)

राजा (**मौलान्**) मूलराज्य=स्वदेश में उत्पन्न हुए (**शास्त्रविदः**) वेदादि शास्त्रों के जानने वाले [७.२] (**शूरान्**) शूरवीर (**लब्धलक्ष्यान्**) जिनके लक्ष्य और विचार निष्फल न हों, और (**कुलोद्गतान्**) कुलीन (**परीक्षितान्**) अच्छे प्रकार परीक्षा किये हुए (**सप्त वा अष्टौ**) सात वा आठ (**सचिवान्**) मन्त्रियों को (**प्रकुर्वीत**) नियुक्त करे॥ ५४॥

ऋषि अर्थ—''जो अपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जानने हारे, शूरवीर, जिनका विचार निष्फल न होवे, कुलीन, धर्मात्मा, स्वराज्यभक्त हों, उन सात वा आठ पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा करके मन्त्री करे; और इन्हीं की सभा में आठवां वा नववां राजा हो। ये सब मिलके कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ६; पूना प्र०, पृ० १११)

अनुशीलन—नियुक्ति से पूर्व अमात्यों की परीक्षा विधि—नियुक्ति से पूर्व अमात्यों की दृढ़ परीक्षा करनी चाहिए। अर्थशास्त्र में आचार्य कौटिल्य ने परीक्षा की प्रकट और गुप्त विधियां बतायी हैं—

(क) प्रकटविधि—नियुक्ति से पूर्व राजा प्रामाणिक, सत्यवादी एवं आप्तपुरुषों के द्वारा उनके निवासस्थान और उनकी आर्थिक स्थिति की जानकारी करे। सहपाठियों के माध्यम से उनकी योग्यता तथा शास्त्रीय प्रतिभा की, नये-नये कार्य सौंपकर उनकी बुद्धि, स्मृति और चतुरता की, व्याख्यानों एवं सभाओं द्वारा उनकी वाक्पटुता, प्रगल्भता और प्रतिभा की; आपत्ति प्रस्तुत करके उनके उत्साह, प्रभाव और सहनशक्ति की; व्यवहार से उनकी पवित्रता, मित्रता एवं दृढ़ स्वामिभक्ति की; सहवासियों एवं पड़ौसियों के माध्यम से उनके शील, बल,

स्वास्थ्य, गौरव, अप्रमाद तथा स्थिरवृत्ति की जानकारी करे। उनके मधुरभाषी स्वभाव तथा द्वेषरहित स्वभाव की परीक्षा राजा स्वयं करे। (कौ०अर्थ०प्र० ४, अ० ८)[१]

(**ख**) **गुप्तविधि**—(१) **धर्मोपधाः**—गुप्त धार्मिक उपायों से अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा करना। (२) **अर्थोपधा**—गुप्त आर्थिक लोभ की बातों से, (३) **कामोपधा**—गुप्त कामसम्बन्धी आकर्षणों से, (४) **भयोपधा**—गुप्त भय आदि प्रदर्शित करके अमात्यों के हृदय की पवित्रता की परीक्षा करे।

गुप्तचरों द्वारा इतनी परीक्षाएं करने के पश्चात् ही उस व्यक्ति को यथायोग्य अमात्य कार्य पर नियुक्त किया जाना चाहिए।

कौटिल्य का मत है कि धर्मपरीक्षा में पवित्र सिद्ध अमात्यों को न्यायालय में, अर्थपरीक्षा में पवित्र को कर संग्रह और कोषसंरक्षण में, कामपरीक्षा में पवित्र को अन्तःपुर और निवासस्थानों में, तथा भयपरीक्षा में पवित्र को अङ्गरक्षक के रूप में नियुक्त करना चाहिए (कौ०अर्थ०प्र० ५, अ० ६)।[२]

राजा को सहायकों की आवश्यकता में कारण—

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किन्नु राज्यं महोदयम्॥ ५५॥

(४०)

---

१. ''**तेषां जनपदमवग्रहं चाप्यतः परीक्षेत। समानविद्येभ्यः शिल्पं, शास्त्रचक्षुष्मतां च, कर्मारम्भेषु प्रज्ञां धारयिष्णुतां दाक्ष्यं च, कथायोगेषु वाग्मित्वं प्रागल्भ्यं प्रतिभानवत्त्वं च, आपद्युत्साहप्रभावौ क्लेशसहत्वं च, संव्यवहाराच्छौचं मैत्रतां दृढभक्तित्वं च, संवासिभ्यः शीलबलारोग्यसत्त्वयोगम्—अस्तम्भम्—अचापल्यं च, प्रत्यक्षतः संप्रियात्वम्-अवैरित्वं च।**'' [प्र० ४, अ० ८]

२. ''**मन्त्रिपुरोहितसखः सामान्येष्वधिकरणेषु स्थापयित्वा अमात्यानुपधाभिः शोधयेत्।......तत्र धर्मोपधाशुद्धान् धर्मस्थीयकण्टकशोधनेषु स्थापयेत्, अर्थोपधाशुद्धान् समाहर्त-सन्निधातृ-निश्चयकर्मसु, कामोपधाशुद्धान् बाह्याभ्यन्तरविहाररक्षासु, भयोपधाशुद्धान् आसन्नकार्येषु राज्ञः।**''

(**अपि यत् सुकरं कर्म**) क्योंकि जो सरल कार्य होता है, वह भी (**एकेन दुष्करम्**) एक अकेले द्वारा करना कठिन होता है, (**विशेषतः महोदयं राज्यं असहायेन किं नु**) विशेषकर अतिविस्तृत और महान् फल देने वाला विस्तृत राज्य बिना सहायकों के अकेले राजा द्वारा कैसे संचालित हो सकता है ? अर्थात् अकेले के द्वारा संचालित नहीं हो सकता, अतः राजा को आवश्यकता-नुसार मन्त्री नियुक्त करने चाहिएं॥५५॥

ऋषि अर्थ—''क्योंकि विशेष सहाय के विना जो सुगम कर्म है वह भी एक के करने में कठिन हो जाता है, जब ऐसा है तो महान् राज्य-कर्म एक से कैसे हो सकता है ? इसलिए एक को राजा और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य को निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है।'' (स०प्र०, समु० ६) (अन्यत्र व्याख्यात पूना प्र०, पृ० १११)

मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करे—

तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥५६॥
(४१)

राजा (**तैः सार्धम्**) उन पूर्वोक्त सात-आठ मन्त्रियों के साथ [७.५४] (**नित्यम्**) आवश्यकता-अनुसार सदैव (**सामान्यं चिन्तयेत्**) राज्यसम्बन्धी इन छह गुणों पर सहमतिपूर्वक और समग्र रूप से चिन्तन किया करे—(**सन्धि-विग्रहम्**) १. कब और किस राजा से सन्धि करने की आवश्यकता है, २. कब किस राजा से विरोध बढ़ रहा है अथवा किससे युद्ध करना है, (**स्थानम्**) ३. किसी राजा से विरोध होने पर भी कब तक अपने राज्य में बिना शत्रु पर आक्रमण किये चुपचाप बैठे रहना है, (**समुदयम्**) ४. राष्ट्र, कोश, सेना सैन्यसामग्री आदि की समृद्धि होने पर कब, किस राजा पर आक्रमण करना है, (**गुप्तिम्**) ५. राजा और अपने राष्ट्र की रक्षा के उपायों पर विचार करना (**च**) और (**लब्ध प्रशमनानि**) ६. विजित देशों में शान्ति स्थापित

करना ॥ ५६ ॥

ऋषि अर्थ—''इससे सभापति को उचित है कि नित्यप्रति उन राज्यकर्मों में कुशल विद्वान् मन्त्रियों के साथ सामान्य करके किसी से सन्धि=मित्रता, किसी से विग्रह=विरोध, स्थित समय को देखकर के चुपचाप रहना, अपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना, जब अपना उदय अर्थात् वृद्धि हो तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना, मूल राज, सेना, कोश आदि की रक्षा, जो-जो देश प्राप्त हो उस-उस में शान्ति-स्थापना, उपद्रवरहित करना इन छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करे।''
(स०प्र०, समु० ६) (अन्यत्र व्याख्यात पूना प्र०, पृ० १११)

अनुशीलन—**षड्गुणों का विस्तृत वर्णन**—इस श्लोक में वर्णित राज्यसम्बन्धी षड्गुणों के चिन्तन का विस्तृत वर्णन तथा उनको प्रयुक्त करने के उपयुक्त समय आदि का उल्लेख इसी अध्याय के १०६-२१६ श्लोकों में द्रष्टव्य है। २१६वें श्लोक में इस अवान्तर प्रसंग की सम्पन्नता का कथन है।

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानाञ्च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः॥ ५७॥
(४२)

(**तेषाम्**) उन सचिवों का (**पृथक्-पृथक् एवं स्वम्+अभिप्रायम् उपलभ्य**) पृथक्-पृथक् अपना-अपना विचार और अभिप्राय सुन-समझकर (**समस्तानां कार्येषु**) सभी के द्वारा कथित कार्यों में (**आत्मनःहितम्**) जो कार्य अपना और राष्ट्र का हितकारक हो (**विदध्यात्**) उसको करे॥ ५७॥

आवश्यकतानुसार अन्य अमात्यों की नियुक्ति—

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान्॥ ६०॥
(४३)

आवश्यकता पड़ने पर राजा (**अन्यान् अपि**) अन्य भी (**शुचीन्**) सत्यनिष्ठा वाले पवित्रात्मा (**प्राज्ञान्**) बुद्धिमान् (**अवस्थितान्**) निश्चिय बुद्धि

वाले (**सम्यक्-अर्थ-समाहर्तॄन्**) राज्य की वृद्धि के लिए पदार्थों के संग्रह करने में योग्य (**सुपरीक्षितान्**) सुपरीक्षित (**अमात्यान् प्रकुर्वीत**) मन्त्रियों को नियुक्त करे॥ ६०॥

ऋषि अर्थ—(स०प्र० समु० ६; सं०वि०, गृहाश्रम०)

निवर्त्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः।
तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान्॥ ६१॥
(४४)

(**अस्य**) राजा का (**यावद्भिः नृभि इति-कर्त्तव्यता निवर्तेत**) जितने सचिवों से कार्य सिद्ध हो सके (**तावतः**) उतने ही (**अतन्द्रितान्**) आलस्य-रहित (**दक्षान्**) सक्षम और (**विचक्षणान्**) विशेषज्ञ सचिवों को (**प्रकुर्वीत**) नियुक्त कर ले॥ ६१॥

अनुशीलन—'इतिकर्त्तव्यता' का अभिप्राय—यहाँ 'इति' शब्द 'अथ' का विपरीतार्थक है। इसका अर्थ है 'पूर्णता' या 'समाप्ति'। इस प्रकार 'इतिकर्त्तव्यता' का अर्थ हुआ—'सभी राज्यकार्यों की पूर्णता'। जितने भी अमात्यों या अधिकारियों से राज्यसंचालन के कार्य पूर्ण रूप से सम्पन्न हो सकें, उतनों की राजा नियुक्ति करले। पुनः उनके अधीन अन्य सहयोगी अधिकारियों, भृत्यों की नियुक्ति करे। यह अगले श्लोक में '**तेषामर्थे**' पद से उक्त है। अगले श्लोक की इससे वाक्यगत संगति है।

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान्।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने॥ ६२॥
(४५)

राजा (**तेषाम्+अर्थे**) पूर्वोक्त उन सचिवों के सहयोग के लिए (**शूरान्**) शूरवीर स्वभाव के, (**कुलोद्गतान्**) कुलीन-परीक्षित परिवारों में उत्पन्न (**शुचीन्**) पवित्रात्मा=ईमानदार स्वभाव वाले अधिकारियों को (**आकरकर्मान्ते**) बड़े अथवा मुख्य कार्यों में तथा (**भीरून्**) डरपोक स्वभाव के अधिकारियों को (**अन्तर्निवेशने**) राज्य के आन्तरिक गौण कार्यों में (**नियुञ्जीत**) नियुक्त करे॥ ६२॥

प्रधान दूत की नियुक्ति—

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्॥ ६३॥
(४६)

(**च**) और राजा (**दूतम् एव प्रकुर्वीत**) राजदूत की भी नियुक्ति अवश्य करे, जिसमें ये गुण हों—(**सर्वशास्त्रविशारदम्**) वह सब शास्त्रों अथवा विद्याओं में प्रवीण हो, (**इङ्गितताकारचेष्टज्ञम्**) जो हावभाव, आकृति और चेष्टा से ही किसी के मन की बात और योजना को समझ ले, (**शुचिम्**) पवित्रात्मा, (**दक्षम्**) चतुर और (**कुलोद्गतम्**) उत्तम कुल में उत्पन्न हो॥ ६३॥

ऋषि अर्थ—''जो सब शास्त्रों में निपुण नेत्रादि के संकेत, स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जानने हारा, शुद्ध, बड़ा स्मृतिमान्, देश, काल को जाननेहारा, सुन्दर, जिसका स्वरूप सुन्दर, बड़ा वक्ता और अपने कुल में मुख्य हो उसको, और स्वराज्य और परराज्य के समाचार देने हारे अन्य दूतों को भी नियत करे।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ६)

श्रेष्ठ दूत के लक्षण—

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित्।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते॥ ६४॥
(४७)

जो (**अनुरक्तः**) राजा और राज्य के हित को चाहने वाला हो, (**शुचिः**) जो निष्कपट, पवित्रात्मा (**दक्षः**) चतुर (**स्मृतिमान्**) घटनाओं-बातों को न भूलने वाला (**देशकालवित्**) देश और कालानुकूल व्यवहार का ज्ञाता (**वपुष्मान्**) आकर्षक व्यक्तित्व वाला (**वीतभीः**) निर्भय, और (**वाग्मी**) अच्छा वक्ता हो (**राज्ञः दूतः प्रशस्यते**) वह राजा का दूत होने में प्रशस्त है॥ ६४॥

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ॥ ६५॥
(४८)

(**अमात्ये**) एक सचिव के अधिकार में (**दण्डः-आयत्तः**) दण्ड देने का अधिकार रखना चाहिए और (**दण्डे वैनयिकी क्रिया**) दण्ड के अन्तर्गत राज्य में अनुशासन और कानून की स्थापना का अधिकार रखना चाहिए, (**नृपतौ कोश-राष्ट्रे**) राजा के अधिकार में कोश और राष्ट्र का दायित्व होना चाहिए (**च**) और (**दूते सन्धि-विपर्ययौ**) दूत के अधीन किसी से सन्धि करना और न करना, अथवा विरोध करना आदि नीति धारण का दायित्व रखना चाहिए॥ ६५॥

ऋषि अर्थ—''अमात्य को दण्डाधिकार, दण्ड में विनय=अनुशासित क्रिया अर्थात् जिससे अन्यायरूप दण्ड न होने पावे, राजा के अधीन कोश और राष्ट्र तथा सभा के अधीन सब कार्य, और दूत के अधीन किसी से मेल वा विरोध करना, अधिकार देवे।''

(स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—राजा और अमात्यों के कार्यों का विभाजन—राजा को राष्ट्र सुरक्षा और राष्ट्रीय स्तर के कार्यविभाग, सेना तथा कोश=खजाना आदि अपने सीधे नियन्त्रण में रखने चाहिएं। अमात्मों को दण्ड-न्याय आदि का अधिकार सौंप देवे और दण्डाधिकारियों को राष्ट्र में अनुशासन बनाये रखने का अधिकार सौंपे। दूत के अधीन संधि और विरोध आदि की नीतियों का निर्धारण होना चाहिए। ये प्रधान अमात्य अपने-अपने विभागों का संचालन करें और राजा से सम्पर्क रखें। इस प्रकार कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होता है।

दूत के कार्य—

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः॥ ६६॥
(४९)

(**हि**) क्योंकि (**दूतः एव**) दूत ही वह व्यक्ति होता है जो (**संधत्ते**) शत्रु और अपने राजा का और

अनेक राजाओं का मेल करा देता है (**च**) और (**संहतान् भिनत्ति+एव**) मिले हुए शत्रुओं में फूट भी डाल देता है (**दूतः तत् कर्म कुरुते**) दूत वह काम कर देता है (**येन मानवाः भिद्यन्ते**) जिससे शत्रुओं के लोगों में भी फूट पड़ जाती है ॥ ६६ ॥

अनुशीलन—कौटिल्य के अनुसार दूत के कार्य—आचार्य कौटिल्य ने विस्तार से दूत के कार्यों का वर्णन किया है—

प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्रहः ।
उपजापः सुहृद्भेदो दण्डगूढातिसारणम् ॥
बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः ।
समाधिमोक्षः दूतस्य कर्मयोगस्य चाश्रयः ॥

(प्र० ११, अ० १५)

अर्थात् अपने राजा का सन्देश दूसरे राजा के पास ले जाना और उसका लाना, सन्धिभाव को बनाये रखना, अपने राजा के प्रताप को बनाना, अधिक से अधिक मित्र बनाना, शत्रु के पक्ष के पुरुषों को फोड़ना, शत्रु के मित्रों को उससे विमुख करना, कार्यरत अपने गुप्तचरों अथवा सैनिकों को आपत्ति से पूर्व निकाल लाना, शत्रु के बांधवों और रत्न आदि का अपहरण, शत्रुदेश में कार्यरत अपने गुप्तचरों के कार्य का निरीक्षण, समय पड़ने पर पराक्रम दिखाना, बन्धक रखे शत्रुबान्धवों को शर्त के आधार पर छोड़ना, दोनों राजाओं की भेंट आदि कराना, दूत के कार्य हैं।

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितः ।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥ ६७ ॥

(५०)

(**सः**) वह दूत (**अस्य**) शत्रु-राजा के (**कृत्येषु**) असन्तुष्ट या विरोधी लोगों में (**च**) और (**भृत्येषु**) उसके राजकर्मचारियों में (**निगूढ+इङ्गित+चेष्टितैः**) गुप्त संकेतों=हाव-भावों एवं चेष्टाओं से (**आकारम्**) शत्रु राजा के आकार=शारीरिक स्थिति (**इङ्गितम्**) संकेत=हावभाव (**चेष्टाम्**) चेष्टा=कार्यों को तथा (**चिकीर्षितम्**) उसकी अभिलषित भावी योजनाओं को (**विद्यात्**) जाने ॥ ६७ ॥

अनुशीलन—(१) **कृत्य शब्द का राजनीतिक-परक अर्थ**—यहाँ 'कृत्य' शब्द राजनीतिक योगरूढ़ि है। 'कृत्य' उन लोगों को कहते हैं जो धन, स्त्री, सम्पत्ति आदि के लोभ से अपने पक्ष में किये जा सकते हैं। कौटिल्य अर्थ शास्त्र में इनके चार भेद बतलाये हैं—

''**क्रुद्धलुब्धभीतावमानिनस्तु परेषां कृत्याः।**''

(कौ०अर्थ०प्र० ८, अ० १२)

शत्रु राज्य के जो व्यक्ति अपने राजा पर क्रोध रखते हैं वे 'क्रुद्धकृत्य', जो लालची स्वभाव के हैं वे 'लुब्धकृत्य', जो डर के कारण दबे रहते हैं वे 'भीतकृत्य', और जो राजा से अपमानित किये गये हैं वे 'अपमानित-कृत्य' कहलाते हैं। दूत का यह कर्म है कि उपर्युक्त लुब्ध और क्षुब्ध व्यक्तियों और कर्मचारियों से शत्रु राजा के गुप्त रहस्यों को जाने।

(२) **इंगित और आकार का अर्थ**—''**इंगित-मन्यथावृत्तिः। आकृतिग्रहणमाकारः**'' [कौ०अर्थ०प्र० १०, अ० १४]=स्वाभाविक क्रियाओं के विपरीत भिन्न चेष्टाएँ 'इंगित' कहलाती हैं। चेष्टाओं को प्रकट करने वाले अंगों की आकृति 'आकार' कहलाती है।

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम्।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत्॥ ६८॥

(५१)

राजा पूर्वोक्त हाव-भाव, चेष्टा आदि के द्वारा (**परराजचिकीर्षितम्**) दूसरा विरोधी राजा उसके साथ क्या करने की योजना बना रहा है यह (**तत्त्वेन**) यथार्थ से (**बुद्ध्वा**) जानककर (**तथा प्रयत्नम्+ आतिष्ठेत्**) वैसा यत्न करे (**यथा**) जिससे कि (**आत्मानं न पीडयेत्**) अपने को वह पीड़ा न दे सके॥ ६८॥

राजा के निवास-योग्य देश—

जाङ्गलं सस्यसम्पन्नमार्यप्रायमनार्विम्।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत्॥ ६९॥

(५२)

राजा (**जाङ्गलम्**) जांगल प्रदेश=जहाँ उपयुक्त पानी बरसता हो, बाढ़ न आती हो, खुली हवा और

सूर्य का पर्याप्त प्रकाश हो, धान्य आदि बहुत उत्पन्न होता हो (**सस्यसम्पन्नम्**) अन्नों से हरा-भरा हो (**आर्यप्रायम्**) जहाँ श्रेष्ठ लोगों का बाहुल्य हो (**अनार्विम्**) जो रोगरहित हो (**रम्यम्**) रमणीय हो (**आनतसामन्तम्**) विनम्रता का व्यवहार करने वाले जहाँ हो (**सु+आजीव्यम्**) जो अच्छी आजीविकाओं से सम्पन्न हो (**देशम्+आवसेत्**) ऐसे देश में निवासस्थान करे॥ ६९ ॥

छह प्रकार के दुर्ग—

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥ ७०॥
(५३)

(**धन्वदुर्गम्**) धन्वदुर्ग=मरुस्थल में बना किला जहाँ मरुभूमि के कारण जाना दुर्गम हो (**महीदुर्गम्**) महीदुर्ग=पृथिवी के अन्दर तहखाने या गुफा के रूप में बना किला या मिट्टी की बड़ी-बड़ी मेढ़ों से घिरा हुआ (**अप्+दुर्गम्**) जलदुर्ग=जिसके चारों ओर पानी हो (**वा**) अथवा (**वार्क्षम्**) वृक्षदुर्ग=जो घने वृक्षों के वन से घिरा हो (**वा**) अथवा (**गिरिदुर्गम्**) गिरिदुर्ग= पहाड़ के ऊपर बनाया या पहाड़ों से घिरा किला (**समाश्रित्य**) बनाकर और उसका आश्रय करके (**पुरं वसेत्**) अपने निवास में रहे॥ ७० ॥

ऋषि अर्थ—''इसलिए सुन्दर जंगल धन-धान्य युक्त देश में (**धनुर्दुर्गम्**) धनुर्धारी पुरुषों के गहन (**महीदुर्गम्**) मिट्टी से किया हुआ (**अब्दुर्गम्**) जल से घेरा हुआ (**वार्क्षम्**) अर्थात् चारों ओर वन (**नृदुर्गम्**) चारों ओर सेना रहे (**गिरिदुर्गम्**) अर्थात् चारों ओर पहाड़ी के बीच में कोट बनाके इसके मध्य में नगर बनावे।'' (स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—कौटिलीय अर्थशास्त्र में चार प्रकार के दुर्ग—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में केवल चार दुर्गों का ही उल्लेख किया है—(१) औदक= जलदुर्ग, (२) पार्वत=गिरिदुर्ग, (३) धान्वन=धन्वदुर्ग, (४) वनदुर्ग=

वृक्षदुर्ग।

पर्वतदुर्ग की श्रेष्ठता—

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते॥ ७१॥
(५४)

राजा (**सर्वेण तु प्रयत्नेन**) विशेष प्रयत्न करके (**गिरिदुर्गं समाश्रयेत्**) पर्वतदुर्ग का आश्रय करे, बनाकर रहे (**हि**) क्योंकि (**बाहुगुण्येन**) सब दुर्गों में अधिक विशेषताओं के कारण (**गिरिदुर्गं विशिष्यते**) पर्वतदुर्ग ही सर्वश्रेष्ठ है, अतः यह यत्न करना चाहिए कि 'पर्वतदुर्ग' ही बन सके॥ ७१॥

दुर्ग का महत्त्व—

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दशसहस्त्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते॥ ७४॥
(५५)

(**प्राकारस्थः एकः धनुर्धरः**) किले के परकोटे में स्थित एक धनुर्धारी योद्धा (**शतं योधयति**) बाहर स्थित सौ योद्धाओं से युद्ध कर सकता है, (**शतं दशसहस्त्राणि**) परकोटे में स्थित सौ योद्धा बाहर स्थित दस सहस्त्र योद्धाओं से युद्ध कर सकते हैं, (**तस्मात्**) इस कारण से (**दुर्गं विधीयते**) दुर्ग बनाया जाता है॥ ७४॥

तत्स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च॥ ७५॥
(५६)

(**तत्**) वह दुर्ग (**आयुध**) शस्त्रास्त्रों (**धन-धान्येन वाहनैः**) धन-धान्यों, वाहनों (**ब्राह्मणैः**) वेद-शास्त्र-अध्यापयिता, ऋत्विज् आदि ब्राह्मण विद्वानों [७.३७-३९, ७८] (**शिल्पिभिः**) कारीगरों (**यन्त्रैः**) नाना प्रकार के यन्त्रों (**यवसेन**) चारा-घास (**वा**) और (**उदकेन**) जल आदि से (**सम्पन्नं स्यात्**) सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण हो॥ ७५॥

राजा का निवास-गृह—

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम्॥ ७६ ॥(५७)

(**तस्य मध्ये**) उस दुर्ग के अन्दर (**आत्मनः गृहं कारयेत्**) अपने लिए एक आवासगृह बनवाये जो (**सुपर्याप्तम्**) जो आवश्यकता के अनुसार अच्छा बड़ा-खुला हो, (**गुप्तम्**) सुरक्षित हो, (**सर्व+ऋतुकम्**) सब ऋतुओं में सुख-सुविधाप्रद हो, (**शुभ्रम्**) उज्ज्वल-सुन्दर हो, और (**जल-वृक्ष-समन्वितम्**) जल और सुन्दर वृक्ष आदि से युक्त हो॥ ७६ ॥

राजा के विवाहयोग्य भार्या—

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।
कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम्॥ ७७ ॥
(५८)

(**तद्+अध्यास्य**) उस आवास में निवास करके (**सवर्णाम्**) अपने क्षत्रिय वर्ण की, जो कि क्षत्रिय वर्ण की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करके सवर्णा अर्थात् समान वर्ण की हो (**लक्षणान्विताम्**) उत्तम लक्षणों से युक्त हो, (**महति कुले सम्भूताम्**) उत्तम कुल में उत्पन्न हुई हो, (**हृद्याम्**) जो हृदय को प्रिय भी हो अर्थात् जिसको स्वयं भी पसन्द किया हो, (**रूपगुण-अन्विताम्**) सुन्दरता और श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न हो, ऐसी (**भार्याम्-उद्वहेद्**) भार्या को विवाह करके लाये॥ ७७ ॥

ऋषि अर्थ—''इतना अर्थात् ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़के यहां तक राज-काम करके पश्चात् सौन्दर्यरूप गुणयुक्त हृदय को अति-प्रिय बड़े उत्तम कुल में उत्पन्न सुन्दर लक्षणयुक्त अपने क्षत्रिय कुल की कन्या जो कि अपने सदृश विद्यादि गुण-कर्म-स्वभाव में हो उस एक ही स्त्री के साथ विवाह करे। दूसरी सब स्त्रियों को अगम्य समझकर दृष्टि से भी न देखे''॥ ७७ ॥ (स०प्र० समु० ६)

अनुशीलन—श्लोक के आधारभूत महत्त्वपूर्ण पद—इस श्लोक में पठित सभी एकवचनान्त पद इस नियम की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि पत्नी एक

ही होनी चाहिए, बहुत पत्नियाँ वैधानिक नहीं हैं। वह पत्नी '**सवर्णा**' हो और कोई स्त्री 'सवर्णा' तभी बनती है जब उसने विधिवत् उस वर्ण की शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल में प्राप्त की हो और आचार्या द्वारा उस वर्ण की घोषित की गई हो, क्योंकि मनु की व्यवस्था में जन्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण नहीं होता, किन्तु शिक्षा-दीक्षा और व्यवसाय प्रशिक्षण के आधार पर आचार्य करता है [२.१४८]। पत्नी 'हृद्या' भी हो अर्थात् पति के हृदय को पसन्द हो, उसके द्वारा पसन्द की गई हो। इससे विवाह में पति-पत्नी की स्वयं वरण करने की स्वतन्त्रता का ज्ञान होता है। ऐसे विवाह को मनु ने 'स्वयंवर विवाह' माना है।

पुरोहित का वरण एवं उसके कर्त्तव्य—

पुरोहितं प्रकुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्य्युर्वैतानिकानि च॥ ७८॥
(५९)

विवाहित होकर (**पुरोहितं कुर्वीत**) मुख्य धार्मिक अनुष्ठानकर्त्ता और धर्मविषयक मार्गप्रदर्शक व्यक्ति की नियुक्ति करे (**च**) और (**ऋत्विजः एव वृणुयात्**) यज्ञविशेषों के आयोजन के लिए अन्य ऋत्विजों का वरण करे (**ते**) वे (**अस्य गृह्याणि कर्माणि च वैतानिकानि कुर्युः**) राजा के गृहसम्बन्धी पञ्चमहायज्ञ आदि, विशेष अवसरों पर आयोजित दीर्घयज्ञों [७.७९] और राज्यानुष्ठान एवं धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करायें॥ ७८॥

ऋषि अर्थ—''पुरोहित और ऋत्विक् का स्वीकार इसलिए करे कि वे अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब राजघर के कर्मों को करें और आप सर्वदा राजकार्य में तत्पर रहें॥'' (स०प्र०, पृ० १४९)

अनुशीलन—**वैतानिक और गृह्य कर्म**—यहाँ 'वैतानिक' शब्द का अर्थ विस्तृत अर्थात् लम्बे समय तक चलने वाले 'यज्ञों' से और 'गृह्य कर्मों' से घर के धार्मिक अनुष्ठानों और दैनिक पञ्चमहायज्ञों से अभिप्राय है। ७९वें श्लोक में वैतानिक यज्ञों को स्पष्ट कर दिया है। वानप्रस्थ को भी वैतानिक=विस्तृत यज्ञों को करने का निर्देश है—''**वैतानिकं च जुहुयाद्-अग्निहोत्रं यथाविधि**'' [६.९]

राजा को समयानुसार पञ्चमहायज्ञों के अतिरिक्त बृहत् यज्ञों एवं राज्य सम्बन्धी अनुष्ठानों का आयोजन भी करते रहना चाहिए। इन कार्यों के लिए ऋत्विक् का वरण किया जाता है। २.११८ [२.१४३] में ऋत्विक् का लक्षण करते हुए मनु ने कहा है कि अग्निहोत्र पञ्चमहायज्ञ, अग्निष्टोम आदि यज्ञ कराने वाला वरण किया व्यक्ति 'ऋत्विज्' कहाता है—"**अग्न्याधेयंपाकयज्ञान्-अग्निष्टोमादिकान् मखान्। यः करोति वृतो यस्य सः तस्य-ऋत्विगिहोच्यते।**" ये ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्यु चार होते हैं। बड़े यज्ञों में १६ तक भी होते हैं।

'**पुरोहित**' किसी कुल का धार्मिक अनुष्ठान कराने वाला और धर्मसम्बन्धी मार्गदर्शन देने वाला प्रमुख होता है। राजसभा में यह धर्माधिकारी अमात्य होता है जो प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान और धर्मसम्बन्धी निर्णय देता है अथवा राजा को परामर्श देता है।

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च॥ ७९॥
(६०)

(**राजा**) राजा (**आप्तदक्षिणैः विविधैः क्रतुभिः**) ऋत्विजों को पर्याप्त दक्षिणा वाले विविध यज्ञों के द्वारा (**यजेत**) यजन किया करे (**च**) तथा (**धर्मार्थम्**) धर्म संचय के लिए (**विप्रेभ्यः**) विद्वान् ब्राह्मणों को (**भोगान् च धनानि दद्यात्**) भोग्य पदार्थों धनों का दान करे॥ ७९॥

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम्।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्त्तेत पितृवन्नृषु॥ ८०॥
(६१)

राजा (**राष्ट्रात्**) राष्ट्र के जनों से (**सांवत्सरिकं बलिम्**) वार्षिक कर अथवा देय भाग [७.१२७-१३९] (**आप्तैः आहारयेद्**) धार्मिक, विशेषज्ञ और निष्ठावान् अधिकारियों के द्वारा संग्रह कराये, (**च**) और कर-ग्रहण के सम्बन्ध में (**आम्नायपरः स्यात्**) शास्त्रोक्त मर्यादा का पालन करे, अथवा देश-काल-परिस्थितिवशात् परामर्श करके उत्तम परम्परा का

पालन करे (**च**) और (**लोके नृषु पितृवत् वर्तेत**) राष्ट्र की प्रजाओं को पुत्रवत् मानकर पिता के समान अपना व्यवहार रखे अर्थात् जैसे घर में पिता घर की आर्थिक स्थिति और सन्तानों का पालन-पोषण दोनों में सामंजस्य रखता है, उसी भाव से राजा प्रजाओं से कर ले॥ ८० ॥

अनुशीलन—आप्त और बलि का विशेष अर्थ— 'आप्त' और 'बलि' परम्परागत शास्त्रीय शब्द हैं। शास्त्रों में बहुप्रयोग के आधार पर इनके अपने विशेष अर्थ रूढ़ हो गये हैं—

(१) '**आप्तः**' शब्द 'आप्लृ व्याप्तौ' (स्वादि) धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से बना है। अपने विषय में पूर्णतः व्याप्त अर्थात् विशेषज्ञ और प्रत्यक्ष ज्ञान रखने वाले ईमानदार, धार्मिक विशेषज्ञ व्यक्ति को 'आप्त' कहते हैं। राजा को प्रत्येक विभाग में मुख्य अधिकारी ऐसे आप्तपुरुष रखने चाहिएँ।

(२) बलि का अर्थ होता है—अपने अन्न या भोजन आदि से यज्ञार्थ निकाला गया शेष भाग=अंश। जैसे बलिवैश्वदेव यज्ञ में भोजन का कुछ अंश प्राणियों के लिए निकाल कर रखा जाता है। यहाँ, राजा जो अन्न के छठे भाग के रूप में प्रजाओं से कर लेता है, उसे 'बलि' कहा गया है। कर के विभिन्न रूपों और उनके अन्तर को समझने के लिए देखिए ८.३०७ पर अनुशीलन और ७.१२७-१३९ श्लोकोक्त करव्यवस्था।

विविध विभागाध्यक्षों की नियुक्ति—

अध्यक्षान्विविधान् कुर्यात् तत्र तत्र विपश्चितः।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन् नृणां कार्याणि कुर्वताम्॥ ८१ ॥

(६२)

राजा (**तत्र तत्र**) आवश्यकतानुसार विभिन्न विभागों में (**विविधान्**) अनेक (**विपश्चितः अध्यक्षान्**) प्रतिभाशाली, योग्य विद्वान् अध्यक्षों को (**कुर्यात्**) नियुक्त करे (**ते**) वे विभागाध्यक्ष (**अस्य**) राजा के द्वारा नियुक्त (**सर्वाणि**) अन्य सब (**कार्याणि कुर्वताम्**) अपने अधीन कार्य करने वाले (**नृणाम्**)

कर्मचारी लोगों का (**अवेक्षेरन्**) निरीक्षण किया करें, अर्थात् निरीक्षण में ठीक कार्य करने वाले को सम्मान और न करने वालों को दण्ड देकर राज्यकार्य को सुचारुरूप से चलाया करें॥ ८१ ॥

ऋषि अर्थ—''उस राज्यकार्य में विविध प्रकार के अध्यक्षों को सभा नियत करे। इनका यही काम है—जितने-जितने, जिस-जिस काम के राजपुरुष होवें, नियमानुसार वर्त्तकर यथावत् काम करते हैं वा नहीं। जो यथावत् करें तो उनका सत्कार और जो विरुद्ध करें तो उनको यथावत् दण्ड दिया करे।''

(स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—(१) **कौटिल्य के अनुसार विभागाध्यक्ष**—आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र प्र० २२, अ० ६ से ५२.३४ तक अध्यक्षप्रचार नामक अधिकरण में योग्यता, शक्ति, और परीक्षानुसार अनेक विभागाध्यक्षों और उपविभागाध्यक्षों का विधान किया है। अध्यक्षों के पदों का विभाजन; विभाग और कार्यानुसार होना चाहिए। कौटिल्य द्वारा परिगणित कुछ अध्यक्ष निम्नलिखित हैं—

१. सेनाध्यक्ष=सम्पूर्ण सेनाओं का निरीक्षक, २. कोषाध्यक्ष=खजाने का अध्यक्ष, ३. आकराध्यक्ष=खानों का अध्यक्ष, ४. अक्षपटलाध्यक्ष=आय-व्यय का महा-निरीक्षक, ५. कोष्ठगाराध्यक्ष=कोठारी, ६. आयुधगार-अध्यक्ष=युद्ध-सामग्री का अधिकारी, ७. पण्याध्यक्ष=बाजार का नियन्त्रक अधिकारी, ८. कुप्याध्यक्ष=वन की वस्तुओं का अध्यक्ष, ९. स्वर्णाध्यक्ष=सोने-चांदी का अध्यक्ष, १० लोहाध्यक्ष=लोहा आदि धातुओं का अध्यक्ष, ११. सीताध्यक्ष=कृषि विभाग या कर के रूप में एकत्रित धान्य का अध्यक्ष, १२. शुल्काध्यक्ष=चुंगी का अधिकारी, १३. पौतवाध्यक्ष=तोल-माप का नियन्त्रक अधिकारी, १४. मानाध्यक्ष=देश-काल के मानों का नियन्त्रक, १५. सूत्राध्यक्ष=वस्त्र या सूत व्यवसाय का अध्यक्ष, १६. सूनाध्यक्ष=वधस्थान का अधिकारी, १७. नगराध्यक्ष=नगर का प्रमुख अधिकारी, १८. नावाध्यक्ष=नौका परिवहन का अधिकारी, १९. गो-अध्यक्ष=गौ आदि दुधारू पशुओं का व्यवस्थापक अधिकारी, २०. अश्वाध्यक्ष=अश्वशाला का

अधिकारी, २१. हस्ति-अध्यक्ष=हस्तिशाला का अधिकारी, २२. रथाध्यक्ष=रथसेना का अधिकारी, २३. पत्त्यध्यक्ष= पैदल सेना का अधिकारी, २४. मुद्राध्यक्ष=मुद्रा-व्यवस्था का अधिकारी, २५. विविताध्यक्ष=चरागाह का अध्यक्ष, २६. लक्षणाध्यक्ष=टकसाल का अधिकारी, २७. धर्माध्यक्ष =धर्म-निर्णायक अधिकारी।

(२) **विपश्चित् का अर्थ**—'विपश्चित्' प्रतिभाशाली विद्वान् को कहते हैं। निरुक्त ३.१५ में कहा है—''**विपश्चित् मेधावीनाम।**'' राजा योग्य, प्रतिभाशाली, मेधावी, विशेषज्ञ विद्वानों को ही विविध विभागों में अध्यक्ष नियुक्त करे।

राजा स्नातक विद्वानों का सत्कार करे—

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मो विधीयते॥ ८२॥
(६३)

राजा और राजसभा (**गुरुकुलाद् आवृत्तानां विप्राणां पूजकः भवेत्**) स्नातक बनकर गुरुकुल से लौटे विद्वानों का स्वागत-सम्मान किया करे, (**हि**) क्योंकि (**एषः ब्राह्मः**) यह विद्वान् और विद्या [२.१४६, १५०] (**नृपाणाम्+अक्षयः निधिः अभिधीयते**) कभी व्यय न होने वाली निधि है, अर्थात् प्रजाओं को कभी क्षीणता की ओर न जाने देने वाला खजाना है। अभिप्राय यह है कि जहाँ जितने अधिक विद्वान् और विद्याएँ होंगी वह राष्ट्र कभी क्षीण नहीं होता अपितु उन्नत होता जाता है क्योंकि किसी की भी विद्या को कोई नहीं चुरा सकता, वे परम्परागत रूप से अक्षुण्ण रहकर राष्ट्र का विकास करती रहती हैं॥ ८२॥

ऋषि अर्थ—''सदा जो राजाओं का वेद-प्रचाररूप अक्षय कोश है, इसके प्रचार के लिए कोई यथावत् ब्रह्मचर्य से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर गुरुकुल से आवे, उसका सत्कार, राजा और सभा यथावत् करें तथा उनका भी जिनके पढ़ाये हुए विद्वान् होवें। इस बात के करने से राज्य में विद्या की उन्नति होकर अत्यन्त उन्नति होती है। (स०प्र०, समु० ६)

युद्ध के लिए गमन तथा युद्धसम्बन्धी व्यवस्थाएँ—

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥ ८७॥
(६४)

(**प्रजाः पालयन् राजा**) प्रजा का पालन करने वाला राजा (**सम-उत्तम-अधमैः आहूतः तु**) अपने से तुल्य, उत्तम और छोटे राजा द्वारा संग्राम के लिए आह्वान करने पर (**क्षात्रं धर्मम्+अनुस्मरन्**) क्षत्रियों के युद्ध धर्म का स्मरण करके (**संग्रामात् न निवर्तेत**) संग्राम में जाने से कभी विमुख न हो॥ ८७॥

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥ ८९॥
(६५)

(**महीक्षितः**) राजा (**आहवेषु मिथः अन्योन्यं जिघांसन्तः**) युद्धों में परस्पर एक-दूसरे के वध करने की इच्छा से अथवा एक-दूसरे को पराजित करने की इच्छा से, जब (**अपराङ्मुखाः**) युद्ध से विमुख न होकर (**परं शक्त्या युद्धमानाः**) पूर्ण शक्ति से युद्ध करते हैं तो वे (**स्वर्गं यान्ति**) जीवित रहने पर इस जन्म में भी और मरने पर परजन्म में भी सुख प्राप्त करते हैं॥ ८९॥

ऋषि अर्थ—''जो संग्रामों में एक-दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग जितना सामर्थ्य हो विना डरे, पीठ न दिखा युद्ध करते हैं, वे (स्वर्गं यान्ति) सुख को प्राप्त होते हैं।'' (स०प्र०, समु० ६)

युद्ध में किन को न मारे—

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम्॥ ९१॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्॥ ९२॥
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्॥ ९३॥
(६६, ६७, ६८)

(**न स्थल+आरूढम्**) न युद्ध स्थल में इधर-उधर खड़े को (**न क्लीबम्**) न नपुंसक को (**न कृत+ अञ्जलिम्**) न हाथ जोड़े हुए को (**न मुक्तकेशम्**) न जिसके शिर के बाल खुले हों, उसको (**न आसीनम्**) न बैठे हुए को (**न 'तव अस्मि' इति वादिनम्**) न 'मैं तेरी शरण हूँ' ऐसे कहते हुए को, (**न सुप्तम्**) न सोते हुए को, (**न विसन्नाहम्**) न मूर्छा को प्राप्त हुए को, (**न+अयुध्यमानम्**) न युद्ध न करते हुए को अर्थात् युद्ध देखने वाले को, (**न परेण समागतम्**) न शत्रु के साथ आये को, (**न+आयुध-व्यसन-प्राप्तम्**) न आयुध के प्रहार से पीड़ा को प्राप्त हुए को, (**न आर्त्तम्**) न आपत्ति में फंसे को, (**न+अतिपरिक्षतम्**) न अत्यन्त घायल को, (**न भीतम्**) न डरे हुए को और (**न परावृत्तम्**) न युद्ध से पलायन करते हुए को (**सतां धर्मम्+ अनुस्मरन्**) श्रेष्ठ क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करते हुए (**हन्यात्**) योद्धा लोग कभी मारें॥ ९१-९३ ॥

युद्ध से पलायन करने वाला अपराधी होता है—

यस्तु भीतः परावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः।
भर्त्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते॥ ९४॥
(६९)

(**यः तु**) और जो (**संग्रामे**) युद्धक्षेत्र से (**परावृत्तः**) पीठ दिखाकर भाग रहा हो, अथवा (**भीतः परैः हन्यते**) डरकर भागता हुआ शत्रुओं के द्वारा मारा जाये, उसे (**भर्त्तुः**) राजा की ओर से प्राप्त होने वाला (**यत् किंचित् दुष्कृतम्**) जो भी कुछ दण्ड, क्रोध, हानि, कठोर व्यवहार है (**तत् सर्वं प्रतिपद्यते**) उस सब का पात्र बनकर वह दण्डनीय होता है अर्थात् राजा के मन से उसकी श्रेष्ठता का प्रभाव समाप्त हो जाता है [९५] और राजा उसको अपराधी मानकर उसकी सुख-सुविधा को छीनकर दण्ड देता है॥ ९४॥[१]

---

१. **प्रचलित अर्थ**—युद्ध में डरकर विमुख जो योद्धा शत्रुओं से मारा जाता है; वह स्वामी का जो कुछ पाप है, उसे प्राप्त करता है॥ ९४॥

ऋषि अर्थ—''जो पलायन अर्थात् भागे और डरा हुआ भृत्य शत्रुओं द्वारा मारा जाये वह उस स्वामी के अपराध को प्राप्त होकर दण्डनीय होवे।''

(स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—'दुष्कृत' आदि पाप, अपराध के पर्यायवाची शब्दों का अर्थ समझने के लिए द्रष्टव्य ८.३१६ पर अनुशीलन।

यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।
भर्त्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु॥ ९५ ॥(७०)

(**परावृत्त हतस्य तु**) युद्ध से पीठ दिखाकर भागे हुए योद्धा की तो (**अमुत्रार्थम्+उपार्जितम्**) इस जन्म और परजन्म के लिए अर्जित की गई (**अस्य यत् किंचित् सुकृतम्**) इसकी जो कुछ सुख-सुविधा, प्रतिष्ठा है (**तत् सर्वं भर्ता आदत्ते**) उस सब को उसका स्वामी राजा छीन लेता है अर्थात् इस जन्म की सुख-सुविधा, प्रतिष्ठा को राजा छीन लेता है और धर्मपालन न करने के कारण परजन्म में प्राप्तव्य पुण्य और उसका फल नष्ट हो जाता है॥ ९५ ॥

ऋषि अर्थ—''जो उसकी प्रतिष्ठा है जिससे इस लोक और परलोक में सुख होने वाला था उसको उसका स्वामी ले लेता है। जो भागा हुआ मारा जाये उसको कुछ भी सुख नहीं होता, उसका पुण्यफल नष्ट हो जाता और उस प्रतिष्ठा को वह प्राप्त होता है जिसने धर्म से यथावत् युद्ध किया हो।'' (स०प्र०, समु० ६)

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्॥ ९६ ॥
(७१)

युद्ध में (**रथ-अश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यम्**) रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन, धान्य, (**पशून्**) अन्य पशु, (**स्त्रियः**) नौकर स्त्रियां, (**सर्वद्रव्याणि**) सब प्रकार के पदार्थ (**कुप्यम्**) घी, तैल आदि के कुप्पे (**यः यत् जयति**) जो जिसको जीते (**तस्य तत्**) वह उसका ही भाग होगा॥ ९६ ॥

ऋषि अर्थ—''इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि

लड़ाई में जिस-जिस अमात्य वा अध्यक्ष ने रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन, धान्य, गाय आदि पशु और स्त्रियाँ तथा अन्य प्रकार के सब द्रव्य और घी, तैल आदि के कुप्पे जीते हों वही उस-उस का ग्रहण करे॥ ९६॥

(स०प्र०, समु० ६)

जीते हुए धन से राजा को 'उद्धार' देना—

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम्॥ ९७॥

(७२)

(**च**) और विजता योद्धा (**राज्ञः उद्धारं दद्युः**) विजित धन एवं पदार्थों में से उद्धार भाग (छठा भाग, मतान्तर से सोलहवाँ भाग) राजा को दें (**च**) और (**राज्ञा अपृथग्जितं सर्वयोधेभ्यः दातव्यम्**) राजा को भी सबके द्वारा मिलकर जीते हुए धन और पदार्थों में से उद्धार भाग सब योद्धाओं को भी देना चाहिए; (**इति+एषा वैदिकी श्रुतिः**) यह वैदिक मान्यता है॥ ९७॥

ऋषि अर्थ—''परन्तु सेनास्थ जन भी उन जीते हुए पदार्थों में से सोलहवां भाग राजा को देवें और राजा भी सेनास्थ योद्धाओं को उस धन में जो सब ने मिलकर जीता हो (**दातव्यम्**) सोलहवां भाग देवे, और जो कोई युद्ध में मर गया हो उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे और उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे। जब उसके लड़के समर्थ हो जावें तब उनको यथायोग्य अधिकार देवे। जो कोई अपने राज्य की वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय और आनन्दवृद्धि की इच्छा रखता हो, वह इस मर्यादा का उल्लंघन कभी न करे।'' (स०प्र०, समु० ६)

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून्॥ ९८॥

(७३)

(**एषः**) यह [८७-९७] (**अनुपस्कृतः**) शिष्ट विद्वानों द्वारा स्वीकृत (**सनातनः**) सर्वदा माननीय

(**योधधर्मः प्रोक्तः**) योद्धाओं का धर्म कहा, (**क्षत्रियः**) क्षत्रिय व्यक्ति (**रणे रिपून् घ्नन्**) युद्ध में शत्रुओं को मारते हुए अर्थात् शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके भी इस धर्म से विचलित न होवे, इसको न छोड़े॥ ९८॥

राजा द्वारा चिन्तनीय बातें—

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्॥ ९९॥
(७४)

राजा और राजसभासद् (**अलब्धम् एव लिप्सेत**) अप्राप्त राज्य और धन आदि की प्राप्ति की इच्छा अवश्य करें, (**च**) और (**लब्धं प्रयत्नतः रक्षेत्**) प्राप्त राज्य और धन आदि की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करें, (**रक्षितं च वर्धयेत् एव**) रक्षा किये हुए को बढ़ाने के उपाय अवश्य करें (**च**) और (**वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्**) बढ़े हुए धन को सुपात्रों और जनहितकारी कार्यों में लगावें॥ ९९॥

ऋषि अर्थ—''राजा और राजसभा अलब्ध की प्राप्ति की इच्छा, प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करे, रक्षित को बढ़ावें, और बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगावे॥'' (स०प्र०, समु० ६)

एतच्चतुर्विधं विद्यात् पुरुषार्थप्रयोजनम्।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः॥ १००॥
(७५)

(**एतत् चतुर्विधम्**) यह पूर्वोक्त [७.९९] चार प्रकार का (**पुरुषार्थप्रयोजनम्**) राज्य के लिए पुरुषार्थ करने का उद्देश्य (**विद्यात्**) समझना चाहिए, राजा (**अतन्द्रितः**) आलस्य-रहित होकर (**अस्य नित्यं सम्यक् अनुष्ठानं कुर्यात्**) इस उद्देश्य को पाने के लिए प्रयत्न करता रहे॥ १००॥

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्द्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्॥ १०१॥
(७६)

राजा (**अलब्धं दण्डेन इच्छेत्**) अप्राप्त राज्य और धन आदि प्राप्ति की इच्छा दण्ड=शत्रु राजा पर कर लगाकर अथवा युद्ध द्वारा करे, (**लब्धम् अवेक्षया रक्षेत्**) प्राप्त राज्य और धन आदि की सावधानी पूर्वक निरीक्षण से रक्षा करे, (**रक्षितं वृद्ध्या वर्धयेत्**) रक्षित किये हुए को वृद्धि के उपायों से बढ़ाये, और (**वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्**) बढ़ाये हुए धन को सुपात्रों और जनहितकारी कार्यों में लगाये॥ १०१ ॥

ऋषि अर्थ—''राजाधिराज पुरुष अलब्ध राज्य की प्राप्ति की इच्छा दण्ड से, और प्राप्त राज्य की रक्षा देखभाल करके, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और ब्याज से बढ़ा और सुपात्रों के द्वारा सत्यविद्या और सत्यधर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढ़े हुए धन आदि पदार्थों का व्यय करके सबकी उन्नति सदा किया करें॥'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः॥ १०२॥
(७७)

राजा (**नित्यम्+उद्यतदण्डः स्यात्**) सदैव न्यायानुसार दण्ड का प्रयोग करने में तत्पर रहे, (**नित्यं विवृतपौरुषः**) सदैव युद्ध में पराक्रम दिखलाने के लिए तैयार रहे, (**नित्यं संवृतसंवार्यः**) सदैव राज्य के गोपनीय कार्यों को गुप्त रखे, (**नित्यम् अरेः छिद्रानुसारी**) सदैव शत्रु के छिद्रों=कमियों को खोजता रहे और उन त्रुटियों को पाकर अवसर मिलते ही अपने राज्य हित को पूर्ण कर ले॥ १०२ ॥

अनुशीलन—'छिद्र' शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ ७.१०५ के अनुशीलन में द्रष्टव्य है।

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत्।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत्॥ १०३॥
(७८)

(**नित्यम्+उद्यतदण्डस्य**) जिस राजा के राज्य में सर्वदा न्यायानुसार दण्ड के प्रयोग का निश्चय रहता

है तो उससे (**कृत्स्नं जगत् उद्विजते**) सारा जगत् भयभीत रहता है (**तस्मात्**) इसीलिए (**सर्वाणि भूतानि**) सब दण्ड के योग्य प्राणियों को (**दण्डेनैव प्रसाधयेत्**) दण्ड से साधे अर्थात् दण्ड के भय से अनुशासन में रखे ॥ १०३ ॥

अमाययैव वर्तेत न कथञ्चन मायया।
बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥
(७९)

(**कथञ्चन**) कदापि (**मायया न वर्तेत**) किसी के साथ छल-कपट से न वर्ते (**अमायया+एव**) किन्तु निष्कपट होकर सबसे बर्ताव रखे (**च**) और (**नित्यं स्वसंवृतः**) नित्यप्रति अपनी रक्षा में सावधान रहे, और (**अरिप्रयुक्तां मायां बुध्येत**) शत्रु के किये हुए छल-कपट को जाने तथा उसका उपाय करे ॥ १०४ ॥

नास्य छिद्रं परो विद्याच्छिद्रं विद्यात्परस्य तु।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥
(८०)

राजा यह सावधानी रखे कि (**परः अस्य छिद्रं न विद्यात्**) कोई शत्रु उसके छिद्र अर्थात् कमियों को न जान सके (**तु**) किन्तु (**परस्य छिद्रं विद्यात्**) स्वयं शत्रु राजा के छिद्रों को जानने का प्रयत्न करे, (**कूर्म+इव+अङ्गानि**) जैसे कछुआ अपने अंगों को गुप्त रखता है वैसे (**आत्मनः विवरं गूहेत् रक्षेत्**) शत्रु राजा से अपनी कमियों को छिपाकर रखे और अपनी रक्षा करे ॥ १०५ ॥

अनुशीलन—(१) **छिद्र का अर्थ**—त्रुटि, कमजोरी, निर्बलता आदि ऐसी कमी जिससे शत्रु लाभ उठाकर स्वयं को हानि पहुँचा सके। **'छिनत्ति यत् तत् छिद्रम्=न्यूनत्वम्'**। **'छिदिर् द्वैधीकरणे'** धातु से **'स्फायितञ्चि.......'** (उणादि २.१३) सूत्र से रक् प्रत्यय के योग से छिद्र शब्द सिद्ध होता है।

(२) **कौटिल्य द्वारा उद्धृत श्लोक**—मनु का यह श्लोक कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र प्रक० १०, अ० १४ में सामान्य पाठभेद के साथ उद्धृत किया है।

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्॥ १०६॥
(८१)

राजा (**बकवत् अर्थान् चिन्तेयत्**) जैसे बगुला चुपचाप खड़ा रहकर मछली को ताकता है और अवसर लगते ही उसको झपट लेता है उसी प्रकार चुपचाप रहकर शत्रुराजा पर आक्रमण करने का अवसर ताकता रहे, (**च**) और अवसर मिलते ही (**सिंहवत् पराक्रमेत्**) सिंह के समान पूरी शक्ति से आक्रमण कर दे, (**च**) और (**वृकवत् अवलुम्पेत**) जैसे चीता रक्षित पशु को भी अवसर मिलते ही शीघ्रता से झपट लेता है उसी प्रकार शत्रु को पकड़ ले, (**च**) और स्वयं यदि शत्रुओं के बीच फंस जाये तो (**शशवत् विनिष्पतेत्**) खरगोश के समान उछल कर उनकी पकड़ से निकल जाये और अवसर मिलते ही फिर आक्रमण करे॥ १०६॥

ऋषि अर्थ—''जैसे बगुला ध्यानावस्थित होकर मच्छी के पकड़ने को ताकता है वैसे अर्थसंग्रह का विचार किया करे, द्रव्यादि पदार्थ और बल की वृद्धि कर शत्रु को जीतने के लिए (**सिंहवत् पराक्रमेत्**) सिंह के समान पराक्रम करे, चीते के समान छिपकर शत्रुओं को पकड़े और समीप में आये बलवान् शत्रुओं से सुस्से के समान दूर भाग जाये और पश्चात् उनको छल से पकड़े।'' (स०प्र०, समु० ६)

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः।
तानानयेद्वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः॥ १०७॥
(८२)

(**एवम्**) पूर्वोक्त प्रकार से रहते हुए (**विजयमानस्य**) विजय की इच्छा रखने वाले राजा के (**ये परिपंथिनःस्युः**) जो शत्रु अथवा राज्य में बाधक जन हों (**तान् सर्वान्**) उन सबको (**सामादिभिः उपक्रमैः वशम् आनयेत्**) साम, दान, भेद, दण्ड इन उपायों से [७.१९८] वश में करे॥ १०७॥

ऋषि अर्थ—''इस प्रकार विजय करने वाले

सभापति के राज्य में जो परिपंथी अर्थात् डाकू-लुटेरे हों उनको साम=मिला देना, दान=कुछ देकर, भेद= तोड़-फोड़ करके वश में करे।'' (स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—(क) **परिपन्थिन् का व्याकरण**— 'परिपन्थिन्' शब्द '**छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि**' (अ० ५.२.८९) सूत्र के अनुसार वेद में निपातन रूप है। पाणिनि के अनुसार वेद में ही निपातन है किन्तु साथ-साथ संस्कृत-साहित्य में भी यह प्रयोग इसी रूप में प्रचलित है। 'शत्रु', 'राज्य के कार्यों में बाधक', 'चोर', 'डाकू', 'कार्यों में रुकावट डालने वाला' आदि इसके अनेक अर्थ हैं। १०७, ११० श्लोकों में उक्त '**परिपंथी**' शब्द का व्यापक अर्थ है। इससे उन डाकू, चोर, लुटेरों का भी ग्रहण है जो प्रजाओं के अतिरिक्त, राज्य के विकास में रोड़ा अटकाकर बाधा डालने वाले हैं, विरोध करके अराजकता फैलाने वाले और राज्यापहरण के लिए षड्यन्त्र करके शत्रु की सहायता करने वाले व्यक्ति होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को राजा कठोरता से वश में करे।

२. **साम आदि उपायों का अभिप्राय**—साम, दान, भेद, दण्ड ये राजनीति के चार प्रमुख अंग हैं। इनको चार उपक्रम=उपाय भी कहा जाता है। राजा को इनके अनुसार शत्रु राजा से व्यवहार करना चाहिए। १. साम—कोई राजा जब बाधा डाले, विरोध करे अथवा युद्ध का अभिलाषी हो तो उसको शान्ति-स्नेह पूर्वक बातचीत तथा मेलजोल से मनाने का यत्न करे। २. दान—यदि शान्ति से न माने तो धन, भूमि आदि देकर उसको अपना मित्र या पक्षधर बनाये। ३. भेद—यदि इस उपाय से भी न माने तो लोभ, धन आदि के द्वारा उसके मन्त्रियों, अधिकारियों, कर्मचारियों और प्रजाओं में भेद डाले, अपनी ओर मिलाकर रहस्य जाने तथा शत्रु राजा को असफल या दुर्बल कर दे। ४. दण्ड—यदि इन तीनों से भी बात न बने तो उसके साथ युद्ध करके उसके साथ बल का प्रयोग करे या उसको दण्डित करे।

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः।
दण्डेनैव प्रसह्यैताँश्छनकैर्वशमानयेत्॥ १०८॥

(**यदि**) यदि (**ते**) वे शत्रु, डाकू, चोर आदि (**प्रथमैः त्रिभिः उपायैः न तिष्ठेयुः तु**) पूर्वोक्त साम, दान, भेद इन तीन उपायों से शान्त न हों या वश में न आयें तो राजा (**एतान्**) इन्हें (**प्रसह्य**) बलपूर्वक (**दण्डेन+एव**) दण्ड के द्वारा ही (**शनकैः वशम्+ आनयेत्**) सावधानीपूर्वक वश में लाये॥ १०८॥

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः॥ ११०॥
(८४)

(**यथा**) जैसे (**निर्दाता कक्षम् उद्धरति धान्यं च रक्षति**) धान्य की लुनाई करने वाला किसान उसमें से व्यर्थ घासपात को उखाड़ लेता है और धान्य की रक्षा करता है, अथवा पके धान्य को निकालने वाला जैसे छिलकों को अलग कर धान्य की रक्षा करता है अर्थात् टूटने नहीं देता है (**तथा**) वैसे (**नृपः**) राजा (**परि-पन्थिनः हन्यात्**) शत्रुओं, बाधकों आदि को मारे (**च**) और (**राष्ट्रं रक्षेत्**) राज्य की रक्षा करे॥ ११०॥

राजा प्रजा का शोषण न होने दे—

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥
१११॥(८५)

(**यः राजा**) जो राजा (**मोहात्**) लोभ-लालच से अथवा अविवेकपूर्ण निर्णयों से अन्यायपूर्वक अधिक कर लेकर और प्रजा की उपेक्षा करके (**स्वराष्ट्रं कर्षयति**) अपने राज्य या प्रजा को क्षीण करता है (**सः**) वह (**सबान्धवः**) बन्धु-बान्धवों सहित (**राज्यात् च जीवितात्**) राज्य से और जीवन से भी (**अचिरात् भ्रश्यते**) शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है॥ १११॥

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्॥ ११२॥
(८६)

(**यथा**) जैसे (**प्राणिनां प्राणाः**) प्राणियों के प्राण (**शरीरकर्षणात् क्षीयन्ते**) शरीरों को दुर्बल करने से नष्ट हो जाते हैं (**तथा**) वैसे ही (**राष्ट्रकर्षणात्**) राष्ट्र अथवा प्रजाओं का शोषण करने से (**राज्ञाम्+अपि प्राणाः**) राजाओं के प्राण अर्थात् राज्य और जीवन (**क्षीयन्ते**) नष्ट हो जाते हैं॥ ११२॥

अनुशीलन—राष्ट्रकर्षण से अभिप्राय—श्लोक १११-११२ में राष्ट्रकर्षण से अभिप्राय यह है कि अति लोभ-लालच से स्वयं राजा अथवा राजपुरुषों द्वारा किसी भी प्रकार से प्रजा का शोषण-उत्पीडन करना। जिस प्रजा में शोषण-उत्पीड़न बढ़ जाता है, उस राजा का राज्य रूपी शरीर भी नष्ट हो जाता है। राज्य की उपेक्षा करने से भी राज्य नष्ट हो जाता है।

राष्ट्र के नियन्त्रण के उपाय—

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते॥ ११३॥
(८७)

इसलिए राजा (**राष्ट्रस्य संग्रहे**) राष्ट्र की समृद्धि, सुरक्षा एवं अभिवृद्धि के लिए (**नित्यम्**) सदैव (**इदं विधानम् आचरेत्**) इस आगे वर्णित व्यवस्था [११४-१४४] को लागू करे (**हि**) क्योंकि (**सुसंगृहीत-राष्ट्रः पार्थिवः**) सुरक्षित, सुसमृद्ध तथा उन्नत राष्ट्र वाला राजा ही (**सुखम्+एधते**) सुखपूर्वक रहते हुए बढ़ता है, उन्नति करता है॥ ११३॥

नियन्त्रण केन्द्रों और राजकार्यालयों का निर्माण—

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम्॥११४॥
(८८)

इसलिए राजा (**द्वयोः त्रयाणां पञ्चानां मध्ये**) दो, तीन और पांच गांवों के बीच में (**गुल्मम्+ अधिष्ठितम्**) एक-एक नियन्त्रण केन्द्र या उन्नत राजकार्यालय बनाये, (**तथा ग्रामशतानाम्**) इसी प्रकार सौ गांवों के ऊपर एक कार्यालय का निर्माण करे [जैसा कि

७.११५-११७ में वर्णन है, उसके अनुसार] (**च**) और इस व्यवस्था के अनुसार (**राष्ट्रस्य संग्रहं कुर्यात्**) राष्ट्र को सुव्यवस्थित, सुरक्षित एवं समृद्ध करे॥ ११४॥

अवर अधिकारियों आदि की नियुक्ति—

ग्रामस्याधिपतिं कुर्य्याद्दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च॥ ११५॥
(८९)

और (**ग्रामस्य+अधिपतिं कुर्यात्**) एक-एक ग्राम में एक-एक 'प्रधान' नियत करे (**तथा दशग्रामपतिम्**) उन्हीं दश ग्रामों के ऊपर दूसरा 'दशग्रामाध्यक्ष' नियत करे, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा 'बीसग्रामाध्यक्ष' नियत करे, (**शत+ईशम्**) उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा 'शतग्रामाध्यक्ष' (**च**) और (**सहस्रपतिम्+एव**) उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पांचवां 'सहस्रग्रामाध्यक्ष' पुरुष रखे॥ ११५॥

ग्रामदोषान् समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने॥ ११६॥
(९०)

(**ग्रामिकः**) वह एक-एक ग्रामों के प्रधान (**ग्रामदोषान् समुत्पन्नान्**) अपने ग्रामों में नित्यप्रति जो-जो दोष उत्पन्न हों उन-उनको (**शनकैः स्वयम्**) गुप्तता से स्वयं (**ग्रामदशेशाय**) 'दशग्रामाध्यक्ष' को (**शंसेत्**) विदित करा दे, और (**दशेशः**) वह 'दश ग्रामाध्यक्ष' उसी प्रकार (**विंशति+ईशिने**) बीस ग्राम के अध्यक्ष को दशग्रामों के समाचार नित्यप्रति देवे॥ ११६॥

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम्॥ ११७॥
(९१)

(**तु**) और (**विंशतीशः**) बीस ग्रामों का अध्यक्ष (**तत् सर्वम्**) बीस ग्रामों के समाचारों को (**शतेशाय निवेदयेत्**) शतग्रामाध्यक्ष को नित्यप्रति सूचित करे (**शतेशः तु**) वैसे सौ-सौ ग्रामों के अध्यक्ष (**स्वयम्**)

मनुप्रोक्त राज्यसंचालन के लिए सभा/मन्त्री/अधिकारी/कर्मचारी-प्रणाली (तालिका)

राजा [मुख्य राजसभाध्यक्ष, कोई भी क्षत्रिय वर्ण की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त जितेन्द्रिय यक्ति ७.२-७]

(१)	(२)	(३)
राजसभा	**ब्रह्मसभा या न्यायसभा**	**धर्मनिर्णय सभा या विधानपरिषद्**
[राज्य संचालन का कार्य, नीति निर्धारण]	[न्याय करने का कार्य ८.१, ११-२६]	[धर्म का निश्चय करना धर्म-संशय में निर्णय देना १२.१०८, ११०, ११२, जिसमें दश और कम से कम तीन विद्वान् होते हैं]
		(क) दश सदस्यों की परिषद् व उसके सदस्य
१. ७-८ प्रमुख मन्त्री, आवश्यकतानुसार अधिक भी। (७.५४-५७, ६०-६१)	१. राजा या राजा का अधिकृत विद्वान् मुख्य न्यायाधीश (८.१, ११)	१. ऋक्विद्या का ज्ञाता (१२.१११)
		२. यजुर्विद्या का ज्ञाता (")
२. अवर सचिव/नगराधीश (७.१२०, १२१)	२. वेदविद्याओं के ज्ञाता तीन विद्वान्	३. सामविद्या का ज्ञाता (")

३. सहयोगी/अधिकारी एवं दूताधिकारी (७.६२, ६३, ६८)
४. विभागों के अध्यक्ष (७.८१)
५. सहस्रग्रामाधीश (७.११५-११७)
६. शतग्रामाधीश (,,)
७. बीसग्रामाधीश (,,)
८. दशग्रामाधीश (,,)
९. एकग्रामाधीश (,,)
१०. कर्मचारी गण (७.८१, १२०, १२२-१२५)

[ये सब एक प्रमुख मन्त्री के अधीन होंगे और प्रत्येक प्रमुख मन्त्री अपने-अपने विभागों तथा कर्मचारियों का निरीक्षण करे, (७.१२०)]

(मुकद्दमों के अनुसार उस-उस विषय के परामर्शदाता (८.१) आवश्यकता के अनुसार]

४. कारण-अकारण का ज्ञाता विद्वान्=हेतुक (")
५. निरुक्त शास्त्र का ज्ञाता (")
६. धर्मशास्त्र का ज्ञाता (")
७. ब्रह्मचर्याश्रम का एक प्रतिनिधि विद्वान् (")
८. गृहस्थाश्रम का एक प्रतिनिनिध विद्वान् (")
९. वानप्रस्थ आश्रम का एक प्रतिनिधि विद्वान् (")
१०. न्यायशास्त्र का ज्ञाता, तर्क करने वाला विद्वान् (")

(ख) तीन सदस्यों की परिषद्

१. ऋक्‌विद्या का ज्ञाता (१२.११२)
२. यजुर्विद्या का ज्ञाता (")
३. सामविद्या का ज्ञाता (")

आप (**सहस्रपतये**) अर्थात् हजार ग्रामों के अध्यक्ष को (**शंसेत्**) सौ-सौ ग्रामों के समाचारों को प्रतिदिन सूचित करें ॥ ११७ ॥

अनुशीलन—राज्यसंरक्षण के लिए मनुप्रोक्त नियन्त्रणकेन्द्र-कार्यालय-व्यावस्था-तालिका—

१—केन्द्रीय कार्यालय राजधानी अर्थात् राजा का किला (७.९६-७६)

२—प्रत्येक नगर में एक सचिवालय (७.१२१)

३—एक हजार गांव पर सहस्राधीश का कार्यालय

४—सौ गांवों पर एक शताधीश का कार्यालय (७.११४-११७)

५—बीस गांवों पर एक विंशति-अधीश का कार्यालय (७.११४-११७)

६—दश गांवों पर एक दशाधीश का कार्यालय (७.११४-११७)

७—पांच गांवों पर एक पंचाधीश का कार्यालय (७.११४-११७)

८—दो और तीन गांवों पर एक मुखिया का कार्यालय (७.११४-११७)

इन राज-कार्यालयों के प्रभारी अपने से ऊपर-ऊपर के राज-कार्यालयों को प्रतिदिन की गतिविधियों से सूचित करें (७.११५-११७)।

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥ १२० ॥
(९२)

(**तेषाम्**) उन पूर्वोक्त अध्यक्षों [११६-११७] के (**ग्राम्याणि कार्याणि**) गांवों से सम्बद्ध राजकार्यों को (**च**) और (**पृथक् कार्याणि एव हि**) अन्य सौंपे गये भिन्न-भिन्न कार्यों को भी (**राज्ञः+अन्यः स्निग्धः सचिवः**) राजा का एक विश्वासपात्र मन्त्री [७.५४] (**अतन्द्रितः**) आलस्यरहित होकर सावधानीपूर्वक (**पश्येत्**) देखे ॥ १२० ॥

अनुशीलन—मनु ने विभिन्न श्लोकों में समुचित राज्य-संचालन के लिए तीन सभाओं की संरचना का तथा

उनमें काम करने वाले अधिकारियों का कथन किया है। सुगमता के लिए उन्हें एकत्र स्थान पर अग्रिम तालिका के रूप में दिखाया जा रहा है। आजकल भी भारत में इसी प्रणाली का अनुसरण किया जा रहा है। अन्तर केवल इतना ही है कि उन्हें सभा न कहकर 'पालिका' कहा जाता है। आजकल तीन पालिकाएँ राज्यसम्बन्धी व्यवस्थाओं को निपटाती हैं—

(१) विधानपालिका (विधान बनाने वाली परिषद्)

(२) कार्यपालिका (विधानों एवं नियमों को क्रियात्मक रूप देने वाले अधिकारी/कर्मचारियों का वर्ग),

(३) न्यायपालिका (न्याय करने वाले अधिकारी गण)। तालिका अग्रिम पृष्ठ पर है—

नगरे नगरे चैकं कुर्यात् सर्वार्थचिन्तकम्।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्॥ १२१॥
(९३)

राजा (**नगरे नगरे**) बड़े-बड़े प्रत्येक नगर में (**एकम्**) एक-एक (**नक्षत्राणां ग्रहम् इव**) जैसे नक्षत्रों के बीच में चन्द्रमा है इस प्रकार विशालकाय और देखने में प्रभावकारी (**घोररूपम्**) भयकारी अर्थात् जिसे देखकर या जिसका ध्यान करके प्रजाओं में नियम के विरुद्ध चलने में भय का अनुभव हो (**सर्व+अर्थ चिन्तकम्**) जिसमें सब राजकार्यों के चिन्तन और प्रजाओं की व्यवस्था और कार्यों के संचालन का प्रबन्ध हो ऐसा (**उच्चैः स्थानम्**) ऊंचा भवन अर्थात् सचिवालय (**कुर्यात्**) बनावे॥ १२१॥

ऋषि अर्थ—''बड़े-बड़े नगरों में एक-एक विचार करने वाली सभा का सुन्दर, उच्च और विशाल जैसा कि चन्द्रमा है, वैसा एक-एक घर बनावे। उसमें बड़े-बड़े विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठकर विचार किया करें। जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो वैसे-वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करे।'' (स०प्र०, समु० ६)

राजकर्मचारियों के आचरण का निरीक्षण—

स तान्नुपरिक्रामेत् सर्वानेव सदा स्वयम्।
तेषां वृत्तं परिणयेत् सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः॥ १२२॥
(९४)

(**सः**) वह [७.१२० में वर्णित] सचिव=विभाग प्रमुख मन्त्री (**तान् सर्वान् सदा स्वयम् अनुपरिक्रा-मेत्**) उन पूर्वोक्त [७.१२१] सब सचिवालयों के कार्यों का सदा स्वयं घूम-फिर कर निरीक्षण करता रहे (**च**) और (**राष्ट्रे**) देश में (**तत्+चरैः**) अपने गुप्तचरों के द्वारा (**तेषां वृत्तं परिणयेत्**) वहां नियुक्त राज-पुरुषों के आचरण की गुप्तरीति से जानकारी प्राप्त करता रहे॥ १२२॥

ऋषि अर्थ—''जो नित्य घूमने वाला सभापति हो उसके अधीन सब गुप्तचर और दूतों को रखे, जो राजपुरुष और भिन्न-भिन्न जाति के रहें, उन से सब राज और प्रजा पुरुषों के सब दोष और गुण गुप्तरीति से जाना करे। जिनका अपराध हो उनको दण्ड और जिनका गुण हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे।''
(स०प्र०, समु० ६)

रिश्वतखोर कर्मचारियों पर दृष्टि रखे—

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥ १२३॥
(९५)

(**हि**) क्योंकि (**प्रायेण**) प्रायः (**राज्ञः रक्षाधि-कृताः भृत्याः**) राजा के द्वारा प्रजा की सेवा-सुरक्षा के लिए नियुक्त अधिकारी-कर्मचारी (**परस्व-आदायिनः**) दूसरों के धन के लालची अर्थात् रिश्वतखोर और (**शठाः**) ठगी या धोखा करने वाले (**भवन्ति**) हो जाते हैं (**तेभ्यः**) ऐसे राजपुरुषों से (**इमाः प्रजाः रक्षेत्**) अपनी प्रजाओं की रक्षा करे अर्थात् ऐसे प्रयत्न करे कि वे प्रजाओं के साथ या राज्य के साथ ऐसा बर्ताव न कर पायें॥ १२३॥

ऋषि अर्थ—''राजा जिनको प्रजा की रक्षा का

अधिकार देवे वे धार्मिक, सुपरीक्षित विद्वान्, कुलीन हों। उनके आधीन प्रायः शठ और परपदार्थ हरने वाले चोर-डाकुओं को भी नौकर रखके, उनको दुष्टकर्म से बचाने के लिए राजा के नौकर करके, उन्हीं रक्षा करने वाले विद्वानों के स्वाधीन करके उनसे इस प्रजा की रक्षा यथावत् करे। (स०प्र०, समु० ६)

रिश्वतखोर कर्मचारियों को दण्ड—

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात् प्रवासनम्॥ १२४॥
(९६)

(**पापचेतसः**) पापी मन वाले (**ये**) जो रिश्वत-खोर और ठग राजपुरुष (**कार्यिकेभ्यः**) काम कराने वालों और मुकद्दमें वालों से यदि (**अर्थं गृह्णीयुः एव**) फिर भी धन अर्थात् रिश्वत ले ही लें तो (**राजा**) राजा (**प्रवासनम् कुर्यात्**) उन्हें देश निकाला दे दे॥ १२४॥

ऋषि अर्थ—''जो राजपुरुष अन्याय से वादी-प्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करे उसका सर्वस्व हरण करके, यथायोग्य दण्ड देकर, ऐसे देश में रखे कि जहाँ से पुनः लौटकर न आ सकें। क्योंकि यदि उसको दण्ड न दिया जाये तो उसको देख के अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करेंगे और दण्ड दिया जाये तो बचे रहेंगे।'' (स०प्र०, समु० ६)

कर्मचारियों के वेतन का निर्धारण—

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः॥ १२५॥
(९७)

(**राजा**) राजा (**कर्मसु युक्तानाम्**) राजकार्यों में नियुक्त राजपुरुषों (**स्त्रीणाम्**) स्त्रियों (**च**) और (**प्रेष्यजनस्य**) सेवकवर्ग की (**कर्म+अनुरूपतः**) काम के अनुसार (**स्थानम्**) पद या कार्यस्थान और (**प्रत्यहम्**) प्रतिदिन की (**वृत्तिं कल्पयेत्**) जीविका निश्चित कर दे॥ १२५॥

ऋषि अर्थ—''जितने से उन राजपुरुषों का

योगक्षेम भलीभांति हो और वे भलीभांति धनाढ्य भी हों, उतना धन वा भूमि राज्य की ओर से मासिक वा वार्षिक अथवा एक वार मिला करे। और जो वृद्ध हों उनको भी आधा मिला करे, परन्तु यह ध्यान में रखे कि जब तक वे जियें तब तक वह जीविका बनी रहे पश्चात् नहीं। परन्तु इनके सन्तानों का सत्कार वा नौकरी उनके गुण के अनुसार अवश्य देवे। और जिसके बालक जब तक समर्थ हों और उनकी स्त्री जीती हो तो उन सब के निर्वाहार्थ राज की ओर से यथा योग्य धन मिला करे। परन्तु जो उसकी स्त्री वा लड़के कुकर्मी हो जायें तो कुछ भी न मिले ऐसी नीति राजा बराबर रखे।'' (स०प्र०, समु० ६)

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः॥
१२६॥(९८)

(**अवकृष्टस्य पणः**) निम्नस्तर के भृत्य को कम से कम एक पण और (**उत्कृष्टस्य षट्**) ऊंचे स्तर के भृत्य को छह पण (**वेतनं देयः**) वेतन प्रतिदिन देना चाहिए (**तथा**) तथा उन्हें (**षाण्मासिकः आच्छादः**) प्रति छह महीने पर ओढ़ने-पहरने के वस्त्र [=वेश-भूषा] आदि (**तु**) और (**मासिकः धान्यद्रोणः**) एक महीने में एक द्रोण [६४ सेर] धान्य=अन्न, देना चाहिए॥ १२६॥

अनुशीलन—कौटिल्य के अनुसार मन्त्रियों से सेवकों तक का भरण-पोषण व्यय—आचार्य कौटिल्य ने अपने समय के मूल्यस्तर के अनुसार राजा के परिजनों से लेकर, मन्त्रियों, अमात्यों, निम्नस्तरीय कर्मचारियों तक की भृति=भरण-पोषण व्यय या वेतन का निर्धारण किया है। कौटिल्य के अनुसार धन और भूमि दोनों ही भृति के रूप में प्रदान करनी चाहिएं। भूमि के सम्बन्ध में यह शर्त रखी है कि उसे कोई बेच नहीं सकता, न गिरवी रख सकता है [प्रक० १७, अ० १]। उन्होंने भृति या वेतन का निर्धारण प्रमुखरूप से निम्न प्रकार किया है—

१. ऋत्विक्, आचार्य, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति,

युवराज, राजमाता, और रानी, इनको प्रतिवर्ष अड़तालीस हजार पण दिये जायें।

२. द्वारपाल, अन्तःपुर का अधिकारी, आयुधाध्यक्ष, समाहर्त्ता=कर संग्रह का अधिकारी, कोष्ठागाराध्यक्ष, इनको चौबीस हजार पण प्रतिवर्ष।

३. राजकुमार के भाई, उपसेनापति, व्यापाराध्यक्ष, नगराध्यक्ष, कृषि-अध्यक्ष आदि को एक हजार पण प्रतिवर्ष।

४. प्रथम श्रेणी के वास्तुकर्मविशेषज्ञ, हस्ति-अश्व-रथ-अध्यक्ष, दण्डाधिकारी आठ सौ पण वेतन प्रतिवर्ष।

इसी प्रकार सेना के विविध विभागीय अध्यक्षों को, सैन्य-शिक्षकों को दो-दो हजार पण से आठ सौ पण प्रतिवर्ष। शिल्पी, आय-विभाग के कर्मचारी, क्लर्क, गुप्तचर, वैद्य, गायक, वादक, आदि को एक हजार पण से एक सौ बीस पण तक प्रतिवर्ष वेतन का विधान किया है [प्र० ९१, अ० ३]।

कर-ग्रहण सम्बन्धी व्यवस्थाएँ—

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजो दापयेत् करान्॥ १२७॥
(९९)

राजा को (**क्रय-विक्रयम्**) क्रय और विक्रयी का अन्तर (**अध्वानम्**) मार्ग की दूरी और उत्तम व्यय आदि (**भक्तम्**) व्यापार में हिस्सेदारी (**च**) तथा (**सपरिव्ययम्**) भरण-पोषण का व्यय (**च**) और (**योगक्षेमम्**) व्यापार में लाभ, तथा वस्तु की सुरक्षा और जनकल्याण (**सम्प्रेक्ष्य**) इन सब बातों पर विचार करके (**वणिजः करान् दापयेत्**) राजा व्यापारियों पर कर लगाये॥ १२७॥

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम्।
तथाऽवेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत् सततं करान्॥ १२८॥
(१००)

(**यथा**) जैसे (**राजा**) राजा (**च**) और (**कर्मणां कर्त्ता**) व्यापार का या किसी कार्य का कर्त्ता (**फलेन युज्येत**) लाभरूप फल से युक्त होवे (**तथा**) वैसा

(**अवेक्ष्य**) विचार करके (**नृपः**) राजा (**राष्ट्रे करान् सततं कल्पयेत्**) राज्य में सदा कर-निर्धारण करे॥ १२८॥

यथाऽल्पाऽल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाऽल्पाऽल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥
१२९॥(१०१)

(**यथा**) जैसे (**वार्योकः-वत्स-षट्पदाः**) जोंक, बछड़ा और भंवरा (**अल्प+अल्पम् आद्यम् अदन्ति**) थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ को ग्रहण करते है (**तथा**) वैसे ही (**राज्ञा राष्ट्रात्**) राजा प्रजा से (**अल्पः +अल्पः**) थोड़ा-थोड़ा (**आब्दिकः कर ग्रहीतव्यः**) वार्षिक कर ग्रहण करे॥ १२९॥

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥ १३०॥
(१०२)

(**राज्ञा**) राजा को (**पशु-हिरण्ययोः**) पशुओं और सोने के शुद्ध लाभ में से (**पञ्चाशत् भागः**) पचासवाँ भाग, और (**धान्यानां षष्ठः, अष्टमः वा द्वादशः एव आदेयः**) देश-काल-परिस्थिति को देखकर लाभ में से अन्नों का अधिक से अधिक छठा, आठवां या बारहवां भाग ही कर के रूप में लेना चाहिए॥ १३०॥

ऋषि अर्थ—"जो व्यापार करने वाले वा शिल्पी को सुवर्ण और चांदी का जितना लाभ हो उसमें से पचासवां भाग, चावल आदि अन्नों में से छठा, आठवाँ वा बारहवाँ भाग लिया करे, और जो धन लेवे तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें।" (स०प्र०, समु० ६)

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च॥ १३१॥
(१०३)

(**अथ**) और (**द्रुमांस-मधु-सर्पिषाम्**) गोंद, मधु, घी (**च**) और (**गन्ध-औषधि-रसानाम्**) गन्ध,

औषधि, रसों का (**च**) तथा (**पुष्प-मूल-फलस्य**) फूल, मूल और फल, इनका (**षड्भागम् आददीत**) लाभ का छठा भाग कर के रूप में लेवे ॥ १३१ ॥

पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ १३२ ॥
(१०४)

(**च**) और (**पत्र-शाक-तृणानाम्**) वृक्षपत्र, शाक, तृण (**चर्मणां वैदलस्य**) चमड़ा, बांसनिर्मित वस्तुएँ (**मृन्मयानां भाण्डानाम्**) मिट्टी से बने बर्तन (**च**) और (**सर्वस्य अश्ममयस्य**) सब प्रकार के पत्थर से निर्मित पदार्थ, इनका भी लाभ का छठा भाग कर के रूप में ले ॥ १३२ ॥

अनुशीलन—कर-ग्रहण का अनुपात—(क) पशुओं और सुवर्ण आदि धातुओं से होने वाले शुद्ध लाभ में से पचासवां भाग कर लेने का विधान है, जैसे १०० रुपये शुद्ध लाभ हुआ तो ५० रुपये कर के रूप में देय होंगे। धान्यों, फल, मूल, घी, मधु, गोंद, शाक, बांस और चमड़े की वस्तुओं पर कुल उपज में से छठा भाग कर देय होता है, जैसे एक सौ दो मन धान्य उत्पन्न हुआ है तो सत्रह मन कर के रूप में देय होगा। यह अधिकतम है। यदि भूमि की उत्पादकता, जल सुविधा कम है तो धान्यों पर लगभग तेरह या नौ मन कर के रूप में देय बनता है। उस समय भूमि, वन आदि राजा के अधिकार में होते थे। प्रजाएँ केवल उनका उपभोग करती थीं। मनु द्वारा निर्दिष्ट कर व्यवस्था की एक विशेषता यह थी कि एक बार उक्त कर देने के बाद बार-बार और अनेक कर नहीं देने होते थे, जैसे आजकल दर्जनों तरह के कर जनता को देने पड़ते हैं।

(ख) **मनुप्रोक्त कर-व्यवस्थाएँ सर्वप्राचीन एवं सर्वाधिक मान्य**—मनु समाजव्यवस्थाओं के प्रवर्तक सर्वप्रथम थे। एक राजा के रूप में उन्होंने इन व्यवस्थाओं को लागू कर समाज को व्यवस्थित एवं संगठित किया। अन्य व्यवस्थाओं की तरह जिस कर-व्यवस्था का उन्होंने निर्धारण किया था, लगभग वैसे ही आज तक चलती आ रही है। इससे ज्ञात होता है कि मनु की व्यवस्थाओं और

मनुस्मृति की समाज में सर्वोच्च मान्यता थी। इसकी पुष्टि कौटिल्य अर्थशास्त्र के निम्न वचनों से होती है—

"**मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्य-षड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः। तेन भृताः राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः। तेषां किल्विषं दण्डकरा हरन्ति, योगक्षेमवहाश्च प्रजानाम्**"। (प्रक० ८, अ० १२)

अर्थात्—'जैसे बड़ी मछली छोटी निर्बल मछली को खा जाती है, इसी प्रकार बलवान् लोगों ने निर्बलों का जीना मुश्किल कर दिया। इस अन्याय से पीड़ित हुई प्रजाओं ने अपनी सुरक्षा और कल्याण के लिए विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा नियुक्त किया। और तभी से प्रजाओं ने अपनी खेती की उपज का छठा भाग, व्यापार की आमदनी का दसवां भाग तथा कुछ सुवर्ण राजा को 'कर' के रूप में देना निश्चित कर दिया। इस कर को पाकर राजाओं ने प्रजाओं की सुरक्षा और कल्याण की सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर स्वीकार की। इस प्रकार राजा निर्धारित 'कर' और 'दण्ड'-व्यवस्थाएँ लागू करके प्रजाओं के कष्टों को निवारण करने और उनका लाभ तथा कल्याण करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम्।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम्॥ १३७॥
(१०५)

(**राजा**) राजा (**राष्ट्रे**) राज्य में (**व्यवहारेण जीवन्तं पृथक्जनम्**) व्यापार से जीविका करने वाले बड़े-छोटे प्रत्येक व्यक्ति से (**यत् किंचित्+अपि**) थोड़ा-बहुत जो कुछ भी (**वर्षस्य करसंज्ञितम्**) वार्षिक कर के रूप में निर्धारित किया हो वह भाग (**दापयेत्**) राज्य के लिए ग्रहण करे॥ १३७॥

करग्रहण में अतितृष्णा हानिकारक—

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं ताँश्च पीडयेत्॥ १३९॥
(१०६)

राजा (**अतितृष्णया**) कर आदि लेने के अतिलोभ

में आकर (**आत्मनः च परेषां मूलम्**) अपने और प्रजाओं के सुख के मूल को (**न उच्छिन्द्यात्**) नष्ट न करे (**आत्मनः मूलम् उच्छिन्दन्**) अपने सुख के मूल का छेदन करता हुआ (**आत्मानं च तान् पीडयेत्**) अपने को और प्रजाओं को पीड़ित करता है।॥ १३९ ॥

ऋषि अर्थ—"अतिलोभ से अपने और दूसरों के सुख के मूल को उच्छिन्न अर्थात् नष्ट कदापि न करे क्योंकि जो व्यवहार और सुख के मूल का छेदन करता है वह अपने और उनको पीड़ा ही देता है।"

(स०प्र०, समु० ६)

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात् कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः॥ १४० ॥
(१०७)

(**महीपतिः**) राजा (**कार्यं वीक्ष्य**) कार्य को देख कर (**तीक्ष्णः च मृदुः एव स्यात्**) कठोर और कोमल भी होवे (**तीक्ष्णः च एव**) वह दुष्टों पर कठोर (**च**) और (**मृदुः एव**) श्रेष्ठों पर कोमल रहने से (**राजा सम्मतः भवति**) प्रजाओं में माननीय होता है॥ १४० ॥

रुग्णावस्था में प्रधान अमात्य को राजसभा का कार्य सौंपना—

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्।
स्थापयेदासने तस्मिन् खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम्॥
१४१ ॥(१०८)

(**नृणां कार्येक्षणे खिन्नः**) प्रजा के कार्यों की देखभाल करने में रुग्णता आदि के कारण अशक्त होने पर राजा (**तस्मिन् आसने**) उस अपने आसन पर (**धर्मज्ञम्**) न्यायकारी धर्मज्ञाता (**प्राज्ञम्**) बुद्धिमान् (**दान्तम्**) जितेन्द्रिय (**कुलोद्गतम्**) कुलीन (**अमात्यमुख्यम्**) सबसे प्रधान अमात्य=मन्त्री को (**स्थापयेत्**) बिठा देवे अर्थात् रुग्णावस्था में प्रधान अमात्य को अपने स्थान पर राजकार्य सम्पादन के लिए नियुक्त करे॥ १४१ ॥

मनु-प्रोक्त राज

	कालविशेष	कालावधि	दिन के कार्य
१.	रात्रि का अन्तिम प्रहर (तीन घण्टे का समय) अष्टम प्रहर	प्रातः ३ बजे से ६ बजे तक	जागरण, नैत्यि सम्पन्न करना, की संगति, उ
२.	दिन का प्रथम प्रहर	६ बजे से ९ बजे तक	प्रजासभा (दर का श्रवण एवं प्रकृतियों, पञ्च कार्यों, युद्ध-स गुप्त मन्त्रणा।
३.	द्वितीय प्रहर (मध्याह्न)	९-१२ तक	शस्त्रास्त्रों का
४.	तृतीय प्रहर	१२-३	मुकद्दमों एवं र
५.	चतुर्थ प्रहर	३-६	सेनाओं, शस्त्रा
६.	पंचम प्रहर (रात्रि संध्याकाल)	६-९	सायंकालीन नै आदि के समा भोजन।
७.	षष्ठ प्रहर	९-१३	शयन
८.	सप्तम प्रहर	१२-३	शयन

कौटिल्य-प्रोक्त राजा की दिनचर्य

१.	याम (प्रहर)		दिन के कार्य
	(रात्रि) अष्टम याम	[३-६]	जागरण, नैत्यि गुप्तचरों को प्रे
२.	प्रथम याम	[६-९]	ऋत्विक्, आच रक्षा-व्यवस्था
३.	द्वितीय याम (दिन)	[९-१२]	पुरवासियों एव (राजदरबार),
४.	तृतीय याम (दिन)	[१२-३]	आय-व्यय की आदि, मन्त्रिप
५.	चतुर्थ याम	[३-६]	स्वतन्त्रतापूर्वक
६.	पञ्चम याम (सन्ध्या)	[६-९]	सेनापति के स के समाचार ज
७.	षष्ठ याम (रात्रि)	[९-१२]	शयन।
८.	सप्तम याम (रात्रि)	[१२-३]	शयन।

ा की दिनचर्या

	श्लोक सं०
क कार्य, सूर्योदय तक, सन्ध्या-अग्निहोत्र भोजन, आचार्य ऋत्विज् आदि विद्वानों से अध्ययन एवं स्वाध्याय।	७.३७, १४५
बार) का आयोजन, उसमें प्रजा के कष्टों समाधान। धर्मार्थ कार्यों, राज्यमण्डल की वर्गों, षड्गुणों, दूतों और गुप्तचरों के करणीय म्बन्धी योजनाओं पर मन्त्रियों-अमात्यों से	७.१४७-२१५
अभ्यास, तत्पश्चात् स्नान, भोजन विश्राम।	७.२१६-२२१
ाज्यसम्बन्धी कार्यों का चिन्तन।	७.२२१
स्त्रों, युद्धवाहनों और तैयारियों का निरीक्षण।	७.१२२
त्यिक कार्य, संध्योपासना। गुप्तचरों, दूतों	७.२२३
वार सुनना और उन्हें अग्रिम कर्त्तव्य समझना।	७.२२४
	७.२२५
	७.२२५

र्या (अर्थशास्त्र, प्रकरण १४, अ० २८)
और उनकी निश्चित कालावधि
क, एवं शास्त्रीय कर्त्तव्य, गुप्तमन्त्रणापूर्वक
षित करना।
ार्य आदि की संगति, वैद्य से परामर्श,
और आय-व्यय-व्यवस्था की जानकारी।
जनपदवासियों के कार्यों पर विचार
स्नान, भोजन, स्वाध्याय।
सम्भाल, विविध अधिकारियों की नियुक्ति
रिषद् से परामर्श, गुप्तचरों के कार्यों का निश्चय।
विहार या मन्त्रणा, सेना तथा सैन्यसामग्री-निरीक्षण।
थ युद्धसम्बन्धी मन्त्रणा। संध्योपासना, गुप्तचरों
ानना, स्नान, भोजन।

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्त्तव्यमात्मनः।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः॥ १४२॥
(१०९)

(**एवम्**) पूर्वोक्त प्रकार से (**सर्वम् इतिकर्त्तव्यं विधाय**) सब कर्त्तव्य कार्यों का प्रबन्ध करके (**युक्तः**) राज्य संचालन के कार्य में संलग्न रहकर (**च**) और (**अप्रमत्तः**) प्रमाद रहित होकर (**आत्मनः इमाः प्रजाः परिरक्षेत्**) अपनी प्रजा का पालन-संरक्षण निरन्तर करे॥ १४२॥ (स०प्र०, समु० ६)

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ह्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति॥ १४३॥
(११०)

(**यस्य सभृत्यस्य संपश्यतः**) भृत्यों सहित देखते हुए जिस राजा के (**राष्ट्रात्**) राज्य में से (**दस्युभिः विक्रोशन्त्यः प्रजाः ह्रियन्ते**) अपहरण-कर्ता और डाकू लोग रोती, विलाप करती प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हरते रहते हैं (**सः मृतः**) वह राजा जानो भृत्य-अमात्यसहित मृतक समान है, (**न तु जीवति**) उसे जीवित नहीं कहा जा सकता॥ १४३॥

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते॥ १४४॥
(१११)

(**प्रजानां पालनम् एव**) प्रजाओं का पालन-संरक्षण करना ही (**क्षत्रियस्य परः धर्मः**) क्षत्रिय का परम धर्म है। (**निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा**) शास्त्रोक्त विधि से कर आदि ग्रहण करके आचरण करने वाला राजा ही [७.१२७-१३९] (**धर्मेण युज्यते**) धर्म का पालन करने वाला कहलाता है॥ १४४॥

ऋषि अर्थ—''इसलिए राजाओं का प्रजा-पालन ही करना परम धर्म है और जो मनुस्मृति के सप्तमाध्याय में कर लेना लिखा है और जैसा सभा नियत करे उसका भोक्ता राजा धर्म से युक्त होकर सुख पाता है, इससे विपरीत दुःख को प्राप्त होता है।'' (स०प्र०, समु० ६)

राजा के दैनिक कर्त्तव्य—

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम्॥
१४५॥(११२)

(**सः**) वह राजा (**पश्चिमे यामे उत्थाय**) रात्रि के अन्तिम पहर प्रातः ३-६ बजे की अवधि जागकर (**कृतशौचः**) शौच, दातुन, स्नान आदि दिनचर्या करके तत्पश्चात् (**समाहितः**) एकाग्रता पूर्वक सन्ध्या-ध्यान (**च**) और (**हुताग्निः**) अग्निहोत्र करके (**ब्राह्मणान् अर्च्य**) वेदादिशास्त्रों के अध्यापयिता और मार्गदर्शक विद्वान् ब्राह्मणों [७.३७-४३] का अभिवादन करके (**शुभांसभांप्रविशेत्**) जिसमें प्रजा की समस्याओं और कष्टों का समाधान किया जाता है उस शोभायुक्त सभा में प्रवेश करे और प्रजा की प्रार्थना सुने॥ १४५॥[1]

अनुशीलन—(१) **'ब्राह्मणान् अर्च्य' का सही अभिप्राय**—प्रस्तुत श्लोक में राजा की नैत्यिकचर्या का वर्णन करते हुए 'ब्राह्मणान् च अर्च्य' शब्दों का प्रयोग है। यहाँ कुछ टीका एव भाष्यकार—'राजा प्रातःकाल ब्राह्मणों की पूजा करें'—यह अर्थ करते हैं, जो मनुसम्मत नहीं है। ब्राह्मण, वेदविद्याओं के विद्वानों को कहते हैं। इसके लिए सप्रमाण विवेचन १.८८ पर द्रष्टव्य है। 'अर्च् पूजायाम्' से 'अर्च्य' प्रयोग सिद्ध हुआ है। यहां अर्चा या पूजा का अर्थ 'सत्कार-सम्मान या अभिवादन' ही मनु को अभिप्रेत है। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ—'राजा प्रातःकाल उठकर विद्वानों का अभिवादन करे। इस प्रकार उनसे सम्मान-सत्कार का भाव रखे।' इस अर्थ की पुष्टि में इस धातु का मनु द्वारा अन्यत्र किया गया प्रयोग प्रमाण रूप में उल्लेखनीय है—

---

१. **प्रचलित अर्थ**—राजा रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठकर शौच (शौच, दन्त-धावन एवं स्नानादि नित्यकर्म) करके अग्नि में हवन और ब्राह्मणों की पूजा कर शुभ सभा (मन्त्रणागृह) में प्रवेश करे॥ १४५॥

(क) गुरु के अभिवादन के लिए विधान करते हुए कहा है—

''दूरस्थो न अर्चयेत् एनम्'' २.१७७ (२०२)।

गुरु को देखकर दूर से अभिवादन न करे, किन्तु समीप जाकर—यथाविधि अभिवादन करे।

(ख) इसके पर्यायवाची रूप में अभिवादयेत् का प्रयोग है—

''स्वान् गुरून् अभिवादयेत्'' २.१८० (२०५)।

(ग) अभिवादन, सत्कार और सम्मान के अर्थ में निम्न प्रयोग भी द्रष्टव्य है—

''आवृत्तानां गुरुकुलाद् विप्राणां पूजको: भवेत्'' ७.८२।

(घ) अन्यत्र भी राजा द्वारा विद्वानों को अभिवादन आदि से सम्मान दिये जाने का निर्देश है—

''राजस्नातकयो: चैव स्नातको नृपमानभाक्''। २.११४ (१३९)

अब प्रश्न उठता है कि प्रात:काल राजा के समीप अभिवादनीय विद्वान् कौन हो सकते हैं ? उत्तर है—ऋत्विज्, वेदविद्या आदि के प्रदाता विद्वान् जिनसे राजा को मनु ने दैनिक अग्निहोत्र आदि कराने का तथा विद्या ग्रहण करने का विधान किया है [७.४३, ७८ आदि]। इस प्रकार इस भाष्य में किया गया श्लोकार्थ मनुसंगत है। [द्रष्टव्य ७.४३, ७८ की समीक्षा भी।]

(२) **राजा की सामान्य दिनचर्या**—इस श्लोक से लेकर ७.२२५ तक मनु ने राजा की सामान्य दिनचर्या का दिग्दर्शन कराया है। थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ ऐसी ही दिनचर्या कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में प्रदर्शित की है। इसमें राजा सुविधा व देश-काल आदि के अनुसार परिवर्तन भी कर सकता है। तुलनात्मक रूप में दिनचर्या की तालिका अगले पृष्ठ पर है—

सभा में जाकर प्रजा के कष्टों को सुने—

तत्र स्थित: प्रजा: सर्वा: प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्।
विसृज्य च प्रजा: सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभि: ॥ १४६ ॥

(११३)

(**तत्र**) उस [१४५ में वर्णित] राजसभा में जाकर

(**स्थितः**) बैठकर या खड़े होकर (**सर्वाः प्रजाः प्रतिनन्द्य**) वहाँ आई हुई सब प्रजाओं की समस्याओं, कष्टों का सन्तुष्टिकारक समाधान कर उन्हें प्रसन्न करके (**विसर्जयेत्**) भेज दे (**च**) और (**सर्वाः प्रजाः विसृज्य**) सब प्रजाओं को विसर्जित करने के बाद (**मन्त्रिभिः सह मन्त्रयेत्**) मन्त्रियों [७.४५] के साथ गुप्त विषयों और षड्गुणों आदि पर [७.१५२-२१६] पर विचार-विमर्श करे॥ १४६ ॥

राज्यसम्बन्धी मन्त्रणाओं के वैकल्पिक स्थान—

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः॥ १४७॥
(११४)

राजा (**गिरिपृष्ठं समारुह्य**) किसी पर्वतशिखर पर जाकर (**वा**) अथवा (**प्रासादं रहोगतः**) महल के किसी एकान्त कक्ष में बैठकर (**वा**) अथवा (**निःशलाके अरण्ये**) पूर्णतः निर्जन एकान्त स्थान में जाकर (**अविभावितः मन्त्रयेत्**) किसी की भी जानकारी में न आये, इस प्रकार राज्यविषयक गुप्त मन्त्रणा मन्त्रियों के साथ करे॥ १४७॥

अनुशीलन—(१) **'निःशलाके अरण्ये' का अभिप्राय**—यहाँ 'निःशलाके अरण्ये' का प्रयोग लाक्षणिक या मुहावरे के रूप में किया गया है, जिसका अभिप्राय है—ऐसा स्थान जहां तिनके के सदृश छोटे से छोटे प्राणी की या गुप्तमन्त्रणाभेदक वस्तु की उपस्थिति की सम्भावना न हो।

(२) **मन्त्रणास्थल के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार**—आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में निःशलाकापन के भाव को प्रकारान्तर से सकारण व्यक्त करते हुए मन्त्रणास्थल के विषय में लिखा है—

''तदुद्देशः संवृतः कथानामनिःस्रावी पक्षिभिरप्यनालोक्यः स्यात्। श्रूयते हि शुकसारिकाभिर्मन्त्रो भिन्नः श्वभिरन्यैश्च तिर्यग्योनिभिः।'' (प्र० २०.१४)

=मन्त्रणास्थल अत्यन्त सुरक्षित और गोपनीय होना चाहिए। ऐसा जहाँ पक्षी तक भी न झांक सके (फिर

मनुष्यों का तो प्रश्न ही नहीं)। क्योंकि, सुना जाता है कि पुराकाल में किसी राजा की गुप्त मन्त्रणा को तोता और मैना ने बाहर प्रकट कर दिया था। इसी प्रकार कुत्तों तथा अन्य पशु-पक्षियों के विषय में भी सुना जाता है।

मन्त्रणा की गोपनीयता का महत्त्व—

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग् जनाः।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः॥ १४८॥(११५)

(**पृथक् जनाः समागम्य**) विरोधी पक्ष के गुप्तचर जन राजा के मन्त्रियों, अधिकारियों आदि से सांठगांठ करके (**यस्य मन्त्रं न जानन्ति**) जिस राजा की गुप्त मन्त्रणा और गुप्त योजनाओं को नहीं जान पाते हैं (**सः पार्थिवः**) वह राजा (**कोशहीनः+अपि**) खजाने में पर्याप्त धन न होते हुए भी (**कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते**) सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य का संचालन करने में समर्थ होता है॥ १४८॥

अनुशीलन—(१) **मन्त्र शब्द का राजनीतिपरक अर्थ**—'मन्त्र' शब्द के अर्थ पर यहाँ विशेष विचार अपेक्षित है। राजनीति के प्रसंग में 'मन्त्र' गोपनीय विचार-विमर्श को कहा जाता है। जिसमें गुप्त बातों पर रहस्यमय विचार किया जाये, वह मन्त्रणा कहलाती है। मन्त्र शब्द 'मत्रि गुप्तपरिभाषणे'=गुप्त विचार करना अर्थ में, इस धातु से घञ् प्रत्यय के योग से सिद्ध हुआ है। निरुक्त में **'मन्त्राः—मननात्'** कहकर निरुक्ति दी है। मनन करने के कारण राजनीति के रहस्यों को और वेद-मन्त्रों को मन्त्र कहते हैं।

(२) **''कोशहीनोऽपि पार्थिवः''** का प्रयोग मुहावरे के रूप में हुआ है। इसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति ७.३३ में द्रष्टव्य है।

धर्म, काम, अर्थ-सम्बन्धी बातों पर चिन्तन करे—

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा॥ १५१॥ (११६)

(**मध्यंदिने**) दोपहर के समय (**वा**) अथवा

(**अर्धरात्रे**) रात्रि के समय (**विश्रान्तः विगतक्लमः**) विश्राम करके थकान-आलस्य रहित होकर स्वस्थ व प्रसन्न शरीर और मन से (**धर्म-काम-अर्थान्**) धर्म, काम और अर्थ-सम्बन्धी बातों को (**तैः सार्धम्**) उन मन्त्रियों के साथ मिलकर [७.५४, ५६] (**वा**) अथवा परिस्थिति विशेष में (**एक एव**) अकेले ही (**चिन्तयेत्**) विचारे। [चिन्तयेत् क्रिया की अनुवृत्ति १५८ तक चलती है ॥ १५१ ॥

अनुशीलन—(१) **राजा द्वारा धर्म-काम-अर्थ पर चिन्तन**—राजा को प्रसन्न मन से धर्म-काम-अर्थ-सम्बन्धी बातों पर देश-काल-कार्य को देखकर अकेले अथवा अन्य मन्त्रियों के साथ प्रतिदिन विचार करना चाहिए। कौटिल्य ने भी कहा—

''**देश-काल-कार्यवशेन त्वेकेन सह, द्वाभ्याम्, एको वा यथासामर्थ्यं मन्त्रयेत।**'' (प्र० १०, अ० १४)

(२) धर्म, काम, अर्थ के स्वरूप पर विस्तृत विवेचन ७.२६ पर द्रष्टव्य है।

(३) 'अर्ध' शब्द का यहाँ 'एक भाग' अर्थ में प्रयोग है। सम्प्रविभाग अर्थ में नहीं। जैसे 'नगरार्ध' का 'नगर का एक भाग' अर्थ है। उसी प्रकार यहाँ 'रात्रि के किसी भाग में' अर्थ है।

धर्म, अर्थ, काम में विरोध को दूर करे—

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्।
कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥ १५२ ॥
(११७)

(**च**) और (**तेषां परस्परविरुद्धानां समुपार्जनम्**) उस धर्म-अर्थ-काम में कहीं परस्पर विरोध आ पड़ने पर उसे दूर करना और उनमें अभिवृद्धि करना (**च**) और (**कन्यानां कुमाराणां सम्प्रदानं च रक्षणम्**) कन्याओं और कुमारों को गुरुकुलों में भेजकर शिक्षा दिलाना, उनकी सुरक्षा तथा विवाह आदि की नियम व्यवस्था करे। अर्थान्तर में—राजा अपनी कन्याओं के विवाह और राजकुमारों के पालन-पोषण, संरक्षण पर

विचार करे॥ १५२॥[1]

ऋषि अर्थ—''राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें। किन्तु आचार्यकुल में रहते हैं जब तक समावर्त्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावें।''

(स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—**प्रचलित अर्थ**—''कन्या के दान का और अपने पुत्रों की राजनीति, विनयी बनाना आदि की शिक्षा का चिन्तन करे।'' यह अर्थ प्रकरणविरुद्ध और पूर्वापर प्रसंगविरुद्ध किया जा रहा है। यह ध्यातव्य है कि ७.३६ श्लोक से यहाँ प्रकरण है अमात्यों, सभासदों, भृत्यों सहित राष्ट्रिय कर्त्तव्यों का। पूर्वापर श्लोकों में भी राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का वर्णन है, अत: इस श्लोक में राजा की केवल अपनी ही सन्तानों का दान, शिक्षा आदि का कथन अप्रासंगिक एवं संकीर्ण है। बालक-बालिकाओं की शिक्षा व्यवस्था करना, उनके विवाह आदि के नियम निर्धारित करना राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाएँ हैं। यहाँ उन्हीं धर्मों के पालन का निर्देश है। अपनी सन्तानों विषयक अर्थ करने पर प्रश्न उठेगा कि यह प्रतिदिन चिन्तन का और मन्त्रियों के साथ चिन्तन का कार्य वैसे हो सकता है ? अत: इस भाष्य का प्रथम अर्थ ही ग्राह्य है।

दूतसम्प्रेषण और गुप्तचरों के आचरण पर दृष्टि—

दूतसम्प्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम्॥ १५३॥

(११८)

(**च**) और (**दूतसम्प्रेषणम्**) दूतों को इधर-उधर

---

१. **प्रचलित अर्थ**—''प्रायश: परस्परविरुद्ध धर्म, अर्थ और काम में से विरोध को बचाता हुआ राजा उनकी प्राप्ति के उपाय का अपने धर्म की वृद्धि के लिए कन्या के दान का और अपने पुत्रों की राजनीति, विनयी बनाना आदि की शिक्षा का चिन्तन करे''॥ १५२॥

भेजने का प्रबन्ध करे (**तथैव कार्यशेषम्**) उसी प्रकार अन्य शेष रहे कार्यों को विचार कर पूर्ण करे (**च**) तथा (**अन्तःपुर-प्रचारम्**) अन्तःपुर=महल के आन्तरिक आचरणों-गतिविधियों एवं स्थितियों की (**च**) और (**प्रणिधीनां चेष्टितम्**) नियुक्त गुप्तचरों के आचरणों एवं गतिविधियों की भी जानकारी रखे और यथावश्यक विचार करे॥ १५३॥

अष्टविध कर्म आदि पर चिन्तन—

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च॥ १५४॥
(११९)

(**च**) और (**कृत्स्नम् अष्टविधं कर्म**) सम्पूर्ण अष्टविध कर्म (**च**) तथा (**पञ्चवर्गम्**) पञ्चवर्ग की व्यवस्था (**अनुरागौ**) अनुराग=किस राजा आदि का प्रेम और किसका अपराग=विरोध है (**च**) तथा (**मण्डलस्य प्रचारम्**) प्रकृति मण्डल की गतिविधि एवं आचरण [७.१५५-१५७ में वक्ष्यमाण] (**तत्त्वतः**) इन बातों पर ठीक-ठीक चिन्तन करे और तदनुसार उपाय करे॥ १५४॥

अनुशीलन—(१) **अष्टविध कर्मों के विवाद का समाधान**—मनु ने इस श्लोक में राजा के अष्टविध कर्मों की गणना न करके केवल '**'कृत्स्नं च अष्टविधं कर्म**' कहकर संकेतमात्र दिया है। भाष्यकारों ने इसकी व्याख्या में अपने-अपने मत देकर राजा के अष्टविध कर्म गिनाये हैं। इन कर्मों में मतभेद होने से यह बात विवादास्पद-सी बन गयी है और परवर्ती व्याख्याकार केवल अपने से पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के मत देकर इस श्लोक की व्याख्या करके आगे चल देते हैं।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि श्लोक ७.१४५-२२६ तक मनु ने राजा की दिनचर्या के अन्तर्गत गुप्तमन्त्रणा या मन्त्रिपरिषद् से मन्त्रणा करने योग्य विषयों का उल्लेख किया है [७.१४७-२१५]। इस प्रसंग में कुछ बातें स्पष्टतः कर दी हैं, इस श्लोक में केवल संख्या का उल्लेख कर दिया है। इसका अर्थ करते समय हम दो बातों पर ध्यान

देंगे—(१) मन्त्रणा में परिगणित बातों से भिन्न अष्टविध बातें होनी चाहिएं, क्योंकि एक ही स्थान पर पुनरुक्ति का होना बुद्धिसंगत नहीं। (२) 'कृत्स्नम्' विशेषण अपना विशेष अर्थ देकर यह संकेत करता है कि ये अष्टविध कर्म राजा के समग्र कर्त्तव्य हैं। इनके आधार पर मनन से मनुस्मृति में ही अष्टविध कर्मों का उल्लेख पाया जाता है।

७.३६ से १४४ तक श्लोक में मनु ने 'भृत्यों सहित राजा के समग्र कर्त्तव्यों' का वर्णन किया है। दूसरे शब्दों में निष्कर्ष रूप में वह राजा की जीवनचर्या है; अतः कहा जा सकता है कि वही राजा के सम्पूर्ण अष्टविध कर्म हैं। जीवनचर्या के प्रसंग में पहले परिगणित होने के कारण यहाँ दिनचर्या के प्रसंग में उनका परिगणन नहीं किया। इस प्रकार राजा के अष्टविध कर्मों को मनुस्मृति से बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं रहती। वे निम्न प्रकार हैं—

(क) **मनुप्रोक्त राजा के अष्टविध कर्म**—(१) आचार्य ऋत्विक् आदि वेदों के विद्वानों की संगति और उनसे शिक्षा-ग्रहण [७.३७, ३९, ४३], (२) इन्द्रियजय और उससे व्यसनों से बचाव [७.४४-५३], (३) मन्त्रियों, अमात्यों, दूतों, अध्यक्षों आदि की नियुक्ति और उनसे कार्य-सम्पादन [७.५४-६८], (४) दुर्गनिर्माण [७.६९-७७], (५) युद्ध के लिए प्रशिक्षित तथा सन्नद्ध रहना [७.८७-१०६], (६) अपराधियों आदि को न्यायपूर्वक दण्डित करना और इस प्रकार प्रजा को शान्ति, समृद्धि, सुरक्षा प्रदान करना [७.१०७-१२४], (७) वेतन आदि देना [७.१२५-१२६], (८) करसंग्रह [७.१२७-१४२]।

(ख) 'उशनस् स्मृति' में राजा के अष्टविध कर्म ये गिनाये हैं—

''आदाने च विसर्गे च तथा प्रैषनिषेधयोः।
पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे॥
दण्डशुद्ध्योस्तथा युक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः।''

अर्थात्—राजा के अष्टविध कर्म ये हैं—१. आदान= करों का लेना, २. विसर्ग=कर्मचारियों को वेतन देना, ३. प्रेष=मन्त्री, राजदूत आदि को कार्यों पर भेजना, ४. निषेध=विरुद्ध कार्यों को न करना, ५. अर्थवचन=राजाज्ञा

का पालन कराना, ६. व्यवहार का देखना—मुकद्दमों को निपटाना, ७. दण्ड=दण्ड देना, ८. शुद्धि—पापियों-अपराधियों को प्रायश्चित्त आदि से सुधारना।

(ग) मेधातिथि ने अष्टविध कर्म निम्न माने हैं—

१. नहीं किये कार्य का आरम्भ, २. आरम्भ किये कार्यों की समाप्ति, ३. पूर्ण किये कार्य का प्रसार, ४. कर्म के फलों का संग्रह करना, ५. साम, ६. दान, ७. दण्ड, ८. भेद। अथवा—१. व्यापार का मार्ग, २. जल में सेतु बांधना, ३. दुर्ग बनाना, ४. किये हुए कार्य के संस्कारों का निर्णय, ५. हाथी पकड़ना, ६. खानों की प्राप्ति करना, ७. शून्यस्थान में प्रवेश, ८. काष्ठ के वनों को कटवाना।

(२) **'पञ्चवर्ग' से अभिप्राय**—(क) अर्थशास्त्र में आचार्य कौटिल्य ने मन्त्रणा के प्रसंग में 'पञ्चाङ्गमन्त्र' के नाम से पांच विचारणीय बातों का उल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि इस प्रसंग में परम्परा से प्रचलित यही व्याख्यान पञ्चवर्ग से अभीष्ट है। यहाँ मनु ने भी मन्त्रणा प्रसंग में ही पञ्चवर्ग का उल्लेख किया है। पञ्चांग ये हैं—(१) कार्यों को आरम्भ करने का उपाय, (२) पुरुष और द्रव्यसम्पत्ति, (३) देश-काल का विभाग, (४) विघ्नों का प्रतीकार करना, (५) कार्यसिद्ध, [''**कर्मणामारम्भोपायः, पुरुष-द्रव्यसम्पत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिः-इति पञ्चाङ्गो मन्त्रः**'' प्रक० १०, अ० १४]।

(ख) कुल्लूकभट्ट ने पांच प्रकार के गुप्तचरों की व्यवस्था को 'पञ्चवर्ग' कहा है, किन्तु इस मान्यता में एक-दो आपत्तियाँ आती है—(१) १५३वें श्लोक में समग्र रूप में गुप्तचरों के कार्यों की व्यवस्था का कथन हो चुका है, (२) परम्परागत रूप में शास्त्रों में केवल पांच ही नहीं, अपितु प्रमुख गुप्तचरों के अन्य वर्ग भी हैं। अतः कौटिल्यप्रोक्त 'पंचांग' इस प्रसंग में अधिक संगत लगता है। कुल्लूक द्वारा वर्णित पांच प्रकार के गुप्तचर निम्न हैं—

१. कापटिक (छल, कपट के व्यवहार से भेदों को जानने वाला), २. उदास्थित (संन्यासी या साधु के वेश में महान् व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध करके बैठाना और इस प्रकार गुप्त भेदों की जानकारी देने वाला), ३. कृषक (नकली किसान बनकर गुप्तचरी करने वाला), ४.

वाणिजक (नकली व्यापारी के रूप वाला), ५ तापस व्यंजक (नकली तपस्वी के रूप वाला)।

(३) **अनुराग और अपराग**—अपनी और शत्रुराजा की प्रजाओं में तथा अन्य राजाओं में अनुराग=कौन राजा से स्नेह रखनेवाला है, और कौन अपराग=द्वेष रखने वाला है; इन पर विचार करना। इन्हीं दो तत्त्वों को कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में [प्रक० ८-९] कृत्य और अकृत्य पक्ष के रूप में वर्णित किया है। कृत्य जिनको किसी लालचवश राजा से तोड़ा-फोड़ा जा सके अर्थात् असन्तुष्ट, अपरागी। ये प्रमुखरूप से क्रुद्ध, लुब्ध, भीत और अवमानित चार प्रकार के होते हैं [देखिए ७.६७ की समीक्षा]। अकृत्य= जिनको फोड़ा न जा सके, सन्तुष्ट प्रजाजन, अनुरागी। स्वप्रजाजनों और शत्रुप्रजाजनों की भांति अन्य राजाओं के स्नेह और द्वेष पर भी राजा विचार करे।

(४) **मण्डल**—१५५ से १५७ श्लोकों में वर्णित प्रकृतियों को 'मण्डल' कहा जाता है। राजा इन सबकी गतिविधियों, स्थितियों, आचरणों पर गम्भीर रूप से विचार करे। अर्थशास्त्र [प्र० ९७, अ०२] में आचार्य कौटिल्य ने इन बहत्तर प्रकृतियों के मण्डल को चार प्रकृतिमण्डलों में बांटा है। उसका विवरण श्लोक १५७ पर अनुशीलन में दिया है।

राज्यमण्डल की विचारणीय चार मूल प्रकृतियाँ—

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः॥ १५५॥
(१२०)

(**च**) और (**मध्यमस्य प्रचारम्**) '**मध्यम**' राजा के आचरण और गतिविधि तथा (**विजिगीषोः चेष्टितम्**) '**विजिगीषु**' राजा के प्रयत्नों का (**च**) तथा (**उदासीनप्रचारम्**) '**उदासीन**' राजा की स्थिति-गतिविधि [७.१५८] का (**च शत्रोः एव**) शत्रु [७.१५८] राजा के आचरण एवं स्थिति गतिविधि आदि की भी (**प्रयत्नतः**) प्रयत्नपूर्वक जानकारी रखे अर्थात् जानकर विचार करके तदनुसार प्रयत्न भी करे= आचरण में लाये॥ १५५॥

अनुशीलन—मध्यम आदि चार मूल प्रकृति राजाओं के लक्षण—आचार्य कौटिल्य ने '**मण्डल**' की प्रकृतियों की व्याख्या अपने अर्थशास्त्र [प्र० ९७] में करते हुए इन राजाओं के निम्न लक्षण बतलाये हैं—

(१) **मध्यम**—''**अरिविजिगीष्वोर्भूम्यनन्तर-संहतासंहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयोर्मध्यमः।**''= अरि और विजिगीषु राजाओं से भिन्न वह राजा जो उनकी सन्धि में सन्धि का समर्थक रहे और उनके विग्रह में विग्रह का समर्थक रहे, वह '**मध्यम**' कहलाता है।

(२) **विजिगीषु**—''**राजा आत्मद्रव्यप्रकृति-सम्पन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुः।**''=जो राजा आत्म-सम्पन्न हो, अमात्य आदि द्रव्यप्रकृतियों से सम्पन्न [७.१५७] हो, नीति का आश्रय लेने वाला हो, राज्य-विस्तार और विजय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला ऐसा राजा '**विजिगीषु**' कहाता है।

(३) **उदासीन**—''**अरिविजिगीषुमध्यानां बहिः प्रकृतिभ्यो बलवत्तरः संहतासंहतानामरिविजिगीषु-मध्यमानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे चासंहतानाम्, उदासीनः।**''=अरि, विजिगीषु और मध्यम इनसे भिन्न राजा, जो शक्तिशाली मध्यम राजा से भी बलवान् हो, तथा अरि, विजिगीषु और मध्यम की सन्धि का समर्थक एवं उन तीनों के विग्रह में विग्रह का समर्थक 'उदासीन' आचरण वाला राजा कहलाता है। मनु के अनुसार विजिगीषु और शत्रु से परला=बाद की सीमा वाला राजा '**उदासीन**' है [७.१५८]।

(४) **शत्रु**—मनु के अनुसार विजिगीषु राजा की सीमा से लगता हुआ [**अनन्तरमरिं विद्यात्** ७.१५८] राजा शत्रु होता है। कौटिल्य शत्रुओं के भेदोपभेद प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं—''**भूम्यनन्तरः प्रकृत्यमित्रः तुल्याभिजनः सहजः। विरुद्धो विरोधयिता वा कृत्रिमः।**'' विजिगीषु राजा की सीमा से लगा हुआ राजा और विजिगीषु के वंश में उत्पन्न समान दायभाग चाहने वाला राजा, ये दोनों 'सहजशत्रु' हैं। किसी कारण से विरोधी हो जाने वाला या किसी दूसरे को विरोधी बना देने वाला 'कृत्रिम शत्रु' कहलाता है।

राज्यमण्डल की विचारणीय आठ अन्य मूलप्रकृतियाँ—

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः॥
१५६॥(१२१)

(**समासतः**) संक्षेप में (**एताः मण्डलस्य मूलं प्रकृतयः**) ये चार [मध्यम राजा, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु राजा राज्यमण्डल की चार मूल प्रकृतियाँ= मूलरूप से विचारणीय स्थितियाँ या विषय हैं (**च**) और (**अष्टौ अन्याः समाख्याताः**) आठ मूल प्रकृतियां और कही गई हैं (**ताः तु द्वादश एव स्मृताः**) इस प्रकार वे कुल मिलाकर [४+८=१२] बारह होती हैं॥ १५६॥

अनुशीलन—शेष आठ मूलप्रकृतिरूप राजाओं के लक्षण—'मण्डल' में मूलप्रकृतियाँ बारह हैं। इनमें से चार—मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु नामक प्रकृतियों का वर्णन १५५वें श्लोक में हो चुका है। शेष आठ प्रकृति और हैं जिनकी गणना शायद अति प्रसिद्धि के कारण मनु ने इस श्लोक में नहीं की है। कौटिल्य ने मनु के क्रम और विधानानुसार इन पर अपने अर्थशास्त्र में प्रकाश डाला है। उनके अनुसार आठ प्रकृति निम्न हैं—

मित्रराजा—मनु के अनुसार शत्रु राजा की सीमा से लगता हुआ उसके बाद वाला विजीगीषु का 'मित्र' होता है [''**अरेरनन्तरं मित्रम्** ७.१५८'']। कौटिल्य ने भी यही कहा है—''**भूम्येकान्तरा मित्रप्रकृतिः।**'' [प्रक० ९७, अ० २]। (२) शत्रु का मित्र राजा, (३) मित्र का मित्र राजा, (४) शत्रुमित्र का भी मित्र राजा (५) पार्ष्णिग्रहण (वह पृष्ठवर्ती राजा जो विजिगीषु द्वारा कहीं आक्रमण के लिए अपने राज्य से जाने के बाद पीछे से उसके राज्य पर आक्रमण कर देता है), (६) आक्रन्द (जो अपने मित्र राजा के युद्धयात्रा पर जाने पर पीछे से उसके राज्य पर आक्रमण करने वाले राजा को किसी की सहायता करने से रोकता है, या जिस आक्रान्ता की राजधानी अपने राज्य के निकट लगती हो), (७) पार्ष्णिग्राहासार ('पार्ष्णिग्राह' को घेरकर रखने वाला या उस पर आक्रमण करने वाला राजा), (८) आक्रन्दासार—'आक्रन्द' राजा को घेरकर रखने वाला या उसपर आक्रमण करने वाला राजा। इन

सभी राजाओं तथा इनकी स्थितियों पर राजा को हर समय ध्यान रखना चाहिए।

आचार्य कौटिल्य ने इनकी गणना निम्न प्रकार की है—

''**तस्मात् मित्रम्, अरिमित्रम्, मित्रमित्रम्, अरिमित्र-मित्रम्, चानन्तर्येण भूमीनां प्रसज्यते पुरस्तात्। पश्चात् पार्ष्णिग्राहः, आक्रन्दः, पार्ष्णिग्राहासारः, आक्रन्दासारः, इति।**'' (प्रक० ९७। अ० २)

राज्यमण्डल की प्रकृतियों के बहत्तर भेद—

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः॥१५७॥
(१२२)

(**अमात्य-राष्ट्र-दुर्ग-अर्थ-दण्ड-आख्याः**) मन्त्री, राष्ट्र, किला, कोष, दण्ड नामक (**अपराः पञ्च**) और पाँच प्रकृतियाँ है [९.२९४-२९७] (**प्रत्येकं कथिता हि एताः**) पूर्वोक्त [१५५-१५६] बारह प्रकृतियों के साथ ये मिलकर अर्थात् पूर्वोक्त प्रत्येक बारहों प्रकृतियों के पांच-पांच भेद होकर इस प्रकार (**संक्षेपेण द्विसप्ततिः**) संक्षेप से कुल ७२ प्रकृतियां [=विचारणीय स्थितियां या विषय] हो जाती हैं। १२ पूर्व में १५६वें श्लोक में वर्णित और उन १२ के ५-५ भेद से ६० इस प्रकार १२×५=६०+१२=७२ हैं॥१५७॥

अनुशीलन—बहत्तर प्रकृतियां—इन श्लोकों के अनुसार बारह मूलप्रकृतियां हैं—१. विजिगीषु, २. मध्यम, ३. उदासीन, ४. शत्रु, ५. मित्रराजा, ६. मित्र का मित्रराजा, ७. शत्रु का मित्रराजा, ८. शत्रु के मित्र का मित्रराजा, ९. पार्ष्णिग्राह, १०. आक्रन्द, ११. पार्ष्णिग्राहासार, १२. आक्रन्दासार। पांच द्रव्य प्रकृतियां—१. मन्त्री, २. राष्ट्र, ३. किला, ४. कोष, ५. दण्ड हैं। एक-एक मूल प्रकृति के पांच प्रकृतियों के साथ मिलकर पांच भेद हो जाते हैं अर्थात् एक मूलप्रकृति और पांच उसके भेद इस प्रकार एक मूलप्रकृति के छः भेद हुए। यथा, प्रथम मूलप्रकृति 'विजिगीषु' है। उसके छह भेद बनेंगे—१. विजिगीषु

राजा, २. विजिगीषु मन्त्री, ३. विजिगीषु राष्ट्र, ४. विजिगीषु किला, ५. विजिगीषु कोष, ६. विजिगीषु दण्ड। इस प्रकार मिलकर अन्य मूल प्रकृतियों के भेद बनेंगे। इस प्रकार बारह प्रकृतियों के १२×६=७२ बहत्तर भेद होते हैं। कौटिल्य ने मूलप्रकृतियों में तीन-तीन का एक वर्ग बनाकर उनके साथ पांच प्रकृतियों को मिलाकर ३×५=१५+३=१८ का एक प्रकृति-मण्डल माना है। इस प्रकार चार प्रकृतिमण्डल का एक 'मण्डल' वर्णित किया है। [अर्थशास्त्र प्रक० ९७]।

इस प्रकार राजा प्रत्येक मूलप्रकृति पर और फिर उनकी प्रत्येक द्रव्यप्रकृति (अमात्य और पांच) पर पूर्ण ज्ञान सहित विचार करे। विचार करके यथोचित उपाय करे और विघ्न आदि को दूर करे। पुनः विजयार्थ यात्रा करे।

शत्रु, मित्र और उदासीन की परिभाषा—

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम्॥ १५८॥
(१२३)

(**अनन्तरम्**) अपने राज्य के समीपवर्ती राजा को (**च**) और (**अरिसेविनम्**) शत्रुराजा की सेवा-सहायता करने वाले राजा को (**अरिं अविद्यात्**) 'शत्रु' राजा समझे (**अरेः+अनन्तरं मित्रम्**) अरि से भिन्न अर्थात् शत्रु से विपरीत आचरण करने वाले अर्थात् सेवा-सहायता करने वाले राजा को और शत्रुराजा की सीमा से लगे उसके समीपवर्ती राजा को मित्र राजा माने (**तयोः परम्**) इन दोनों से भिन्न किसी भी राजा को (**उदासीनम्**) जो न सहायता करे न विरोध करे, उसे 'उदासीन' राजा (**विद्यात्**) समझना चाहिए॥ १५८॥

तान् सर्वानभिसन्दध्यात् सामादिभिरुपक्रमैः।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च॥ १५९॥
(१२४)

(**तान् सर्वान्**) उन सब प्रकार के राजाओं को (**साम+आदिभिः+उपक्रमैः**) 'साम' आदि [साम,

दान, भेद, दण्ड] उपायों से (**व्यस्तैः**) एक-एक उपाय से (**च**) अथवा (**समस्तैः**) सब उपायों का एक साथ प्रयोग करके (**पौरुषेण**) पराक्रम से (**च**) तथा (**नयेन**) नीति से (**अभिसन्दध्यात्**) वश में रखे॥ १५९॥

सन्धि, विग्रह आदि युद्धविषयक षड्गुणों का वर्णन—

सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा॥ १६०॥
(१२५)

(**सन्धिम्**) सन्धि (**विग्रहं यानम् आसनं द्वैधीभावं च संश्रयं**) विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय इन (**षड्गुणान् एव**) युद्धविषयक छह गुणों का भी (**सदा चिन्तयेत्**) राजा सदा विचार-मनन करे॥ १६०॥

अनुशीलन—षड्गुणों की व्याख्या—(१) सुखपूर्वक रहने के लिए शत्रुराजा से कुछ ले देकर मिलाप कर लेना या किसी राजा से मिलकर आक्रमण करने के लिए तैयार कर लेना 'सन्धि' है। (२) युद्ध, विरोध, तोड़फोड़ आदि पैदा करना 'विग्रह' है। (३) युद्ध के लिए क्षीणता के कारण शत्रु राजाओं से छेड़छाड़ किये बिना चुपचाप भावी आक्रमण की ताक में अपने राज्य में बैठे रहना 'आसन' है। (५) अपनी विजय के लिए अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर देना या शत्रु-सेना में विभाजन कर देना 'द्वैधीभाव' है। (६) किसी बलवान् राजा का आश्रय ग्रहण कर लेना 'संश्रय' है।

आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च॥ १६१॥
(१२६)

राजा (**आसनम्**) बिना युद्ध के अपने राज्य में शान्त बैठे रहना अथवा युद्ध के अवसर पर शत्रु को घेरकर बैठ जाना, (**च**) और (**यानम्**) शत्रु पर आक्रमण करने के लिए जाना, (**च**) तथा (**सन्धिम्**) शत्रुराजा अथवा किसी अन्य राजा से मेल करना, (**च**) और (**विग्रहम्**) शत्रुराजा से युद्ध करना, (**द्वैधम्**) युद्ध

के समय सेना के दो विभाग करके आक्रमण करना, (**संश्रयम्**) निर्बल अवस्था में किसी बलवान् राजा या पुरुष का आश्रय लेना, युद्ध विषयक इन षड्गुणों को (**कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत**) कार्यसिद्धि को देखकर प्रयुक्त करना चाहिए॥ १६१ ॥

ऋषि अर्थ—''सब राजादि राजपुरुषों को यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है जो आसन=स्थिरता यान=शत्रु से लड़ने के लिए जाना सन्धि=उनसे मेल कर लेना दुष्ट शत्रुओं से लड़ाई करना द्वैध=दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना और संश्रय =निर्बलता में दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लेना, ये छः प्रकार के कर्म (**कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत**) यथायोग्य कार्य को विचारकर उसमें युक्त करना चाहिए।''

(स०प्र०, समु० ६)

सन्धि और उसके भेद—

सन्धिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥ १६२॥
(१२७)

(**सन्धिं तु विग्रहम्+एव द्विविधम्**) सन्धि और विग्रह के दो-दो भेद होते हैं (**च**) और (**यान+आसने उभे एव**) यान और आसन के भी दो-दो भेद होते हैं (**च**) तथा (**संश्रयः द्विविधः स्मृतः**) संश्रय भी दो प्रकार का माना है, (**राजा विद्यात्**) राजा भेदों सहित इन षड्गुणों को भलीभांति जाने॥ १६२ ॥

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तदात्वायतिसंयुक्तः सन्धिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः॥ १६३॥
(१२८)

(**तदात्व+आयतिसंयुक्तः**) तात्कालिक फल देने वाली और भविष्य में भी फल देने वाली (**सन्धिः**) [७.१६९] (**द्विलक्षणः ज्ञेयः**) दो प्रकार की समझनी चाहिए—१. (**समानयानकर्मा**) शत्रु राजा पर आक्रमण करने के लिए किसी अन्य राजा से मेल करना, (**तथैव**) उसी प्रकार २. (**विपरीतः**) पहले से

विपरीत अर्थात् असमानयानकर्मा=सन्धि किये हुए साथी राजाओं द्वारा शत्रु राजा पर पृथक् पृथक् आक्रमण करने के लिए मेल करना, अथवा शत्रुराजा पर आक्रमण न करके उससे कोई समझौता कर लेना [यह अपनी बल-स्थिति को देखकर उचित अवसर तक होता है ७.१६९] ॥ १६३ ॥[1]

अनुशीलन—इस श्लोक में किया हुआ 'विपरीत' का अर्थ अधिक मनुसम्मत है, जो ७.१६९ से सिद्ध होता है। प्रचलित टीकाओं में किया गया अर्थ 'सन्धि' ही नहीं कहला सकता। अपनी निर्बल स्थिति में युद्ध को टालने के लिए मुख्य सन्धि शत्रुराजा से ही की जाती है।

विग्रह और उसके भेद—

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥ १६४॥
(१२९)

(**विग्रहः द्विविधः स्मृतः**) विग्रह=कलह, युद्ध [७.१७०] दो प्रकार का होता है—(**काले**) चाहे युद्ध के लिए निश्चित किये समय में (**वा**) अथवा (**अकाले एव**) अनिश्चित किसी भी समय में (**कार्यार्थम्**) १. कार्य की सिद्धि के लिए (**स्वयं-कृतः**) किसी राजा से स्वयं किया गया विग्रह (**च**) और (**मित्रस्य अपकृते**) २. किसी राजा के द्वारा मित्रराजा पर आक्रमण करने या हानि पहुंचाने पर मित्रराजा की रक्षा के लिए उसके शत्रुराजा से किया गया विग्रह ॥ १६४ ॥

---

१. **प्रचलित अर्थ**—''सन्धि के दो भेद हैं—(१) समान-यानकर्मा सन्धि और (२) असमानयानकर्मा सन्धि। तात्कालिक या भविष्य के लाभ की इच्छा से किसी दूसरे राजा से मिलकर यान (शत्रु पर चढ़ाई) करना 'समानधर्मा' नामक सन्धि है। तथा (२) तात्कालिक या भविष्य से लाभ की इच्छा से किसी राजा से 'आप इधर जाइये, मैं इधर जाता हूँ' ऐसा कहकर पृथक्-पृथक् यान (शत्रु पर चढ़ाई) करना 'असमानधर्मा' नामक सन्धि है'' ॥ १६३ ॥

यान और उसके भेद—

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते॥ १६५॥
(१३०)

(**आत्ययिके कार्ये प्राप्ते**) युद्ध की अपरिहार्य परिस्थिति उत्पन्न होने पर (**च**) और (**यदृच्छया**) युद्ध करने की अपनी इच्छा होने पर [७.१७१] (**एकाकिनः**) अकेले ही (**च**) अथवा (**मित्रेण संहतस्य**) किसी मित्रराजा के साथ मिलकर युद्ध के लिए जाना (**द्विविधं यानम्+उच्यते**) ये दो प्रकार का '**यान**'= युद्धार्थ गमन करना, कहाता है॥ १६५॥

आसन और उसके भेद—

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम्॥ १६६॥
(१३१)

(**पूर्वकृतेन दैवात् क्रमशः क्षीणस्य एव**) इस जन्म या पूर्व जन्म में कृत कार्यों या कर्मों के फल के कारण शत्रु की अपेक्षा से क्षीण स्थिति होने के कारण (**च**) अथवा (**मित्रस्य अनुरोधेन**) मित्र राज्य के आग्रह के कारण युद्ध न करके अपने राज्य में शान्त बैठे रहना [७.१७१] (**आसनं द्विविधं स्मृतम्**) यह '**आसन**' दो प्रकार का माना है॥ १६६॥

द्वैधीभाव और उसके भेद—

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः॥ १६७॥
(१३२)

(**षाड्गुण्य-गुणवेदिभिः**) षड्गुणों के महत्त्व को जानने वालों ने (**द्वैधं द्विविधं कीर्त्यते**) द्वैधीभाव= सेना का विभाजन [७.१७३] दो प्रकार का कहा है—(**कार्यार्थसिद्धये**) विजय-कार्य की सिद्धि के लिए १—(**बलस्य स्थितिः**) सेना के दो भाग करके सेना का एक भाग सेनापति के अधीन रखके (**च**) और २—(**स्वामिनः**) सेना का दूसरा भाग राजा द्वारा अपने

अधीन रखके आक्रमण करना ॥ १६७ ॥

संश्रय और उसके भेद—

अर्थसम्पादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥
(१३३)

(**शत्रुभिः पीड्यमानस्य**) शत्रुओं द्वारा पीड़ित होने पर (**अर्थसम्पादनार्थम्**) वर्तमान में अपने उद्देश्य की सिद्धि अथवा आत्मरक्षा के लिए किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय लेना (**च**) और (**व्यपदेशार्थं साधुषु**) भावी हार या दुःख से बचने के लिए किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय लेना ये (**द्विविधः संश्रय स्मृतः**) दो प्रकार का 'संश्रय'=शरण लेना [७.१७४] कहलाता है ॥ १६८ ॥

ऋषि अर्थ—''एक—किसी अर्थ की सिद्धि के लिए किसी बलवान् राजा वा किसी महात्मा की शरण लेना, जिससे शत्रु से पीड़ित न हो; दो प्रकार का आश्रय लेना कहाता है।'' (स०प्र०, समु० ६)

सन्धि करने का समय—

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा सन्धिं समाश्रयेत् ॥
१६९ ॥ (१३४)

(**यदा+अवगच्छेत्**) राजा जब यह समझे कि (**तदात्वे**) इस समय युद्ध करने से (**अल्पिकां पीडाम्**) थोड़ी-बहुत पीड़ा या हानि अवश्य प्राप्त होगी (**च**) और (**आयत्याम्**) भविष्य में युद्ध करने में (**आत्मनः ध्रुवम् आधिक्यम्**) अपनी वृद्धि और विजय अवश्य होगी (**तदा सन्धिं समाश्रयेत्**) तब शत्रु से मेल करके उचित समय तक धीरज रखे ॥ १९६ ॥

विग्रह करने का समय—

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥ १७० ॥
(१३५)

(**यदा सर्वाः प्रकृतीः**) जब अपनी सब

प्रकृतियाँ=मन्त्री, प्रजा, सेना आदि [७.१५६, १५७] (**भृशम्**) अत्यन्त (**प्रहृष्टाः**) प्रसन्न (**अत्युच्छ्रितम्**) उन्नतिशील और उत्साहित (**मन्येत**) जाने (**तथा**) वैसे (**आत्मानम्**) अपने को भी समझे (**तदा विग्रहं कुर्वीत**) तभी शत्रु राजा से विग्रह=युद्ध कर लेवे॥ १७० ॥

यान का समय—

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति॥ १७१ ॥
(१३६)

(**यदा स्वकं बलम्**) जब अपने बल अर्थात् सेना को (**हृष्टं पुष्टं भावेन मन्येत**) हर्षित और पुष्टि युक्त जाने (**च**) और (**परस्य**) शत्रु के बल=सेना को (**विपरीतम्**) अपने से विपरीत अर्थात् निर्बल जाने (**तदा रिपुं प्रति यायात्**) तब शत्रु पर आक्रमण करने के लिए जावे॥ १७१ ॥

आसन का समय—

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन्॥ १७२ ॥
(१३७)

(**यदा**) जब (**बलेन वाहनेन**) सेना, बल, वाहन आदि से (**परिक्षीणः स्यात्**) क्षीण हो जाये (**तदा**) तब (**अरीन् शनकैः प्रयत्नेन सान्त्वयन्**) शत्रुओं को नीति से प्रयत्नपूर्वक शान्त करता हुआ (**आसीत**) अपने राज्य में शान्त बैठा रहे॥ १७२ ॥

द्वैधीभाव का समय—

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः॥ १७३ ॥
(१३८)

(**राजा यदा**) राजा जब (**अरिं सर्वथा बलवत्तरं मन्येत**) शत्रु को अपने से अत्यन्त बलवान् जाने (**तदा**) तब (**द्विधा बलं कृत्वा**) सेना को दो भागों में बांटकर आक्रमण करके (**आत्मनः कार्यं साधयेत्**)

अपना विजय कार्य सिद्ध करे ॥ १७३ ॥

संश्रय का समय—

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।
तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम्॥ १७४॥
(१३९)

(**यदा**) जब राजा यह समझ लेवे कि अब (**परबलानां तु गमनीयतमः भवेत्**) मैं शत्रु राजा से पराजित होकर उनके वश में हो जाऊंगा (**तदा तु**) तभी (**धार्मिकं बलिनं नृपं क्षिप्रं संश्रयेत्**) किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय शीघ्र ले लेवे ॥ १७४ ॥

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद् योऽरिबलस्य च।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा॥ १७५॥
(१४०)

(**यः**) जो राजा (**अरिबलस्य**) शत्रुराजा की सेना आदि का (**च**) और (**प्रकृतीनाम्**) अपनी विद्रोही प्रजा, अमात्य, सेना आदि का (**निग्रहं कुर्यात्**) नियन्त्रण करे (**तम्**) उस आश्रयदाता राजा की (**यथा गुरुं तथा नित्यं सर्वयत्नैः तं उपसेवते**) जैसे गुरु की सत्यभाव से सेवा की जाती है वैसे निरन्तर सब उपायों से उसकी सेवा करे ॥ १७५ ॥

यदि तत्रापि सम्पश्येद् दोषं संश्रयकारितम्।
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत्॥ १७६॥
(१४१)

(**यदि तत्र+अपि संश्रयकारितं दोषं सम्पश्येत्**) जिस बलवान् राजा का आश्रय लिया है यदि उसके आश्रय लेने में अपनी हानि अनुभव करे अथवा राज्य को हड़पने की उसकी मानसिकता देखे तो फिर (**तत्र+अपि**) उससे भी (**निर्विशङ्कः सुयुद्धम्+एव समाचरेत्**) सब प्रकार का भय छोड़ कर यथाशक्ति युद्ध ही कर ले ॥ १७६ ॥

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः।
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः॥१७७॥
(१४२)

(**नीतिज्ञः पृथिवीपतिः**) नीति का जानने वाला राजा, (**यथा**) जिस प्रकार (**अस्य**) उसके (**मित्र-उदासीनशत्रवः**) मित्र, उदासीन और शत्रु राजा [७.१५८] (**अधिकाः न स्युः**) अधिक न बढ़ें (**तथा सर्व-उपायैः कुर्यात्**) ऐसे प्रयत्न सब उपायों से करे॥ १७७ ॥

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः॥ १७८ ॥
(१४३)

राजा (**सर्वकार्याणां तदात्वम् च आयतिम्**) राज्य के सब कार्यों और योजनाओं के वर्तमान समय के और भविष्य के (**च**) और (**सर्वेषाम् अतीतानाम्**) सब अतीत काल के किये गये कार्यों और योजनाओं के (**गुण-दोषौ**) गुण-दोषों को अर्थात् लाभ-हानि को (**तत्त्वतः विचारयेत्**) यथार्थ रूप से विचारे और विचारकर दोषों को छोड़ दे और गुणों को ग्रहण करे॥ १७८ ॥

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते॥ १७९ ॥
(१४४)

जो राजा (**आयत्यां गुणदोषज्ञः**) भविष्यत् अर्थात् आगे किये जाने वाले कर्मों में गुण-दोषों का विचार करता है (**तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः**) वर्त्तमान में तुरन्त निश्चय करता है और (**अतीते कार्यशेषज्ञः**) किये हुए कार्यों में शेष कर्त्तव्य को जानकर पूर्ण करता है (**शत्रुभिः न+अभिभूयते**) वह शत्रुओं से पराजित कभी नहीं होता॥ १७९ ॥

राजनीति का निष्कर्ष—

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः॥ १८० ॥
(१४५)

(**यथा एनम्**) जिस प्रकार राजा को (**मित्र-उदासीन-शत्रवः**) राजा के मित्र, उदासीन और शत्रु

जन (**न+अभिसंदध्युः**) वश में करके अन्यथा कार्य न करा पायें (**तथा सर्वं संविदध्यात्**) वैसा प्रयत्न सब कार्यों में राजा करे, (**एषः सामासिकः नयः**) यही संक्षेप में राजनीति कहाती है ॥ १८० ॥

ऋषि अर्थ—''सब प्रकार के राजपुरुष, विशेष सभापति राजा ऐसा प्रयत्न करें कि जिस प्रकार राजाादि जनों के मित्र, उदासीन और शत्रु को वश में करके अन्यथा न कर पावें, ऐसे मोह में न फंसे, यही संक्षेप से नय अर्थात् राजनीति कहाती है।''

(स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—मित्र, उदासीन और शत्रु के लक्षण क्रमशः ७.२०९, २१०, २११ में देखिए।

आक्रमण के लिए जाना और व्यूहरचना आदि की व्यवस्था—

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः।
तदाऽनेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः॥ १८१ ॥
(१४६)

(**प्रभुः**) युद्ध करने में समर्थ हुआ राजा (**अरिराष्ट्रं प्रति**) शत्रु के राज्य पर (**यदा तु यानम्+ आतिष्ठेत्**) जब भी आक्रमण करने हेतु जाने का निश्चय करे (**तदा**) तब (**अनेन विधानेन**) अग्रिम विधि के अनुसार (**शनैः**) सावधानी पूर्वक (**अरिपुरं यायात्**) शत्रु के राष्ट्र पर चढ़ाई करे॥ १८१ ॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान् सम्यग्विधाय च॥ १८४॥
(१४७)

जब राजा शत्रुराजा के साथ युद्ध करने को जावे तब (**मूले विधानं कृत्वा तु**) अपने दुर्ग और राज्य की रक्षा का निश्चित प्रबन्ध करके (**च**) और (**यथाविधि यात्रिकं**) यथाविधि युद्ध यात्रा सम्बन्धी (**आस्पदम् एव उपगृह्य**) सेना, यान, वाहन, शस्त्र आदि सामग्री लेकर (**चारान् सम्यक् विधाय**) सर्वत्र समाचारों को देने वाले दूतों को नियुक्त करके युद्धार्थ जावे॥ १८४॥

विविध मार्ग का संशोधन करे—

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८५ ॥
(१४८)

(**त्रिविधं मार्गं संशोध्य**) तीन प्रकार के मार्गों स्थल, जल, आकाश के, अथवा जांगल=बंजर, अनूप =जलीय, आटविक=वन प्रदेशीय, अथवा ग्राम्य, आरण्य, पर्वतीय को गमनयोग्य निर्बाध बनाकर (**स्वकं षड्विधं च बलम्**) अपना छह प्रकार का बल रथ, अश्व, हस्ती, पदातिसेना, सेनापति और कर्मचारी वर्ग इनको तैयार करके (**सांपरायिककल्पेन**) संग्राम करने की विधि के अनुसार (**शनैः**) सावधानीपूर्वक (**अरिपुरं यायात्**) शत्रु के राष्ट्र पर चढ़ाई करे ॥ १८५ ॥

ऋषि अर्थ—''तीन प्रकार के मार्ग अर्थात् एक—स्थल=भूमि में, दूसरा—जल=समुद्र वा नदियों में, तीसरा—आकाश मार्गों को शुद्ध बनाकर भूमिमार्ग में रथ, अश्व, हाथी, जल में नौका और आकाश में विमान और यानों से जावे, और पैदल, रथ, हाथी, घोड़े शस्त्र और अस्त्र, खान-पान आदि सामग्री को यथावत् साथ ले बलयुक्त पूर्ण किसी निमित्त को प्रसिद्ध करके शत्रु के नगर के समीप धीरे-धीरे जावे ॥''[१]

(स०प्र०, समु० १६१)

अनुशीलन—**त्रिविध मार्ग का मनुसम्मत अर्थ**—प्रचलित टीकाओं में त्रिविध मार्ग का अर्थ—'जङ्गल, अनूप और आटविक किया है। यह मनुसम्मत सिद्ध नहीं होता, और सही भी नहीं हैं। इस प्रकार अर्थ करने से तीनों केवल भूमि के ही एक मार्ग के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस

---

१. **प्रचलित अर्थ**—जङ्गल, अनूप तथा आटविक भेद से तीन प्रकार के मार्गों को पेड़ लता, झाड़ी कंटक आदि कटवाके तथा नीची ऊंची भूमि को बराबर कराने से गमन के योग्य बनाकर और हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल सेना एवं कार्यकर्त्ता रूप छः प्रकार के बल (सेना) उचित भोजन-वस्त्र, मान-सत्कार एवं औषध आदि से शुद्ध कर यात्रा के योग्य विधान से धीरे-धीरे शत्रु के देश को प्रस्थान करे ॥ १८५ ॥

भाष्य में दिया गया अर्थ मनुसम्मत है। इस की सिद्धि ९.१९२ से होती है। वहाँ स्थलयुद्ध और जल में जलयान आदि से युद्ध करने का वर्णन है। इस प्रकार त्रिविध मार्गों का अर्थ 'स्थल, जल, आकाश मार्ग ही प्रासंगिक सिद्ध होता है। अनूप इसी के अन्तर्गत आ जाता है समुद्रीयानों की चर्चा ८.१५७, ४०६, ४०९ में भी आती है। उस काल में ये यान थे।

आक्रमण के समय शत्रु और शत्रुमित्र पर विशेष दृष्टि रखे—

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः॥ १८६॥
(१४९)

राजा (**शत्रुसेविनि गूढे मित्रे**) शत्रु से प्यार करने वाले छद्म मित्र के प्रति (**युक्ततरो भवेत्**) अधिक निगरानी और सावधानी रखे (**च**) और (**गत-प्रत्यागते एव**) एक बार विरुद्ध होकर फिर मित्र बनकर आने वाले व्यक्ति के प्रति भी सावधान रहे (**हि**) क्योंकि (**सः कष्टतरः रिपुः**) वह अधिक कष्टदायक शत्रु होता है॥ १८६॥

ऋषि अर्थ—''जो भीतर से शत्रु से मिला हो और अपने साथ भी ऊपर से मित्रता रखे, गुप्तता से शत्रु को भेद देवे उसके आने-जाने में, उससे बात करने में अत्यन्त सावधानी रखे, क्योंकि भीतर शत्रु, ऊपर मित्र को बड़ा शत्रु समझना चाहिए।'' (स०प्र०, समु० ६)

व्यूहरचनाएं—

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा॥ १८७॥
(१५०)

(**तत्+मार्गम्**) शत्रुराष्ट्र पर आक्रमण हेतु जाने वाले मार्ग पर (**दण्डव्यूहेन**) सेना का दण्डव्यूह बनाकर (**वा**) अथवा (**शकटेन**) शकटव्यूह बनाकर (**वा**) अथवा (**वराह-मकराभ्याम्**) वराहव्यूह या मकरव्यूह बनाकर (**वा**) अथवा (**सूच्या वा गरुडेन**) सूचीव्यूह या गरुडव्यूह बनाकर (**यायात्**) युद्ध के लिए जाये॥ १८७॥

ऋषि-अर्थ—''दण्ड के समान सेना को चलावे जैसा शकट अर्थात् गाड़ी के समान, वराह जैसे सूअर एक दूसरे के पीछे दौड़ते जाते हैं कभी सब मिलकर झुण्ड हो जाते हैं वैसे, जैसे मगर पानी में चलते हैं वैसे सेना को बनावे, जैसे सूई का अग्रभाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है वैसी शिक्षा से सेना को बनावे; नीलकण्ठ [=गरुड़] ऊपर नीचे झपट्टा मारता है इस प्रकार सेना को बनाकर लड़ावे।''

(स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—व्यूह के प्रकार—(१) जिनमें आगे बलाध्यक्ष हो, बीच में राजा, अन्त में सेनापति और उनके अगल-बगल एक-एक पंक्ति हाथी सवारों की, उन पंक्तियों के साथ एक पंक्ति घुड़सवारों की, फिर साथ में पदातियों की पंक्तियाँ; इस प्रकार दण्डे के समान तथा लम्बी पंक्ति के आकार में सेना की मोर्चाबन्दी को 'दण्डव्यूह' कहते हैं।

(२) गाड़ी के समान आगे से पतली और पीछे-पीछे अधिक फैलाववाली सेना की रचना को 'शकटव्यूह' कहा जाता है।

(३) आगे और पीछे के भागों में पतली, मध्यभाग में अधिक फैलाववाली सेनारचना को 'वराहव्यूह' कहते हैं। इसमें सैनिक एक दल के पीछे दूसरा दल बढ़ते जाते हैं, जैसे ही शत्रु उन्हें कम समझकर सामना करता है, तो पिछली सेना झुण्ड बनाकर आक्रमण कर देती है।

(४) जिसका अग्रभाग मोटा, मध्य का उससे अधिक लम्बाकार होते हुए भी विस्तृत हो और पृष्ठभाग पतला हो, उस सेना-रचना को 'मकरव्यूह' कहा जाता है।

(५) अग्रभाग से नुकीली और पृष्ठभाग से स्थूल एवं विस्तृत आकार वाली सेनारचना को 'सूचीव्यूह' कहते हैं।

(६) आगे का कुछ भाग नुकीला और उसके पीछे दो भागों में विस्तृतरूप में दूर तक फैली हुई सेना की संरचना को 'गरुडव्यूह' कहते हैं। इसमें अग्रपंक्ति जब शत्रु-सेना से लड़ने लगती है, और शत्रु सेना भी जब सामने होकर संघर्ष करने लगती है, तो अगल-बगल में फैली सेना शत्रु सेना पर अगल-बगल से झपट्टा मारकर दबाने का

यत्न करती है।

यतश्च भयमाशङ्केत् ततो विस्तारयेद् बलम्।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम्॥ १८८॥
(१५१)

(**यतः भयम्+आशंकेत्**) जिधर से भय की आशंका हो (**ततः**) उसी ओर (**बलं विस्तारयेत्**) सेना को फैला देवे (**पद्मेन एव व्यूहेन**) पद्मव्यूह अर्थात् पद्माकार में चारों ओर सेनाओं को रख के (**स्वयं सदा निविशेत**) स्वयं सदा मध्य में रहे॥ १८८॥

अनुशीलन—**पद्म व्यूह**—कमल के पुष्प की तरह एक दल के पीछे दूसरे दल के रूप में चारों ओर गोलाकार रूप में सेना को खड़ा करना और मध्य में राजा या सेनापति का होना, इस मोर्चाबन्दी को 'पद्मव्यूह' कहा जाता है।

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्।
यतश्च भयमाशङ्केत् प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम्॥ १८९॥
(१५२)

राजा (**सेनापति-बलाध्यक्षौ**) सेनापति और बलाध्यक्षों को चारों दिशाओं में नियुक्त करे (**यतः भयम्+आशंकेत्**) जिस ओर से युद्ध का भय अधिक हो (**तां प्राचीं दिशं कल्पयेत्**) उसी दिशा को मुख्य मानकर सेना को उधर मोड़ देवे॥ १८९॥

अनुशीलन—(क) ''**तां प्राचीं दिशं कल्पयेत्**'' अर्थात् उसे ही पूर्वदिशा मान ले' यह एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है उसी दिशा को मुख्य मानकर उसी की ओर मुख कर लेना अर्थात् शक्ति लगाना। सैनिकों की एक टुकड़ी के प्रमुख को 'बलाध्यक्ष' कहा जाता है।

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान् समन्ततः।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः॥ १९०॥
(१५३)

(**समन्ततः स्थाने**) युद्ध के मैदान में यथोचित स्थानों पर (**आप्तान्**) युद्धविद्या में सुशिक्षित, (**कृत-संज्ञान्**) जिनके पृथक्-पृथक् संकेत या नाम रखे गये हों (**युद्धे च कुशलान्**) युद्ध करने में अनुभवी

(**अभीरून्**) निडर (**अविकारिणः**) शुद्ध मन वाले (**गुल्मान्**) सैनिक दलों को (**स्थापयेत्**) स्थापित करे॥ १९०॥

ऋषि अर्थ—''जो गुल्म अर्थात् दृढ़स्तम्भों के तुल्य, युद्ध विद्या में सुशिक्षित, धार्मिक, स्थित होने और युद्ध करने में चतुर, भयरहित और (**अविकारिणः**) जिनके मन में किसी प्रकार का विकार न हो उनको सेना के चारों ओर रखे।'' (स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—**गुल्म**—सैनिकों के जिस दल में ४५ पदाति सैनिक, २७ अश्वारोही, ९ रथारोही और ९ गजारोही होते हैं, उसे एक 'गुल्म' कहा जाता है।

संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून्।
सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत्॥ १९१॥
(१५४)

(**अल्पान् संहतान् योधयेत्**) यदि शत्रु के सैनिक अधिक हों और अपने कम संख्या में हों तो उनको समूह बनाकर लड़ाये, (**बहून् कामं विस्तारयेत्**) अपने सैनिकों की संख्या बहुत हो तो आवश्यकतानुसार उनको फैलाकर लड़ाये, (**च**) और (**सूच्या वज्रेण व्यूहेन व्यूह्य एतान् योधयेत्**) या फिर सूचीव्यूह अथवा वज्रव्यूह की रचना करके उन सैनिकों को लड़ाये॥ १९१॥

ऋषि अर्थ—''जो थोड़े पुरुषों से बहुतों के साथ युद्ध करना हो तो मिलकर लड़ावे और काम पड़े तो उन्हीं को झट फैला देवे, जब नगर, दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो तब 'सूचीव्यूह' तथा 'वज्रव्यूह' जैसा दुधारा खड्ग, दोनों ओर युद्ध करते जायें और प्रविष्ट भी होते चलें, वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर लड़ावे।''

(स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—**वज्रव्यूह**—जिस प्रकार दुधारी तलवार शरीर में नोक से घुसकर दोनों ओर से काटती जाती है, उसी प्रकार सेना की इस प्रकार मोर्चाबन्दी करना कि वह सामने लड़ती हुई शत्रु-सेना में प्रविष्ट होती जाये और

अगल बगल भागों से दूसरी सेनापंक्तियां लड़ें तथा इस प्रकार रक्षा भी करें कि किसी बगल से घूमकर शत्रु घेर न ले, इस मोर्चाबन्दी को 'वज्रव्यूह कहते हैं। 'सूचीव्यूह' का परिचय ७.१८७ की समीक्षा में द्रष्टव्य है।

स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले॥ १९२॥
(१५५)

(**समे स्यन्दन+अश्वैः युध्येत्**) समभूमि में रथ, घोड़ों से (**अनूपे नौ-द्विपैः**) जो समुद्र में युद्ध करना हो तो नौकाओं से और थोड़े जल में हाथियों पर (**वृक्ष-गुल्म+आवृते**) वृक्ष आदि झाड़ी युक्त प्रदेश में (**चापैः**) बाणों से (**तथा**) तथा खुले मैदान में (**असि-चर्म+आयुधैः**) तलवार और ढाल से युद्ध करें॥१९२॥

अनुशीलन—मनुप्रोक्त युद्धनीति एवं उसके अंग-प्रत्यंग (तालिका)

१. युद्धनीति के आधार—

१. साम	(७.१५९, १९८, २००)
२. दान	('' '')
३. भेद	('' '')
४. दण्ड	('' '')
५. सन्धि	(७.१६०, १६२, १६३, १६९)
६. विग्रह	(७.१६०, १६४, १७०)
७. यान	(७.१६०, १६५, १७१)
८. आसन	(७.१६०, १६६, १७२)
९. द्वैधीभाव	(७.१६०, १६७, १७३)
१०. संश्रय	(७.१६०, १६८, १७४)

२. युद्धार्थ सेना—

१. पैदल सेना	(७.१८५, १९२)
२. रथसवार सेना	('' '')
३. घुड़सवार सेना	('' '')
४. हाथीसवार सेना	('' '')
५. जल सेना	('' '')
६. वायु सेना	('' '')

३. सेना के अधिकारी—

१. राजा (मुख्य नायक)
२. सेनापति (७.१८९)
३. बलाध्यक्ष ('')
४. दूत (७.६३-६८)

४. युद्ध में व्यूह रचना—

१. दण्डव्यूह (७.१८७)
२. शकटव्यूह ('' '')
३. वराहव्यूह ('' '')
४. मकरव्यूह ('' '')
५. सूचीव्यूह (७.१.९१)
६. गरुडव्यूह ('' '')
७. पद्मव्यूह (७.१८८)
८. वज्रव्यूह (७.१९१)

५. शस्त्रास्त्र-संकेत-वर्णन

१. धनुष (७.७४, १९२)
२. बाण (७.९०, १९२)
३. तलवार (७.१९२)
४. ढाल (७.१९२)
५. कूटायुध (७.९०)
६. शक्ति (८.३१५)
७. वरुणपाश (९.३०८)
८. लौहदण्ड (८.३१५)

सेना का उत्साहवर्धन—

प्रहर्षयेद् बलं व्यूह्य ताँश्च सम्यक् परीक्षयेत्।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् योधयतामपि॥ १९४॥
(१५६)

(**व्यूह्य बलं प्रहर्षयेत्**) व्यूह=मोर्चाबन्दी करने के बाद सेना को वीरतापूर्ण वचनों से प्रोत्साहित करे (**अरीन् योधयताम्+अपि**) शत्रुओं से युद्ध करते समय भी (**तान् सम्यक् परीक्षयेत्**) सैनिकों की अच्छी प्रकार परीक्षा करे कि वे निष्ठापूर्वक लड़ रहे हैं वा नहीं (**च**) और (**चेष्टाः एव विजानीयात्**) लड़ते हुए सैनिकों की चेष्टाओं को भी देखा करे॥ १९४॥

ऋषि अर्थ—''जिस समय युद्ध होता हो तो उस

समय लड़ने वालों को उत्साहित और हर्षित करें, जब युद्ध बंद हो जाये तब जिससे शौर्य और युद्ध में उत्साह हो वैसे वक्तृत्वों [=वचनों] से सबके चित्त को खानपान, अस्त्र-शस्त्र, सहाय और औषधादि से प्रसन्न रखे, व्यूह के विना लड़ाई न करे, न करावे, लड़ती हुई अपनी सेना की चेष्टा को देखा करे कि ठीक-ठीक लड़ती है वा कपट रखती है।'' (स०प्र०, समु० ६)

शत्रुराजा को पीड़ित करने के उपाय—

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्॥ १९५॥
(१५७)

आवश्यक होने पर (**अरिम् उपरुध्य आसीत्**) शत्रु को चारों ओर से घेर कर रोक रखे (**च**) और (**अस्य राष्ट्रम् उपपीडयेत्**) उसके राष्ट्र को पीड़ित करे (**अस्य**) शत्रु के (**यवस-अन्न-उदक-इन्धनम्**) चारा, अन्न, जल और इन्धन को (**सततं दूषयेत्**) सदा दूषित या नष्ट कर दे॥ १९५॥

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा॥ १९६॥
(१५८)

शत्रु के (**तडागानि**) तालाब (**प्राकार**) नगर के प्रकोट (**तथा परिखाः**) और किले की खाई को (**भिन्द्यात्**) तोड़-फोड़ दे (**रात्रौ एनं वित्रासयेत्**) रात्रि में उसको भयभीत रखकर सोने न दे (**च**) और (**सम्+अवस्कन्दयेत्**) ऐसे उस पर दबाव बनाकर फिर पूरी शक्ति से आक्रमण करके विजय प्राप्त करे॥ १९६॥

शत्रुराजा के अमात्यों में फूट—

उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम्।
युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः॥ १९७॥
(१५९)

(**उपजप्यान्**) शत्रु के वर्ग के जिन अमात्य सेनापति आदि में फूट डाली जा सके, उनमें

(**उपजपेत्**) फूट डाल कर अपने साथ मिला ले (**च**) और इस प्रकार उनसे (**तत् कृतं बुध्येत**) शत्रु राजा की योजनाओं की जानकारी ले ले (**च**) और फिर (**जयप्रेप्सुः**) विजय का इच्छुक राजा इस प्रकार (**अपेतभीः**) भय छोड़कर (**युक्ते दैवे**) अनुकूल अवसर देखकर (**युध्येत**) युद्ध-आक्रमण शुरू कर देवे॥ १९७॥

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन् न युद्धेन कदाचन॥ १९८॥
(१६०)

(**साम्ना**) 'साम' से (**दानेन**) 'दान' से (**भेदेन**) 'भेद' से [७.१०७] (**समस्तैः**) इन तीनों उपायों से एकसाथ (**अथवा**) अथवा (**पृथक्**) अलग-अलग एक-एक से (**अरीन् विजेतुं प्रयतेत**) शत्रुओं को जीतने का पहले प्रयत्न करे (**युद्धेन कदाचन न**) पहले ही युद्ध से कभी जीतने का यत्न न करे॥ १९८॥

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे।
तथा युध्येत सम्पन्नो विजयेत रिपून् यथा॥ २००॥
(१६१)

(**पूर्वोक्तानां त्रयाणाम्+अपि+उपायानाम् असंभवे**) पूर्वोक्त साम, दान, भेद तीनों ही उपायों में से किसी से भी विजय की सम्भावना न रहने पर (**सम्पन्नः**) सब प्रकार से तैयारी करके (**तथा युध्येत**) इस प्रकार युद्ध करे (**यथा**) जिससे कि (**रिपून् विजयेत**) शत्रुओं पर निश्चित विजय कर सके॥ २००॥

राजा के विजयोपरान्त कर्त्तव्य—

जित्वा सम्पूजयेद् देवान् ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।
प्रदद्यात् परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च॥ २०१॥
(१६२)

शत्रुराज्य पर (**जित्वा**) विजय प्राप्त करके (**धार्मिकान् देवान् ब्राह्मणान् एव**) जो धर्माचरण वाले विद्वान् ब्राह्मण हों उनको ही (**पूजयेत्**) सत्कृत करे

अर्थात् उनको अभिवादन करके उनका आशीर्वाद ले (**च**) और (**परिहारान् प्रदद्यात्**) जिन प्रजाजनों को युद्ध में हानि हुई है उन्हें क्षतिपूर्ति के लिए सहायता दे (**च**) तथा (**अभयानि ख्यापयेत्**) विजित राष्ट्र में सब प्रकार के अभयों की घोषणा करा दे कि 'प्रजाओं को किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं दिया जायेगा अतः वे सब प्रकार से भय-आशंका-रहित होकर रहें'॥ २०१ ॥

हारे हुए राजा से प्रतिज्ञापत्र आदि लिखवाना—

सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम्॥ २०२ ॥
(१६३)

(**एषां सर्वेषाम्**) विजित प्रदेश की इन सब प्रजाओं की (**चिकीर्षितम्**) इच्छा को (**समासेन विदित्वा**) संक्षेप से अर्थात् सर्वसामान्य रूप से जानकर कि वे किसे अपना राजा बनाना चाहती हैं, या कोई और विशेष आकांक्षा हो उसे भी जानकर (**तत्र**) उस राजसिंहासन पर (**तत् वश्यम्**) उस प्रदेश की प्रजाओं में से उन्हीं के वंश के किसी व्यक्ति को (**स्थापयेत्**) बिठा देवे (**च**) और (**समय-क्रियाम् कुर्यात्**) उससे सन्धिपत्र=शर्तनामा लिखा लेवे कि अमुक कार्य तुम्हें स्वेच्छानुसार करना है, अमुक मेरी इच्छा से। इसी प्रकार अन्य कर, अनुशासन आदि से सम्बद्ध बातें भी उसमें हों॥ २०२ ॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान् यथोदितान्।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह॥ २०३ ॥
(१६४)

(**तेषां यथोदितान् धर्म्यान्**) उन विजित प्रदेश की प्रजाओं या नियुक्त राजपुरुषों द्वारा कही हुई उनकी न्यायोचित [=वैध] बातों को (**प्रमाणानि कुर्वीत**) प्रमाणित कर दे अर्थात् प्रतिज्ञापूर्वक स्वीकार कर ले। अभिप्राय यह है कि उनकी न्यायोचित बातों को मान लेवे और जो अमान्य बातें हों उनको न माने (**च**) और (**प्रधानपुरुषैः सह एनम्**) मन्त्री आदि प्रधान राजपुरुषों

के साथ पूर्वोक्त राजा का (**रत्नैः पूजयेत्**) उत्तम वस्तुयें प्रदान करते हुए यथायोग्य सत्कार करे ॥ २०३ ॥

ऋषि अर्थ—''जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञा आदि लिखा लेवे और जो उचित समय समझे तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है, उसके अनुसार चलके न्याय से प्रजा का पालन करना होगा, ऐसे उपदेश करे। और ऐसे पुरुष उनके पास रखे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो। और जो हार जाये, उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्न आदि उत्तम पदार्थों के दान से करे और ऐसा न करे कि जिससे उसको योगक्षेम भी न हो। जो उसको बन्दीगृह करे तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रखे, जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे।''

(स०प्र०, समु० ६)

आदानमप्रियकरं दानञ्च प्रियकारकम्।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते॥ २०४॥
(१६५)

(**आदानम्+अप्रियकरम्**) किसी के धन, पदार्थ आदि छीन लेना आत्मा की अप्रीति=असन्तुष्टि का कारण है, (**च**) और (**दानं प्रियकारकम्**) किसी को देना आत्मा की प्रीति=सन्तुष्टि का कारण है। (**अभी-प्सितानाम्+अर्थानाम्**) किसी के अभीष्ट पदार्थों को (**काले युक्तं प्रशस्यते**) उचित समय पर उसको देना प्रशंसनीय व्यवहार है ॥ २०४ ॥

ऋषि अर्थ—क्योंकि संसार में दूसरे के पदार्थ का ग्रहण करना अप्रीति और देना प्रीति का कारण है और समय पर उचित क्रिया करना उस पराजित के मनोवाञ्छित पदार्थों का देना बहुत उत्तम है ॥

(स०प्र०, समु० ६)

सह वाऽपि व्रजेद्युक्तः सन्धिं कृत्वा प्रयत्नतः।
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा सम्पश्यंस्त्रिविधं फलम्॥ २०६ ॥
(१६६)

[यदि पूर्वोक्त कथनानुसार (७.२०२-२०३) राजा को बन्दी न बनाकर उसके स्थान पर दूसरा राजा न बिठाकर उसे ही राजा रखे तो] (**अपि वा**) अथवा (**सह युक्तः**) उसी राजा के साथ मेल करके (**प्रयत्नतः सन्धिं कृत्वा**) बड़ी सावधानी पूर्वक उससे सन्धि करके अर्थात् सन्धिपत्र लिखाकर (**मित्रं हिरण्यं वा भूमिं त्रिविधं फलं सम्पश्यन्**) मित्रता, सोना अथवा भूमि की प्राप्ति होना, इन तीन प्रकार के फलों की प्राप्ति देखकर अर्थात् इनकी उपलब्धि करके (**व्रजेत्**) वापिस लौट आये॥ २०६॥

पार्ष्णिग्राहं च सम्प्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले।
मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात्॥ २०७॥
(१६७)

(**मण्डले**) अपने राज्य में (**पार्ष्णिग्राहम्**) 'पार्ष्णिग्राह' संज्ञक राजा=राज्य को छीनने की इच्छा रखने वाला पड़ौसी राजा (**तथा**) तथा (**आक्रन्दं संप्रेक्ष्य**) 'आक्रन्द' संज्ञक राजा=वह निकटवर्ती राजा जो किसी राजा को अन्य राजा की सहायता करने से रोकता है, का ध्यान रखके (**मित्रात्+अथापि+अमित्रात्**) मित्र अथवा पराजित शत्रु से (**यात्रा-फलम्+अवाप्नुयात्**) युद्ध यात्रा का फल प्राप्त करे। अभिप्राय यह है कि अपने पड़ोसी राजाओं से सुरक्षा के लिए या उसको वश में करने के लिए धन, भूमि, सोना या मित्रता में से कौन से फल की अधिक उपयोगिता होगी, यह सोचकर शत्रु या मित्र से वही-वही फल मुख्यता से प्राप्त करे। २०७॥

अनुशीलन—'**पार्ष्णिग्राह**' और '**आक्रन्द**' संज्ञक राजाओं का लक्षण ७.१५६-१५७ की समीक्षा में द्रष्टव्य है।

सच्चा मित्र सबसे बड़ी शक्ति—

हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्॥ २०८॥
(१६८)

(**पार्थिवः**) राजा (**हिरण्य-भूमि-सम्प्राप्त्या**) सुवर्ण और भूमि की प्राप्ति से (**तथा न एधते**) वैसा नहीं बढ़ता (**यथा**) जैसे कि (**ध्रुवम्**) निश्चल प्रेमयुक्त (**आयतिक्षमम्**) भविष्यत् में सहयोग करने वाले (**अपि कृशम्**) दुर्बल मित्र को भी (**लब्ध्वा**) प्राप्त करके बढ़ता है, शक्तिशाली बनता है ॥ २०८ ॥

प्रशंसनीय मित्र राजा के लक्षण—

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥
(१६९)

(**धर्मज्ञम्**) धर्म को जानने वाला (**च**) और (**कृतज्ञम्**) कृतज्ञ अर्थात् किये हुए उपकार को सदा मानने वाला (**तुष्टप्रकृतिम्**) सन्तुष्ट अनुरागी (**स्थिरारम्भम्**) स्थिरतापूर्वक मित्रता या कार्य करने वाला (**लघुमित्रम्**) अपने से न्यून स्थिति वाला भी मित्र (**प्रशस्यते**) अच्छा माना जाता है ॥ २०९ ॥

कष्टकर शत्रु के लक्षण—

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।
कृतज्ञं धृतिमन्तञ्च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ २१० ॥
(१७०)

(**बुधाः**) बुद्धिमान् जन (**प्राज्ञम्**) बुद्धिमान् (**कुलीनम्**) कुलीन (**शूरम्**) शूरवीर (**दक्षम्**) चतुर (**दातारम्**) दाता (**कृतज्ञम्**) किये हुए उपकार को मानने वाला (**च**) और (**धृतिमन्तम्**) धैर्यवान् (**अरिम्**) शत्रु को (**कष्टम्+आहुः**) अधिक कष्ट-दायक मानते हैं अर्थात् इन गुणों वाले राजा को शत्रु नहीं बनाना चाहिये ॥ २१० ॥

उदासीन के लक्षण—

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥
(१७१)

(**आर्यता**) जिसमें सज्जनता हो, (**पुरुषज्ञानम्**) जो अच्छे-बुरे लोगों की पहचान रखने वाला हो,

(**शौर्यम्**) शूरवीरता गुण वाला, (**करुणवेदिता**) करुणा की भावना वाला (**च**) और (**स्थौललक्ष्यम्**) किस कार्य से मुझे लाभ होगा और किस कार्य से हानि होगी, इस लक्ष्य को सामने रखकर व्यवहार करने वाला अर्थात् जो सुख में साथी रहे और आपत्ति में काम न आये, ऐसा राजा (**उदासीन-गुणोदयः**) 'उदासीन' लक्षण वाला कहाता है ॥ २११ ॥

ऋषि-अर्थ—"जिसमें प्रशंसित गुणयुक्त अच्छे-बुरे मनुष्यों का ज्ञान, शूरवीरता, और करुणा भी, स्थूल लक्ष्य अर्थात् ऊपर-ऊपर की बातों को निरन्तर सुनाया करे वह उदासीन कहाता है।" (स०प्र०, समु० ६)

राजा द्वारा आत्मरक्षा सबसे आवश्यक—

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन्॥ २१२॥
(१७२)

(**नृपः**) राजा (**आत्मार्थम्**) अपनी और राज्य की रक्षा के लिए (**क्षेम्याम्**) आरोग्यता से युक्त (**सस्य-प्रदाम्**) धान्य-घास आदि से उपजाऊ रहने वाली (**नित्यं पशुवृद्धिकरीम्**) सदैव जहाँ पशुओं की वृद्धि होती हो, ऐसी भूमि को भी (**अविचारयन्**) बिना विचार किये (**परित्यजेत्**) छोड़ देवे अर्थात् विजयी राजा को देनी पड़े तो दे दे, उसमें कष्ट अनुभव न करे॥ २१२॥

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि॥ २१३॥
(१७३)

आपत्ति में पड़ने पर (**आपत्+अर्थम्**) आपत्ति से रक्षा के लिए (**धनं रक्षेत्**) धन की रक्षा करे, और (**धनैः+अपि**) धनों की अपेक्षा (**दारान् रक्षेत्**) स्त्रियों की अर्थात् परिवार की रक्षा करे (**दारैः+अपि धनैः+अपि**) स्त्रियों से भी और धनों से भी बढ़कर (**आत्मानं सततं रक्षेत्**) आत्मरक्षा करना सबसे आवश्यक है, क्योंकि यदि राजा की अपनी रक्षा नहीं

हो सकेगी तो वह न परिवार की रक्षा कर सकेगा और न धन की, न राज्य की ॥ २१३ ॥

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम्।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान् सृजेद् बुधः॥ २१४॥(१७४)

(**सर्वाः आपदः भृशं सह समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्य**) सब प्रकार की आपत्तियाँ तीव्र रूप में और एकसाथ उपस्थित हुई देखकर (**बुधः**) बुद्धिमान् व्यक्ति (**संयुक्तान्**) सम्मिलित रूप से और (**वियुक्तान्**) पृथक्-पृथक् रूप से अर्थात् जैसे भी उचित समझे (**सर्व+उपायान् सृजेत्**) सब उपायों को उपयोग में लावे ॥ २१४ ॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये॥ २१५ ॥ (१७५)

(**उपेतारम्**) उपेता=प्राप्त करनेवाला अर्थात् राजा स्वयं को, अपनी क्षमता को (**उपेयम्**) उपेय=प्राप्त करने योग्य अर्थात् शत्रु राजा (**च**) और (**सर्व+ उपायान्**) सब विजय प्राप्त करने के साम, दान आदि उपाय (**एतत् त्रयम्**) इन तीनों बातों को (**कृत्स्नशः समाश्रित्य**) सम्पूर्ण रूप से आश्रय करके पूर्णतः विचार करके और अपनी क्षमता देखकर (**अर्थसिद्धये प्रयतेत**) अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए राजा प्रयत्न करे, इन्हें बिना विचारे नहीं ॥ २१५ ॥

मन्त्रणा एवं शस्त्राभ्यास के बाद भोजनार्थ अन्तःपुर में जाना—

एवं सर्वमिदं राजा सह सम्मन्त्र्य मन्त्रिभिः।
व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत्॥ २१६ ॥ (१७६)

(**एवम्**) इस प्रकार (**राजा**) राजा (**इदं सर्वम्**) यह पूर्वोक्त विषयवस्तु [७.१४६-२१५] सब (**मन्त्रिभिः सह समन्त्र्य**) मन्त्रियों के साथ विचार-विमर्श करके (**व्यायम्य**) व्यायाम और शस्त्रास्त्रों का

अभ्यास करके (**आप्लुत्य**) स्नान करके फिर दोपहर होने पर (**मध्याह्ने**) दोपहर के समय का (**भोक्तुम्**) भोजन करने के लिए (**अन्तःपुरं विशेत्**) अन्तःपुर अर्थात् पत्नी आदि के निवास-स्थान महल में प्रवेश करे॥ २१६॥

राजा सुपरीक्षित भोजन करे—

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः॥ २१७॥

(१७७)

(**तत्र**) वहां अन्तःपुर में जाकर (**आत्मभूतैः**) गम्भीर प्रेम रखने वाले, विश्वासपात्र (**कालज्ञैः**) ऋतु स्वास्थ्य, अवस्था आदि के अनुसार भोज्य पदार्थों के खाने के समय को जानने वाले (**अहार्यैः**) शत्रुओं द्वारा फूट में न आने वाले (**परिचारकैः**) सेवकों=पाक-शालाध्यक्षों, वैद्यों आदि के द्वारा (**विषापहैः मन्त्रैः**) विषनाशक युक्तियों या उपायों से (**सुपरीक्षितम्**) अच्छी प्रकार परीक्षा किये हुए (**अन्नाद्यम्**) भोजन को (**अद्यात्**) खाये॥ २१७॥[1]

अनुशीलन—इस श्लोक में ''**कालज्ञैः**'' और ''**विषापहैः मन्त्रैः**'' पदों पर किसी को भ्रान्ति न हो इसलिए इन पर विस्तृत प्रकाश डालना आवश्यक है। क्योंकि, आजकल ये शब्द और वाक्य अन्य अर्थों में रूढ़ हो गये हैं और टीकाकारों ने युक्तिसंगत अर्थ नहीं दिये हैं—

(१) **'कालज्ञ' का प्रासंगिक और मनुसम्मत अर्थ**—कालज्ञ का शब्दार्थ 'काल को जानने वाला' होता है, जो ज्योतिषी अर्थ में भी रूढ़ है, किन्तु यहाँ इसका यह अर्थ नहीं। शब्दकोशों में कालज्ञ का अर्थ—'किसी कार्य के उचित समय या अवसर को जानने वाला' भी मिलता

---

१. **प्रचलित अर्थ**—वहां अन्तःपुर में अपने तुल्य, भोजन समय के ज्ञाता, किसी शत्रु आदि से फोड़कर अपने पक्ष में नहीं करने योग्य परिचारकों (पाचक आदि) से बनाये गये एवं परीक्षा किये गये अन्न आदि को विषनाशक मन्त्रों से (गारुडादि मन्त्रों को जपकर) भोजन करे॥ २१७॥

है। संस्कृत-साहित्य में भी यह अर्थ प्रचलित है। यहाँ भी यही अर्थ है। फिर यहाँ प्रसंग भोजन का है, अतः भोजन के प्रसंग में ही उसका अर्थ बनेगा। इस प्रकार इस श्लोक में कालज्ञ का अर्थ—'स्वास्थ्य, अवस्था, ऋतु आदि के अनुसार भोज्य पदार्थों या भोजन के समय को जानने वाला' यह अर्थ है। यही उपयुक्त एवं प्रासंगिक है।

(२) **'विषापहैः मन्त्रैः' पदों के अर्थ पर विचार**—'मन्त्र' का अर्थ भी 'विचार' या 'युक्ति' एवं 'विचारात्मक उपाय' होता है। [देखिए ऋ० १.१५२.२; १.६७.२ मन्त्रों पर ऋषि दयानन्द का भाष्य] इस प्रकार ''**विषापहैः मन्त्रैः**'' का इस श्लोक में किया गया अर्थ ही उचित एवं युक्तिसंगत है। अन्य टीकाओं का अर्थ बुद्धिगम्य एवं युक्तिसंगत नहीं है। केवल मन्त्रोच्चारण से विष दूर होना असम्भव बात है।

(३) **कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा को भोजन-सम्बन्धी निर्देश**—मनु के समान कौटिल्य ने भी राजा को परीक्षित, सुरक्षा में निर्मित, विषादि से रहित और सुस्वादु भोजन करने का निर्देश दिया है। कौटिल्य के अनुसार राजा का भोजन एकान्त और सुरक्षित पाकशाला में तैयार होना चाहिए। वहाँ विष आदि की परीक्षा करने वाले वैद्य हों। वैद्यों एवं पाकशालाध्यक्ष द्वारा राजा के सामने स्वयं खाकर परीक्षित तथा अग्नि और पशु-पक्षियों के आगे डालकर परीक्षित भोजन, जलपान आदि राजा को करना चाहिए। वैद्यों को विभिन्न विषनाशक युक्तियों से भोजन की परीक्षा करनी चाहिए तथा विषमारक उपायों की तैयारी रखनी चाहिए। [प्रक० १६, अ० २०][1] कौटिल्य के इन वचनों से भी इस व्याख्या के किये अर्थों की पुष्टि होती है।

---

१. **''तस्मादस्य जाङ्गलीविदो भिषजश्चासन्नाः स्युः। भिषक् भैषज्यागारादास्वादविशुद्धमौषधं गृहीत्वा पाचकपोषकाभ्यामात्मना च प्रतिस्वाद्य राज्ञे प्रयच्छेत्। पानं पानीयं चौषधेन व्याख्यातम्।''**
''गुप्ते देशे माहानसिकः सर्वमास्वादबाहुल्येन कर्म कारयेत्। तद्राजा तथैव प्रतिभुञ्जीत, पूर्वमग्नये वयोभ्यश्च बलिं कृत्वा।'' [प्रक० १६, अ० २०]

खाद्य पदार्थों के समान अन्य प्रयोज्य साधनों में सावधानी—

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने।
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च॥ २२०॥
(१७८)

राजा (**यान-शय्या-आसन-अशने**) सवारी, सोने के साधन पलंग आदि, आसन, भोजन (**स्नाने च प्रसाधने**) स्नान और शृंगार-प्रसाधन उबटन आदि (**च**) और (**सर्व+अलंकारकेषु**) सब राजचिह्न जैसे अलंकार आदि साधनों में भी (**एवं प्रयत्नं कुर्वीत**) इस प्रकार योग्य सेवकों द्वारा परीक्षा कराने की सावधानी बरते [जैसे २१७ श्लोक में उक्त भोजन में बरतने को कहा है] ॥ २२० ॥

अनुशीलन—कौटिल्य द्वारा यान आदि के प्रयोग में सावधानी का निर्देश—यतोहि राजा के विरुद्ध शत्रुओं द्वारा प्रतिपल षड्यन्त्र रचे जाते हैं, अत: राजा को प्रत्येक कार्य में सुरक्षार्थ सावधानी रखने का निर्देश है। कौटिल्य ने इस निर्देश को और विस्तारपूर्वक वर्णित किया है। उनके अनुसार दाढ़ी-मूंछ के उपयोग में आने वाले साधनों, वस्त्रों, राज-अलंकरणों, माल्यार्पण, स्नान, यान, आसन, पशु-वाहन, नाव आदि प्रत्येक की पहले विश्वसनीय सेवकों द्वारा राजा के सामने परीक्षा होनी चाहिए कि कहीं उनमें विषप्रयोग या धोखा न हो। तत्पश्चात् राजा के प्रयोग में लाने चाहिएं।[१]

भोजन के बाद विश्राम और राज्यकार्यों का चिन्तन—

भुक्त्वान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह।
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत्॥ २२१॥
(१७९)

---

१. **''कल्पकप्रसाधकाः स्नानशुद्धवस्त्रहस्ताः समुद्र-मुपकरणमन्तर्वंशिकहस्तादादाय परिचरेयुः। आत्म-चक्षुषि निवेश्य वस्त्रमाल्यं दद्युः, स्नानानुलेपनप्रघर्ष-चूर्णवासस्नानीयानि स्ववक्षो बाहुषु च। एतेन परस्मादागतकं व्याख्यातम्।......मौलपुरुषाधिष्ठितं यानवाहनमारोहेत् नावं चाप्तनाविकाधिष्ठिताम्॥''**
[प्रक० १६, अ० २०]

(**च**) और [२१६-२१७ में कहे अनुसार] (**भुक्तवान्**) भोजन करके (**अन्तःपुरे**) अन्तःपुर= रनिवास में (**स्त्रीभिः सह**) पत्नी आदि पारिवारिक जनों के साथ (**विहरेत्**) वार्तालाप या विश्राम करे (**तु**) और (**विहृत्य**) विश्राम करके (**पुनः**) तदनन्तर (**यथा-कालम्**) यथासमय (**कार्याणि चिन्तयेत्**) राज्य-कार्यों पर विचार करे॥ २२१ ॥

अनुशीलन—'स्त्रीभिः' पद से अभिप्राय—इस श्लोक में 'स्त्रीभिः' शब्द का अर्थ प्रचलित टीकाओं में 'बहु पत्नियां या रानियां' किया है, जो मनुविरुद्ध है। यहां इस श्लोक में इसका अर्थ 'पत्नी आदि पारिवारिक स्त्रियां' या पारिवारिक जन है। यहां स्त्री शब्द सामान्य स्त्री जन के लिए है। इसकी पुष्टि में निम्न प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) मनु ने द्विजों के लिए और राजा के लिए स्पष्टतः एक पत्नी का विधान किया है—**उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्**'' [३.४]। **तदध्यास्य उद्वहेद् भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्** [७.७७] और अन्यत्र यह आदेश दिया है कि पति-पत्नी कोई भी ऐसा कार्य न करें जिससे जीवन भर वियोग का अवसर आये [९.१०१, १०२]। इससे सिद्ध है कि मनु के मत में एक से अधिक स्त्रियों का विधान नहीं है।

(२) मनु ने एक से अधिक अर्थात् बहुत स्त्रियों का सेवन राजा के लिए स्पष्टतः निषिद्ध किया है।७.४७, ५० श्लोक द्रष्टव्य है। इन प्रमाणों के आधार पर इस भाष्य का अर्थ मनुसम्मत है।

सैनिकों एवं शस्त्रादि का निरीक्षण—

अलंकृतश्च सम्पश्येदायुधीयं पुनर्जनम्।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च॥ २२२ ॥
(१८०)

(**च**) और (**पुनः**) फिर (**अलंकृतः**) कवच, शस्त्रास्त्रों [७.२२३ में भी], राजचिह्नों एवं राज-वेशभूषा आदि से सुसज्जित होकर (**आयुधीयं जनम्**) शस्त्रधारी सैनिकों (**च**) और (**वाहनानि**) रथ, हाथी, घोड़े आदि वाहनों (**सर्वाणि शस्त्राणि**) सब प्रकार के

शस्त्रास्त्रों-शस्त्रभण्डारों (**च**) और (**आभरणानि**) आभूषणों [धातुएं, रत्न आदि] और सुरक्षा-संभाल आदि का (**संपश्येत्**) निरीक्षण करे॥ २२२॥

सन्ध्योपासना तथा गुप्तचरों और प्रतिनिधियों के सन्देशों को सुनना—

सन्ध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत्।
रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम्॥ २२३॥
(१८१)

(**च**) और फिर (**संध्याम् उपास्य**) सायंकालीन संध्योपासना करके (**शस्त्रभृत्**) शस्त्रास्त्र धारण किया हुआ राजा (**अन्तर्वेश्मनि**) महल के भीतर गुप्तचर गृह में (**रहस्य+आख्यायिनाम्**) राज्य के रहस्यमय समाचारों को लाने में नियुक्त गुप्तचरों (**च**) और (**प्रणिधीनाम्**) दूतों और गुप्तचराधिकारियों के (**चेष्टितम्**) कार्यों एवं समाचारों को (**शृणुयात्**) सुने॥ २२३॥

अनुशीलन—यहाँ ७.१५३ की पुनरुक्ति नहीं है। वहाँ इन बातों की योजना पर मन्त्रणा का प्रसंग है। यहाँ योजनाबद्धरूप से नियुक्त अधिकारियों गुप्तचरों की सूचनाएँ (रिपोर्टें) सुनने का कथन तथा राजा की सायंकालीन दिनचर्या है।

गुप्तचरों को समझाकर सायंकालीन भोजन के लिए अन्त:पुर में जाना—

गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम्।
प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः॥ २२४॥
(१८२)

(**तु**) और फिर (**तं जनम्**) उन सब लोगों को (**अन्यत् सम्+अनुज्ञाप्य**) और आगे के लिए जो कुछ समझाना-कहना है उस सबका आदेश देकर (**पुनः**) फिर (**अन्तःपुरं गत्वा**) अन्तःपुर में जाकर वहां (**स्त्रीवृतः**) स्त्री आदि परिजनों के साथ, या द्वितीयार्थ में अंगरक्षिका स्त्रियों से सुरक्षित (**कक्षान्तरं भोजनार्थं प्रविशेत्**) भोजनशाला के कमरे में सायंकालीन भोजन

करने के लिए प्रवेश करे॥ २२४॥[१]

अनुशीलन—(१) **'स्त्रीवृतः' का मनुसम्मत अर्थ**—प्रचलित टीकाओं में 'स्त्रीवृतः' का अर्थ 'दासियों से घिरा' किया गया है जो मनुविरुद्ध है—(क) मनु ने राजधर्म में कहीं भी राजा के लिए दासियों का विधान नहीं किया है। (ख) पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों का संग निषिद्ध किया है [द्रष्टव्य ७.२२१ की समीक्षा], (ग) ७.२०८, २२१ में भी इसी का प्रसंग है। वहाँ स्त्री का अर्थ पत्नी आदि परिजन है। वह इस भाष्य के अर्थ का पोषक है।

यदि 'स्त्रीवृतः' का अर्थ अंगरक्षिका स्त्री-सैनिकों या अंगरक्षिका परिचारिकाओं से सुरक्षित' किया जाये, जैसा कि कौटिल्य का भी मत है; तो मनु से विरोध नहीं आता। किन्तु दासी अर्थ मनुसम्मत नहीं है।

(२) **'स्त्रीवृतः' की कौटिल्य के दृष्टिकोण से व्याख्या**—आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजा को आत्मरक्षा के लिए जो निर्देश दिये हैं, उनमें से इस श्लोक के सन्दर्भ में दो बातें उल्लेखनीय हैं। (क) कौटिल्य ने अनेक उदाहरण देकर बतलाया है कि रानियों ने षड्यन्त्र की शिकार होकर बहुत-से राजाओं को मार डाला। अतः अपनी रानी के महल में भी राजा को एकाकी नहीं जाना चाहिए। साथ में प्रौढ़ अंगरक्षिका स्त्रियां होनी चाहिएँ। (ख) **कौटिल्य** ने राजा को अन्तःकक्ष के समीप वाले दूसरे कक्षों में धनुर्धारी अंगरक्षिकाओं को रखने का विधान किया है। उसके बाद के कक्षों में पुरुष रक्षकों को रखने का निर्देश है। यह सुरक्षा के दृष्टिकोण से है। इस प्रकार कौटिल्य के वर्णन के अनुसार 'स्त्रीवृतः' का अर्थ 'अंगरक्षिका शस्त्रधारी स्त्रियों से सुरक्षित' भी हो सकता है।[२]

---

१. **प्रचलित अर्थ**—इसके बाद उन्हें विदाकर परिचारिकाओं (दासियों) से परिवृत होकर भोजन के लिए फिर अन्तःपुर में प्रवेश करे॥ २२४॥

२. **''अन्तर्गृहगतः स्थविरस्त्रीपरिशुद्धां देवीं पश्येत्। न काञ्चिदभिगच्छेत्।''** [प्रक० १५, अ० १९]
''शयनादुत्थितः स्त्रीगणैर्धन्विभिः परिगृह्येत।'' (प्रक० १६, अ० २०)

रात्रिशयनकाल—

तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः।
संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः॥ २२५॥
(१८३)

(**तत्र**) वहां अन्त:पुर में (**भुक्त्वा**) भोजन करके (**पुनः**) उसके पश्चात् (**तूर्यघोषैः प्रहर्षितः**) शहनाई-तुरही आदि बाजों के संगीत से मन को प्रसन्न करके (**संविशेत्**) सो जाये (**तु**) और (**गतक्लमः**) विश्राम करके श्रान्तिरहित होकर (**यथाकालम् उत्तिष्ठेत्**) निर्धारित समय अर्थात् रात्रि के पिछले पहर ब्राह्ममुहूर्त्त में [७.१४५] उठे॥ २२५॥

एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः।
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत्॥ २२६॥
(१८४)

(**अरोगः**) स्वस्थ अवस्था में (**पृथिवीपतिः**) राजा (**एतत् विधानम्+आतिष्टेत्**) इस पूर्वोक्त विधि से कार्यों को करे (**अस्वस्थः**) अस्वस्थ हो जाने पर (**एतत् सर्वं तु**) यह सब कार्यभार (**भृत्येषु**) पृथक्-पृथक् विभागों में नियुक्त प्रमुख मन्त्रियों को [७.५४, १२०, १४१, ८.९-११] (**विनियोजयेत्**) सौंप देवे॥ २२६॥

अनुशीलन—(१) **श्लोकवर्णन पर विचार**—७.१४१ आदि श्लोकों की पुनरुक्ति नहीं है। इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि रुग्णावस्था आदि की स्थिति में अपने-अपने विभाग के प्रमुख अमात्यों या सभाओं के अधिकृत प्रमुखों को अपना कार्य निरीक्षण के लिए सौंप देवे, केवल एक को ही नहीं। यह राजा की संक्षेप में दिनचर्या या कार्यपद्धति है। पृथक्-पृथक् विभागों के प्रसंगानुसार यही पद्धति ७.५४, ८१, १२०, १४१; ८.९-११ श्लोकों में कही है। उस का इस श्लोक में उपसंहार है।

(२) **भृत्य शब्द के अर्थ पर विचार**—भृत्य शब्द का आजकल अधिक प्रचलित अर्थ 'नौकर' है। यह एक पक्ष में रूढ हो गया है। इस श्लोक में भृत्य से नौकर अर्थ की

भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। यहां भृत्य से अभिप्राय उन सभी अधिकारियों-कर्मचारियों से है जो राजा के आश्रित भरण-पोषण पाने वाले मन्त्री से लेकर कर्मचारी तक हैं। भृत्य का अर्थ 'अमात्य' और 'मन्त्री' अर्थ भी है और संस्कृत-साहित्य में प्रचलित है। ७.३६-६२ श्लोकों के प्रसंग में

इति महर्षिमनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारव
समीक्षाभ्यां विभूषितायाञ्च विशुद्ध

भृत्य शब्द के अन्तर्गत मन्त्रियों, अमात्यों से लेकर निम्न कर्मचारी तक परिगणित हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी भृत्य और अमात्यों से लेकर कर्मचारी वर्ग एवं आचार्य और पुरोहित तक गृहीत हैं। [देखिए 'भृत्यभरणीय' नामक ९१वां प्रकरण।]

**कृतहिन्दीभाष्यसमन्वितायाम् अनुशीलन-
मनुस्मृतौ राजधर्मात्मकः सप्तमोऽध्यायः ॥**

अथ अष्ट

(हिन्दीभाष्य-'अनुशी

(राजधर्मान्तर्गत

(८.१ से ९.

व्यवहारों अर्थात् मुकद्दमों के निर्णय के लिए राजा का न्यायसभा में प्रवेश—

व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत् सभाम्॥ १॥

(१)

(**व्यवहारान्**) व्यवहारों अर्थात् मुकद्दमों [८.४-७] को (**दिदृक्षुः तु**) देखने अर्थात् निर्णय करने का इच्छुक (**पर्थिवः**) राजा और न्यायाधीश (**ब्राह्मणैः**) न्यायविद्या के ज्ञाता विद्वानों [८.११] (**मन्त्रज्ञैः**) परामर्शदाताओं (**च**) और (**मन्त्रिभिः**) मन्त्रियों [७.५४, ५६] के (**सह**) साथ (**विनीतः**) विनीतभाव एवं वेश में [८.२] (**सभां प्रविशेत्**) सभा=न्यायालय [८.१२] में प्रवेश करे॥ १॥

अनुशीलन—(१) **मन्त्रज्ञ और ब्राह्मण का विशेष अभिप्राय**—इस श्लोक में '**मन्त्रज्ञैः**' से अभिप्राय मुकद्दमों में उस-उस विषय के परामर्श-दाताओं से है। '**मन्त्रिभिः**' से अभिप्राय उस-उस विभाग के प्रमुख मन्त्रियों से या अमात्यों से है जो राजा द्वारा न्याय के लिए अधिकृत विद्वान् के रूप में नियुक्त किये जाते हैं [७.५४, ६०; ८.११]। 'ब्राह्मण' शब्द से यहां अभिप्राय वेदविद्याओं के ज्ञाता न्यायाधीश, श्रोत्रिय विद्वानों से है, जिनका वर्णन ब्रह्मसभा अर्थात् न्यायाधीश विद्वानों की सभा के रूप में ८.११ में आया है [द्रष्टव्य ८.११ और १.८८ पर समीक्षा]। ब्राह्मण शब्द का प्रयोग यहां विशेषाभिप्राय से है। वह अभिप्राय यह है कि न्यायाधीश ब्रह्म अर्थात् वेदों के विशेषवेत्ता और धार्मिकता गुणप्रधान विद्वान् अवश्य होने चाहिएं, इसीलिए

मोऽध्यायः

लन'-समीक्षा सहित)

व्यवहार-निर्णय)

२५० पर्यन्त)

८.११ में '**वेदविदः**' का प्रयोग किया है।

(२) **विनीत होने का उद्देश्य**—राजा को विनीत भाव एवं वेशभूषा से न्यायालय में जाने के कथन का उद्देश्य यह है कि प्रार्थी और साक्षी आदि उसके अहंकार कठोर भावों को देखकर भयभीत न हों और बिना घबराहट के स्वाभाविक रूप से अपनी बात कह सकें। अगले ही श्लोक में इसी उद्देश्य से '**विनीत वेषाभरणः**' पद का भी प्रयोग किया गया है।

(३) वेदमन्त्र में भी इसी प्रकार का वर्णन है। मनु ने उसी के अनुरूप व्यवस्था दी है—

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिः, देवैरग्ने सयावभिः। आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रोऽअर्य्यमा प्रातर्यावाणोऽध्वरम्॥

(यजु० ३३.१५)

भाषार्थ—(**श्रुत्कर्ण**) प्रार्थी के वचन को सुनने वाले कानों से युक्त (**अग्ने**) अग्नि के तुल्य तेजस्वी विद्वान् वा राजन्! (**सयावभिः**) साथ चलने वाले, (**वह्निभिः**) कार्य के निर्वाहक (**देवैः**) विद्वानों के साथ (**अध्वरम्**) हिंसारहित राज्यव्यवहार को [ऐसा मुकद्दमा जिसमें किसी के साथ अन्याय न हो] (**श्रुधि**) सुन। (**प्रातर्यावाणः**) प्रातः राजकार्यों को प्राप्त कराने वाले, (**मित्रः**) पक्षपात से रहित सबक मित्र और (**अर्यमा**) अर्य=वैश्य वा स्वामी जनों का मान करने वाला न्यायाधीश (**बर्हिषि**) आकाश के तुल्य विशाल सभा में (**आसीदन्तु**) विराजमान हों।

भावार्थ—सभापति राजा, सुपरीक्षित अमात्यजनों को स्वीकार करके, उनके साथ सभा में बैठकर, विवाद करने वालों के वचनों को सुनकर, यथार्थ न्याय करे।

(ऋषि दयानन्दभाष्य)

न्यायसभा में मुकद्दमों को देखें—

तत्रासीनः स्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्।
विनीतवेषाभरणः पश्येत् कार्याणि कार्यिणाम्॥ २॥

(२)

राजा और न्यायाधीश (**तत्र**) वहां न्यायालय में (**विनीत-वेष+आभरणः**) विनीत वेशभूषा एवं आभूषणों=प्रतीक चिह्नों से युक्त होकर (**आसीनः अपि वा स्थितः**) सुविधानुसार बैठकर अथवा खड़ा होकर (**दक्षिणं पाणिम्+उद्यम्य**) दाहिने हाथ को उठा (**कार्यिणाम्**) मुकद्दमे वालों के (**कार्याणि**) कार्यों= विवादों को (**पश्येत्**) देखे=निर्णय करे [७.१४६ में राजसभा में भी इसी प्रकार सुविधानुसार खड़े होने या बैठने की व्यवस्था का कथन है]॥ २॥

अनुशीलन—मुहावरे पर विचार—इस श्लोक में '**दक्षिणं पाणिम् उद्यम्य**' का एक मुहावरे के रूप में प्रयोग है। यह क्रिया 'अपनी बात कहना' या 'निर्णय देना' प्रारम्भ करने की 'प्रतीक' है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जब तक निर्णय दे तब तक दायां हाथ उठाये रखे, अपितु यह है कि विवाद करते हुए लोगों को सुनकर अपनी बात या निर्णय कहते समय दायां हाथ उठाकर संकेत करे। जो सामने वाले लोगों के लिए इस बात का प्रतीक या संकेत होता है कि राजा या न्यायाधीश अब अपनी बात कहना चाहते हैं। यह परम्परा आज भी प्रचलित है। बड़ी-बड़ी सभाओं में, श्रेणियों में, भीड़भरे न्यायालयों में बोलते हुए लोगों को चुप करने और अपनी बात कहने के लिए वक्ता हाथ उठाकर संकेत करता है। लोग चुप होकर उसकी बात को सुनने के लिए ध्यान लगाते हैं।

अठारह प्रकार के मुकद्दमे—

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक्॥ ३॥

(३)

न्यायाधीश और राजा (**अष्टादशसु मार्गेषु पृथक् पृथक् निबद्धानि**) अठारह प्रकारों में पृथक्-पृथक्

विभक्त विवादों=मुकद्दमों को (**देशदृष्टैः च शास्त्रदृष्टैः हेतुभिः**) देश-काल आधारित [८.१२६] और शास्त्रोक्त न्यायविधि पर आधारित युक्ति-प्रमाणों के अनुसार (**प्रत्यहम्**) प्रतिदिन विचारे, निर्णय करे॥ ३ ॥

ऋषि अर्थ—''सभा, राजा और राजपुरुष सब लोग देशाचार और शास्त्रव्यवहार के हेतुओं से निम्नलिखित अठारह विवादास्पद मार्गों में विवादयुक्त कर्मों का निर्णय प्रतिदिन किया करें। और जो-जो नियम शास्त्रोक्त न पावें और उनके होने की आवश्यकता जानें, तो उत्तमोत्तम नियम बांधें कि जिससे राजा और प्रजा की उन्नति हो॥'' (स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—'पृथक्-पृथक्' पदों से यहां पर अभिप्राय है कि राजा—जो अठारह प्रकार के विवाद हैं उनमें पृथक्-पृथक् विवाद से सम्बन्धित विद्वानों, परामर्शदाताओं और मन्त्रियों के साथ मिलकर, विचार करके निर्णय करे।

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥ ४॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥ ५॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसङ्ग्रहणमेव च॥ ६॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥ ७॥
(४-७)

अठारह विवाद ये हैं—(**तेषाम्+आद्यम्**) उनमें पहला है १—(**ऋणादानम्**) किसी से ऋण लेकर न देने का विवाद [८.४७-१७८], २—(**निक्षेपः**) धरोहर रखने में विवाद होना अर्थात् किसी ने किसी के पास कोई पदार्थ रखा हो और मांगे पर न देना [८.१७९-१९६], ३—(**अस्वामिविक्रयः**) किसी के पदार्थ को अस्वामी द्वारा बेचना [८.१९७-२०५], ४. (**सम्भूय च समुत्थानम्**) मिलकर किये जाने वाले

व्यापार में अन्याय करना [८.२०६-२११], ५—(**दत्तस्य अनपकर्म च**) दिये हुए पदार्थ को न लौटाना [८.२१२-२१३], ६—(**वेतनस्य+एव च+अदानम्**) वेतन अर्थात् किसी की 'नौकरी' में वेतन कम देना या न देना [८.२१४-२१७], ७—(**संविदः च व्यतिक्रमः**) प्रतिज्ञा के विरुद्ध व्यवहार करना [८.२१८-२२१], ८—(**क्रय-विक्रय+अनुशयः**) क्रय-विक्रयानुशय अर्थात् लेन-देन में झगड़ा होना [८.२२२-२२८], ९—(**स्वामि-पालयोः विवादः**) पशु के स्वामी और पशुपालक का झगड़ा [८.२२९-२४४], १०—(**सीमाविवादधर्मः च**) सीमा का विवाद [८.२४५-२६५], ११-१२—(**पारुष्ये दण्ड-वाचिके**) किसी को कठोर दण्ड देना [८.२७८-३००], कठोरवाणी का बोलना [८.२६६-२७७], १३—(**स्तेयम्**) चोरी करना [८.३०१-३४३], १४—(**साहसम् एव**) किसी के साथ बलात् दुर्व्यवहार करना [८.३४४-३५१], १५—(**स्त्री-संग्रहणम् एव च**) किसी स्त्री से छेड़छाड़ और व्यभिचार करना [८.३५२-३८७], १६—(**स्त्री-पुम्+धर्मः**) विवाहित स्त्री और पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना [९.१-१०२], १७—(**विभागः**) दायभाग में विवाद होना [९.१०३-२१९], १८—(**द्यूतम्+आह्वयः+एव च**) द्यूत अर्थात् जड़पदार्थ और [आह्वय]=समाह्वय अर्थात् चेतन को दाव में धरके जुआ खेलना [९.२२०-२५०], (**अष्टादश+एतानि**) अठारह प्रकार के ये (**व्यवहारस्थितौ पदानि**) परस्पर के व्यवहार में होने वाले विवाद के स्थान हैं॥ ४-७॥

(ऋषि व्याख्यात स०प्र०, समु० ६)

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात् कार्यविनिर्णयम्॥ ८॥
(८)

न्यायाधीश राजा (**एषु स्थानेषु**) इन [८.४-७] अठारह व्यवहारों में (**भूयिष्ठं विवाद चरतां नृणाम्**)

बहुत से विवाद करने वाले पुरुषों के (**कार्यविनिर्णयम्**) विवादों का निर्णय (**शाश्वतं धर्मम् आश्रित्य**) सनातन न्यायविधि का आश्रय करके (**कुर्यात्**) किया करे ॥ ८ ॥ (ऋषि व्याख्यात स०प्र०, समु० ६)

राजा के अभाव में मुकद्दमों के निर्णय के लिए मुख्य न्यायाधीश विद्वान् की नियुक्ति—

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
तदा नियुञ्ज्याद् विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने॥ ९ ॥
(९)

(**यदा**) जब कभी [रुग्णता आदि विशेष कारण से अथवा कार्य की अधिकता के कारण] (**नृपतिः**) राजा (**स्वयं कार्यदर्शनम्**) खुद मुकद्दमों का निरीक्षण एवं निर्णय (**न कुर्यात्**) न करे (**तदा**) तब (**ब्राह्मणम् विद्वांसम्**) धार्मिक वेदवेत्ता विद्वान् [८.११] न्यायाधीश को (**कार्यदर्शने**) मुकद्दमों के निरीक्षण एवं निर्णय के लिए (**नियुञ्ज्यात्**) नियुक्त कर दे॥ ९ ॥[1]

अनुशीलन—ब्राह्मण का अर्थ 'धार्मिक वेदवेत्ता न्यायाधीश' है। देखिए अगले श्लोक पर अनुशीलन।

मुख्य न्यायाधीश तीन विद्वानों के साथ मिलकर न्याय करे—

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा॥ १० ॥
(१०)

(**सः**) वह न्यायाधीश (**त्रिभिः सभ्यैः वृतः**) तीन अन्य सभा के विशेषज्ञ विद्वान् सदस्यों [८.११] के साथ (**अग्र्याम् सभां प्रविश्य**) सर्वोच्च न्यायसभा में प्रवेश करके (**आसीनः वा स्थितः एव**) बैठकर अथवा खड़ा होकर (**अस्य**) राजा के द्वारा विचारणीय (**कार्याणि**) विवादों को (**संपश्येत्**) न्यायानुसार भली प्रकार देखे॥ १० ॥

---

१. **प्रचलित अर्थ**—यदि राजा स्वयं विवादों (मुकद्दमों) का न्याय (फैसला) न करे तो उस कार्य को देखने के लिए विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त करे॥ ९ ॥

अनुशीलन—न्यायप्रसंग में ब्राह्मण और ब्रह्मसभा से अभिप्राय—अग्रिम ८.११ श्लोक में ब्रह्मसभा की परिभाषा की गई है। परिभाषा से पूर्व ९-१० श्लोकों में न्यायसभा के निर्माण का कथन है। इन श्लोकों में वर्णित विद्वानों से ८.११ में वर्णित ब्रह्मसभा बनती है। ब्रह्मसभा का अर्थ—'वेदवेत्ता न्यायाधीश विद्वानों की सभा'। इसी प्रकार ९वें श्लोक में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण वर्ण के लिए नहीं है, अपितु इस विशेष अभिप्राय से है कि राजा द्वारा अधिकृत जो विद्वान् न्यायाधीश नियुक्त किया जाये वह विशेष रूप से सब वेदों का विद्वान् और धार्मिकगुण-प्रधान होना चाहिए। वेदवेत्ता न्यायाधीश विद्वानों की सभा होने के कारण ही ८.११ में न्यायसभा को 'ब्रह्मसभा' कहा गया है। वहां स्पष्टतः 'वेदविदः' विशेषण भी उक्त अर्थ को पुष्ट करता है। इस प्रसंग में ब्राह्मण शब्द ब्राह्मण वर्ण के लिए नहीं अपितु वेदवेत्ता न्यायाधीश विद्वानों के लिए है।

यहाँ यह शंका उठ सकती है कि ७.१४१ में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग न करके 'अमात्यप्रमुख' को अपने बाद कार्य सौंपने का वर्णन है। इसका उत्तर यह है कि वहां राजसभा संचालन के लिए सर्वप्रमुख मन्त्री को कार्य सौंपने का विधान है, और वह भी केवल रुग्णावस्था में। यहां ब्रह्मसभा अर्थात् न्यायसभा के लिए मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति का प्रसंग है। राजसभा के लिए प्रशासनिक गुणविशेषों वाला व्यक्ति उत्तराधिकारी होता है, और न्याय के लिए न्यायगुणों की विशेष योग्यता वाला व्यक्ति। अतः उस श्लोक और इसका प्रसंग ही अलग है। दूसरी बात यह है कि यहां रुग्णावस्था में नियुक्ति का विधान नहीं है, अपितु अकेला राजा प्रत्येक कार्य नहीं कर सकता, समयाभाव आदि कारणों से अपने स्थान पर वह किसी भी अधिकृत विद्वान् को मुख्य न्यायाधीश के रूप में नियुक्त करे—यहां यह अभिप्राय है। जितनी न्यायसभा होंगी, उसके अनुसार वे अनेक भी हो सकते हैं। [इस विषय पर १.८८, ८.१ की समीक्षा-२ भी द्रष्टव्य है]। मनुस्मृति में सभी वर्णों के वेदवेत्ता विद्वानों के लिए ब्राह्मण, द्विज, विप्र आदि शब्दों का पर्यायवाची रूप में प्रयोग हुआ है [द्रष्टव्य ४.२४५ पर समीक्षा]।

ब्रह्मसभा (न्यायसभा) की परिभाषा—

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभां विदुः॥११॥
(११)

(**यस्मिन्**) जिस (**देशे**) न्यायसभा में (**वेदविदः**) वेदों के ज्ञाता (**त्रयः विप्राः**) तीन विद्वान् [१२.११२] (**निषीदन्ति**) न्याय करने के लिए बैठते हैं (**च**) और (**राज्ञः अधिकृतः विद्वान्**) राजा द्वारा नियुक्त उस विषय का एक विशेषज्ञ (**तां ब्रह्मणः सभां विदुः**) उस चार न्यायाधीशों की सभा को '**ब्रह्मसभा**' अर्थात् न्यायसभा कहते हैं॥११॥

मुकद्दमों के निर्णय में धर्म की रक्षा की प्रेरणा—

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥१२॥
(१२)

(**यत्र सभाम्**) जिस न्यायसभा [८.११] में (**धर्मः अधर्मेण विद्धः उपतिष्ठते**) धर्म अर्थात् न्याय, अधर्म अर्थात् अन्याय से घायल होकर उपस्थित होता है (**च**) और (**अस्य शल्यं न कृन्तन्ति**) न्यायसभा के सदस्य यदि धर्म अर्थात् न्याय को घायल करने वाले उस अधर्म अर्थात् अन्याय रूपी तीर को नहीं निकालते हैं अर्थात् उस अधर्म=अन्याय को दूर नहीं करते हैं तो यह समझो (**तत्र सभासदः विद्धाः**) उस सभा के सभासद् ही अधर्म से घायल हैं, वे अधर्मी=अन्यायकारी हैं॥१२॥

ऋषि अर्थ—"जिस सभा में अधर्म से घायल होकर धर्म उपस्थित होता है, जो उसका शल्य अर्थात् तीरवत् धर्म के कलंक को निकालना और अधर्म का छेदन नहीं करते अर्थात् धर्मी को मान, अधर्मी को दण्ड नहीं मिलता, उस सभा में जितने सभासद् हैं, वे सब घायल के समान समझे जाते हैं।" (स०प्र०, समु० ६)
(अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, गृहस्थ०)

अनुशीलन—लगभग यही भाव ८.१४ में वर्णित

है। राजर्षि मनु ने न्याय करने और अन्याय न करने में सावधान रहने के लिए पर्याप्त बल दिया है। इन वर्णनों से हम मनु की न्यायप्रियता और धर्मनिष्ठा का अनुमान सरलता से लगा सकते हैं। ऐसा न्याय का प्रबल पक्षधर व्यक्ति कभी किसी अन्याय का विधान नहीं कर सकता। इन विधानों से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि उपलब्ध मनुस्मृति में आज जो भी अन्याययुक्त कथन मिलते हैं वे मनु के नहीं हैं। वे बाद के लोगों ने स्वार्थ साधने हेतु मिलाये हैं।

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी॥ १३॥

(१३)

मनुष्य को अथवा न्याय-सभासद् को (**वा**) या तो (**सभां न प्रवेष्टव्यम्**) सभा में जाना ही नहीं चाहिए (**वा**) अथवा (**समञ्जसं वक्तव्यम्**) वहां यदि जाता है तो उसको न्यायोचित अर्थात् सत्य ही बोलना चाहिए, (**अब्रुवन् अपि या विब्रुवन्**) सभा में जाकर सामने असत्य-अन्याय के होते हुए मौन रहने पर भी और असत्य-अन्यायोचित बोलने पर भी (**नरः किल्बिषी भवति**) मनुष्य पापी-अपराधी होता है॥ १३॥

ऋषि अर्थ—''मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे, यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले। यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुनके मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले वह मनुष्य अतिपापी है।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—'किल्बिषम्' शब्द पर विशेष विचार ८.३१६ की समीक्षा में द्रष्टव्य है। पापी होने से यहां अभिप्राय अपराधी, दोषभागी एवं अपयश भागी होने से है।

अन्याय करने वाले सभासद् मृतकवत् हैं—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥ १४॥

(१४)

(**यत्र**) जिस न्यायसभा में (**प्रेक्षमाणानाम्**) सभासदों की उपस्थिति में उनके देखते-सुनते (**अधर्मेण धर्मः**) अधर्म=अन्याय से धर्म=न्याय (**च**) और (**यत्र**) जहाँ (**अनृतेन सत्यं हन्यते**) झूठ से सत्य मारा जाता है, (**तत्र**) उस सभा में (**सभासदः हताः**) सभी सभासद् मानो मरे हुए हैं, अर्थात् उनमें न्याय करने की योग्यता और सक्षमता ही नहीं है॥ १४॥

ऋषि अर्थ—''जिस सभा में अधर्म से धर्म, असत्य से सत्य, सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है, उस सभा में सब मृतक के समान हैं; जानो उनमें कोई भी नहीं जीता।'' (स०प्र०, समु० ६) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, गृहस्थ०)

अनुशीलन—यही भाव ८.१२ में वर्णित है। इन श्लोकों से मनु की न्यायप्रियता और धर्मप्रियता का बोध होता है।

मारा हुआ धर्म मारने वाले को ही नष्ट कर देता है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥ १५॥
(१५)

(**हतः धर्मः एव**) मारा हुआ धर्म निश्चय से (**हन्ति**) मारने वाले का नाश करता है और (**रक्षितः धर्मः**) रक्षित किया हुआ धर्म (**रक्षति**) रक्षक की रक्षा करता है (**तस्मात्**) इसलिए (**धर्मः न हन्तव्यः**) धर्म का हनन कभी न करना चाहिये, यह विचार कर कि (**हतः धर्मः**) मारा हुआ धर्म (**नः मा अवधीत्**) कभी हमको न मार डाले॥ १५॥

ऋषि अर्थ—''जो पुरुष धर्म का नाश करता है, उसी का नाश धर्म कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी धर्म भी रक्षा करता है, इस लिए मारा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले, इस भय से धर्म का हनन अर्थात् त्याग कभी न करना चाहिए।'' (सं० वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—**धर्मपालन से रक्षा**—जब मनुष्य धर्म अर्थात् कानून और कर्त्तव्य का पालन नहीं करता और

उसके विरुद्ध कार्य करता है तो पकड़े जाने पर उसके बदले उसे दण्ड, सजा, अपमान आदि भोगने पड़ते हैं। यह मारे हुए धर्म द्वारा मनुष्य का मारा जाना है। जो कानून और कर्त्तव्य का पालन करता है तो उसको कोई दण्ड, सजा, अपमान आदि नहीं मिलते। यह धर्म की रक्षा द्वारा मनुष्य की रक्षा किये जाने का उदाहरण है। अन्याय करने वाले सभासदों को भी इसी प्रकार अधर्म, असत्य के फल भुगतने पड़ते हैं।

धर्महन्ता वृषल कहाता है—

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥ १६॥

(१६)

(**धर्मः हि भगवान् वृषः**) निश्चय से, धर्म ऐश्वर्यों का देने वाला और सुखों की वर्षा करने वाला है (**यः तस्य हि+अलम्—कुरुते**) जो उसका लोप करता है (**तम्**) उसी को (**देवाः**) विद्वान् लोग (**वृषलं विदुः**) वृषल अर्थात् धर्मनाशक जानते हैं (**तस्मात्**) इसलिए, किसी मनुष्य को (**धर्मं न लोपयेत्**) धर्म का लोप करना उचित नहीं॥ १६॥

ऋषि अर्थ—''जो सुख की वृद्धि करनेहारा, सब ऐश्वर्य का दाता धर्म है, उसका जो लोप करता है, उसको विद्वान् लोग वृषल अर्थात् नीच समझते हैं।'' (सं०वि०, गृहस्थ०) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ६)

धर्म ही परजन्मों में साथ रहता है—

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥ १७॥

(१७)

इस संसार में (**एकः धर्मः एव सुहृद्**) एक धर्म ही सुहृद=सच्चा मित्र है (**यः**) जो (**निधने+अपि+अनुयाति**) मृत्यु के पश्चात् भी साथ रहता है, (**अन्यत् सर्वं हि**) जब कि अन्य सब पदार्थ वा संगी (**शरीरेण समं नाशं गच्छति**) शरीर के नाश के साथ ही नाश को प्राप्त होते हैं अर्थात् सब इसी संसार में छूट जाते हैं, परन्तु धर्म का साथ कभी नहीं छूटता, उसका पुण्य-फल

अग्रिम जन्मों में भी मिलता है ॥ १७ ॥

ऋषि अर्थ—''इस संसार में एक धर्म ही सुहृद् है, जो मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता है, और सब पदार्थ वा संगी शरीर के नाश के साथ ही नाश हो प्राप्त होते हैं अर्थात् सब संग छूट जाता है परन्तु धर्म का संग कभी नहीं छूटता।'' (स०प्र०, समु० ६)

अन्याय से सब सभासदों की निन्दा—

पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति॥ १८ ॥

(१८)

न्यायसभा में पक्षपात से किये गये अन्याय का =अधर्म का (**पादः**) चौथाई भाग (**अधर्मस्य कर्त्तारम्**) अधर्म =अन्याय के कर्त्ता को (**पादः**) चौथाई भाग (**साक्षिणम्**) साक्षी को (**ऋच्छति**) प्राप्त होता है, और (**पादः**) चौथाई अंश (**सर्वान् सभासदः**) शेष सब न्यायसभा को तथा (**पादः**) चौथाई अंश (**राजानम्**) राजा को (**ऋच्छति**) प्राप्त होता है अर्थात् उस अधर्म का फल और निन्दा सभी को प्राप्त होती है ॥ १८ ॥

ऋषि अर्थ—''जब राजसभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है, वहाँ अधर्म के चार विभाग हो जाते हैं। उनमें से एक अधर्म के कर्त्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा सभासदों और चौथा पाद अधर्मी सभा के सभापति राजा को प्राप्त होता है।'' (स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—अधर्म शब्द से अभिप्राय—अधर्म शब्द से यहां अभिप्राय अन्याय या दोषभागी होने से है। ये सब इसी प्रकार अपयश के पात्र बनकर अधर्म के फल पाप और निन्दा के भागी होते हैं। प्रजाएं उन सबकी निन्दा करती हैं। इस विषयक विस्तृत विवेचन ८.३१६ पर द्रष्टव्य है।

राजा यथायोग्य व्यवहार से पापी नहीं कहलाता—

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते॥ १९ ॥

(१९)

(**यत्र**) जिस सभा में (**निन्दा-अर्हः निन्द्यते**) निन्दा के पात्र अर्थात् अधर्म करने वाले की निन्दा होती है, अर्थात् अधर्मी दण्डित होता है वहां (**राजा तु अनेनाः भवति**) राजा पाप का, अपराध का भागी नहीं होता (**च**) और (**सभासदः मुच्यन्ते**) सभी सभासद् भी अधर्म के पाप से मुक्त हो जाते हैं, (**कर्तारम् एनः गच्छति**) केवल अधर्म का कर्ता ही अधर्म के पाप और दण्ड का भागी होता है ॥ १९ ॥

ऋषि अर्थ—''जिस सभा में निन्दा के योग्य की निन्दा, स्तुति के योग्य की स्तुति, दण्ड के योग्य को दण्ड और मान्य के योग्य का मान्य होता है, वहां राजा और सब सभासद् पाप से रहित और पवित्र हो जाते हैं, पाप के कर्त्ता ही को पाप प्राप्त होता है ॥''

(स०प्र०, समु० ६)

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम्।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च॥ २५॥
(२०)

न्यायकर्ता को (**बाह्यैः**) बाहर के (**लिङ्गैः**) चिह्नों से [वेशभूषा, चाल, शरीर की मुद्राएं, आदि के लक्षणों से] (**स्वर-वर्ण-इङ्गित-आकारैः**) स्वर—बोलते समय रुकना, घबराना, गद्गद् होना आदि से; वर्ण—चेहरे का फीका पड़ना, लज्जित होना आदि से; इङ्गित—मुकद्दमे के अभियुक्तों के परस्पर के संकेत, सामने न देख सकना, इधर-उधर देखना आदि से; आकार—मुख, नेत्र आदि का आकार बनाना, काँपना, पसीना आना आदि (**चक्षुषा**) आंखों में उत्पन्न होने वाले भावों से (**च**) और (**चेष्टितेन**) चेष्टाओं—हाथ मसलना, अंगुलियां चटकाना, अंगूठे से जमीन कुरेदना, सिर खुजलाना आदि से (**नृणाम्**) मुकद्दमे में शामिल लोगों के (**अन्तर्गतभावम्**) मन में निहित सही भावों को (**विभावयेत्**) भांप लेना—जान लेना चाहिये और उनके आधार पर विचार कर निर्णय देना चाहिए॥ २५॥

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः॥ २६॥
(२१)

(**आकारैः**) शरीर के आकारों से (**इङ्गितैः**) संकेतों से (**गत्या**) चाल से (**चेष्टया**) चेष्टा=शारीरिक क्रिया से (**च**) और (**भाषितेन**) बोलने से (**च**) तथा (**नेत्र-वक्त्र-विकारैः**) नेत्र एवं मुख के विकारों= हावभावों से (**अन्तर्गतं मनः**) मनुष्यों के मन में निहित भाव (**गृह्यते**) भलीभांति ज्ञात हो जाता है॥ २६॥

बालधन की रक्षा—

बालदायादिकं रिक्थं तावद् राजाऽनुपालयेत्।
यावत् स स्यात् समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः॥ २७॥
(२२)

(**राजा**) राजा और न्यायाधीश (**बाल-दाय+ आदिकं रिक्थम्**) बालक अर्थात् नाबालिग या अनाथ बालक की पैतृक सम्पत्ति और अन्य धन-दौलत की (**तावत्**) तब तक (**अनुपालयेत्**) रक्षा करे (**यावत् सः**) जब तक वह बालक (**समावृत्तः स्यात्**) समावर्तन संस्कार होकर अर्थात् गुरुकुल से स्नातक बनकर घर न आ जाये [३.१-२] (**च**) और (**यावत्**) जब तक वह (**अतीतशैशवः**) वयस्क न हो जाये॥ २७॥

वन्ध्यादि के धन की रक्षा—

वन्ध्याऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च॥ २८॥
(२३)

(**वन्ध्या+अपुत्रासु**) बांझ और पुत्रहीन (**निष्कुलासु**) कुलहीन अर्थात् जिसके कुल में कोई पुरुष न रहा हो (**पतिव्रतासु**) पविव्रता स्त्री अर्थात् पति के परदेशगमन आदि के कारण से जो स्त्री अकेली हो (**विधवासु**) विधवा (**च**) और (**आतुरासु**) रोगिणी (**स्त्रीषु**) स्त्रियों की सम्पत्ति की (**रक्षणम्**) रक्षा भी (**एवम्**) इसी प्रकार अर्थात् उनके समर्थ हो जाने तक

[९.२९] अथवा जीवनभर (**स्यात्**) करनी चाहिए, इनकी रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है॥ २८॥

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः।
ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः॥ २९॥
(२४)

(**तासां जीवन्तीनाम्**) उन [८.२८ में उक्त] जीती हुई स्त्रियों के (**तत्**) धन को (**ये स्वबान्धवाः**) जो उनके रिश्तेदार या भाई-बन्धु (**हरेयुः**) हर लें, कब्जा लें (**तु**) तो (**धार्मिकः पृथिवीपतिः**) धार्मिक राजा और न्यायाधीश (**तान्**) उन व्यक्तियों को (**चौरदण्डेन**) चोर के समान दण्ड से (**शिष्यात्**) शिक्षा दे अर्थात् चोर के समान दण्ड देकर [८.३०१-३४३] उनको अनुशासित करे॥ २९॥

लावारिस धन का नियम—

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत्।
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत्॥ ३०॥
(२५)

(**प्रणष्टस्वामिकं रिक्थम्**) स्वामी से रहित धन अर्थात् लावारिस धन कोई मिले तो उसको (**राजा**) राजा और न्यायाधीश (**त्रि+अब्दम्**) तीन वर्ष तक (**निधापयेत्**) स्वामी के आने की प्रतीक्षा में सुरक्षित रखें। (**त्रि+अब्दात् अर्वाक् स्वामी हरेत्**) तीन वर्ष से पहले यदि स्वामी आ जाये तो वह उसको दे दे [८.३१] (**परेण नृपतिः हरेत्**) उसके बाद उसे राजा राजकोष में ले ले॥ ३०॥

ममेदमिति यो ब्रूयात् सोऽनुयोज्यो यथाविधि।
संवाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद् द्रव्यमर्हति॥
३१॥ (२६)

(**यः**) जो कोई (**'मम+इदम्' इति ब्रूयात्**) उस लावारिस धन को 'यह मेरा है' ऐसा कहे तो (**सः यथाविधि अनुयोज्यः**) उससे उचित विधि से पूछताछ करे अर्थात् धन की संख्या, रंग, समय पहचान आदि पूछे (**रूप-संख्या+आदीन्**) धन का स्वरूप, मात्रा

आदि बातों को (**संवाद्य**) सही-सही बताकर ही (**स्वामी तत् द्रव्यम्+अर्हति**) दावा करने वाला स्वामी उस धन को लेने का अधिकारी होता है अन्यथा नहीं, अर्थात् सही-सही पहचान बताने पर ही राजा उस धन को लौटाये॥ ३१॥

अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति॥ ३२॥
(२७)

जो व्यक्ति (**नष्टस्य**) नष्ट हुए या खोये हुए लावारिस धन का (**देश कालं वर्णं रूपं च प्रमाणम्**) स्थान, समय, रंग, स्वरूप और मात्रा को (**तत्त्वतः अवेदयानः**) सही-सही बतलाकर सिद्ध नहीं कर पाता अर्थात् जो झूठा अधिकार जताकर उस धन को हड़पने का यत्न करता है तो वह (**तत् समं दण्डम्+अर्हति**) उस धन के बराबर दण्ड पाने का पात्र है अर्थात् झूठा दावा करने पर उसे उतना ही अर्थ दण्ड देना चाहिए॥ ३२॥

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः।
दशमं द्वादशं वाऽपि सतां धर्ममनुस्मरन्॥ ३३॥
(२८)

किसी के (**प्रणष्ट+अधिगतात्**) नष्ट या खोये लावारिस धन के प्राप्त होने पर उसमें से (**नृपः**) राजा (**सतां धर्मम्+अनुस्मरन्**) सज्जनों के धर्म का अनुसरण करता हुआ अर्थात् न्यायपूर्वक [धन के स्वामी की स्थिति अवस्था, देश, काल आदि को ध्यान में रखकर] (**षड्भागं दशमम् अपि वा द्वादशम् आददीत**) छठा, दशवां अथवा बारहवां भाग कर-रूप में ग्रहण करे॥ ३३॥

'राजा द्वारा सुरक्षित धन' की चोरी करने पर दण्ड—

प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम्।
यांस्तत्र चौरान् गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत्॥ ३४॥
(२९)

(**प्रणष्ट-अधिगतं द्रव्यम्**) चोरी हुए धन के प्राप्त

होने के बाद प्राप्त किये गये धन को राजा (**युक्तैः**) योग्य रक्षकों के (**अधिष्ठितं रक्षेत्**) पहरे=सुरक्षा में रखे (**तत्र**) अगर उस पहरे में रखे धन को भी (**यान् चौरान् गृह्णीयात्**) चोरी करते हुए जो चोर पकड़े जायें [चाहे वे पेशेवर चोर हों अथवा रक्षक राजपुरुष] (**तान् राजा+इभेन घातयेत्**) उन्हें राजा और न्यायाधीश हाथी से कुचलवाकर मरवा डाले॥ ३४॥

चोरी गये धन की प्राप्ति सम्बन्धी नियम—

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः।
तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा॥ ३५॥
(३०)

(**निधिम्**) चोरी गये प्राप्त धन को (**यः मानवः**) जो मनुष्य (**'अयं मम+इति' सत्येन ब्रूयात्**) रंग, रूप, तोल, संख्या आदि की ठीक पहचान के द्वारा 'यह वास्तव में मेरा है' ऐसा सच-सच बतला दे तो (**राजा**) राजा (**तस्य षड्भागं वा द्वादशम्+एव आददीत**) उस धन में से छठा या बारहवाँ-भाग कर के रूप में ले ले और शेष धन उसके स्वामी को लौटा दे॥ ३५॥

अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम्।
तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम्॥
३६॥ (३१)

(**अनृतं तु वदन्**) अगर कोई झूठ बोले अर्थात् चोरी गये किसी धन पर झूठा दावा करे या झूठ ही अपना बतलावे तो ऐसे अपराधी को (**स्ववित्तस्य+अष्टमम्+अंशं दण्ड्यः**) अपना कहे जाने वाले उस धन का आठवां भाग जुर्माना करे (**वा**) अथवा (**संख्याय**) हिसाब लगाकर (**तस्य+एव निधानस्य अल्पीयसीं कलां**) उस दावे वाले धन का कुछ-न-कुछ भाग जुर्माना अवश्य करे॥ ३६॥

कर्त्तव्यों में संलग्न व्यक्ति सबके प्रिय—

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः।
प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः॥
४२॥ (३२)

(**स्वानि कर्माणि कुर्वाणाः**) सौंपे गये अपने-अपने कर्त्तव्यों को करने वाले और (**स्वे-स्वे कर्मणि+अवस्थिताः**) अपने-अपने वर्ण और आश्रमों के कर्त्तव्यों-कर्मों में स्थित रहने वाले (**मानवाः**) मनुष्य (**दूरे सन्तः+अपि**) दूर रहते हुए भी (**लोकस्य प्रियाः भवन्ति**) समाज में प्रिय अर्थात् लोकप्रिय होते हैं॥ ४२॥

राजा या राजपुरुष विवादों को न बढ़ायें—

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः।
न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन॥ ४३॥ (३३)

(**राजा अपि+अस्य पुरुषः**) राजा अथवा कोई भी राजपुरुष (**स्वयं कार्यं न+उपपादयेत्**) स्वयं किसी विवाद को उत्पन्न न करें और न बढ़ायें (**च**) और (**अन्येन प्रापितम् अर्थम्**) अन्य किसी भी व्यक्ति द्वारा बताये या प्राप्त कराये गये धन को (**कथंचन**) किसी भी स्थिति में (**न ग्रसेत्**) स्वयं हड़पने की इच्छा न करें [जबतक 'यह धन किसका है' यह सिद्ध न हो जाये और वह लावारिस (७.३०) सिद्ध न हो जाये, तब तक राजा उसे अपने राजकोष में न ले और कोई राजपुरुष उसको बीच में ही हड़पने न पाये]॥ ४३॥

अनुशीलन—स्थानभ्रष्टश्लोक—श्लोक ८.२६ की ८.४४ से प्रसंग की सम्बद्धता है। यहां ८.७ तक १८ प्रकार के मुकद्दमों की गणना करके ८.४५ तक 'सत्य-सही निर्णय कैसे करें' मनु ने यह प्रसंग वर्णित किया है। संकेतित क्रमानुसार पहला मुकद्दमा भी ८.४७ से प्रारम्भ होता है। इस बीच बालधन, स्त्रीधन, लावारिस धन नष्ट हुए धन आदि से सम्बन्धित बातें प्रसंगानुकूल नहीं है। इस प्रकार के शेष सभी विधान मुकद्दमों के निर्णय के अन्त में ९.१५१ के पश्चात् वर्णित किये हैं। इनमें नष्ट या चोरी गये धन की चर्चाएँ हैं और चोरी-विवाद वाले ही दण्ड वर्णित हैं। प्रतीत होता है कि ये सभी श्लोक स्थानभ्रष्ट होकर यहाँ जुड़ गये हैं, ये चोरी-विवाद निर्णय (८.३०१-३४३) के अन्तर्गत होने चाहियें।

श्लोक ८.२६ की ८.४४ से प्रसंगगत सम्बद्धता भी

है। इस आधार पर इन सबको प्रक्षिप्त कहने का आधार भी बन सकता है, पर क्योंकि इनमें कोई प्रक्षेप की प्रवृत्ति नहीं है। ये सर्वसामान्य आवश्यक विधान हैं। मनु की किसी मान्यता से विरोध नहीं है। शैली भी मनुसम्मत है। अतः हमने इन्हें प्रक्षिप्त नहीं माना है।

अनुमान प्रमाण से निर्णय में सहायता—

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम्।
नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम्॥ ४४॥
(३४)

(**यथा**) जैसे (**मृगयुः**) शिकारी (**असृक्पातैः**) खून के धब्बों से (**मृगस्य पदं नयति**) हिरण के स्थान को खोज लेता है (**तथा**) वैसे ही (**नृपतिः**) राजा या न्यायकर्त्ता (**अनुमानेन**) अनुमान प्रमाण से (**धर्मस्य पदम्**) धर्म के तत्त्व अर्थात् वास्तविक न्याय का (**नयेत्**) निश्चय करे॥ ४४॥

सत्यमर्थं च सम्पश्येदात्मानमथ साक्षिणः।
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः॥ ४५॥
(३५)

(**व्यवहारविधौ स्थितः**) मुकद्दमों का फैसला करने के लिए उद्यत हुआ राजा (**सत्यम् च अर्थम्**) मुकद्दमे की सत्यता, न्याय-उद्देश्य (**आत्मानम्**) अपनी आत्मा के अनुकूल सत्य निर्णय को (**अथ साक्षिणः**) और साक्षियों को (**च**) तथा (**देशं रूपं च कालम्**) देश, विवाद की परिस्थिति एवं समय को (**संपश्येत्**) अच्छी प्रकार देखे=विचार करे॥ ४५॥

अनुशीलन—आत्मा के निर्णय का अभिप्राय है आत्मा की प्रेरणा के अनुकूल सत्य निर्णय करना। इसे समझने के लिए देखिए १.१२५ (२.६) पर इस सम्बन्धी अनुशीलन।

१. ऋण लेने-देने के विवाद का न्याय
(८.४७-१७८ तक)

ऋण का न्याय—

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः।
दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद् विभावितम्॥ ४७॥
(३६)

(**अधमर्ण+अर्थसिद्ध्यर्थम्**) अधमर्ण=ऋण-धारक से अपना धन वसूल करने के लिए (**उत्तमर्णेन चोदितः**) उत्तमर्ण=ऋण देने वाले अर्थात् धनी की ओर से प्रार्थना करने पर (**धनिकस्य विभावितम् अर्थम्**) धनी का वह लेख आदि से सिद्ध दावा किया हुआ धन (**अधमर्णात् दापयेत्**) ऋणधारक से दिलवाये॥ ४७॥

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम्।
दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः॥५१॥
(३७)

[४७वें में उक्त धन का] (**करणेन विभावितम्**) यदि लेख, साक्षी आदि साधनों से उस ऋण का लिया जाना निश्चित हो जाये (**तु**) और यदि (**अर्थे+अपव्ययमानम्**) ऋणधारक ऋण में लिये गये धन से मुकर जाये तो [राजा] (**धनिकस्य+अर्थं दापयेत्**) धनी का वह धन भी वापिस दिलवाये (**च**) और (**शक्तितः दण्डलेशम्**) उसकी शक्ति, धन आदि के अनुसार ऋणधारक पर कुछ न कुछ यथायोग्य दण्ड भी अवश्य करे॥ ५१॥

ऋणदाता से ऋण के लेख आदि प्रमाणों को मांगना—

अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि।
अभियोक्तादिशेद्देश्यं करणं वाऽन्यदुद्दिशेत्॥५२॥
(३८)

(**संसदि**) न्यायालय में (**'देहि+इति'+ उक्तस्य**) न्यायाधीश के द्वारा 'धनी का धन लौटा दो' ऐसा कहने पर (**अधमर्णस्य अपह्नवे**) यदि ऋणधारक ऋण लेने से निषेध की बात कहे तो (**अभियोक्ता**) मुकद्दमा करने वाला धनी ऋण देने की पुष्टि के लिए (**देश्यम्**)

प्रत्यक्षदर्शी साक्षी=गवाह को (**दिशेत्**) प्रस्तुत करे (**वा**) और (**अन्यत् करणम् उद्दिशेत्**) अन्य लेख आदि प्रमाण भी प्रस्तुत करे॥५२॥

मुकद्दमों में अप्रामाणिक व्यक्ति—

आदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः।
यश्चाधरोत्तरानर्थान् विगीतान्नावबुध्यते॥५३॥
अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति।
सम्यक् प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति॥५४॥
असम्भाष्ये साक्षिभिश्च देशे सम्भाषते मिथः।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत्॥५५॥
ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत्।
न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते॥ ५६॥
(३९-४२)

(**यः**) जो अभियोग कर्ता १—(**आदेश्यं दिशति**) झूठे साक्षी और मिथ्या प्रमाणपत्र प्रस्तुत करे, (**च**) और २—(**यः**) जो (**निर्दिश्य**) किसी दावे या बात को प्रस्तुत करके या कहकर (**अपह्नुते**) उससे मुकरता है या टालमटोल करता है, ३—(**यः**) जो (**विगीतान् अधर-उत्तरान्+अर्थान् न+अवबुध्यते**) कही हुई अगली-पिछली बातों को ध्यान में नहीं रखता अर्थात् जिसकी अगली-पिछली बातों में विरोध हो, ४—(**यः**) जो (**अपदेश्यम्+अपदिश्य पुनः अपधावति**) अपने कथनों या तर्कों को प्रस्तुत करके फिर उनको बदल दे, उनसे फिर जाये, ५—जो (**सम्यक् प्रणिहितम् अर्थं पृष्टः सन्**) पहले अच्छी प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक कही हुई बात को न्यायाधीश द्वारा पुनः पूछने पर (**न+अभिनन्दति**) नहीं मानता, उसे पुष्ट नहीं करता, ६—(**असम्भाष्ये देशे साक्षिभिः मिथः संभाषते**) जो एकान्त स्थान में ले जाकर साक्षियों के साथ घुल-मिलकर चुप-चुप बात करे, ७—(**निरुच्यमानं प्रश्नं न+इच्छेत्**) जांच के लिए पूछे गये प्रश्नों को जो पसन्द न करे, ८—(**च यः+अपि निष्पतेत्**) और जो इधर-इधर टलता फिरे (**च**) तथा ९—(**'ब्रूहि' इति+उक्तः**

न ब्रूयात्) 'कहो' ऐसा कहने पर कुछ उत्तर न दे सके, १०—(**च उक्तं न विभावयेत्**) और जो कही हुई बात को सिद्ध न कर पाये, ११—(**न पूर्वापरं विद्यात्**) पूर्वापर बात को न समझे अर्थात् विचलित हो जाये, (**सः तस्मात् अर्थात् हीयते**) वह उस प्रार्थना किये गये धन को हार जाता है अर्थात् न्यायाधीश ऐसे व्यक्ति को हारा हुआ मानकर उसे धन न दिलावे ॥ ५३-५६ ॥

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत्॥ ५७॥
(४३)

(**'मे साक्षिणः सन्ति' इति+उक्त्वा**) पहले 'मेरे साक्षी हैं' ऐसा कहकर और फिर साक्ष्य के समय न्यायाधीश के द्वारा (**'दिश' इति+उक्तः**) 'साक्षी लाओ' ऐसा कहने पर (**यः न दिशेत्**) जो साक्षियों को प्रस्तुत न कर सके तो (**धर्मस्थः**) न्यायधर्म में स्थित न्यायाधीश (**एतैः कारणैः**) इन कारणों के आधार पर भी (**तम्+अपि हीनं निर्दिशेत्**) उस मुकद्दमा प्रस्तुत करने वाले को पराजित घोषित कर दे ॥ ५७ ॥

अभियोक्ता न चेद् ब्रूयाद्वध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः।
न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः॥ ५८॥
(४४)

(**अभियोक्ता न चेत् ब्रूयात्**) जो अभियोक्ता=मुकद्दमा करने वाला पहले मुकद्दमा प्रस्तुत करके फिर अपने मुकद्दमे के लिए कुछ न कहे तो वह (**धर्मतः**) न्याय धर्मानुसार (**वध्यः**) शारीरिक दण्ड के योग्य (**च**) और (**दण्ड्यः**) अर्थदण्ड [५९] करने योग्य है, इसी प्रकार यदि (**त्रिपक्षात् न चेत् प्रब्रूयात्**) तीन पखवाड़े अर्थात् डेढ़ मास तक अभियुक्त अपनी सफाई में कुछ न कह सके तो (**धर्मं प्रति पराजितः**) धर्मानुसार=कानून के अनुसार वह हार जाता है ॥ ५८ ॥

यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत्।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद् द्विगुणं दमम्॥ ५९॥

(**यः**) जो ऋणधारक (**यावत् अर्थं निह्नुवीत**)

जितने धन को छिपावे अर्थात् अधिक धन लेकर जितना कम बतावे (**वा**) अथवा जो ऋणदाता (**यावति मिथ्या वदेत्**) जितना झूठ बोले अर्थात् कम धन देकर जितना ज्यादा बतावे (**नृपेण**) राजा या न्यायाधीश (**तौ अधर्मज्ञौ**) उन दोनों अधर्मियों अर्थात् झूठ बोलने वालों को (**तत् द्विगुणं दमम् दाप्यौ**) जितना झूठा दावा किया है, उससे दुगुने धन के अर्थ दण्ड से दण्डित करे ॥ ५९ ॥

पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा।
त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥ ६० ॥
(४५)

(**धनैषिणा कृतावस्थः**) धन वापिस चाहने वाले द्वारा अर्थात् ऋणदाता द्वारा मुकद्दमा दायर करने पर (**पृष्टः**) और न्यायाधीश द्वारा ऋणधारक से पूछने पर (**अपव्ययमानः तु**) यदि वह मना कर दे अर्थात् यह कहे कि '**मैंने कोई कर्ज नहीं लिया या मैं देनदार नहीं हूँ**' तो उस स्थिति में अर्थी को (**नृपब्राह्मणसन्निधौ**) राजा अथवा नियुक्त विद्वान् न्यायाधीश के सामने (**त्र्यवरैः साक्षिभिः भाव्यः**) कम से कम तीन साक्षियों के द्वारा अपना पक्ष प्रमाणित करना चाहिये ॥ ६० ॥

साक्षी बनाने के नियम—

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः।
तादृशान् सम्प्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः ॥ ६१ ॥
(४६)

(**धनिभिः**) साहूकारों अर्थात् धन देने वालों को (**व्यवहारेषु**) मुकद्दमों में (**यादृशाः साक्षिणः कार्याः**) जैसे साक्षी बनाने चाहियें (**तादृशान्**) उनके विषय को (**च**) और (**तैः**) उन साक्षियों को (**यथा ऋतं वाच्यम्**) जैसी सत्य बात कहनी चाहिए, उसे (**सम्प्रवक्ष्यामि**) अब आगे कहूँगा— ॥ ६१ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥
(४७)

(**सर्वेषु वर्णेषु**) चारों वर्णों में (**कार्येषु**) विवादों=मुकद्दमों में (**आप्ताः**) घटना के प्रत्यक्ष द्रष्टा अथवा यथावत् ज्ञाता व्यक्ति (**सर्वधर्मविदः**) सब साक्ष्य-नियमों के ज्ञाता (**अलुब्धाः**) किसी भी प्रकार के लोभ-लालच से रहित (**साक्षिणः कार्याः**) साक्षी बनाने चाहियें, (**विपरीतान् तु वर्जयेत्**) इनसे विपरीत लक्षणों वाले व्यक्तियों को साक्षी न बनावे॥ ६३ ॥

ऋषि अर्थ—''सब वर्णों में धार्मिक, विद्वान् निष्कपटी सब प्रकार धर्म को जानने वाले लोभरहित सत्यवादियों को न्यायव्यवस्था में साक्षी करे इससे विपरीतों को कभी न करे।'' (स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—साक्षी शब्द पर विचार—साक्षी शब्द के अर्थ और व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट होता है कि वस्तुतः साक्षी वही होता है जो उस बात या घटना का प्रत्यक्षद्रष्टा होता है। सहपूर्वक अक्षि से इनिः प्रत्यय अथवा साक्षात् अव्यय से '**साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्**' [अष्टा० ५.२.९१] से 'इनि' प्रत्यय होकर 'साक्षिन्' शब्द सिद्ध होता है। **साक्षिन्-यः साक्षात् कर्त्ता=साक्षात्द्रष्टा' यः सः साक्षी।** श्लोक में 'आप्ताः' विशेषण से भी इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

साक्षी कौन नहीं हो सकते—

नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः।
न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः॥ ६४॥
(४८)

(**अर्थसम्बन्धिनः**) धनी से ऋण आदि के लेने-देने का सम्बन्ध रखने वाले (**न कर्त्तव्याः**) साक्षी नहीं हो सकते (**न आप्ताः**) न घनिष्ठ=मित्रादि (**न सहायाः**) न सहायक—नौकर आदि, (**न वैरिणः**) न अभियोगी के शत्रु आदि, (**न दृष्टदोषाः**) जिसकी साक्षी पहले झूठी सिद्ध हो चुकी है वे भी नहीं, (**न व्याधि+आर्त्ताः**) न रोगग्रस्त, पीड़ित और (**न दूषिताः**) न अपराधी अर्थात् सजा पाये और दूषित आचरण वाले अधर्मी व्यक्ति साक्षी हो सकते हैं॥ ६४॥

विशेष प्रसंगों में साक्षीविशेष—

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ ६८ ॥
(४९)

(**स्त्रिणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युः**) स्त्रियों से सम्बन्धित विशेष विवादों में स्त्रियों को साक्षी बनावें (**द्विजानां सदृशाः द्विजाः**) द्विजातियों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों से सम्बद्ध विशेष विवादों में समान वर्ण के व्यक्तियों को साक्षी बनावें, (**शूद्राणां सन्तः शूद्राः**) शूद्रों से सम्बद्ध विशेष विवादों में साधु स्वभाव के शूद्रों को (**च**) और (**अन्त्यानाम्+अन्त्ययोनयः**) चारों वर्णों से भिन्न शेष समुदायों में उन्हीं के समुदायों से सम्बद्ध व्यक्तियों को साक्षी बनाना चाहिये, क्योंकि समुदाय-विशेष से सम्बद्ध विशेष विवादों के ज्ञाता उस समुदाय के व्यक्ति ही होते हैं। सामान्य विवादों में कोई भी प्रत्यक्षद्रष्टा या यथावत् ज्ञाता साक्षी हो सकता है [८.६९-७४] ॥ ६८ ॥

अनुशीलन—(१) **साक्षीविशेषों के कथन का उद्देश्य**—पूर्वापर साक्षी-वर्णन सम्बन्धी श्लोकों से, और विशेषरूप से ८.६३, ६४, ६९, ७२ श्लोकों से यह स्पष्ट है कि साक्षी कोई भी हो सकता है। इस श्लोकों में जो विशेष साक्षियों का कथन है वह विशेष अभिप्राय से है। जैसे स्त्रियों के जो स्त्रीसम्बन्धी प्रसंग हैं, उनमें स्त्रियां ही ठीक साक्षी हो सकती हैं। इसी प्रकार द्विजों और शूद्रों के वर्णान्तर के जो निजी प्रसंग हैं, उनमें उसी वर्ण के साक्षी प्रामाणिक और सही सिद्ध हो सकते हैं। इस विशेष कथन का यही अभिप्राय है।

(२) **अन्त्यज कौन ?**—चारों वर्णों में जो दीक्षित नहीं होकर वर्णबाह्य रह जाते हैं, वे लोग अन्त्यज अर्थात् अन्त्यस्थानीय हैं [द्रष्टव्य १०.४, ४५, ५७ आदि]।

ऐकान्तिक अपराधों में सभी साक्षी मान्य हैं—

अनुभावी तु यः कश्चित् कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम्।
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये॥ ६९ ॥
(५०)

(**अन्तः+वेश्मनि**) घर के अन्दर एकान्त में हुई घटनाओं में (**वा**) अथवा (**अरण्ये**) जंगल के एकान्त में हुई बाहरी घटनाओं में (**अपि च**) और (**शरीरस्य अत्यये**) रक्तपात आदि से शरीर के घायल हो जाने की अवस्था में और हत्या में (**यः कश्चित् अनुभावी**) जो कोई अनुभव करने वाला या देखने वाला हो वही (**विवादिनाम्**) विवाद उपस्थित करने वालों का (**साक्ष्यं कुर्यात्**) साक्ष्य दे सकता है, चाहे वह कोई भी हो॥ ६९ ॥

बलात्कार आदि कार्यों में सभी साक्षी हो सकते हैं—

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसङ्ग्रहणेषु च।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः॥ ७२॥
(५१)

(**सर्वेषु साहसेषु**) सभी प्रकार के साहस-आधारित अपराधों में, जैसे डकैती, अपहरण, बलात्कार, लूट आदि [८.३३२, ३४४-३५१], (**च**) और (**स्तेयसंग्रहणेषु**) चोरी [८.३०१-३४३] तथा व्यभिचार में [८.३५२-३८७], (**वाग्-दण्डयोः च**) दुष्ट वाणी बोलने [८.२६६-२७५] और दण्ड के प्रहार से घायल करने के अपराध में [८.२७८-३००], (**साक्षिणः न परीक्षेत**) साक्षियों की अधिक आशा और परीक्षा न करे अर्थात् इनमें वादी के कथनों और जैसे-जितने साक्षी मिलें उनके आधार पर ही निर्णय करे, क्योंकि ये काम एकान्त और अकेले में अधिकतः होते हैं॥ ७२॥

ऋषि अर्थ—''जितने बलात्कार के काम, चोरी, व्यभिचार, कठोरवचन, दण्डनिपातनरूप अपराध हैं उनमें साक्षी की परीक्षा न करे और अत्यावश्यक भी न समझें, क्योंकि ये काम सब गुप्त होते हैं।''

(स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—साक्षी-परीक्षा निषेध का कारण—अभिप्राय यह है कि इनमें कोई भी प्रत्यक्षदर्शी गवाह प्रामाणिक हो सकता है; क्योंकि ये बातें गुप्त रूप से या एकान्त में होती हैं, अतः उत्तम आचरण या स्तर वाले

व्यक्ति ही वहां उपस्थित हों, यह सम्भव नहीं।

साक्ष्यों में निश्चय—

बहुत्वं परिगृह्णीयात् साक्षिद्वैधे नराधिपः।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान्॥ ७३॥

(५२)

(**नराधिपः**) राजा या न्यायाधीश (**साक्षिद्वैधे**) दो प्रकार के अर्थात् परस्परविरुद्ध साक्ष्य उपस्थित होने पर (**बहुत्वं परिगृह्णीयात्**) अधिक साक्षियों को निर्णय का आधार बनाये, (**समेषु तु गुणोत्कृष्टान्**) समान स्तर के परस्परविरोधी साक्षी उपस्थित होने पर अधिक गुणवालों को महत्त्व दे, (**गुणिद्वैधे द्विजोत्त-मान्**) गुणी व्यक्तियों में भी परस्परविरोध होने पर द्विजों में उत्तम आचरण वाले व्यक्तियों को निर्णय में अधिक प्रामाणिक माने॥ ७३॥

ऋषि अर्थ—''दोनों ओर की साक्षियों में से बहुपक्षानुसार तुल्य साक्षियों में उत्तम गुणी पुरुष की, साक्षी के अनुकूल दोनों के साक्षी उत्तमगुणी और तुल्य हों तो द्विजोत्तम अर्थात् ऋषि-महर्षि और यतियों की साक्षी के अनुसार न्याय करे।'' (स०प्र०, समु० ६)

समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति।
तत्र सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते॥ ७४॥

(५३)

(**साक्ष्यं सिद्ध्यति**) दो प्रकार से साक्षी होना प्रामाणिक होता है (**समक्षदर्शनात्**) एक, साक्षात् देखने से (**च**) और (**श्रवणात्**) दूसरा, प्रत्यक्ष सुनने से, (**तत्र साक्षी सत्यं ब्रुवन्**) न्याय सभा में पूछने पर जो साक्षी सत्य बोले (**धर्म+अर्थाभ्यां न हीयते**) वे धर्महीन और अर्थ दण्ड के योग्य नहीं होते और जो साक्षी मिथ्या बोले वे यथायोग्य दण्डनीय हों॥ ७४॥

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते॥ ७५॥

(५४)

(**आर्यसंसदि**) श्रेष्ठ न्यायाधीशों की सभा में

(**साक्षी**) साक्षी (**दृष्ट-श्रुतात् अन्यत् विब्रुवन्**) साक्षात् देखे और प्रत्यक्ष सुने के विरुद्ध बोलने पर (**अवाङ्-नरकम्+अभ्येति**) वाणी सम्बन्धी कष्ट के फल को प्राप्त करता है (**च**) और (**प्रेत्य**) अगले जन्म में (**स्वर्गात् हीयते**) सुख से हीन हो जाता है अर्थात् उसे दुःख रूपी फल मिलता है ॥ ७५ ॥

ऋषि अर्थ—''जो राजसभा वा किसी उत्तम पुरुषों की सभा में साक्षी देखने और सुनने से विरुद्ध बोले तो वह अवाङ्नरक=अर्थात् जिह्वा के छेदन से दुःखरूप नरक को वर्तमान समय में प्राप्त होवे और मरे पश्चात् सुख से हीन हो जाये ॥ (स०प्र०, समु०६)

यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वाऽपि किञ्चन।
पृष्टस्तत्रापि तद् ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम्॥ ७६ ॥
(५५)

प्रत्यक्षदर्शी मनुष्य (**अनिबद्धः+अपि**) वादी वा प्रतिवादी के द्वारा साक्षी के रूप में न्यायालय में नामांकित न होने या न बुलाये जाने पर भी (**यत्र किञ्चन ईक्षेत अपि वा शृणुयात्**) जहाँ कुछ भी देखा या सुना हो (**पृष्टः**) न्यायाधीश के द्वारा स्वयं पूछने पर (**तत्र+ अपि**) वहाँ न्यायालय में भी (**यथादृष्टं यथाश्रुतं तद् ब्रूयात्**) जैसा देखा या सुना है, वैसा ही यथावत् कह दे अर्थात् न्याय के लिए साक्षी को न्यायाधीश स्वयं भी बुला ले या द्रष्टा स्वयं साक्षीरूप में पहुंच जाये ॥ ७६ ॥

स्वाभाविक साक्ष्य ही ग्राह्य है—

स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद् ग्राह्यं व्यावहारिकम्।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम्॥ ७८ ॥
(५६)

साक्षी जन (**स्वभावेन+एव यद् ब्रूयुः**) स्वाभाविक रूप से अर्थात् बिना किसी हाव-भाव-चेष्टा की विकृति के जो कहें (**तद् व्यावहारिकं ग्राह्यम्**) उसको मुकद्दमे के निर्णय में ग्राह्य समझें, (**अतः अन्यद् यद् विब्रूयुः**) उस स्वाभाविक से भिन्न जो कुछ विरुद्ध

बोलें (**तद् धर्मार्थम् अपार्थकम्**) उसको धर्मनिर्णय अर्थात् न्याय हेतु व्यर्थ समझें ॥ ७८ ॥

साक्ष्य लेने की विधि—

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन्॥
७९ ॥ (५७)

(**प्राड्विवाकः**) न्यायाधीश और प्राड्विवाक् अर्थात् वकील (**अर्थि-प्रत्यर्थिसन्निधौ**) अर्थी=वादी और प्रत्यर्थी=प्रतिवादी के सामने (**सभान्तः प्राप्तान् साक्षिणः**) न्याय सभा के अन्दर आये हुए साक्षियों को (**सान्त्वयन्**) शान्तिपूर्वक (**तेन विधिना**) इस प्रकार से (**अनुयुञ्जीत**) पूछें— ॥ ७९ ॥

यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिँश्चेष्टितं मिथः।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता॥ ८० ॥
(५८)

हे साक्षि लोगो! (**अस्मिन् कार्ये**) इस मुकद्दमे के सम्बन्ध में (**अनयोः द्वयोः मिथः चेष्टितम्**) इन दोनों ने जो परस्पर चेष्टा की है इस विषय में (**यत् वेत्थ**) जो तुम जानते हो (**तत् सर्वम्**) सबको (**सत्येन ब्रूत**) सत्य-सत्य बोलो (**हि**) क्योंकि (**युष्माकम्**) तुम्हारी (**अत्र**) इस विवाद में (**साक्षिता**) साक्षी है ॥ ८० ॥

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्।
इह चानुत्तमां कीर्त्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता॥ ८१ ॥
(५९)

(**साक्षी**) साक्षी (**साक्ष्ये**) साक्ष्य देने में (**सत्यं ब्रुवन्**) सत्य बोलने पर (**पुष्कलान् लोकान्+ आप्नोति**) परजन्म में उत्तम समृद्ध जन्म को प्राप्त करता है, (**च**) और (**इह**) इस जन्म में (**उत्तमां कीर्तिम्**) श्रेष्ठ यश को प्राप्त करता है, क्योंकि (**एषा वाक्**) यह सत्य वाणी (**ब्रह्मपूजिता**) वेदों द्वारा प्रशंसित है ॥ ८१ ॥

ऋषि अर्थ—जो साक्षी सत्य बोलता है वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म, और उत्तम लोकान्तरों में जन्म को प्राप्त होके सुख भोगता है इस जन्म वा परजन्म में

उत्तम कीर्ति को प्राप्त होता है क्योंकि जो यह वाणी है वही वेदों में सत्कार और तिरस्कार का कारण लिखी है। जो सत्य बोलता है वह प्रतिष्ठित और मिथ्यावादी निन्दित होता है। (स०प्र०, समु० ६)

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्द्धते।
तस्मात् सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥

(६०)

(**सत्येन साक्षी पूयते**) सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता है, (**सत्येन धर्मः वर्धते**) सत्य बोलने से साक्षी का धर्म बढ़ता है, (**तस्मात्**) इस से (**सर्व-वर्णेषु**) सब वर्णों में (**साक्षिभिः**) साक्षियों को (**सत्यं हि वक्तव्यम्**) सत्य ही बोलना चाहिये है ॥ ८३ ॥

साक्षी आत्मा के विरुद्ध साक्ष्य न दे—

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः।
माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ ८४ ॥

(६१)

(**आत्मनः साक्षी आत्मा+एव**) अपने आत्मा के शुभ-अशुभ कर्मों का सर्वोत्तम साक्षी=ज्ञान कराने वाला अपना आत्मा ही है [८.९१] (**तथा**) तथा (**आत्मनः गतिः आत्मा**) उस आत्मा की गति=आश्रयस्थान परमात्मा है अर्थात् उसमें व्याप्त परमात्मा भी उसके सत्य-असत्य को जानता है तथा उसे अन्तःप्रेरणा से उनका ज्ञान कराता रहता है, इसलिए (**नृणाम् उत्तमं साक्षिणम्**) मनुष्यों के सर्वोत्तम साक्षी=सत्य-असत्य विचार और शुभ-अशुभ आचरण का ज्ञान कराने वाले (**स्वम्+आत्मानम्**) अपने आत्मा का (**मा+अवमंस्थाः**) अपमान मत कर। आत्मा के विरुद्ध मिथ्याभाषण करना उसका अपमान और हनन है और आत्मा के अनुकूल सत्य बोलना आत्मा की प्रतिष्ठा और उत्थान है ॥ ८४ ॥

ऋषि अर्थ—''आत्मा का साक्षी आत्मा और आत्मा की गति आत्मा है, इसको जानके हे पुरुष! तू सब मनुष्यों का उत्तम साक्षी अपने आत्मा का अपमान

मत कर अर्थात् सत्यभाषण जो कि तेरे आत्मा, मन, वाणी में है वह सत्य, और जो इससे विपरीत है वह मिथ्या भाषण है॥'' (स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—'आत्मा स्वयं आत्मा का साक्षी किस प्रकार होता है' इस पर विशेष-विस्तृत विचार के लिए देखिए १.१२५[२.६] पर '**आत्मनस्तुष्टिः**' पद पर अनुशीलन। ९१वें श्लोक से इसकी संगति होने के कारण इसका अर्थ आत्मा तथा परमात्मा, दोनों से सम्बन्धित किया जाना मनुस्मृति सम्मत है।

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः॥ ९१॥
(६२)

(**कल्याण**) हे कल्याण की कामना करने वाले मनुष्य! (**अहम् एकः+अस्मि+इति, यत् त्वम् आत्मानं मन्यसे**) 'मैं अकेला हूं, दूसरा कोई मुझे देखने वाला नहीं है', ऐसा जो तू अपने आत्मा को, अपने आपको समझता है, यही ठीक नहीं, (**ते हृदि एषः**) तेरे हृदय=आत्मा में एक अन्य परमात्मा (**पुण्य-पाप-ईक्षिता मुनिः**) तुम्हारे पुण्य-पाप का निरीक्षण करके उसका फल देने वाला सर्वज्ञ मुनि (**नित्यं स्थितः**) सदा अन्तर्यामी रूप से विद्यमान रहता है, अतः आत्मा और परमात्मा दोनों को अन्तःकरण में विद्यमान साक्षी मान कर सत्य बोला कर॥ ९१॥

ऋषि अर्थ—''हे कल्याण की इच्छा करने हारे पुरुष! जो तू 'मैं अकेला हूँ' ऐसा अपने आत्मा में जानकर मिथ्या बोलता है सो ठीक नहीं है, किन्तु जो दूसरा तेरे हृदय में अन्तर्यामीरूप से परमेश्वर पुण्य-पाप का देखने वाला मुनि स्थित है, उस परमात्मा से डरकर सदा सत्य बोला कर।'' (स०प्र०, समु० ६)

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः॥ ९६॥
(६३)

(**यस्य वदतः**) साक्ष्य आदि में बोलते हुए जिस

व्यक्ति का (**विद्वान् क्षेत्रज्ञः**) सत्य-असत्य का स्वाभाविक रूप से ज्ञाता आत्मा (**न हि अभिशंकते**) कुछ भी शंका नहीं करता अर्थात् निश्चयपूर्वक सत्य ही बोलता है (**तस्मात् श्रेयांसं अन्यं पुरुषम्**) उससे बढ़कर श्रेष्ठ व्यक्ति किसी अन्य को (**देवाः लोके न विदुः**) विद्वान् जन संसार में नहीं मानते ॥ ९६ ॥

ऋषि अर्थ—"जिस बोलते हुए पुरुष का विद्वान् अर्थात् शरीर का जाननेहारा आत्मा भीतर शंका को प्राप्त नहीं होता, उससे भिन्न विद्वान् लोग किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते।" (स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—आत्मा में किन बातों और कार्यों से शंका, भय आदि उत्पन्न होते हैं और किनसे नहीं इस विषय पर विस्तृत विवेचन १.१२५ [२.६] पर '**आत्मनस्तुष्टिः**' शीर्षक अनुशीलन के अन्तर्गत देखिए।

झूठी गवाही वाले मुकद्दमे पर पुनर्विचार—

यस्मिन्यस्मिन् विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्।
तत्तत् कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत्॥ ११७॥
(६४)

(**यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु**) जिस-जिस मुकद्दमे में (**कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्**) यह पता लगे कि झूठी या छलपूर्ण साक्ष्य हुआ है (**तत्-तत् कार्यं निवर्तेत**) राजा या न्यायाधीश उस-उस निर्णय को निरस्त करके पुनः विचार करे, क्योंकि वह (**कृतं च+अपि+अकृतं भवेत्**) किया हुआ निर्णय भी न किये के समान है॥ ११७॥

असत्य साक्ष्य के आधार—

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात् कामात् क्रोधात्तथैव च।
अज्ञानाद् बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते॥ ११८॥
(६५)

(**लोभात् मोहात् भयात् मैत्रात् कामात् क्रोधात् अज्ञानात् च बालभावात् साक्ष्यम्**) जो लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपन से दिया गया साक्ष्य है वह (**वितथम्+उच्यते**) मिथ्या साक्ष्य होता है॥ ११८॥

अनुशीलन—(१) साहस दण्ड और उनका प्रम

(क)— **(श्लोक ८.१३८ में वर्णित)**

	साहस नाम	**पण**
१.	प्रथम या पूर्वसाहस	२५०
२.	मध्यम साहस	५००
३.	उत्तम या परसाहस	१०००

(ख) १ पण का—१ पैसा
४ पैसे का—१ आना
१६ आने या ६४ पण का—१ रुपया

२. झूठी साक्षियों में अर्थदण्ड एवं उनकी अर्वाचीन
(श्लोक ८.१२०-१२१ में व

	अपराध	**वर्णित दण्डनाम**
१.	लोभ से झूठी साक्षी देने पर	हजार पण
२.	मोह से झूठी साक्षी में	पूर्व साहस
३.	भय से झूठी साक्षी में	दो मध्यम साहस
४.	मैत्री से झूठी साक्षी में	चार गुना प्रथम साहस
५.	काम से झूठी साक्षी में	दश गुना प्रथम साहस
६.	क्रोध से झूठी साक्षी में	तीन गुना उत्तम साहस
७.	अज्ञान से झूठी साक्षी में	दो सौ पण
८.	बालकपन से झूठी साक्षी में	सौ पण

असत्य साक्ष्य में दोषानुसार दण्डव्यवस्था—

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत्।
तस्य दण्डविशेषाँस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः॥ ११९॥
(६६)

(**एषाम्**) इन [८.११८] लोभ आदि कारणों में से (**अन्यतमे स्थाने**) किसी कारण के होने पर (**यः अनृतं साक्ष्यं वदेत्**) जो कोई झूठी साक्षिता देता है (**तस्य**) उसके लिए (**दण्डविशेषात्**) दण्डविशेषों को (**अनुपूर्वशः**) क्रमशः (**प्रवक्ष्यामि**) आगे कहूँगा [८.१२०-१२२]॥ ११९॥

ाण एवं अर्वाचीन मुद्राओं से तुलना-तालिका—

रुपये-आने में

३ ॥।=) ॥ तीन रुपये साढ़े चौदह आने

७ ॥।—) सात रुपये तेरह आने

१५ ॥=) पन्द्रह रुपये दश आने

मुद्राओं से तुलना—तालिका—

र्णत)

	पण	**रुपये-आने-पैसे**	
	१०००	१५ ॥=)	[१५ रुपये १० आने]
	२५०	३ ॥।=) ॥	[३ रुपये साढ़े १४ आने]
	१०००	१५ ॥=	[१५ रुपये १० आने]
स	१०००	१५ ॥=	[१५ रुपये १० आने]
ं	२५००	३९—	[३९ रुपये १ आना]
स	३०००	४६ ॥।=)	[४६ रुपये १४ आने]
	२००	३=)	[३ रुपये २ आने]
	१००	१ ॥—)	[१ रुपया ९ आने]

लोभात् सहस्त्रं दण्ड्यस्तु मोहात् पूर्वं तु साहसम्।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्ड्यौ मैत्रात् पूर्वं चतुर्गुणम्॥
१२० ॥ (६७)

(**लोभात् सहस्त्रं दण्ड्यः**) जो लोभ से झूठी गवाही दे तो 'एक हजार पण' का अर्थ दण्ड देना चाहिए (**मोहात् पूर्वं साहसम्**) मोह से झूठी गवाही देने वाले को 'प्रथम साहस', (**भयात् द्वौ मध्यमौ दण्डौ**) भय से झूठी गवाही देने पर दो 'मध्यम साहस' का दण्ड दे (**मैत्रात्**) मित्रता से झूठी गवाही देने पर (**पूर्वं चतुर्गुणम्**) 'प्रथम साहस' का चार गुना दण्ड देना चाहिए॥ १२० ॥

ऋषि अर्थ—''जो लोभ से झूठी साक्षी देवे तो उससे १५ ॥=) ॥ [पन्द्रह रुपये दश आने] दण्ड लेवे। जो मोह से झूठी साक्षी देवे उससे ३ ॥।=) ॥ [तीन रुपये साढ़े चौदह आने] दण्ड लेवे। जो भय से मिथ्या साक्षी देवे उससे १५ ॥=) [पन्द्रह रुपये दश आने] दण्ड लेवे, और जो पुरुष मित्रता से झूठी साक्षी देवे उससे १५ ॥=) [पन्द्रह रुपये दश आने] दण्ड लेवे।'' (स०प्र० षष्ठ समु०, परोपकारिणी सभा प्रकाशन ३४वां संस्करण)

अनुशीलन—यह दण्ड अपराधी के प्रयोजन सामर्थ्य, ज्ञान आदि के अनुसार न्यायाधीश के विवेकाधीन होता है [८.१२६]।

कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु॥ १२१ ॥
(६८)

(**कामात् दशगुणं पूर्वम्**) काम से झूठी गवाही देने वाले पर दशगुना 'प्रथम साहस' (**क्रोधात् तु त्रिगुणं परम्**) क्रोध से देने पर तिगुना 'उत्तम साहस' (**अज्ञानात् द्वे शते पूर्णे**) अज्ञान से देने पर दो सौ 'पण' और (**बालिश्यात् शतम्+एव तु**) असावधानी से साक्ष्य देने पर सौ 'पण' दण्ड होना चाहिए॥ १२१ ॥

ऋषि अर्थ—''जो पुरुष कामना से मिथ्या साक्षी देवे उससे ३९—) [उनतालीस रुपये एक आना] दण्ड लेवे। जो पुरुष क्रोध से झूठी साक्षी देवे उससे ४६ ॥।= [छयालीस रुपये चौदह आने] दण्ड लेवे। जो पुरुष अज्ञानता से झूठी साक्षी देवे उससे ३=) [तीन रुपये दो आने] दण्ड लेवे, और जो बालकपन से मिथ्यासाक्षी देवे तो उससे १ ॥—) [एक रुपया नौ आने दण्ड लेवे।'' (स०प्र०, उपर्युक्त संस्करण षष्ठ समु०)

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान् दण्डान् मनीषिभिः।
धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च॥ १२२॥
(६९)

(**धर्मस्य+अव्यभिचारार्थम्**) धर्म=न्याय का लोप

न होने देने के लिए (**च**) और (**अधर्म-नियमाय**) अधर्म को रोकने के लिए (**कौटसाक्ष्ये**) झूठी या कपटपूर्ण गवाही देने पर (**मनीषिभिः प्रोक्तान्**) विद्वानों द्वारा विहित (**एतान् दण्डान्+आहुः**) इन [९.११९-१२१] दण्डों को कहा है ॥ १२२ ॥

दण्ड देते समय विचारणीय बातें—

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
साराऽपराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥ १२६ ॥
(७०)

न्यायकर्त्ता राजा और न्यायाधीश (**अनुबन्धम्**) अपराधी का प्रयोजन, षड्यन्त्र या बार-बार किये गये अपराध को (**च**) और (**देशकालौ**) देश एवं काल (**च**) तथा (**सार-अपराधौ**) अपराधी की शारीरिक एवं आर्थिक शक्ति और अपराध का स्तर और उसका परिणाम आदि (**तक्ष्वतः आलोक्य**) सही-सही देख-विचार कर (**दण्ड्येषु दण्डं पातयेत्**) दण्डनीय लोगों को दण्ड दे ॥ १२६ ॥

ऋषि अर्थ—''परन्तु जो-जो दण्ड लिखा है और लिखेंगे, जैसे—लोभ से साक्षी देने में पन्द्रह रुपये दश आने दण्ड लिखा है; परन्तु जो अत्यन्त निर्धन हो तो उससे कम और धनाढ्य हो तो उससे दूना, तिगुना और चौगुना तक भी ले लेवे अर्थात् जैसा देश, जैसा काल और जैसा पुरुष हो उस का जैसा अपराध हो वैसा ही दण्ड करे।'' (स०प्र०, समु० ६)

अन्यायपूर्वक दण्ड न दे—

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यञ्च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १२७ ॥
(७१)

(**लोके अधर्मदण्डनम्**) इस संसार में अधर्म=अन्याय से दण्ड देना (**यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्**) प्रतिष्ठा का और भविष्यत् में होने वाली कीर्ति का नाश करने हारा है (**च**) और (**परत्र+अपि-अस्वर्ग्यम्**) परजन्म में भी दुःखदायक होता है (**तस्मात्**) इसलिये (**तत्

परिवर्जयेत्) अधर्म=अन्याय युक्त दण्ड किसी पर न करे॥ १२७॥

ऋषि अर्थ—''क्योंकि इस संसार में जो अधर्म से दण्ड करना है वह पूर्व प्रतिष्ठा और भविष्यत् में और परजन्म में होने वाली कीर्ति का नाश करनेहारा है, और परजन्म में भी दु:खदायक होता है। इसलिये अधर्म-युक्त दण्ड किसी पर न करे।'' (स०प्र०, समु० ६)

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥ १२८॥
(७२)

(**राजा**) जो राजा या न्यायाधीश (**दण्ड्यान् अदण्डयन्**) दण्डनीयों को दण्ड नहीं देता और (**अदण्ड्यान् दण्डयन्**) अदण्डनीयों को दण्ड देता है अर्थात् दण्ड देने योग्य को छोड़ देता और जिसको दण्ड देना न चाहिए उसको दण्ड देता है वह (**महत् अयशः आप्नोति**) जीता हुआ बड़ी निन्दा को प्राप्त करता है (**च**) और (**नरकम् एव गच्छति**) परजन्मों में कठोर दु:ख को प्राप्त करता है। इसलिए जो अपराध करे उसको सदा दण्ड देवे और अनपराधी को दण्ड न देवे॥ १२८॥

ऋषि अर्थ—''जो राजा अनपराधियों को दण्ड देता और अपराधियों को दण्ड नहीं देता है, वह इस जन्म में बड़ी अपकीर्ति को प्राप्त होता और मरे पश्चात् नरक अर्थात् महादु:ख को पाता है।'' (स०वि०, गृहाश्रमप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ६)

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्॥ १२९॥
(७३)

न्यायाधीश अथवा राजा अपराध के अनुसार (**प्रथमं वाग्दण्डं कुर्यात्**) दोषी को प्रथम वार वाणी का दण्ड दे अर्थात् उसको फटकार कर उसकी निन्दा करे, (**तदनन्तर धिक् दण्डं कुर्यात्**) उससे अधिक अपराध में दोषी को धिक्कार कर लज्जित करे, (**तृतीयं धनदण्डं तु**) उससे बड़े अपराध में आर्थिक दण्ड करे,

(**अतः परं वधदण्डम्**) इनसे बड़े अपराध में अथवा उक्त दण्डों के करने पर भी जो दोषी न माने तो उसको शारीरिक दण्ड से दण्डित करना चाहिए॥ १२९॥

ऋषि अर्थ—''प्रथम वाणी का दण्ड अर्थात् उसकी 'निन्दा', दूसरा 'धिक्' दण्ड अर्थात् तुझको धिक्कार है, तूने ऐसा बुरा काम क्यों किया, तीसरा—उससे धन लेना, और 'वध' दण्ड अर्थात् उसको कोड़ा वा बेंत से मारना वा शिर काट देना।'' (स०प्र०, समु०६)

वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात्।
तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम्॥ १३०॥ (७४)

राजा (**एतान्**) अपराधियों को (**यदा**) जब (**वधेन+अपि**) शारीरिक दण्ड से भी (**निग्रहीतुं न शक्नुयात्**) नियन्त्रित न कर सके (**तदा+एषु**) तो इन पर (**सर्वम्+अपि+एतत् चतुष्टयं प्रयुञ्जीत**) सभी उपर्युक्त [८.१२९] चारों दण्डों को एकसाथ और तीव्ररूप में लागू कर देवे॥ १३०॥

लेन-देन के व्यवहार में काम आने वाले बाट और मुद्राएँ—

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ १३१॥ (७५)

अब मैं (**ताम्र-रूप्य-सुवर्णानां या संज्ञाः**) तांबा, चांदी, सुवर्ण आदि की 'पण' आदि मुद्राएं और 'माष' आदि बाटों की संज्ञाएं (**लोकव्यवहारार्थम्**) मोल लेना-देना आदि लोकव्यवहार के लिए (**भुवि प्रथिताः**) जो जगत् में प्रसिद्ध हैं (**ताः**) इन सबको (**अशेषतः प्रवक्ष्यामि**) पूर्णरूप से कहता हूँ॥ १३१॥

तोल के पहले मापक त्रसरेणु की परिभाषा—

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते॥ १३२॥ (७६)

(**भानौ जालान्तरगते**) सूर्य की किरणों के मकान के झरोखों के अन्दर से प्रवेश करने पर [उस प्रकाश में] (**यत् सूक्ष्मं रजः दृश्यते**) जो बहुत छोटा रजकण

(कण) दिखाई पड़ता है (**तत्**) वह (**प्रमाणानां प्रथमम्**) प्रमाणों=मापकों अर्थात् तोलने के बाटों में पहला प्रमाण है, और उसे (**'त्रसरेणुं' प्रचक्षते**) 'त्रसरेणु' कहते हैं॥ १३२॥

लिक्षा-राजसर्षप-गौरसर्षप की परिभाषा—

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः।
ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः॥ १३३॥
(७७)

[तोलने में] (**परिमाणतः**) तोल के अनुसार (**अष्टौ 'त्रसरेणवः'**) आठ 'त्रसरेणु' की (**एका 'लिक्षा' विज्ञेया**) एक 'लिक्षा' होती है और (**ताः तिस्रः 'राजसर्षपः'**) उन तीन लिक्षाओं का एक 'राजसर्षप' (**ते त्रयः गौरसर्षपः**) उन तीन 'राजसर्षपों' का एक 'गौरसर्षप' होता है॥ १३३॥

मध्ययव, कृष्णल, माष और सुवर्ण की परिभाषा—

सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम्।
पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश॥ १३४॥
(७८)

(**षट् सर्षपाः मध्य-यवः**) छह गौरसर्षपों का एक 'मध्ययव' परिमाण होता है (**तु**) और (**त्रियवम् एक कृष्णलम्**) तीन मध्ययवों का एक 'कृष्णल'= रत्ती (**पञ्च-कृष्णलकः माषः**) पांच कृष्णलों=रत्तियों का एक 'माष' [सोने का] और (**ते षोडश सुवर्णः**) उन सोलह माषों का एक 'सुवर्ण' होता है॥ १३४॥

पल, धरण, रौप्यमाषक की परिभाषा—

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः॥ १३५॥
(७९)

(**चत्वारः सुवर्णाः 'पलम्'**) चार सुवर्णों का एक 'पल' होता है (**दश पलानि 'धरणम्'**) दश पलों का एक 'धरण' होता है (**द्वे कृष्णले समधृते 'रौप्यमाषकः' विज्ञेयः**) दो कृष्णल=रत्ती तराजू पर रखने पर उनके बराबर तोल का माप एक 'रौप्यमाषक' जानना

चाहिए॥ १३५ ॥

रौप्यधरण, राजतपुराण, कार्षापण की परिभाषा—

ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः॥ १३६॥ (८०)

(**ते षोडश 'धरणं' स्यात्**) उन सोलह रौप्यमाषकों का एक 'रौप्यधरण' तोल का माप होता है (**च**) और एक (**'राजतः पुराणः'**) चांदी का 'पुराण' नामक सिक्का होता है (**ताम्रिकः कार्षिकः पणः**) तांबे का कर्षभर अर्थात् १६ माषे वजन का 'पण' (**'कार्षापणः' विज्ञेयः**) 'कार्षापण' नामक सिक्का समझना चाहिए॥ १३६ ॥

रौप्यशतमान, निष्क की परिभाषा—

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः।
चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः॥ १३७॥ (८१)

(**दश धरणानि**) दश रौप्यधरणों का (**राजतः शतमानः ज्ञेयः**) एक चांदी का 'राजत शतमान' जानें, और (**प्रमाणतः**) प्रमाणानुसार (**चतुः सौवर्णिकः निष्कः विज्ञेयः**) चार सुवर्ण का एक 'निष्क' [=अशर्फी] जानना चाहिए॥ १३७ ॥

अनुशीलन : (१) तोलने के प्रमाणों का विवेचन और तालिका—(क) श्लोक १३२ से १३६ तक लेन-देन के व्यवहार में काम आने वाले तोल के प्रमाण भूमि में उत्पन्न पदार्थों पर आधारित थे। माष से धरण तक के सोने के और कृष्णल से रौप्यशतमान तक के चांदी के बाट होते थे। तालिका के अनुसार उनका विवरण निम्न प्रकार है—

८ त्रसरेणु	= १ लिक्षा
३ लिक्षा	= १ राजसर्षप (छोटी काली सरसों)
३ राजसर्षप	= १ गौरसर्षप (सफेद सरसों)
६ गौरसर्षप	= १ मध्ययव (न बड़ा, न छोटा जौ)
३ मध्ययव	= १ कृष्णल = गुंजा या रत्ती

सोने से निर्मित बाट—

५ कृष्णल (रत्ती) = १ माष (सोने का) बना लगभग आने भर वजन)
१६ माष = १ सुवर्ण या कर्ष (लगभग रुपये भर वजन का)
४ सुवर्ण = १ पल (लगभग छटांक)
१० पल = १ धरण

चाँदी से निर्मित बाट—

२ कृष्णल रत्ती = १ रौप्यमाषक
१६ रौप्यमाषक = १ रौप्यधरण
१० रौप्यधरण = १ रौप्यशतमान

(ख) **कौटिल्य द्वारा वर्णित तोल-प्रमाण**— कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में मनु प्रणीत सोना चांदी तोलने के प्रमाणों को लगभग उसी रूप में उद्धृत किया है। उनसे मनुप्रोक्त प्रमाणों पर प्रकाश भी पड़ता है—(अ) कौटिल्य के अनुसार सोना तोलने के प्रमाणों में पांच रत्ती अथवा दस उड़द के दाने के बराबर एक सुवर्णमाषक होता है। सोलह सुवर्णमाष का एक सुवर्ण या एक कर्ष, और चार कर्ष का एक पल होता है। (आ) चांदी के तोलने के प्रमाणों में अठ्ठासी सफेद सरसों के परिमाण का एक रूप्यमाषक होता है। मनु के अनुसार २ कृष्णल या छत्तीस गौर सर्षप का रूप्यमाषक है। सोलह रूप्यमाषक का एक धरण होता है।[1]

(२) **मुद्राएं और उनकी तालिका**—

(क) मनु ने तोल के आधार पर ही अर्थ-मुद्राओं का निर्माण [१३६-१३७] कहा है। मुद्राएं तांबा, चांदी और सोने की होती थी। उनकी तालिका इस प्रकार है—

१६ रौप्यमाषक के बराबर वजन में=
१ राजतपुराण (चांदी की मुद्रा)
१ कार्षापण (तांबे की मुद्रा)

४ सुवर्ण के समभार में (लगभग १ छटांक)=

---

१. ''**धान्यमाषा दश सुवर्णमाषकः। पञ्च वा गुञ्जाः। ते षोडश सुवर्णः कर्षो वा। चतुष्कर्षं पलम्।**'' ''**अष्टाशीतिगौरसर्षपा रूप्यमाषकः। ते षोडशः धरणम्।**'' (प्रक० ३५, अ० १९)

१ निष्क (सोने की अशर्फी)

(ख) **कौटिल्य द्वारा वर्णित मुद्राएं**—

आचार्य कौटिल्य ने चांदी और तांबे की मुद्राओं का उल्लेख करते हुए उनकी रचनाविधि भी बतलायी है। मनु ने भी कार्षापण के विषय में '**ताम्रिकः कार्षिकः पणः**' शब्दों का उल्लेख कर उसके रचनातत्त्व की ओर संकेत किया है। उसकी पूर्णविधि कौटिल्य ने दी है, जो इस प्रकार है—

(अ) चांदी के सिक्के, जिनको कौटिल्य ने 'पण' संज्ञा दी है, शायद वही मनु के अनुसार 'राजतपुराण' है। चांदी से बना होने के कारण ही परकाल में 'रूप्यक' और 'रुपया' का रूप धारण कर गया। कौटिल्य के अनुसार— लक्षणाध्यक्ष=टकसाल के अध्यक्ष को चाहिए कि वह पण, अर्धपण, पादपण और अष्टभागपण नामक चार चांदी के सिक्कों को विधिपूर्वक ढलवाये। एक पण १६ माष का होता है। उसमें ११ माष चांदी; ४ माष तांबा; तथा रांगा, लोहा, सीसा या अंजन में से कोई धातु १ माष हो। इसी अनुपात से छोटे सिक्कों में ये धातुएं डालें।

(आ) तांबे के सिक्के को कौटिल्य ने 'माषक' संज्ञा दी है। लेकिन वह भी १६ माषे का है, जिसे मनु ने 'कार्षापण' कहा है। इसके भी चार प्रकार के सिक्के बनते हैं—माषक, अर्धमाषक, पादमाषक (काकणी), अष्टभागमाषक (अर्धकाकणी)। इनमें माषक में ११ माष ताम्बा, ४ माष चांदी, और १ माष लोहा, सीसा, रांगा या अंजन में से कोई एक धातु होती है। इससे छोटे सिक्कों में इसी अनुपात से कम हो जाती है।[१]

पूर्व-मध्यम-उत्तमसाहस की परिभाषा—

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः॥ १३८॥

(८२)

---

१. **लक्षणाध्यक्षः चतुर्भागताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्ण-त्रपुसीसाञ्जनानामन्यतमं माषबीजयुक्तं कारयेत् पणम्, अर्धपणं पादमष्टभागमिति। पादाजीवं ताम्ररूपं माषकमर्धमाषकं काकणीमर्धकाकणी-मिति।''** (प्रक० २८, अ० १२)

(**द्वे शते सार्धं पणानां प्रथमः साहसः स्मृतः**) २००+५० अर्थात् ढाई सौ पण का एक प्रथम 'साहस' माना है (**पञ्च 'मध्यमः' विज्ञेयः**) पांच सौ पण का 'मध्यम साहस' समझना चाहिए (**सहस्रं तु+एव उत्तमः**) एक हजार पण का 'उत्तम साहस' होता है ॥ १३८ ॥

अनुशीलन—पूर्व, मध्यम और उत्तम साहस की सीमा—कौटिल्य के मतानुसार साहसों की सीमा एक निर्धारित संख्या में नहीं, अपितु एक साहस से दूसरे साहस तक की सारी संख्या उस साहस में परिगणित मानी गई है। उनके मतानुसार—२५० पण तक पूर्वसाहस, २५१ से ५०० पण तक मध्यम साहस, ५०१ से १००० पण तक उत्तम साहस माना जायेगा। आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इनको कुछ भेद के साथ इसी प्रकार प्रस्तुत किया है—"४८ से २०० पण तक प्रथम साहस, २०० से ५०० पण तक मध्यम साहस, ५०० से १००० पण तक उत्तम साहस का दण्ड कहलाता है।" दोषानुसार इस अवधि का कोई भी दण्ड हो सकता है [८.१२६]।[1]

ऋण पर ब्याज का विधान—

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम्।
अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते॥ १४० ॥

(८३)

(**वसिष्ठविहिताम्**) [दिये हुए ऋण पर] अर्थशास्त्र के विद्वान् द्वारा विहित (**वित्तविवर्धिनीम्**) धन को बढ़ाने वाली (**वृद्धिम्**) वृद्धि अर्थात् ब्याज को (**सृजेत्**) ले, किन्तु (**वार्धुषिकः**) ब्याज लेने वाला मनुष्य (**शते अशीतिभागम्**) सौ पर अस्सीवां भाग अर्थात् सवा रुपया सैकड़ा ब्याज (**मासात्**) मासिक (**गृह्णीयात्**) ग्रहण करे अर्थात् इससे अधिक ब्याज न

---

१. **अष्टचत्वारिशंत्पणावरः षण्णवतिपरः पूर्वः साहसदण्डः।............द्विशतावरः पञ्चशत्परः मध्यमः साहसदण्डः।..............पञ्चशतावरः सहस्रपरः उत्तमः साहसदण्डः।** (प्रक० ७४, अ० १७)

ले [यह अधिक से अधिक की सीमा है[२]] ॥ १४० ॥

अनुशीलन—मनु की शैली के अनुसार इस शब्द का यहाँ 'अर्थशास्त्र के ज्ञाता विद्वान्' होना अभीष्ट है। इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियां है—(क) मनु ने प्रसंगानुसार अन्यत्र भी उस-उस विषय के ज्ञाता विद्वानों को मूल्य, शुल्क आदि के निर्धारण में प्रमाण माना है, और स्वयं उनका निर्धारण स्वल्परूप में करके शेष उन्हीं पर छोड़ दिया है, जैसे—किराया निर्धारण के लिए ८.१५७ में, शुल्कनिर्धारण के लिए ८.३९८ में उस विषय के विशेषज्ञों पर ही यह निर्धारण का काम छोड़ा है। इसी प्रकार यहां भी है, इसीलिए इस शब्द का उक्त अर्थ मनु-अभिप्रेत है। ८.१५७ में इस शब्द के पर्यायवाची रूप में '**अर्थदर्शिनः**' शब्द का प्रयोग है। इसका भी भाव वही है। (ख) वेदादि में वसिष्ठ शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यथा—ऋ० १.११२.९ तथा ७.३३.१३ में वसिष्ठ शब्द का अर्थ महर्षि दयानन्द ने यही किया है—''**यो वसति धनादि कर्मसु सोऽतिशयस्तम् उत्तमविद्वांसम्।**'' इस आधार पर यहाँ उक्त अर्थ ही समीचीन एवं ग्राह्य है।

अर्थशास्त्रियों द्वारा ब्याज की व्यवस्था के निर्धारण का उल्लेख करते हुए मनु ने ब्याज की सवा रुपया सैकड़ा अधिकतम सीमा निर्धारित की है। इससे अधिक ब्याज ग्रहण नहीं करना चाहिए।

लाभ वाली गिरवी पर ब्याज नहीं—

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात्।
न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥ १४३ ॥
(८४)

(**सोपकारे**) उपकार अर्थात् साथ के साथ लाभ पहुंचाने वाली (**आधौ**) बंधक रखी धरोहर=गिरवी [जैसे भूमि, घर, गौ आदि] पर (**कौसीदीं वृद्धिं न तु+एव आप्नुयात्**) धरोहर रखने वाला व्यक्ति ब्याज रूप में प्राप्त धनवृद्धि बिल्कुल न ले (**च**) और (**कालसंरोधात्**) बहुत समय बीत जाने पर (**आधेः**)

२. **प्रचलित अर्थ**—वसिष्ठ मुनि द्वारा प्रतिपादित धनवर्धक सूद ले, वह ऋणद्रव्य का १/८० भाग हो अर्थात् सवा प्रतिशत मासिक सूद लेना चाहिए॥ १४० ॥

उस धरोहर को (**न निसर्गः**) रखाने वाले स्वामी के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता है अर्थात् रखाने वाले की ही वह वस्तु सदा रहेगी और उसे (**न विक्रयः**) दूसरे को बेचा भी नहीं जा सकता है॥ १४३॥

धरोहर-सम्बन्धी व्यवस्थाएँ (उन पर ऋण-ब्याज आदि की व्यवस्था)—

न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्।
मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत्॥ १४४॥
(८५)

(**बलात्**) किसी की धरोहर को अपने पास रखाने वाला व्यक्ति बलपूर्वक (**आधिः न भोक्तव्यः**) उस धरोहर=गिरवी को उपयोग में न लाये (**भुञ्जानः**) यदि वह उस वस्तु को उपभोग में लाता है तो (**वृद्धिम्+ उत्सृजेत्**) उसके बदले ब्याज को छोड़ देवे अथवा (**एनं मूल्येन तोषयेत्**) धरोहर रखने वाले व्यक्ति को उसका मूल्य देकर सन्तुष्ट करे (**अन्यथा**) ऐसा न करने पर वह धरोहर रखने वाला (**आधिः+ स्तेनः भवेत्**) 'धरोहर का चोर' कहलाएगा अर्थात् चोर के दण्ड का भागी होगा॥ १४४॥

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः।
अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ॥ १४५॥
(८६)

(**आधिः**) खुली धरोहर=गिरवी भूमि, पशु आदि (**च**) और (**उपनिधिः**) मुहरबन्द दी हुई धरोहर= अमानत (**उभौ**) ये दोनों (**काल+अत्ययम्**) समय अतिक्रमण की सीमा के (**न अर्हतः**) अन्तर्गत नहीं आती अर्थात् इन पर कोई समय की सीमा लागू नहीं होती कि इतने दिनों के पश्चात् ये मूल स्वामी के अधिकार से विहीन हो जायेंगी (**तौ**) ये (**दीर्घ- कालम्+अवस्थितौ**) लम्बे समय तक रहने के बाद भी (**अवहार्यौ भवेताम्**) मूल स्वामी को लौटा लेने योग्य रहती है।

सम्प्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन।
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते॥ १४६ ॥
(८७)

(**सम्प्रीत्या भुज्यमानानि**) परस्पर प्रेमपूर्वक उपभोग में लायी जाती हुई वस्तुएं जैसे (**धेनुः**) दुधारू गौ (**वहन्**) बोझ या सवारी आदि ढोने वाले (**उष्ट्रः**) ऊंट, (**अश्वः**) घोड़ा (**च**) और (**यः**) जो (**दम्यः**) हल आदि में जोते जाने वाले बैल आदि (**प्रयुज्यते**) यदि उपभोग में लाये जाते हैं, तो वे (**कदाचन न नश्यन्ति**) कभी भी अपने पूर्व स्वामी के स्वामित्व से मुक्त नहीं होते, अर्थात् प्रयोग करने वाले के नहीं होते अर्थात् पूर्वस्वामी उन्हें कभी भी वापस ले सकता है।

दुगुने से अधिक मूलधन न लेने का आदेश—

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता।
धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम्॥१५१ ॥
(८८)

(**सकृत्+आहृता**) एकबार लिए ऋण के धन पर (**कुसीदवृद्धिः**) ब्याज की वृद्धि (**द्वैगुण्यं न+अत्येति**) मूलधन के दुगुने से अधिक नहीं होनी चाहिए। (**धान्ये**) अन्नादि धान्य (**सदे**) वृक्षों के फल (**लवे**) ऊन (**वाह्ये**) भारवाहक पशु बैल आदि (**पञ्चतां न+अतिक्रामति**) मूल के पांच गुने से अधिक नहीं लेने चाहिए॥ १५१ ॥

ऋषि अर्थ—''सवा रुपये सैंकड़े से अधिक चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे, जब दूना धन आ जाये उससे आगे कौड़ी न लेवे न देवे। जितना न्यून ब्याज लेवेगा उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे॥''
(सं०वि० गृहाश्रमप्रकरण में टिप्पणी)

कौन-कौन से ब्याज न ले—

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत्।
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या॥
१५३॥(८९)

(**अतिसांवत्सरीं वृद्धिं न हरेत्**) एक वर्ष से अधिक समय का ब्याज एक बार में न ले (**च**) और (**अदृष्टां पुनः न हरेत्**) शास्त्रविरुद्ध ब्याज न ले और किसी कारण से एक बार छोड़े हुए ब्याज को फिर न मांगे (**चक्रवृद्धिः**) ब्याज पर लगाया हुआ ब्याज (**कालवृद्धिः**) मासिक, त्रैमासिक या ब्याज की किश्त देने के लिए निश्चित किये गये काल पर एक बार ब्याज लेकर अगले ब्याज की दर को बढ़ा देना (**कारिता**) कर्जदार की विवशता, विपत्ति आदि के कारण दबाव देकर शास्त्र में निश्चित सीमा से अधिक लिखाया या बढ़ाया गया ब्याज लेना (**कायिका**) ब्याज के रूप में शरीर से बेगार करवाना या शरीर से काम कराके धन या ब्याज उगाहना, ये ब्याज भी न ले॥ १५३॥

पुनः ऋणपत्रादि लेखन—

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम्।
स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत्॥ १५४॥
(९०)

(**यः**) जो कर्जदार (**ऋणं दातुम्+अशक्तः**) निर्धारित समय पर ऋण न लौटा सका हो (**पुनः क्रियां कर्तुम्+इच्छेत्**) फिर आगे भी ऋण की क्रिया करना चाहता हो अर्थात् उस ऋण को जारी रखने का लेख लिखाना चाहता हो तो (**सः**) वह (**निर्जितां वृद्धिं दत्त्वा**) उस समय तक के ब्याज को देकर (**करणं परिवर्तयेत्**) 'लेन-देन का समझौता पत्र' नया लिख दे॥ १५४॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत्।
यावती सम्भवेद् वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति॥ १५५॥
(९१)

(**अदर्शयित्वा**) यदि ऋणधारक निर्धारित ब्याज न दे सके तो (**तत्र+एव हिरण्यं परिवर्तयेत्**) ब्याज को मूलधन में जोड़कर उसे सारे हिरण्य=धन का नया कागज लिख दे (**यावती वृद्धिः सम्भवेत्**) उस पर

फिर जितना ब्याज बनेगा (**तावतीं दातुम्+अर्हति**) उतना उसे देना होगा॥ १५५ ॥

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः ।
अतिक्रामन् देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात्॥१५६ ॥
(९२)

(**चक्रवृद्धिं समारूढः**) उपर्युक्त [८.१५५] प्रकार से वार्षिक ब्याज को मूलधन में जोड़कर चक्रवृद्धि ब्याज लेने वाला व्यक्ति (**देश-काल-व्यवस्थितः**) देश और काल-व्यवस्था में बंध कर ब्याज ले [देशव्यवस्था अर्थात् स्थान या देश की उपयुक्त व्यवस्था जैसे नकद राशि पर दुगुने से अधिक न ले; व्यापारिक अन्न, फल आदि पर पांच गुने से अधिक न ले; और सवा रुपये सैंकड़े की अधिकतम सीमा तक जितना ब्याज जिस स्थान या देश में लिया जाता है उस व्यवस्था के अनुसार (८.१४०, १५१)। कालव्यवस्था—वर्ष के निर्धारित समय के बाद ही सूद को मूलधन में जोड़ना, पहले नहीं] (८.१५५) (**देशकालौ अतिक्रामन्**) देश, काल की व्यवस्था को भंग करने पर (**तत् फलं न अवाप्नुयात्**) ब्याज लेने वाला उस ब्याज को लेने का हकदार नहीं होता॥ १५६ ॥[१]

समुद्रयानों का किराया-भाड़ा निर्धारण—

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति॥ १५७ ॥
(९३)

(**समुद्रयानकुशलाः**) समुद्रपार देशों तक और स्थलमार्गों पर व्यापार करने में चतुर और (**देश-कालार्थदर्शिनः**) देश की दूरी और काल-सीमा के अनुसार अर्थलाभ के ज्ञाता विद्वान् (**यां वृद्धिं**

१. **प्रचलित अर्थ**—देश तथा काल की वृद्धि (भाड़ा—अमुक स्थान तक यह बोझ पहुंचाने का अथवा अमुक समय तक काम करने का इतना धन लूंगा, इस प्रकार) निश्चय करने के बाद में देश या समय का उल्लंघन करे, तब वह उसका भाड़ा पाने का अधिकारी नहीं होता।

स्थापयन्ति) जिस भाड़े का निश्चय करें (**सा तत्र+ अधिगमं प्रति**) वही भाड़ा लाभप्राप्ति के लिए प्रामाणिक है [ऐसा समझना चाहिए] ॥ १५७ ॥

जमानती सम्बन्धी विधान—

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः।
अदर्शयन् स तं तस्य प्रयच्छेत् स्वधनादृणम्॥ १५८ ॥
(९४)

(**यः मानवः**) जो व्यक्ति (**यस्य**) जिस ऋणधारक का (**इह दर्शनाय**) न्यायालय के सामने उपस्थित करने और ऋण लौटाने का (**प्रतिभूतः तिष्ठेत्**) जमानती बने (**अदर्शयन्**) उस कर्जदार को उपस्थित न कर सकने पर (**तस्य ऋणम्**) उस द्वारा लिया हुआ कर्ज (**स्वधनात् प्रयच्छेत्**) जमानती अपने धन से दे ॥ १५८ ॥

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत्।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति॥ १५९ ॥
(९५)

(**प्रातिभाव्यम्**) किसी जमानती द्वारा जमानत के रूप में स्वीकार किया गया धन (**वृथादानम्**) व्यर्थ अर्थात् हंसी-मजाक में देने के लिए कहा गया धन या व्यर्थ अर्थात् कुपात्र के लिए कहा गया दान (**आक्षिकम्**) जूआ-सम्बन्धी हारा धन (**च**) और (**यत् सौरिकम्**) जो शराब पर व्यय किया गया धन (**च**) तथा (**दण्ड-शुल्क-अवशेषम्**) राजा की ओर से दण्ड के रूप में किया गया जुर्माने का धन और कर, चुंगी आदि का धन (**पुत्रः न दातुम्+अर्हति**) पुत्र को नहीं देना होता ॥ १५९ ॥

दर्शनप्रतिभाव्ये तु विधिः स्यात् पूर्वचोदितः।
दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत्॥ १६० ॥
(९६)

(**दर्शन-प्रातिभाव्ये तु**) ऋणधारक को उपस्थित करने का जमानती बनने में तो (**पूर्वचोदितः विधिः स्यात्**) पहले [८.१५९ में] कही हुई विधि लागू होती

किन्तु (**दान-प्रतिभुवि प्रेते**) ऋण आदि देने का जमानती होकर [कि अगर ऋणधारक नहीं देगा तो मैं दूंगा] जमानती के मर जाने पर और ऋणी द्वारा वह धन न लौटाने पर (**दायदान्+अपि दापयेत्**) जमानत के धन को उसके धन के उत्तराधिकारी बने व्यक्तियों से राजा दिलवाये॥ १६०॥

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम्।
पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत् केन हेतुना॥ १६१॥
(९७)

(**अदातरि पुनः विज्ञातप्रकृतौ**) ऋण के अदाता जमानती की प्रतिज्ञा की ऋणदाता को जानकारी होने की स्थिति में अर्थात् यदि जमानती ने ऋण देने की जमानत नहीं ली है, किन्तु केवल ऋणी को ऋणदाता के सामने नियत समय पर उपस्थित करने की जमानत ली है, और जमानती की इस प्रतिज्ञा को ऋणदाता जानता भी है तो ऐसे (**प्रतिभुवि प्रेते पश्चात्**) जमानती के मर जाने के बाद (**दाता केन हेतुना ऋणं परीप्सेत्**) ऋणदाता किस कारण अर्थात् आधार पर उसके पुत्रादि से ऋण प्राप्त करने की इच्छा करेगा? अर्थात् वह ऋणदाता ऐसे जमानती के पुत्र से ऋण प्राप्त करने का हकदार नहीं है॥ १६१॥

निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंघनः।
स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः॥ १६२॥
(९८)

(**चेत्**) यदि (**प्रतिभूः निरादिष्टधनः**) अपने जमानती को ऋणी ने धन सौंप दिया हो (**च**) और (**अलंघनः स्यात्**) ऋणी ने जमानती से ऋणदाता को वह धन लौटा देने की आज्ञा न दी हो तो ऐसी स्थिति में (**निरादिष्टः**) वह आज्ञा न दिया हुआ भी जमानती अथवा मरने पर जमानती का पुत्र (**तत् स्वधनात्+ एव दद्यात्**) [ऋणदाता के मांगने पर] उसका धन अपने धन में से लौटा देवे (**इति स्थितिः**) ऐसी शास्त्र-मर्यादा है॥ १६२॥

आठ प्रकार के व्यक्तियों से लेन-देन अप्रामाणिक है—

मत्तोन्मत्तार्ताध्याधीनैर्बालेन स्थविरेण वा।
असम्बद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति॥ १६३॥
(९९)

(**मत्तः**) नशे में ग्रस्त (**उन्मत्तः**) पागल (—**आर्तः**) शारीरिक रोगी (—**आधि**) मानसिक रूप से रोगी या विपत्तिग्रस्त (—**अधीनैः**) अधीन रहनेवाले नौकर आदि से (**बालेन**) नाबालिग से (**वा**) अथवा (**स्थविरेण**) बहुत बूढ़े से (**च**) और (**असम्बद्ध-कृतः**) सम्बद्ध व्यक्ति के पीछे से उसके किसी नाम पर अन्य व्यक्ति से किया गया (**व्यवहार**) लेन-देन (**न सिद्ध्यति**) प्रामाणिक अर्थात् मानने योग्य नहीं होता॥ १६३॥

शास्त्र और नियमविरुद्ध लेन-देन अप्रामाणिक—

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात् प्रतिष्ठिता।
बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद् व्यावहारिकात्॥
१६४॥ (१००)

(**भाषा**) कोई भी बात या पारस्परिक प्रतिज्ञा (**चेत्**) यदि (**धर्मात्**) धर्मशास्त्र अर्थात् कानून के अनुसार (**नियतात् व्यावहारिकात्**) निश्चित व्यवहार से (**बहिः भाष्यते**) बाह्य अर्थात् विरुद्ध की हुई है (**यद्यपि प्रतिष्ठिता स्यात्**) चाहे वह लेख आदि द्वारा प्रमाणित भी हो तो भी (**सत्या न भवति**) सत्य= प्रामाणिक या मान्य नहीं होती॥ १६४॥

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्।
यत्र वाऽप्युपधिं पश्येत् तत्सर्वं विनिवर्तयेत्॥ १६५॥
(१०१)

(**योग+आधमन—विक्रीतम्**) छल-कपट से रखी हुई धरोहर और बेची हुई वस्तु (**योगदान—प्रतिग्रहम्**) छल-कपट से दी गई और ली गई वस्तु (**वा**) अथवा (**यत्र अपि+उपधिं पश्येत्**) जिस-किसी भी व्यवहार में छल-कपट दिखाई पड़े (**तत् सर्वं विनिवर्तयेत्**) उस सब को रद्द या अमान्य घोषित कर

दे ॥ १६५ ॥

कुटुम्बार्थ लिये गये धन को कुटुम्बी लौटायें—

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात् कुटुम्बार्थं कृतो व्ययः।
दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात् प्रविभक्तैरपि स्वतः॥
१६६॥(१०२)

(**कुटुम्बार्थं व्ययः कृतः**) यदि किसी व्यक्ति ने परिवार के लिए ऋण लेकर खर्च किया हो और (**यदि ग्रहीता नष्टः स्यात्**) यदि ऋण लेने वाले उस की मृत्यु हो गई हो तो (**तत्**) वह ऋण (**बान्धवैः**) उसके पारिवारिक सम्बन्धियों को (**विभक्तैः+अपि**) चाहे वे अलग-अलग भी क्यों न हो गये हों (**स्वतः**) अपने धन में से (**दातव्यम् स्यात्**) देना चाहिए॥ १६६ ॥

कुटुम्बार्थेऽऽध्यधीनोऽपि यं व्यवहारं समाचरेत्।
स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचारयेत्॥ १६७॥
(१०३)

(**अधि+अधीनः+अपि**) कोई अधीनस्थ परिजन (सेवक, पुत्र, पत्नी आदि) भी यदि (**कुटुम्बार्थे**) परिवार के भरण-पोषण के लिए (**स्वदेशे वा विदेशे वा**) स्वदेश वा विदेश में (**यं व्यवहारम्+आचरेत्**) जिस लेन-देन के व्यवहार को कर लेवे (**ज्यायान्**) घर का बड़ा=मुखिया आदमी (**तं न विचालयेत्**) उस व्यवहार को टालमटोल न करे अर्थात् उसे स्वीकार करके चुकता कर दे॥ १६७ ॥

अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम्।
साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत्॥ १७८ ॥
(१०४)

(**राजा**) राजा और न्यायाधीश (**मिथः विवदतां नृणाम्**) परस्पर झगड़ते हुए मनुष्यों के (**साक्षि-प्रत्ययसिद्धानि कार्याणि**) साक्षी और लेख आदि प्रमाणों से प्रमाणित मुकद्दमों को (**अनेन विधिना**) इस उपर्युक्त [८.९ से ८.१७७] विधि से (**समतां नयेत्**) सबसे बराबर न्याय करता हुआ निर्णय करे॥ १७८ ॥

(२) धरोहर रखने के विवाद का निर्णय (१७९-१९६)

कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः॥ १७९॥
(१०५)

(**बुधः**) बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह (**कुलजे**) कुलीन (**वृत्त-सम्पन्ने**) सदाचारी (**धर्मज्ञे**) धर्मात्मा (**सत्यवादिनि**) सत्यवादी (**महापक्षे**) विस्तृत व्यापार या बहुत धन वाले (**आर्ये धनिनि**) सज्जन धनवान् व्यक्ति के यहां (**निक्षेपं निक्षिपेत्**) धरोहर रखे॥ १७९॥

यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः॥ १८०॥
(१०६)

(**यः**) जो धरोहर रखाने वाला (**मानवः**) मनुष्य (**यम्+अर्थम्**) जिस धन को (**यस्य हस्ते**) जिस किसी धरोहर लेने वाले के हाथ में (**यथा निक्षिपेत्**) जैसे अर्थात् मुहरबन्द या बिना मुहरबन्द, साक्षियों के सामने या एकान्त में, जैसे धन की मात्रा अवस्था आदि के रूप में रखे (**सः**) वह धन उसको (**तथा+एव**) वैसी स्थिति के अनुसार ही (**ग्रहीतव्यः**) वापिस लेना चाहिए क्योंकि (**यथा दायः तथा ग्रहः**) जैसा देना वैसा ही लेना होता है [तुलनार्थ द्रष्टव्य ८.१९५]॥ १८०॥

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति।
स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ॥ १८१॥
(१०७)

(**यः**) जो धरोहर लेने वाला (**निक्षेप्तुः निक्षेपम्**) धरोहर रखाने वाले के द्वारा अपनी धरोहर के (**याच्यमानः**) मांगने पर (**न प्रयच्छति**) नहीं लौटाता है तो [धरोहर रखाने वाले के द्वारा न्यायालय में प्रार्थना करने पर] (**तत् निक्षेप्तुः+असन्निधौ**) धरोहर रखाने

वाले की अनुपस्थिति में या परोक्षरूप से (**प्राड्-विवाकेन सः याच्यः**) न्यायाधीश उससे धरोहर मांगे [८.१८२] अर्थात् धरोहर लौटाने के लिए उससे पूछताछ-परीक्षा आदि करे॥ १८१ ॥

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः।
अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः॥ १८२ ॥
(१०८)

(**साक्षी+अभावे**) दिये गये धरोहर-धन को सिद्ध करने के लिए यदि देने वाले के पास साक्षी न हों तो [उसकी जांच-पड़ताल का एक उपाय यह है कि राजा] (**वयः-रूप-समन्वितैः**) समयानुसार अवस्था और विविध रूप बनाने की कला में चतुर (**प्रणिधिभिः**) गुप्तचरों के द्वारा (**अपदेशैः**) विभिन्न बहानों एवं तरीकों से (**तत्त्वतः**) जो नकली प्रतीत न हों अर्थात् ऐसी स्वाभाविक पद्धति से (**तस्य**) उस अभियोगी के यहां (**हिरण्यं संन्यस्य**) स्वर्ण, धन आदि धरोहर रखवाकर फिर (**याच्यः**) मांगे॥ १८२ ॥

अनुशीलन—हिरण्य से विशेष अभिप्राय— 'हिरण्य' का प्रसिद्ध अर्थ स्वर्ण है। किसी भी अतिमूल्वान् वस्तु को भी 'हिरण्य' कहा जाता है। यहाँ 'हिरण्य' रखकर परीक्षा करने की विधि बड़ी मनोवैज्ञानिक है। यतोहि लालची व्यक्ति महंगी वस्तु पर अधिक लालच प्रकट करेगा, जिससे उसकी भावना प्रकट हो जायेगी कि इसने इस प्रकार का अपराध किया है अथवा नहीं। यह परीक्षा अनेक प्रकार से करनी चाहिये।

स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम्।
न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते॥ १८३ ॥
(१०९)

(**सः**) वह धरोहर लेने वाला अभियोगी व्यक्ति [अनेक बार, विभिन्न प्रकार के उपायों से परीक्षा करने के पश्चात्] (**यदि यथान्यस्तं यथाकृतं प्रतिपद्येत**) यदि रखी हुई धरोहर को ईमानदारी से ज्यों का त्यों वापिस कर देता है तो (**यत् परैः+अभियुज्यते**) जो दूसरों के द्वारा उस पर अभियोग लगाया गया है (**तत्र**

न किंचित् विद्यते) उसमें कुछ सच्चाई नहीं है, ऐसा समझना चाहिए॥ १८३॥

तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि।
उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा॥ १८४॥
(११०)

(**यदि तु**) और अगर (**तेषां तत् हिरण्यम्**) उन गुप्तचरों द्वारा रखी गई स्वर्ण आदि धरोहर को (**यथाविधि**) ज्यों का त्यों (**न दद्यात्**) न लौटावे तो (**उभौ निगृह्य**) धरोहर रखाने वाले तथा गुप्तचरों द्वारा रखी गई, उन दोनों धरोहरों को अपने वश में लेकर (**दाप्यः स्यात्**) धरोहर रखने वाले को दण्डित करे (**इति धर्मस्य धारणा**) ऐसा धर्मानुसार दण्ड-विधान है॥ १८४॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे।
नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ॥ १८५॥
(१११)

(**नित्यम्**) कभी भी (**निक्षेप+उपनिधी**) बिना मुहरबन्द=गिरवी धरोहर और मुहरबन्द धरोहर (**अनन्तरे प्रति**) देने वाले से भिन्न निकटतम व्यक्ति को [चाहे वे पुत्र आदि ही क्यों न हो] (**न देयौ**) नहीं लौटानी चाहियें (**तौ**) ये (**विनिपातेः नश्यतः**) देने वाले के मर जाने पर नष्ट हो जाती हैं अर्थात् लौटानी नहीं पड़तीं (**तु**) और (**अनिपाते**) जीवित रहते हुए (**अनाशिनौ**) कभी नष्ट नहीं होतीं॥ १८५॥

स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे।
न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः॥ १८६॥
(११२)

(**मृतस्य अनन्तरे प्रति**) धरोहर देने वाले के मर जाने पर उसके वारिसों को (**यः स्वयम्+एव दद्यात्**) जो व्यक्ति स्वयं ही धरोहर लौटा दे तो (**सः**) उस व्यक्ति पर (**न राज्ञा**) न तो राजा और न्यायाधीश को (**न निक्षेप्तुः बन्धुभिः**) और न धरोहर रखाने वाले के उत्तराधिकारी बान्धवों को (**नियोक्तव्यः**) किसी प्रकार

का दावा या सन्देह करना चाहिए॥ १८६ ॥

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम्।
विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत्॥ १८७॥
(११३)

(**तत्+अर्थम्**) यदि उस व्यक्ति के पास कुछ धन रह भी गया है तो उस धन को (**अच्छलेन**) छलरहित होकर (**प्रीतिपूर्वकम्+एव**) प्रेमपूर्वक ही (**अनु+इच्छेत्**) लेने की इच्छा करे (**वा**) और (**तस्य वृत्तं विचार्य**) उसके भलेपन को ध्यान में रखते हुए [कि उसने स्वयं ही कुछ धन लौटा दिया] (**साम्ना+एव परिसाधयेत्**) शान्तिपूर्वक या मेल-जोल से ही धन-प्राप्ति के काम को सिद्ध करले॥ १८७॥

निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने।
समुद्रेनाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत्॥ १८८॥
(११४)

(**एषु सर्वेषु निक्षेपेषु**) उपर्युक्त सब प्रकार के बिना मुहरबन्द निक्षेपों में (**परिसाधने**) विवादों का निर्णय करने के लिए (**विधिः स्यात्**) यह विधि [८.१८२ आदि] कही गई है और (**समुद्रे**) मोहरबन्द धरोहरों में (**यदि तस्मात् न हरेत्**) यदि मुहर को तोड़कर रखने वाला उसमें से कुछ नहीं लेता है तो (**किञ्चित् न+आप्नुयात्**) वह किसी दोष का भागी नहीं होता॥ १८८॥

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा।
न दद्याद्यदि तस्मात् स न संहरति किञ्चन॥ १८९॥
(११५)

(**तस्मात्**) रखे हुए धरोहर में से (**यदि सः किञ्चन न संहरति**) यदि धरोहर लेने वाला कुछ नहीं लेता है और धरोहर (**चौरैः हृतम्**) चोरों के द्वारा चुरा ली जाये (**जलेन+ऊढम्**) जल में बह जाये (**वा**) या (**अग्निना एव दग्धम्**) आग से ही जल जाये तो (**न दद्यात्**) धरोहर लेने वाला धरोहर को न लौटाए॥ १८९॥

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम्॥ १९१॥
(११६)

(**यः**) जो (**निक्षेपं न+अर्पयति**) धरोहर को वापिस नहीं लौटाता (**च**) और (**यः**) जो (**अनिक्षिप्य याचते**) बिना धरोहर रखे झूठ ही मांगता है तो (**तौ+उभौ**) वे दोनों प्रकार के व्यक्ति (**चौरवत् शास्यौ**) चोर के समान दण्ड के भागी हैं (**वा**) अथवा (**तत् समं दमं दाप्यौ**) बताये गये धन के बराबर अर्थदण्ड के द्वारा दण्डनीय हैं॥ १९१॥

उपधाभिश्च यः कश्चित् परद्रव्यं हरेन्नरः।
ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विधिधैर्वधैः॥ १९३॥
(११७)

(**यः कश्चित् नरः**) जो कोई मनुष्य (**उपधाभिः**) छल-कपट या जाल-साजी से (**परद्रव्यं हरेत्**) दूसरों का धन हरण करे (**सः**) राजा उसे (**ससहायः**) उसके सहायकों सहित (**प्रकाशम्**) जनता के सामने (**विविधैः वधैः हन्तव्यः**) विविध प्रकार के वधों [कोड़े या बेंत मारना, हाथ-पैर बांधना आदि] से दण्डित करे॥ १९३॥

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति॥ १९४॥
(११८)

(**कुलसन्निधौ**) परिवारवालों या साक्षियों के सामने (**येन**) जिसने (**यः च यावान् निक्षेपः कृतः**) जो वस्तु और जितना धरोहर के रूप में रखा है (**सः**) वह (**तावान्+एव विज्ञेयः**) उतना ही समझना चाहिए अर्थात् धरोहर घटती या बढ़ती नहीं है (**विब्रुवन्**) उसके विरुद्ध कहने वाला भी (**दण्डम्+अर्हति**) दण्ड का भागी होता है॥ १९४॥

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा।
मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः॥ १९५॥
(११९)

(**येन मिथः दायः कृतः**) जिस व्यक्ति ने बिना साक्षियों के परस्पर ही सहमति से धरोहर या धन दिया है (**वा**) अथवा (**मिथः एव गृहीतः**) उसी प्रकार एकान्त में ग्रहण किया है उन्हें (**मिथः एव प्रदातव्यः**) उसी प्रकार एकान्त में लौटा देना चाहिए (**यथा दायः तथा ग्रहः**) क्योंकि जैसा देना वैसा ही लेना होता है [तुलनार्थ द्रष्टव्य ८.१८०] ॥ १९५ ॥

निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च।
राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन् न्यासधारिणम्॥१९६॥
(१२०)

(**एवम्**) इस प्रकार [८.१७९ से ८.१९५ तक] (**निक्षिप्तस्य**) धरोहर के रूप में रखे गये (**च**) और (**प्रीत्या+उपनिहितस्य धनस्य**) प्रेमपूर्वक उपनिधि आदि के रूप में रखे गये धन का (**न्यासधारिणम् अक्षिण्वन्**) जिससे धरोहर रखाने वाले को किसी प्रकार की हानि न हो (**राजा विनिर्णयं कुर्यात्**) राजा या न्यायाधीश उस प्रकार निर्णय करे॥ १६९ ॥

(३) तृतीय विवाद 'अस्वामिविक्रय' का निर्णय १६९-२०५ तक

दूसरे की वस्तु बेच देना—

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः।
न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम्॥ १९७॥
(१२१)

(**यः**) जो मनुष्य (**अस्वामी**) किसी वस्तु का स्वामी नहीं होता हुआ भी (**स्वामी+असंमतः**) उस वस्तु के असली स्वामी की आज्ञा लिए बिना (**परस्य स्वं विक्रीणीते**) उसकी सम्पत्ति को बेच देता है (**अस्तेनमानिनम्**) चोर होते हुए भी स्वयं को चोर न समझने वाले (**तम् स्तेनम्**) उस चोर व्यक्ति के (**साक्ष्यं न नयेत**) साक्षियों या कथनों को प्रामाणिक न माने॥ १६७ ॥

अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम्।
निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम्॥ १९८ ॥
(१२२)

(**अवहार्यः सान्वयः एव भवेत्**) यदि इस प्रकार [८.१९७] सम्पत्ति को बेचने वाला वस्तु के स्वामी का वंशज उत्तराधिकारी हो तो (**षट्शतं दमम्**) राजा उस पर छह सौ पण दण्ड करे तथा सम्पत्ति को वापस दिलाये और यदि वह (**निरन्वयः**) स्वामी के वंश का न हो, (**अनपसरः**) या कोई बलपूर्वक उस सम्पत्ति पर अधिकार करके बेचने वाला हो तो वह (**चौर-किल्बिषं प्राप्तः स्यात्**) चोर के दण्ड को [८.३०१-३४३] प्राप्त करने योग्य होगा॥ १९८ ॥

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥ १९९ ॥
(१२३)

(**अस्वामिना**) वास्तविक स्वामी के बिना (**यः तु दायः वा विक्रयः कृतः**) जो कुछ भी देना या बेचना किया जाये (**व्यवहारे यथा स्थितिः**) व्यवहार के नियम के अनुसार (**सः तु अकृतः विज्ञेयः**) उस कार्य को 'न किया हुआ' अर्थात् अमान्य ही समझना चाहिए॥ १९९ ॥

सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित्।
आगमः कारणं तत्र न सम्भोग इति स्थितिः ॥ २०० ॥
(१२४)

(**यत्र सम्भोगः दृश्यते**) जहाँ किसी वस्तु का उपभोग किया जाना देखा जाये (**आगमः क्वचित् न दृश्येत**) किन्तु उसका आगम=आने का साधन या स्रोत न दिखाई पड़े (**तत्र**) वहाँ (**आगमः कारणम्**) आगम=वस्तु की प्राप्ति के स्रोत या साधन की सिद्धि को प्रमाण मानना चाहिए (**सम्भोगः न**) उपभोग करना उसके स्वामित्व का मुख्य प्रमाण नहीं है (**इति स्थितिः**) ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है। अर्थात्—किसी वस्तु के उपभोग करने मात्र से कोई व्यक्ति उसका

स्वामी नहीं बन जाता अपितु 'उचित प्राप्ति स्रोत' को सिद्ध करने पर ही उसे उस वस्तु का स्वामी माना जा सकता है॥ २००॥

विक्रयाद्यो धनं किञ्चिद् गृह्णीयात् कुलसन्निधौ।
क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम्॥ २०१॥
(१२५)

(**यः**) जो व्यक्ति (**किञ्चित् विक्रयात्**) किसी वस्तु को बेचकर (**धनं गृह्णीयात्**) धन प्राप्त करना चाहे तो वह (**कुलसन्निधौ**) साक्षियों या कुल के लोगों के बीच में (**विशुद्धं क्रयेण हि**) उस बेची जाने वाली वस्तु की दोषरहित खरीददारी को प्रमाणित करके ही (**न्यायतः धनं लभते**) न्यायानुसार धन प्राप्त करने का अधिकारी होता है अर्थात् जिस वस्तु को वह बेच रहा है वह विशुद्ध रूप से उसकी है या उसने कानूनी तौर पर खरीद रखी है, यह बात सिद्ध करने पर ही वह उस बेची हुई वस्तु के धन को प्राप्त करने का अधिकारी है, अन्यथा नहीं। जो उसकी विशुद्ध खरीददारी को प्रमाणित नहीं कर सकता, वह न उस वस्तु को बेचने का अधिकारी है और न उसके विक्रय के धन को प्राप्त करने का॥ २०१॥

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः।
अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम्॥ २०२॥
(१२६)

(**अथ मूलम्+अनाहार्यम्**) अगर कोई धन या वस्तु मूलतः क्रय करने योग्य सिद्ध नहीं होती है अर्थात् उसका क्रय करना कानूनसम्मत नहीं है किन्तु खरीददार ने उस वस्तु की (**प्रकाश-क्रय-शोधितः**) लोगों के सामने दोषरहित रूप से खरीददारी की है, तो ऐसी स्थिति में उस वस्तु का खरीददार (**राज्ञा अदण्ड्यः मुच्यते**) राजा के द्वारा दण्डनीय नहीं होता, राजा उसे छोड़ दे, और (**नाष्टिकः धनं लभते**) जिसका वह धन मूलरूप से है, उसे लौटा दे॥ २०२॥

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति।
न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम्॥ २०३॥
(१२७)

(**अन्येन अन्यत् संसृष्टरूपम्**) किसी वस्तु में उससे मिलते-जुलते रङ्गरूप वाली, कम कीमत वाली या खराब वस्तु मिलाकर (**न विक्रयम्+अर्हति**) नहीं बेची जा सकती (**च**) और (**न असारम्**) न गुणहीन वस्तु को उत्तम बताकर (**न न्यूनम्**) न तोल और माप में कम (**दूरेण तिरोहितम्**) न दूर से अस्पष्ट वस्तु को दिखाकर अन्य के स्थान में अन्य वस्तु को बेचना या देना प्रामाणिक है॥ २०३॥

अनुशीलन—**मिलावट**—जैसे असली घी में वनस्पति घी मिला देना, काली मिर्चों में पपीते के बीच मिलाना। **असार वस्तु**—अच्छे अन्न में खोखला अन्न मिला देना, औषध में सारहीन हुई पुरानी औषध मिला देना। **अस्पष्ट दर्शन**—दूर से किसी सुन्दर कन्या को दिखाकर दूसरी का विवाह कर देना, किसी अच्छे पशु को दिखाकर खराब पशु को बेच देना, कपड़ा दिखाकर उसके स्थान पर नकली कमजोर कपड़ा बेचना आदि अपराध हैं। इस प्रकार मिलावट या धोखा करने वाला व्यक्ति भी चोर के समान दण्डनीय होता है [१९७-१९८] या ९.२८६-२८७ के अनुसार दोष देखकर दण्ड दे।

(४) चतुर्थ विवाद 'सामूहिक व्यापार' का निर्णय [२०६-२११ तक]

मिलजुलकर व्यापार करना और उसमें लाभ का बंटवारा—

सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे।
तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः॥ २१०॥
(१२८)

[साझे व्यापार में अपने धनव्यय के अनुसार] (**सर्वेषां मुख्याः अर्धिनः**) सब साझीदारों में जो मुख्य हैं, वे कुल आय के आधे भाग को लें (**अपरे तत् अर्धिनः अर्धेन**) दूसरे नम्बर के साझीदार उनसे आधा भाग ग्रहण करें (**तृतीयिनः तृतीयांशाः**) तीसरे नम्बर

के साझीदार उन मुख्यों से एक तिहाई भाग लें (**च**) और (**चतुर्थांशाः पादिनः**) चौथे हिस्से के हिस्सेदार एक चौथाई हिस्सा लें। इस प्रकार साझे का व्यापार करें॥ २१० ॥

सम्भूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः।
अनेन विधियोगेन कर्त्तव्यांशप्रकल्पना॥ २११ ॥ (१२९)

(**इह**) इस संसार में (**सम्भूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिः मानवैः**) मिलजुलकर अपने काम करने वाले मनुष्यों को (**अनेन विधियोगेन**) इस विधि के अनुसार (**अंशप्रकल्पना कर्त्तव्या**) आपस के भाग का बंटवारा करना चाहिए अर्थात् जिसका जितना साझे का अंश है तदनुसार ही लाभांश प्राप्त करना चाहिए॥ २११ ॥

(५) पञ्चम विवाद 'दिये पदार्थ को न लौटाना' का निर्णय [२१२-२१३]

दान की हुई वस्तु को लौटाना—

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात् कस्मैचिद्याचते धनम्।
पश्चाच्च न तथा तत् स्यान् न देयं तस्य तद्भवेत्॥ २१२॥ (१३०)

(**येन**) जिसने (**कस्मैचित् याचते**) किसी चन्दा-दान मांगने वाले को (**धर्मार्थं धनं दत्तं स्यात्**) धर्मकार्य के लिए धन दिया हो (**च**) और (**पश्चात्**) बाद में (**तथा तत् न स्यात्**) उस याचक ने जैसा कहा था वह काम नहीं किया हो तो (**तस्य तत् न देयं भवेत्**) उस याचक को वह धन देने योग्य नहीं रहता अर्थात् वह धन उससे वापिस ले ले॥ २१२ ॥

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्प्पाल्लोभेन वा पुनः।
राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः॥ २१३ ॥ (१३१)

(**पुनः**) वापिस मांगने पर भी (**दर्पात् वा लोभेन**) अभिमान या लालचवश (**यदि तत्

संसाधयेत्) यदि उस धन को वह याचक मनमाने काम में लगाये और वापिस न करे तो (**राजा**) राजा (**तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः**) उसके चोरीरूप अपराध की निवृत्ति के लिए (**सुवर्णं दाप्यः स्यात्**) एक 'सुवर्ण' [८.१३४] के दण्ड से दण्डित करे, और दाता का धन भी दिलवाये॥ २१३॥

(६) षष्ठ विवाद 'वेतन-आदान' का निर्णय [२१४-२१७]

वेतन देने, न देने का विवाद—

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम्॥ २१४॥
(१३२)

(**एषा**) ये [८.२१२-२१३] (**दत्तस्य**) दिये हुए दान को (**यथावत्+अनपक्रिया**) ज्यों का त्यों न लौटाने की और तदनुसार कार्य न करने की क्रिया (**उदिता**) कही। (**अतः+ऊर्ध्वम्**) इसके बाद अब (**वेतनस्य+अनप्रक्रियाम्**) वेतन न देने आदि के विषय का (**प्रवक्ष्यामि**) वर्णन करूंगा॥ २१४॥

भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात् कर्म यथोदितम्।
स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम्॥
२१५॥ (१३३)

(**यः**) जो (**भृतः**) सेवक (**अनार्तः**) रोगरहित होते हुए भी (**यथा+उदितं कर्म**) यथा निश्चित काम को (**दर्पात्**) अहंकार के कारण या जानबूझकर (**न कुर्यात्**) न करे (**सः अष्टौ कृष्णलानि दण्ड्यः**) राजा उस पर आठ 'कृष्णल' [७.१३४] दण्ड करे (**च**) और (**अस्य वेतनं न देयम्**) उसे उस समय का वेतन न दे॥ २१५॥

आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम्॥ २१६॥
(१३४)

यदि सेवक (**आर्तः**) रोगी हो जाये और फिर

(**स्वस्थः सन्**) स्वस्थ होने पर (**यथाभाषितम्+ आदितः कुर्यात्**) जैसा नियुक्ति के समय कहा था या निश्चय हुआ था उसके अनुसार ठीक-ठीक काम पूरा कर दे तो (**सः**) वह (**तत् दीर्घस्य कालस्य+ अपि वेतनं लभेत**) उस रुग्णकाल के लम्बे समय के वेतन को भी पाने का अधिकारी होता है ॥ २१६ ॥

(७) सप्तम विवाद 'प्रतिज्ञा विरुद्धता' का निर्णय [२१८-२२१]

कृत-प्रतिज्ञा से फिर जाना—

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम्॥ २१८॥
(१३५)

(**एषः**) यह [८.२१४-२१६] (**वेतन+आदान-कर्मणः**) वेतन लेने का (**धर्मः**) नियम (**अखिलेन +उक्तः**) पूर्णरूप से अर्थात् सभी के लिए कहा। (**अतः ऊर्ध्वम्**) इसके बाद अब (**समयभेदिनाम्**) की हुई प्रतिज्ञा या व्यवस्था को तोड़ने वालों के लिए (**धर्मम्**) विधान (**प्रवक्ष्यामि**) कहूँगा॥ २१८॥

यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥ २१९॥
(१३६)

(**यः**) जो (**नरः**) मनुष्य (**ग्राम-देश-संघानाम्**) गांव, देश या किसी समुदाय=उद्योगसमूह आदि से (**सत्येन संविदं कृत्वा**) सत्यवचनपूर्वक प्रतिज्ञा, व्यवस्था, ठेका या समझौता करके (**लोभात् विसं-वदेत्**) फिर लोभ के कारण उसे भंग कर देवे (**तं राष्ट्रात् विप्रवासयेत्**) राजा उसे राष्ट्र से बाहर निकाल दे॥ २१९॥

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम्।
चतुः सुवर्णान्षण्णिष्कांश्छतमानं च राजतम्॥ २२०॥
(१३७)

(**च**) और (**एनं समयव्यभिचारिणम्**) इस प्रतिज्ञा या कानून को भंग करने वाले को (**निगृह्य**)

पकड़कर [अपराध के स्तरानुसार] (**चतुः सुवर्णान्**) चार 'सुवर्ण' [८.१३४] (**षट् निष्कान्**) छह 'निष्क' [८.१३७] (**राजतं शतमानम्**) चांदी का 'शतमान' [८.१३७] (**दापयेत्**) दण्ड दे॥ २२०॥

एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम्॥ २२१॥
(१३८)

(**धार्मिकः पृथिवीपतिः**) धार्मिक राजा (**ग्राम-जाति-समूहेषु**) गांव, वर्ण और समुदाय-सम्बन्धी विषयों में (**समय-व्यभिचारिणाम्**) प्रतिज्ञा या व्यवस्था का भंग करने वालों पर (**एतत्**) यह उपर्युक्त [८.२१९-२२०] (**दण्डविधिम्**) दण्ड का विधान (**कुर्यात्**) लागू करे॥ २२१॥

(८) अष्टम विवाद 'क्रय-विक्रय' का निर्णय [२२२-२२८]

खरीद-बिक्री का विवाद—

क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत्।
सोऽन्तर्दशाहात्तद् द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा॥
२२२॥(१३९)

(**किंचित् क्रीत्वा**) किसी भी वस्तु को खरीदकर (**वा**) अथवा (**विक्रीय**) बेचकर (**यस्य**) जिस व्यक्ति को (**इह+अनुशयः भवेत्**) मन में पश्चात्ताप अनुभव हो (**सः**) वह क्रेता (**अन्तर्दशाहात्**) दश दिन के भीतर (**तत् द्रव्यम्**) उस वस्तु को यथावत् (**दद्यात्**) लौटा दे (**वा**) अथवा (**आददीत एव**) विक्रेता वापिस ले ले॥ २२२॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत्।
आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट्॥२२३॥
(१४०)

(**तु**) परन्तु (**दश+अहस्य परेण**) दश दिन के बीतने बाद (**न दद्यात्**) न तो वापिस दे (**अपि न दापयेत्**) और न वापिस ले, इस अवधि के बीतने पर

(**आददानः**) यदि कोई वापिस लेने का विवाद करे (**च+एव**) या (**ददत्**) वापिस देने का विवाद करे तो (**राज्ञा षट्शतानि दण्ड्यः**) राजा उस पर छह सौ पण [८.१३६] का जुर्माना करे ॥ २२३ ॥

यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत्।
तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत्॥ २२८॥
(१४१)

(**यस्मिन् यस्मिन् कार्ये कृते**) जिस-जिस कार्य के करने के बाद (**यस्य**) करने वाले व्यक्ति को (**इह+अनुशयः भवेत्**) मन में पश्चात्ताप अनुभव हो (**तम्**) उस उसको राजा (**अनेन विधानेन**) पूर्वोक्त दस दिन के विधान [८.२२२-२२३] के अनुसार (**धर्मे पथि निवेशयेत्**) धर्मयुक्त मार्ग अर्थात् न्याय के अनुसार परिवर्तित कर दे ॥ २२८ ॥

(९) नवम विवाद 'पालक-स्वामी' का निर्णय [२२९-२४४]

पशु-स्वामी और ग्वालों का विवाद—

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे।
विवादं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः॥ २२९॥
(१४२)

अब मैं (**पशुषु**) पशुओं के विषय में (**स्वामिनां च पालानां व्यतिक्रमे**) पशु-मालिकों और चरवाहों में मतभेद हो जाने पर जो विवाद खड़ा हो जाता है (**विवादम्**) उस विवाद को (**धर्मतत्त्वतः**) धर्मतत्त्व =न्यायविधि के अनुसार (**यथावत्**) ठीक-ठीक (**सम्प्रवक्ष्यामि**) कहूँगा— ॥ २२९ ॥

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे।
योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात्॥२३०॥
(१४३)

(**दिवा योगक्षेमे पाले वक्तव्यता**) [स्वामी द्वारा पशु चरवाहे को सौंप दिये जाने पर] दिन में [यदि पशु कोई हानि करता है या पशु की हानि होती है तो]

चरवाहे पर आक्षेप या दोष आयेगा (**रात्रौ तद्गृहे स्वामिनि**) रात को स्वामी के घर में पशुओं को सौंप देने पर स्वामी पर दोष आयेगा (**अन्यथा चेत् तु**) अन्यथा यदि दिन-रात में पूर्णतः पशु-सुरक्षा या देखभाल का उत्तरदायित्व चरवाहे पर हो तो उस स्थिति में (**पालः वक्तव्यताम्+इयात्**) चरवाहा ही पशु-विषयक दोष का भागी माना जायेगा। २३० ॥

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम्।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात् पालेऽभृते भृतिः ॥ २३१ ॥ (१४४)

(**यः तु गोपः क्षीरभृतः**) जो चरवाहा स्वामी से वेतन न लेकर दूध लेता हो (**सः भृत्यः दशतः वराम्**) वह नौकर प्रथम दश गायों में जो श्रेष्ठ गाय हो उसका दूध (**गोस्वामी+अनुमतेः दुह्यात्**) गोस्वामी की अनुमति लेकर दुह लिया करे (**अभृते पाले सा भृतिः स्यात्**) भरण-पोषण का व्यय न लेने पर वह दूध ही चरवाहे का पारिश्रमिक है ॥ २३१ ॥

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम्।
हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु॥ २३२ ॥ (१४५)

(**नष्टम्**) यदि कोई पशु खो जाये (**कृमिभिः विनष्टम्**) सर्प आदि कीड़ों के काटने आदि से मर जाये (**श्वहतम्**) कुत्ते खा जायें (**विषमे मृतम्**) विपत्ति में फंसकर या ऊंचे-नीचे स्थानों में गिरने से मर जाये (**पुरुषकारेण हीनम्**) चरवाहे के द्वारा पुरुषार्थ न करने के कारण या उपेक्षा के कारण पशु नष्ट हो जाये तो (**पालः एव प्रदद्यात्**) चरवाहा ही उस पशु का देनदार है ॥ २३२ ॥

विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति।
यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥ २३३ ॥ (१४६)

(**विघुष्य तु चौरैः हृतम्**) यदि घोषणा करके और बलात् चोर पशु को ले जायें (**च**) और (**यदि देशे च**

काले स्वामिनः स्वस्य शंसति) यदि चरवाहा देश-काल के अनुसार यथाशीघ्र अपनी ओर से स्वामी को इसकी सूचना दे देता है तो (**पालः दातुं न अर्हति**) चरवाहा उस पशु का देनदार नहीं होता॥ २२३॥

कर्णौ चर्म च बालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम्।
पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानि दर्शयेत्॥ २३४॥
(१४७)

(**पशुषु मृतेषु**) पशुओं के स्वयं मर जाने पर चरवाहा उस पशु के (**कर्णौ**) दोनों कान (**चर्म**) चमड़ा (**बालान्**) पूंछ आदि के बाल (**बस्तिम्**) मूत्रस्थान (**स्नायुम्**) नसें (**रोचनाम्**) चर्बी (**अङ्कानि दर्शयेत्**) इन चिह्नों को दिखा दे और (**स्वामिनां दद्यात्**) स्वामी को उसको सौंप दे॥ २३४॥

अनुशीलन—चिह्नों के परिगणन से अभिप्राय— श्लोक में परिगणित चिह्नों को दिखाने का यह अभिप्राय है कि उन्हें देखकर स्वामी निश्चय करले कि मेरा पशु मरा है या नहीं और परीक्षण से यह समझले कि पशु स्वाभाविक मौत से मरा है या किसी लालच अथवा बदले की भावना से इसे विष आदि से मारा गया है।

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति।
यां प्रसह्य वृको हन्यात् पाले तत्किल्बिषं भवेत्॥
२३५॥ (१४८)

(**अजा+अविके**) बकरी और भेड़ (**वृकैः संरुद्धे**) भेडियों या अन्य हिंसक जानवरों के द्वारा घेर लिए जाने पर (**पाले तु अनायति**) यदि चरवाहा उन्हें बचाने के लिए यत्न करने न आये तो (**यां प्रसह्य वृकः हन्यात्**) जिस बकरी या भेड़ को आक्रमण करके जबरदस्ती भेड़िया मार जाये तब (**पाले तत् किल्विषं भवेत्**) चरवाहे पर उसका दोष होगा अर्थात् वही उसका देनदार होगा॥ २३५॥

तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने।
यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्विषी॥
२३६॥ (१४९)

(**तासां चेत्+अवरुद्धानाम्**) चरवाहे ने यदि घेरकर बकरियों और भेड़ों को संभाल रखा है और उनके (**वने मिथः चरन्तीनाम्**) वन में परस्पर झुण्ड बनाकर उनके चरते हुए (**याम्+उत्प्लुत्य वृकः हन्यात्**) जिस बकरी या भेड़ को एकाएक घात लगाकर भेड़िया या कोई हिंसक पशु मार जाये तो (**तत्र पालः न किल्बिषी**) वहाँ चरवाहा दोषी नहीं होता अर्थात् देनदार नहीं होता ॥ २३६ ॥

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात् समन्ततः ।
शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥ २३७ ॥
(१५०)

पशुओं के बैठने व घूमने-फिरने के लिए (**ग्रामस्य समन्तात्**) प्रत्येक गांव के चारों ओर (**धनुःशतम्**) १०० धनुष अर्थात् चार सौ हाथ तक (**वा**) अथवा (**त्रयः शम्यापाताः**) तीन बार छड़ी फेंकने से जितनी दूर जाये वहां तक (**अपि तु**) और (**नगरस्य त्रिगुणः**) नगर के पास इससे तीन गुना (**परीहारः**) खाली आरक्षित भूखण्ड (**स्यात्**) रखा जाना चाहिए॥ २३७ ॥

तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि ।
न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ २३८ ॥
(१५१)

(**तत्र**) उस पशुस्थान के समीप के (**यदि अपरिवृतं धान्यं पशवः विहिंस्युः**) किसानों द्वारा बिना घेरा या बाड़ बांधे खेतों की फसलों की यदि पशु हानि कर दें तो (**नृपतिः**) राजा (**तत्र**) उस विषय में (**पशुरक्षिणां दण्डं न प्रणयेत्**) चरवाहों को दण्ड न दे ॥ २३८ ॥

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् ।
छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥
(१५२)

(**तत्र**) उस पशुस्थान में (**याम्+उष्ट्रः न विलोकयेत्**) जिससे ऊंट उसके ऊपर से धान्य को न

खा सके, उतनी ऊंची (**वृतिं कुर्यात्**) बाड़ या घेरा बनाये (**च**) और उसमें (**श्व-सूकर-मुख+अनुगम्**) कुत्ते तथा सूअरों का मुंह भी न जा सके, ऐसे (**सर्वं छिद्रं वारयेत्**) सब तरह के छिद्रों को न रहने दे, रहे हों तो उनको बन्द कर दे ॥ २३९ ॥

पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः ।
सपालः शतदण्डार्हो विपालान् वारयेत्पशून् ॥
२४० ॥ (१५३)

(**परिवृते**) बाड़ से युक्त (**पथि**) पशुओं के आवागमन के रास्ते में (**क्षेत्रे**) खेतों में (**अथवा**) या (**ग्राम+अन्तीये**) गांव या नगर के समीप वाले पशुस्थानों से पशुओं द्वारा नुकसान पहुंचाने पर (**सपालः शतदण्ड+अर्हः**) चरवाहा सौ-पण दण्ड का [८.१३६] भागी है, (**विपालान् पशून् वारयेत्**) किन्तु यदि वे पशु यों ही घूमने वाले अर्थात् बिना पालक के हों तो उन्हें केवल वहाँ से हटा दे ॥ २४० ॥

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति ।
सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥ २४१ ॥
(१५४)

(**अन्येषु क्षेत्रेषु तु पशुः**) उपर्युक्त श्लोक [८.२४०] में वर्णित खेत आदि से भिन्न स्थानों में यदि पशु नुकसान कर दें तो (**सपादं पणम्+अर्हति**) [चरवाहा या मालिक जिसकी देखरेख में वह नुकसान हुआ है उसको सवा पण दण्ड होना चाहिए (**सर्वत्र तु**) जहां अधिक या पूरा खेत ही नष्ट कर दिया हो तो (**क्षेत्रिकस्य सदः देयः**) उस खेत वाले को पूरा हर्जाना देना होगा (**इति धारणा**) ऐसी न्याय की व्यवस्था है ॥ २४१ ॥

क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुणो भवेत् ।
ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रिकस्य तु ॥ २४३ ॥
(१५५)

(**क्षेत्रियस्य+अत्यये**) स्वामी किसान की लापरवाही के कारण पशुओं द्वारा चर जाने पर अन्न

की जो हानि हुई हो तो (**भागात्**) राजा को देय कर से (**दशगुणः दण्डः भवेत्**) दशगुना दण्ड उस किसान पर होना चाहिए (**क्षेत्रिकस्य+अज्ञानात् भृत्यानां तु**) यदि किसान की जानकारी के बिना उसके नौकरों से खेत का नुकसान हो जाय तो (**ततः+अर्धदण्डः**) उससे आधा अर्थात् पांच गुणा दण्ड किसान पर होना चाहिए॥ २४३ ॥

एद्विधानमातिष्ठेद्-धार्मिकः पृथिवीपतिः।
स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे॥ २४४॥
(१५६)

(**धार्मिकः पृथिवीपतिः**) धार्मिक राजा (**स्वामिनां पशूनां च पालानां व्यतिक्रमे**) स्वामी, पशु और चरवाहा इनमें कोई मतभेद या विवाद उपस्थित हो जाने पर (**एतत् विधानम्+आतिष्ठेत्**) उपर्युक्त [८.२२९-२४१] विधान के अनुसार निर्णय करे॥ २४४॥

(१०) सीमा-सम्बन्धी विवाद (२४५-२६५) और उसका निर्णय—

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः।
ज्येष्ठे मासि नयेत् सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु॥ २४५॥
(१५७)

(**द्वयोः ग्रामयोः**) दो गांवों या दो पक्षों का (**सीमां प्रति विवादे समुत्पत्ने**) सीमा-सम्बन्धी विवाद या मुकद्दमा खड़ा हो जाने पर (**ज्येष्ठे मासि**) ज्येष्ठ के महीने में (**सेतुषु सुप्रकाशेषु**) सीमा-चिह्नों के स्पष्ट दीखने के बाद (**सीमां नयेत्**) सीमा का निर्णय करे [यह समय उन विवादों के लिए है जिनका वर्षा आदि अन्य कालों में निर्णय न हो सके]॥ २४५॥

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान्।
शाल्मलीन् सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान्॥
२४६॥ (१५८)

गुल्मान् वेणूँश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च।
शरान् कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति॥
२४७॥ (१५९)

(**च**) और सीमा को निश्चित करने के लिए राजा (**सीमावृक्षान् कुर्वीत**) सीमा को बतलाने के चिह्नरूप वृक्षों को लगवाये—(**न्यग्रोध**) बड़ (+**अश्वत्थ**) पीपल (**किंशकान्**) ढाक (**शाल्मलीन्**) सेमल (**साल-तालान्**) साल और ताड़वृक्ष (**च**) और (**क्षीरिणः पादपान्+एव**) दूध वाले अन्य वृक्षों को [जैसे—गूलर, पिलखन आदि] (**गुल्मान्**) झाड़वाले पौधों (**विविधान् वेणून्**) विविध प्रकार के बांसवृक्ष (**शमी-वल्ली-स्थलानि**) शमी=जांटी (खेजड़ी) तथा अन्य भूमि पर फैलने वाली लताएं और (**सरान्**) सरकंडे या मूंज के झाड़ (**च**) और (**कुब्जकगुल्मान्**) मालती पौधे के झाड़ों को लगवाये (**तथा सीमा न नश्यति**) इस प्रकार करने से सीमा विवादित या नष्ट नहीं होती, पहचान सुरक्षित रहती है॥ २४६-२४७॥

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च।
सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च॥ २४८॥
(१६०)

(**तडागानि**) तालाब (**उदपानानि**) कुएं (**वाप्यः**) बावड़ियां (**प्रस्रवाणि**) नाले (**च**) तथा (**देवतायतनानि**) देवस्थान=यज्ञशालाएँ आदि (**सीमासन्धिषु कार्याणि**) सीमा के मिलने के स्थानों पर बनवाने चाहिएं॥ २४८॥

उपच्छन्नानि चाप्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत्।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम्॥२४९॥
अश्मनोऽस्थीनि गोबालाँस्तुषान्भस्मकपालिकाः।
करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा बालुकास्तथा॥ २५०॥
यानि चैवं प्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत्।
तानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत्॥ २५१॥
(१६१-१६३)

राजा (**लोके**) संसार में (**सीमाज्ञाने**) सीमा के विषय में (**नृणाम्**) मनुष्यों का (**नित्यं विपर्ययं वीक्ष्य**) सदैव मतभेद पाया जाता है, इस बात को देखकर (**अन्यानि उपच्छन्नानि सीमालिङ्गानि**

कारयेत्) दूसरे गुप्त सीमाचिह्नों को भी करवा दे; [जैसे—] (**अश्मनः**) पत्थर (**अस्थीनि**) हड्डियां (**गोबालान्**) गौ आदि पशुओं के बाल (**तुषान्**) तुस=चावलों के छिलके आदि (**भस्म**) राख (**कपालिकाः**) खोपड़ियां (**करीषम्**) सूखा गोबर (+**इष्टकः**) ईंटें (+**अङ्गरान्**) कोयले (**शर्करा**) पत्थर की रोड़िया=कंकड़ (**तथा**) तथा (**बालुकाः**) बालू रेत (**च**) और (**यानि एवं प्रकाराणि**) जितने भी इस प्रकार के पदार्थ हैं जिन्हें (**कालात् भूमिः न भक्षयेत्**) बहुत समय तक भूमि अपने रूप में न मिला सके (**तानि**) उनको (**अप्रकाशानि**) गुप्तरूप से अर्थात् जमीन में दबाकर (**सीमायां कारयेत्**) सीमास्थानों पर रखवादे ॥ २४९-२५१ ॥

एतैर्लिङ्गैर्नयेत् सीमां राजा विवदमानयोः।
पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च॥ २५२॥
(१६४)

(**राजा**) राजा (**विवदमानयोः**) सीमा के विषय में लड़ने वालों की (**एतैः लिङ्गैः**) इन [८.२४६-२५१] चिह्नों से (**च**) तथा (**पूर्वभुक्त्या**) पहले जो उसका उपभोग कर रहा हो, इस आधार पर (**च**) और (**सततम्+उदकस्य+आगमेन**) निरन्तर जल के प्रवाह के आगमन के आधार पर [कि पानी किस ओर से आता है आदि] (**सीमां नयेत्**) सीमा का निर्णय करे॥ २५२॥

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात् सीमावादविनिर्णयः॥२५३॥
(१६५)

(**यदि लिङ्गानाम्+अपि दर्शने**) यदि सीमाचिह्नों के देखने पर भी (**संशय एव स्यात्**) सन्देह रह जाये तो (**साक्षीप्रत्यय एव**) साक्षियों के प्रमाण से (**सीमावाद-विनिर्णयः स्यात्**) सीमाविषयक विवाद का निर्णय करे॥ २५३॥

ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः।
प्रष्टव्याः सीमालिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः॥ २५४॥
(१६६)

राजा (**ग्रामीयककुलानां च तयोः विवादिनोः समक्षम्**) गांवों के कुलीन पुरुषों और उन वादी-प्रतिवादियों के सामने (**सीम्नि**) सीमा-स्थान पर (**साक्षिणः**) साक्षियों से [८.६२-६३] (**सीमा-लिङ्गानि प्रष्टव्याः**) सीमा-चिह्नों को पूछे॥ २५४॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम्।
निबध्नीयात् तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः॥ २५५॥ (१६७)

राजा के द्वारा (**पृष्टाः**) पूछने पर अर्थात् जांच-पड़ताल करने पर (**सीम्नि निश्चयम्**) सीमा-निश्चय के विषय में (**ते समस्ताः यथा ब्रूयुः**) वे सब साक्षी और गांव के उपस्थित कुलीन पुरुष जैसे एकमत होकर कहें, स्वीकार करें (**तथा सीमां निबध्नीयात्**) राजा उसी प्रकार सीमा को निर्धारित कर दे (**च**) और (**तान् सर्वान् एव नामतः**) उन उपस्थित सभी साक्षियों एवं पुरुषों के नामों और साक्ष्यों को भी लिखकर रख ले [जिससे पुनः विवाद उपस्थित होने पर यह ज्ञात हो सके कि किन-किन लोगों के समक्ष या गवाही से यह निर्णय हुआ था]॥ २५५॥

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ॥ २५८॥
(१६८)

(**साक्षी+अभावे**) यदि सीमा-विषय में साक्षियों का भी अभाव हो (**तु**) तो (**सामन्तवासिनः चत्वारः ग्रामाः**) समीपवर्ती चार गांव के प्रतिष्ठित व्यक्ति (**राजसन्निधौ**) राजा या न्यायाधीश के सामने (**प्रयताः**) पक्षपातरहितभाव से (**सीमाविनिर्णयं कुर्युः**) सीमा का निर्णय करें अर्थात् सीमा निर्णय के विषय में अपना मत दें॥ २५८॥

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च।
सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः॥ २६२॥
(१६९)

(**क्षेत्र-कूप-तडागानाम्+आरामस्य**) खेत, कूआं, तालाब, बगीचा (**च**) और (**गृहस्य**) घर की (**सीमा-सेतु-विनिर्णयः**) सीमा के चिह्न का निर्णय (**सामन्त-प्रत्ययः ज्ञेयः**) उस गांव के प्रतिष्ठित-धार्मिक निवासियों की साक्षिताओं के आधार पर करना चाहिए॥ २६२॥

सामान्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम्।
सर्वे पृथक्पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम्॥ २६३॥
(१७०)

(**नृणां सेतौ विवदताम्**) दो ग्रामवासियों में परस्पर सीमासम्बन्धी विवाद उपस्थित होने पर (**सामन्ताः चेत् मृषा ब्रूयुः**) गांव के निवासी यदि झूठ या गलत कहें तो (**राज्ञा**) राजा (**पृथक्-पृथक् सर्वे**) उनमें से झूठ कहने वाले प्रत्येक को (**'मध्यमसाहसम्' दण्ड्याः**) 'मध्यमसाहस' अर्थात् पांच सौ पण का [८.१३८] दण्ड दे॥ २६३॥

गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद् द्विशतो दमः॥ २६४॥(१७१)

(**भीषया**) यदि कोई भय दिखाकर (**गृहं तडागम्+आरामं वा क्षेत्रं हरन्**) घर, तालाब, बगीचा अथवा खेत को लेले, तो राजा उस पर (**शतानि पञ्च दण्ड्यः**) पांच सौ पणों का दण्ड करे (**अज्ञानात् द्विशतः दमः स्यात्**) यदि अनजाने में अधिकार करले तो दो सौ पणों का दण्ड दे और उस अधिकृत वस्तु को भी स्वामी को लौटाये॥ २६४॥

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित्।
प्रदिशेद् भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः॥ २६५॥
(१७२)

(**सीमायाम्+अविषह्यायाम्**) चिह्नों एवं साक्षियों आदि उपर्युक्त [८.२४५-१६३] उपायों से सीमा के

निर्धारित न हो सकने पर (**धर्मवित् राजा स्वयम् एव**) न्याय का ज्ञाता राजा स्वयं ही (**एतेषाम्+उपकारात्**) वादी-प्रतिवादी के उपकार अर्थात् हितों को ध्यान में रखकर (**भूमिं प्रदिशेत्**) भूमि-सीमा को निश्चित कर दे (**इति स्थितिः**) ऐसी शास्त्रव्यवस्था है॥ २६५॥

(११) दुष्ट या कटुवाक्य बोलने-सम्बन्धी विवाद [२६६-२७७] और उसका निर्णय—

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम्॥२६६॥
(१७३)

(**एषः**) यह [८.२४५-२६५] (**सीमा-विनिर्णये**) सीमा के निर्णय करने के विषय में (**धर्मः**) न्यायविधान (**अखिलेन+अभिहितः**) पूर्णरूप से कहा। (**अतः+ऊर्ध्वम्**) इसके बाद अब (**वाक्-पारुष्य-विनिर्णयम्**) कठोर और दुष्टवचन बोलने के विषय में निर्णय (**प्रवक्ष्यामि**) कहूँगा—॥ २६६॥

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च।
वितथेन ब्रुवन् दर्पाद्दाप्यः द्विशतं दमम्॥ २७३॥
(१७४)

कोई मनुष्य किसी मनुष्य के (**श्रुतम्**) विद्या (**देशम्**) देश (**जातिम्**) वर्ण (**च शारीरम् एव कर्म**) और शरीर-सम्बन्धी कर्म के विषय में (**दर्पात्**) घमण्ड में आकर (**वितथेन ब्रुवन्**) झूठी निन्दा अथवा अपवचनों से अपमानित करे, उसे (**द्विशतं दमं दाप्यः**) दो सौ पण दण्ड देना चाहिए॥ २७३॥

अनुशीलन—मनुस्मृति में प्रकरणानुसार 'जाति' का अर्थ 'वर्ण' है। इसकी पुष्टि में २.१४८ श्लोक द्रष्टव्य है।

काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि यथाविधम्।
तथ्येनापि ब्रुवन् दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम्॥
२७४॥(१७५)

किसी (**काणम्**) काने को (**अपि वा**) अथवा (**खञ्जम्**) लंगड़े को (**वा**) अथवा (**तथाविधम्+ अपि**) इसी प्रकार के अन्य विकलांगों को (**तथ्येन+ अपि ब्रुवन्**) वास्तव में वैसा होते हुए भी किसी को काना, लंगड़ा आदि कहने पर (**कार्षापणावरं दण्डं दाप्यः**) कम से कम एक कार्षापण दण्ड [८.१३६] करना चाहिए॥ २७४॥

अनुशीलन—अन्यत्र विधान से पुष्टि—मनु ने ४.१४१ में विकलांग व्यक्तियों को कटुवचन या आक्षेपयुक्त वचन कहने का स्पष्टतः निषेध किया है। यहां उस विधान के विपरीत आचरण करने वालों के लिए दण्ड का विधान है।

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम्।
आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद् गुरोः॥ २७५॥
(१७६)

(**मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम्**) माता, पिता, पत्नी, भाई, बेटा, गुरु इनके ऊपर (**आक्षारयन्**) मिथ्या दोष लगाकर निन्दा करने वाले पर (**च**) और (**गुरोः**) गुरु के लिए (**पन्थानम्+अददत्**) अहंकार-पूर्वक रास्ता न देने पर (**शतं दाप्यः**) सौ पण दण्ड होना चाहिए॥ २७५॥

अनुशीलन—अन्यत्र विधान से पुष्टि—मनु ने ४.१७९-१८० में इन व्यक्तियों से किसी प्रकार का विवाद, लड़ाई-झगड़ा न करने का विधान किया है। उस विधान को भंग करके कटुवचन या आक्षेपयुक्त वचन कहने पर यह दण्डविधान है।

(१२) दण्ड से घायल करने या मारने सम्बन्धी विवाद [२७८-३००] और उसका निर्णय—

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम्॥ २७८॥
(१७७)

(**एषः**) यह [८.२६५-२७६] (**तत्त्वतः**) ठीक-ठीक (**वाक्पारुष्यस्य**) कठोर वचन या दुष्ट वचन बोलने का (**दण्डविधिः**) दण्डविधान (**प्रोक्तः**) कहा

(**अतः+ऊर्ध्वम्**) इसके पश्चात् अब (**दण्ड-पारुष्यनिर्णयम्**) कठोर दण्ड से घायल करना या मारना अथवा दण्डे से कठोरतापूर्वक मारपीट करने विषयक निर्णय को (**प्रवक्ष्यामि**) कहूँगा॥ २७८॥

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति।
यथा यथा महद् दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा॥२८६॥
(१७८)

(**मनुष्याणां च पशूनाम्**) मनुष्य और पशुओं पर (**दुःखाय प्रहृते सति**) दुःख देने के लिए दण्ड से प्रहार करने पर (**यथा यथा महत् दुःखम्**) जैसा-जैसा पीड़ित को अधिक कष्ट हो (**तथा तथा दण्डं कुर्यात्**) उसी के अनुसार अधिक और कम कारावास तथा अर्थ दण्ड करे॥ २८६॥

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा।
समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा॥ २८७॥
(१७९)

(**अङ्ग+अवपीडनायाम्**) किसी अंग के टूटने, कटने आदि पर (**तथा**) और (**व्रण+शोणितयोः**) घाव करने तथा रक्त बहाने पर (**समुत्थानव्ययं दाप्यः**) जब तक रोगी पहले जैसा ठीक न हो जाये तब तक सम्पूर्ण औषध आदि का तथा अन्य सम्पूर्ण व्यय मारने वाले से दिलवाये (**अथापि वा**) और साथ ही (**सर्वदण्डम्**) उसे पूर्ण दण्ड भी दे॥ २८७॥

द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।
स तस्योत्पादयेत् तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम्॥
२८८॥(१८०)

(**यः**) जो कोई (**यस्य**) जिस किसी के (**ज्ञानतः अपि वा अज्ञानतः**) जानकर अथवा अनजाने में (**द्रव्याणि हिंस्यात्**) प्रहार करके वस्तुओं को नष्ट कर दे तो (**सः**) वह अपराधी (**तस्य तुष्टिम्+ उत्पादयेत्**) उसके मालिक को वस्तु या धन आदि देकर सन्तुष्ट करे (**च**) तथा (**तत् समम् राज्ञे दद्यात्**) उसके बराबर दण्ड रूप में राजकोष में राजा को भी दे॥ २८८॥

(१३) चोरी का विवाद (३०१-३४३) और उसका निर्णय

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः।
स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये॥ ३०१॥
(१८१)

(**एषः**) यह [८.२७८-२८८] (**दण्डपारुष्य-निर्णयः**) दण्डे से कठोर मारपीट करने का निर्णय (**अखिलेन+अभिहितः**) पूर्णरूप से कहा। (**अतः**) इसके पश्चात् अब (**स्तेनस्य दण्ड-विनिर्णये**) चोर के दण्ड का निर्णय करने की (**विधिं प्रवक्ष्यामि**) न्याय विधि कहूँगा— ॥ ३०१ ॥

चोरों के निग्रह से राष्ट्र की वृद्धि—

परमं यत्नमातिष्ठेत् स्तेनानां निग्रहे नृपः।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते॥ ३०२॥
(१८२)

(**नृपः**) राजा (**स्तेनानां निग्रहे**) चोरों को रोकने के लिए (**परमं यत्नम्+आतिष्ठेत्**) अधिक यत्न करे, क्योंकि (**स्तेनानां निग्रहात्**) चोरों पर नियन्त्रण करने से (**अस्य**) इस राजा के (**यशः च राष्ट्रं वर्धते**) यश और राष्ट्र की वृद्धि होती है ॥ ३०२ ॥

चोरों से प्रजा की रक्षा श्रेष्ठ कर्त्तव्य है—

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः।
सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम्॥ ३०३॥
(१८३)

(**यः नृपः अभयस्य हि दाता**) जो राजा प्रजाओं को अभय प्रदान करने वाला होता है अर्थात् जिस राजा के राज्य में प्रजाओं को चोर आदि से किसी प्रकार का भय नहीं होता (**सः सततं पूज्यः**) वह सदैव पूजित होता है—प्रजाओं की ओर से उसे सदा आदर मिलता है, और (**तस्य**) उसका (**अभयदक्षिणं सत्रं हि**) प्रजा को अभय की दक्षिणा देने वाला यज्ञ-रूपी राज्य (**सदैव वर्धते**) सदा बढ़ता ही जाता है ॥ ३०३ ॥

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन्।
यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्त्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥
(१८४)

(**धर्मेण भूतानि रक्षन्**) धर्मपूर्वक=न्यायपूर्वक प्रजाओं की रक्षा करता हुआ (**च**) और (**वध्यान् घातयन्**) दण्डनीय अपराधियों को दण्ड देता हुआ और या वध के योग्य लोगों का वध करता हुआ (**राजा**) राजा (**अहः+अहः सहस्त्र-शत-दक्षिणैः यज्ञैः यजते**) यह समझो कि प्रतिदिन हजारों-सैंकड़ों दक्षिणाओं से युक्त यज्ञों को करता है अर्थात् इतने बड़े यज्ञों को करने जैसा पुण्यकार्य करता है ॥ ३०६ ॥

प्रजा की रक्षा किये बिना कर लेनेवाला राजा पापी होता है—

योऽरक्षन् बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च सः सद्यो नरकं व्रजेत्॥ ३०७॥
(१८५)

(**यः पार्थिवः**) जो राजा (**अरक्षन्**) प्रजाओं की रक्षा किये बिना उनसे (**बलिम्**) छठा भाग अन्नादि (**करम्**) कर=टैक्स (**शुल्कम्**) महसूल (**प्रति-भागम्**) चुंगी (**च**) और (**दण्डम्**) जुर्माना (**आदत्ते**) ग्रहण करता है (**सः सद्यः नरकं व्रजेत्**) वह शीघ्र ही दुःख को प्राप्त होता है अर्थात् प्रजाओं का ध्यान न रखने के कारण उनके असहयोग अथवा विरोध से किसी-न-किसी कष्ट से ग्रस्त हो जाता है ॥ ३०७ ॥

अनुशीलन—अन्न के छठे भाग को '**बलि**' कहते हैं; प्रतिमास, छठे मास या वार्षिक रूप से लिया जाने वाला टैक्स '**कर**' व्यापारियों से लिया जानेवाला महसूल '**शुल्क**; फल, शाक आदि पर लिया जाने वाला शुल्क '**प्रतिभाग**' तथा अपराध में किया जाने वाला जुर्माना '**दण्ड**' कहलाता है।

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्॥ ३०८॥
(१८६)

(**अरक्षितारम्**) प्रजाओं की रक्षा न करने वाले

और (**बलिषड्भागहारिणम्**) 'बलि' के रूप में छठा भाग ग्रहण करने वाले (**तं राजानम्**) ऐसे राजा को (**सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्+आहुः**) सब प्रजाओं की निन्दा को ग्रहण करने वाला कहा है अर्थात् सारी प्रजाएँ ऐसे राजा की सभी प्रकार से निन्दा करती हैं॥ ३०८॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम्।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम्॥ ३०९॥
(१८७)

(**अनपेक्षितमर्यादम्**) शास्त्रोक्त मर्यादा के अनुसार न चलने वाले (**नास्तिकम्**) वेद और ईश्वर में अविश्वास करने वाले (**विप्रलुम्भकम्**) लोभ आदि के वशीभूत (**अरक्षितारम्**) प्रजाओं की रक्षा न करने वाले, और (**अत्तारम्**) कर आदि का धन प्रजाओं के हित में न लगाकर स्वयं खा जाने वाले (**नृपम्**) राजा को (**अधोगतिं विद्यात्**) निकृष्ट समझना चाहिए अथवा यह समझना चाहिए कि शीघ्र ही उसकी अवनति या पतन हो जायेगा॥ ३०९॥

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात् प्रयत्नतः।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च॥ ३१०॥
(१८८)

इसलिए राजा (**निरोधनेन**) निरोध=कारावास में बन्द करना (**बन्धेन**) बन्धन=हथकड़ी, बेड़ी आदि लगाना (**च**) और (**विविधेन वधेन**) विविध प्रकार के वध=ताड़ना, अंगच्छेदन, मारना आदि (**त्रिभिः न्यायैः**) इन तीन प्रकार के उपायों से (**प्रयत्नतः**) यत्नपूर्वक (**अधार्मिकं निगृह्णीयात्**) चोर आदि दुष्ट अपराधी को वश में करे॥ ३१०॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च।
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः॥ ३११॥
(१८९)

(**हि**) क्योंकि (**पापानां निग्रहेण**) पापी=दुष्टों को वश में करने और दण्ड देने से (**च**) तथा (**साधूनां**

संग्रहेण) श्रेष्ठ लोगों की सुरक्षा और संवृद्धि करने से (**नृपाः**) राजा लोग (**द्विजातयः इज्याभिः इव सततं पूयन्ते**) जैसे द्विजवर्ण वाले व्यक्ति यज्ञों को करके पवित्र होते हैं ऐसे राजा भी पवित्र अर्थात् पुण्यवान् और निर्मल यशस्वी होते हैं अर्थात् प्रजारक्षण भी क्षत्रिय का एक यज्ञ है, इसको सत्यनिष्ठा से करके राजा भी पुण्यवान् होता है ॥ ३११ ॥

चोर की स्वयं प्रायश्चित्त की विधि—

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता।
आचक्षाणेन तत् स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम्॥
३१४॥(१९०)

[यदि चोरी करने के बाद स्वयं उस अपराध को अनुभव कर लेता है तो उसके प्रायश्चित्त और उससे मुक्ति के लिए] (**स्तेनेन**) चोर को चाहिए कि वह (**मुक्तकेशेन धावता**) बाल खोलकर दौड़ता हुआ (**तत् स्तेयम्+आचक्षाणेन**) उसने जो चोरी की है उसको कहता हुआ 'कि मैंने अमुक चोरी की है, अमुक चोरी की है,' आदि (**राजा गन्तव्यः**) राजा या न्यायाधीश के पास जाना चाहिए, और कहे कि (**एवंकर्मा+अस्मि**) 'मैंने ऐसा चोरी का काम किया है, मैं अपराधी हूं (**मां शाधि**) मुझे दण्ड दीजिए'॥ १३४॥

अनुशीलन—चोरी का प्रायश्चित्त—प्रतीत होता है कि यह उस समय की स्वयं प्रायश्चित्त करने की परम्परा थी। चोर चोरी करने के पश्चात् यदि स्वयं यह अनुभव करता है कि मैंने यह बुरा कार्य किया है, और पकड़े जाने से पूर्व स्वयं ही उसका प्रायश्चित्त करना चाहता है, तो उसका यह तरीका है। सार्वजनिक रूप से अपने आपको चोर कहने पर और अपने आपको चोर के रूप में सबके तथा राजा के सामने प्रदर्शित करने पर बहुत बड़ा प्रायश्चित्त हो जाता है। स्वयं इस प्रकार प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्ति द्वारा पुनः अपराध करने की संभावना नहीं रहती। और लोग भी यह मान लेते हैं कि जब इसने स्वयं ही सार्वजनिक रूप से अपने आपको चोर घोषित करके

अपराध को स्वीकार कर लिया है और प्रायश्चित्त कर रहा है तो इसे और दण्ड देने की आवश्यकता नहीं। इस श्लोक से तथा ८.३१६ से यह ध्वनित होता है कि स्वयं इस प्रकार प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्ति को राजा को क्षमा कर देना चाहिए। इस सबके बाद वह व्यक्ति दोषमुक्त मान लिया जाता है।

स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वाऽपि खादिरम्।
शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा॥
३१५॥(१९१)

(**स्कन्धेन मुसलम् अपि वा खादिरं लगुडम्**) चोर को कन्धे पर मुसल अथवा खैर का दंड, (**उभयतः तीक्ष्णां शक्तिम्**) दोनों ओर से तेज धार-वाली बरछी (**वा**) अथवा (**आयसं दण्डम् एव**) लोहे का दण्ड ही रखकर [राजा या न्यायाधीश के पास जाना चाहिए और कहे कि 'मैं चोर हूं, मुझे दण्ड दीजिए'] ॥ ३२५ ॥

अनुशीलन—इस श्लोक का पूर्व श्लोक के साथ सम्बन्ध है। ऊपर के श्लोक में दी हुई व्यवस्था के साथ इस श्लोक में कहे गए विकल्पों में से चुनकर किसी एक व्यवस्था के अनुसार चोर को प्रायश्चित करना है।

दोषी को दण्ड न देने से राजा पापभागी होता है—

शासनाद् वा विमोक्षाद् वा स्तेनः स्तेयाद् विमुच्यते।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम्॥
३१६॥(१९२)

(**शासनात्**) दण्ड पाकर (**वा**) या (**विमोक्षात्**) [स्वयं प्रायश्चित्त करने के बाद] राजा के द्वारा क्षमा कर दिये जाने पर (**स्तेनः**) चोर (**स्तेयात् विमुच्यते**) चोरी के अपराध से मुक्त हो जाता है (**तम् अशासित्वा तु**) चोर को दण्ड न देने पर (**राजा स्तेनस्य किल्बिषम् आप्नोति**) राजा को चोर के बदले निन्दा=बुराई मिलती है अर्थात् फिर प्रजाएं उस चोर के स्थान पर राजा को चोरी का अधिक दोष देती हैं॥ ३१६ ॥

अनुशीलन—(क) **रामायण में उद्धृत मनुस्मृति के श्लोक**—यह श्लोक तथा ८.३१८ वां श्लोक, दोनों मनु के नाम से कुछ पाठान्तर से वाल्मीकि रामायण में उद्धृत

मिलते हैं। बालि का वध करने पर मृत्यु से पूर्व बालि राम पर अधर्मपूर्वक अपना वध करने का आक्षेप लगाता है। राम बालि के आक्षेपों का उत्तर देते हुए अपने आचरण को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए मनु के निम्न श्लोकों को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं।

यहां विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि श्रीराम मनु स्वायम्भुव से सैंकड़ों पीढ़ी बाद में हुए हैं। वंश परम्परा और इन श्लोकों के उद्धरण से भी मनुस्मृति का रचना-काल रामायण से पूर्व सिद्ध होता है। रामायण से पूर्व मनुस्मृति श्लोकबद्ध रूप में थी, यह रामायण में पठित '**श्लोकौ**' शब्दों से ज्ञात होता है—"**श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चरित्रवत्सलौ। गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया॥**" (किष्कि० १८.३०)। उद्धृत श्लोक निम्न प्रकार हैं—

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥
शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम्॥

(किष्कि० १८.३१-३२)

(ख) '**किल्बिषम्' आदि पदों का अर्थ**—मनुस्मृति में 'किल्बिषम्' 'दुष्कृतम्' 'एनः' 'पापम्' 'अधर्म' आदि शब्द स्थान-स्थान पर आते हैं। वहां इनसे ऐसे 'पाप' का अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए जो किसी दूसरे के किये का दूसरे को लग जाये। जहां-तहां ८.१३, १३५, १९८, ८.३१६-३१७ आदि श्लोकों में इस शैली में वाक्यप्रयोग है या इस शब्द का प्रयोग है, वहां इसका अर्थ 'निन्दा' 'दोष' 'अधर्म' या 'बुराई' है। निरुक्तकार ने इसी अर्थ को व्युत्पत्ति से पुष्ट किया है—"**किल्बिषम्= किल्भिदम्, कीर्त्तिमस्य भिनत्तीति**। अर्थात् जो कीर्त्ति का नाश करे वह 'किल्बिष'=बदनामी, बुराई या दोष है। '**किल श्वैत्ये**' धातु से '**किलेर्वुक् च**' (उणादि० १.५०) सूत्र से 'टिषच्' प्रत्यय के योग से 'किल्बिष' शब्द सिद्ध होता है। अन्य स्थानों पर इसके पर्यायवाची रूप में भी ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो उपर्युक्त अर्थों को पुष्ट करते हैं, जैसे—'**मलहारकम्**' [८.३०८], '**एनस्**' [२.२; ८.१९], '**अधर्म**' [८.१८] आदि। ८.१९ में '**एनः**' शब्द निन्दा अर्थ में प्रयुक्त है।

पापियों के संग में पाप—

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्विषम्॥
३१७॥(१९३)

(**भ्रूणहा अन्नादे मार्ष्टि**) भ्रूणहत्या करने वाला उसके यहां भोजन करने वाले को भी निन्दा का पात्र बना देता है अर्थात् जैसे भ्रूणहत्यारे को निन्दा मिलती है वैसे ही उसके यहां अन्न खाने वाले को भी उसके कारण निन्दा मिलती है (**अपचारिणी भार्या पत्यौ**) व्यभिचारी स्त्री की बुराई या निन्दा उसके पति को मिलती है (**शिष्यः गुरौ**) बुरे शिष्य की बुराई उसके गुरु को मिलती है (**च**) और (**याज्यः**) यजमान की बुराई उसके यज्ञ कराने वाले ऋत्विक् गुरु को मिलती है (**स्तेनः किल्बिषं राजनि**) इसी प्रकार दण्ड न देने पर चोर और अपराधी की बुराई=निन्दा राजा को मिलती है॥ ३१७॥

राजाओं को दण्ड प्राप्त करके निर्दोषता—

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥ ३१८॥
(१९४)

(**मानवाः पापानि कृत्वा**) मनुष्य पाप=अपराध करके (**राजभिः कृतदण्डाः तु**) पुनः राजाओं या न्यायाधीशों से दण्डित होकर अथवा राजा द्वारा किये गये दण्डरूप प्रायश्चित्त को करके (**निर्मलाः**) पवित्र=दोषमुक्त होकर (**स्वर्गम्+आयान्ति**) सुखी शान्त जीवन को प्राप्त करते हैं (**यथा सुकृतिनः सन्तः**) जैसे अच्छे कर्म करने वाले श्रेष्ठ लोग सुखी रहते हैं। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार दण्ड पाकर अपराधी दोषमुक्त होकर सुखपूर्वक रहता है तथा प्रायश्चित्त करने पर उस पापरूप अपराध के संस्कार क्षीण हो जाते हैं और दोषी होने की भावना नहीं रहती, उससे तथा पुनः श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्ति होने से मनुष्य सन्तों की तरह मानसिक सुख-शान्ति को प्राप्त करते हैं॥ ३१८॥

अनुशीलन—स्वर्ग शब्द का अर्थ 'सुख' है। द्रष्टव्य ६.७९ पर अनुशीलन।

विभिन्न चोरियों की दण्डव्यवस्था—

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिन्द्याच्च यः प्रपाम्।
स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत्॥ ३१९॥ (१९५)

(**यः तु**) जो व्यक्ति (**कूपात्**) कुए से (**रज्जुं घटं हरेत्**) रस्सी या घड़ा चुरा ले (**च**) और (**यः**) जो (**प्रपां भिन्द्यात्**) प्याऊ को तोड़े (**सः**) वह (**माषं दण्डं प्राप्नुयात्**) एक सोने का 'माष' [८.१३४] दण्ड का भागी होगा (**च**) तथा (**तत् तस्मिन् समाहरेत्**) तोड़ा गया वह सब सामान यथावत् लाकर दे॥ ३१९॥

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः।
शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्॥ ३२०॥ (१९६)

(**दशभ्यः कुम्भ्यः अधिकं धान्यं हरतः**) दश कुम्भ=बड़े घड़ों से अधिक धान्य=अन्नादि चुराने पर (**वधः**) चोर को शारीरिक दण्ड मिलना चाहिए (**शेषे तु**) दश कुम्भ तक धान्य चुराने पर (**एकादशगुणं दाप्यः**) चुराये धान्य से ग्यारह गुना जुर्माना करना चाहिए (**तस्य तत् धनं च**) और उस व्यक्ति का चुराया धन वापिस दिलवा दे॥ ३२०॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः।
सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम्॥ ३२१॥ (१९७)

(**तथा**) इसी प्रकार (**धरिममेयानाम्**) धरिम= काँटे से, मेय=तोले जाने वाले (**सुवर्ण-रजत+ आदीनाम्**) सोना, चाँदी आदि पदार्थों के १०० पल [८.१३५] से अधिक चुराने पर (**च**) और (**उत्तमानां वाससाम्**) उत्तम कोटि के कपड़े (**शतात्+ अभ्यधिके**) सौ से अधिक चुराने पर (**वधः**) शारीरिक दण्ड से दण्डित करे और वह धन भी वापिस दिलाये॥ ३२१॥

पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते।
शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत्॥ ३२२॥
(१९८)

(**पंचाशतः तु+अभ्यधिके**) [उपर्युक्त ८.३२१ वस्तुओं के] पचास से अधिक सौ तक चुराने पर (**हस्तच्छेदनम्+इष्यते**) हाथ काटने का दण्ड देना चाहिए (**शेषे तु**) पचास से कम चुराने पर राजा (**मूल्यात् एकादशगुणं दण्डं प्रकल्पयेत्**) मूल्य से ग्यारह गुणा दण्ड करे और वह वस्तु वापिस दिलवाये॥ ३२२॥

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति॥ ३२३॥
(१९९)

(**कुलीनानां पुरुषाणाम्**) कुलीन पुरुषों (**च**) और (**विशेषतः नारीणाम्**) विशेषरूप से स्त्रियों का (**हरणे**) अपहरण करने पर (**च**) तथा (**मुख्यानाम् एव रत्नानाम्**) मुख्य हीरे आदि रत्नों की चोरी करने पर (**वधम्+अर्हति**) शारीरिक दण्ड [ताड़ना से प्राणवध तक देना] चाहिए॥ ३२३॥

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत्॥ ३२४॥
(२००)

(**महापशूनाम्**) हाथी, घोड़े आदि बड़े पशुओं के (**शस्त्राणाम्**) शस्त्रास्त्रों के (**च**) और (**औषधस्य**) ओषधियों के (**हरणे**) चुराने पर (**कालं च कार्यम् आसाद्य**) समय [परिस्थिति] और चोरी के कार्य की गम्भीरता को देखकर (**राजा दण्डं प्रकल्पयेत्**) राजा और न्यायाधीश अपने विवेक से चोर को दण्ड दे॥ ३२४॥

साहस और चोरी का लक्षण—

स्यात् साहसं त्वन्वयवत् प्रसभं कर्म यत्कृतम्।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वाऽपव्ययने च यत्॥ ३३२॥
(२०१)

(**अन्वयवत्**) किसी वस्तु के स्वामी के सामने (**प्रसभं यत् कर्म कृतम्**) बलात् जो लूट, डाका, हत्या, बलात्कार आदि कर्म किया जाता है (**'साहसम्' स्यात्**) वह साहस=डाका डालना या बलात्कार कर्म कहलाता है (**निरन्वयम्**) स्वामी के पीछे से छुपाकर किसी वस्तु को लेना (**च**) और (**यत् हृत्वा+ अपव्ययने**) जो किसी वस्तु को [सामने या परोक्ष में] लेकर मुकरना या चुराकर भाग जाना है (**स्तेयं भवेत्**) वह 'चोरी' कहलाती है ॥ ३३२ ॥

अनुशीलन—साहस और चोरी का लक्षण— कौटिल्य ने मनु के शब्दों को ग्रहण करके अपने अर्थशास्त्र में साहस और चोरी का यथावत् लक्षण किया है.....

''साहसम् अन्वयवत् प्रसभंकर्म।
निरन्वये स्तेयम् अपव्ययने च।'' [प्र० ७४।अ०१७]

—स्वामी या पीड़ित के सामने बलात् कोई अपराध करना 'साहस' है। छुपकर वस्तु आदि चुराना या ली हुई वस्तु से मुकरना 'चोरी' है।

डाकू, चोरों के अंगों का छेदन—

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः॥ ३३४॥
(२०२)

(**स्तेनः**) चोर (**यथा**) जिस प्रकार (**येन येन+अङ्गेन**) जिस-जिस अङ्ग से (**नृषु**) मनुष्यों में (**विचेष्टते**) विरुद्ध चेष्टा करता है (**अस्य तत्-तत्+ एव**) उस-उस अंग को (**पार्थिवः**) राजा (**प्रत्या-देशाय**) सब मनुष्यों को अपराध न करने की चेतावनी देने के लिए (**हरेत्**) हरण अर्थात् छेदन कर दे॥ ३३४॥

माता-पिता, आचार्य आदि सभी राजा द्वारा दण्डनीय हैं—

पिताऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥३३५॥
(२०३)

(**पिता+आचार्यः सुहृत् माता**) पिता, आचार्य= गुरु, मित्र, माता (**भार्या पुत्रः पुरोहितः**) पत्नी, पुत्र,

पुरोहित आदि कोई भी (**यः स्वधर्मे न तिष्ठति**) जो कर्त्तव्य और कानून का पालन नहीं करता (**राज्ञः अदण्ड्यः नाम न अस्ति**) राजा या न्यायाधीश द्वारा अवश्य दण्डनीय होता है अर्थात् सबको अपराध करने पर दण्ड अवश्य देना चाहिये, किसी कारण से दण्ड से छोड़ना नहीं चाहिए॥ ३३५॥

ऋषि अर्थ—''चाहे पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, और पुरोहित क्यों न हो, जो स्वधर्म में स्थित नहीं रहता, वह राजा का अदण्ड्य नहीं होता अर्थात् जब राजा न्यायासन पर बैठ न्याय करे तब किसी का पक्षपात न करे किन्तु यथोचित दण्ड देवे।''

(स०प्र०, समु० ६)

अपराध करने पर राजा को साधारण जन से सहस्त्रगुणा दण्ड हो—

कार्षापणं भवेद् दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद् दण्ड्यः सहस्त्रमिति धारणा॥ ३३६॥
(२०४)

(**यत्र**) ''जिस अपराध में (**अन्यः प्राकृतः जनः**) किसी साधारण मनुष्य को (**कार्षापणः दण्ड्यः भवेत्**) एक पैसा दण्ड किया जाता हो तो (**तत्र**) उसी प्रकार के अपराध में (**राजा सहस्त्रं दण्ड्यः भवेत्**) राजा को एक सहस्त्र पैसे का दण्ड दिया जावे, (**इति धारणा**) ऐसी न्याय की व्यवस्था है॥'' ३३६॥

ऋषि अर्थ—जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो उसी अपराध में राजा को सहस्त्र पैसा दण्ड होवे अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्त्रगुणा दण्ड होना चाहिए। मंत्री अर्थात् राजा के दीवान को आठ सौ गुणा, उससे न्यून को सात सौ गुणा, और उससे भी न्यून को छः सौ गुणा, इसी प्रकार उत्तर-उत्तर अर्थात् जो एक छोटे से छोटा भृत्य अर्थात् चपरासी है उसको आठ गुणे दण्ड से कम न होना चाहिए। क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवें; जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े दण्ड से ही वश में आ

जाती है, इसलिए राजा से लेकर छोटे से छोटे भृत्यपर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजापुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिए। (स०प्र०, समु० ६)

उच्चवर्ण के व्यक्तियों को साधारण जनों से अधिक दण्ड दे—

अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च॥ ३३७॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः॥ ३३८॥
(२०५-२०६)

उसी प्रकार (**स्तेये**) चोरी आदि अपराधों में (**तु शुद्रस्य किल्बिषम् अष्टापाद्यं भवति**) यदि किसी विवेकी शूद्र को साधारण जन के एक पैसे के दण्ड [८.३३६] की तुलना में आठ गुना अर्थात् आठ पैसे दण्ड दिया जाता है तो उसी अपराध में (**वैश्यस्य तु षोडश+एव**) वैश्य को सोलह गुना अर्थात् शूद्र से दो गुना सोलह पैसे दण्ड दिया जाये, (**च**) और (**क्षत्रियस्य द्वात्रिंशत्**) उसी अपराध में क्षत्रिय को बत्तीस गुना अर्थात् शूद्र से चार गुना और वैश्य से दो गुना अधिक दण्ड दिया जाये, तथा (**ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः**) उसी अपराध में ब्राह्मण को चौंसठ गुना अर्थात् शूद्र से आठ गुना अधिक, वैश्य से चार गुना और क्षत्रिय से दो गुना अधिक दण्ड दिया जाये, (**वा**) अथवा (**पूर्णं शतम् अपि भवेत्**) पूरा सौ गुना अधिक दण्ड दें, (**वा**) अथवा (**द्विगुणा चतुःषष्टिः**) चौंसठ का भी दो गुना अर्थात् एक-सौ अट्ठाईस गुना तक अधिक दण्ड दें (**हि**) क्योंकि (**सः**) ब्राह्मण वर्ण का व्यक्ति (**तत् दोष-गुणवित्**) किये जाने वाले उस अपराध के दोषों और जनता पर पड़ने वाले उसके दुष्प्रभाव को भलीभांति तथा अन्य वर्णों से अधिक जानता है, क्योंकि वह विद्वान् और समाज में सर्वोच्च प्रतिष्ठा पाता है, अतः जो जितना ज्ञानी होकर अपराध करता है, वह उतना ही अधिक दण्ड का पात्र है॥ ३३७-३३८॥

ऋषि अर्थ—''जो कुछ विवेकी होकर चोरी करे उस शूद्र को चोरी से आठ गुणा, वैश्य को सोलह गुणा, क्षत्रिय की बत्तीस गुणा, ब्राह्मण को चौंसठ गुणा, वा सौ गुणा, अथवा एक सौ अट्ठाईस गुणा दण्ड होना चाहिए अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो, उसको अपराध में उतना ही अधिक दण्ड होना चाहिए।'' (स०प्र०, सुम० ६)

अनुशीलन—उच्चवर्णानुसार अधिक दण्ड—उच्चावर्णनुसार उच्चदण्ड की व्यवस्था कौटिल्य तक यथावत् प्रचलित रही है। कौटिल्य ने भी अन्य वर्णों की तुलना में अपराध करने पर ब्राह्मण को अधिक दण्ड देने का विधान किया है—

''**ब्राह्मणतश्चैषां ज्यैष्ठ्यं नियम्येत।**''

[प्र० ६६। अ० १०]

=अपराधों में यदि कोई ब्राह्मण सम्मिलित हो तो उसे अन्य वर्णस्थ जनों की अपेक्षा अधिक दण्ड दिया जाये, क्योंकि वह सबसे अधिक ज्ञानी है और समाज में सर्वाधिक प्रतिष्ठा पाता है।

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम्।
यशोऽस्मिन् प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥ ३४३॥(२०७)

(**राजा**) राजा (**अनेन विधिना**) इस उपर्युक्त [८.३०१-३३८] विधि से (**स्तेननिग्रहं कुर्वाणः**) चोरों को नियंत्रित एवं दण्डित करता हुआ (**अस्मिन् लोके यशः**) इस जन्म में या लोक में यश को (च) और (**प्रेत्य**) परजन्म में (**अनुत्तमं सुखम्**) अच्छे सुख को (**प्राप्नुयात्**) प्राप्त करता है॥ ३४३॥

(१४) साहस=डाका, हत्या आदि अत्याचारपूर्ण अपराधों का निर्णय—

[३४४-३५१]

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम्।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम्॥ ३४४॥ (२०८)

(ऐन्द्रं स्थानं च अक्षयम् अव्ययं यशः अभि-प्रेप्सुः राजा) सर्वोच्च शासक का पद और कभी कम और नष्ट न होने वाले यश को चाहने वाला राजा (**साहसिकं नरम्**) डाकू और अपहर्ता अत्याचार करने वाले मनुष्य की (**क्षणम्+अपि न+उपेक्षेत**) एक क्षण भी उपेक्षा न करे अर्थात् तत्काल उनको पकड़कर दण्डित करे॥ ३४४॥

ऋषि अर्थ—''राज्य के अधिकारी और ऐश्वर्य की इच्छा करने वाला राजा बलात्कार काम करने वाले डाकुओं को दण्ड देने में एक क्षण भी देर न करे।''

(स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—साहस का लक्षण ८.३३२ श्लोक में तथा उसकी समीक्षा में द्रष्टव्य है।

साहसी व्यक्ति चोर से अधिक पापी—

वाग्दुष्टात् तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः।
साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः॥ ३४५॥
(२०९)

(**वाक्-दुष्टात् च तस्करात् एव**) दुष्ट वचन बोलने वाले और चोर से भी (**दण्डेन हिंसतः एव**) दण्डे से घातक प्रहार करने वाले से भी (**साहसस्य कर्ता नरः**) डकैती, अपहरण, बलपूर्वक अत्याचार करने वाला मनुष्य (**पापकृत्तमः विज्ञेयः**) अत्यधिक पापी होता है और उतना ही अधिक दण्डनीय होता है॥ ३४५॥ (ऋषि व्याख्यात स०प्र०, समु० ६)

डाकू को दण्ड न देने वाला राजा विनाश को प्राप्त करता है—

साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति॥ ३४६॥
(२१०)

(**सः पार्थिवः**) जो राजा (**साहसे वर्तमानं तु मर्षयति**) साहस के कामों में संलग्न पुरुष को दण्ड न देकर सहन करता है (**सः आशु विनाशं व्रजति**) वह राजा शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है (**च**) और (**विद्वेषम्+अधिगच्छति**) प्रजा उससे द्वेष-घृणा करने

लगती है ॥ ३४६ ॥ (ऋषि व्याख्यात स०प्र०, समु० ६)

मित्र या धन के कारण साहसी को क्षमा न करे—

न मित्रकारणाद् राजा विपुलाद् वा धनागमात्।
समुत्सृजेत् साहसिकान् सर्वभूतभयावहान्॥ ३४७॥
(२११)

(**राजा**) राजा (**मित्रकारणात्**) अपराधी के मित्र होने के कारण से, (**वा**) अथवा (**विपुलात् धन-आगमात्**) दण्ड न देने के बदले में बहुत सारा धन मिलने की संभावना के कारण भी (**सर्वभूतभय-आवहान्**) सभी लोगों को भयभीत करने वाले (**साहसिकान्**) अत्याचारी लोगों को (**न समुत्-सृजेत्**) कारावास अथवा दण्ड दिये बिना न छोड़े॥ ३४७ ॥ (ऋषि व्याख्यात स०प्र०, समु० ६)

आततायी को मारने में अपराध नहीं—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ ३५०॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तन्मन्युमृच्छति॥ ३५१॥
(२१२-२१३)

(**गुरुं वा बाल-वृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्**) गुरु को, किसी बालक को, अथवा किसी वृद्ध को, अथवा किसी महान् पंडित ब्राह्मण को (**आततायिनम् आयान्तम्**) अपने धर्म को छोड़ अधर्म के मार्ग को अपनाकर अत्याचार करने की भावना से अपनी ओर प्रहार करने को उद्यत देखे तो (**अविचारयन् हन्यात् एव**) 'उसकी हत्या में धर्म है या अधर्म है' आदि बातों पर विचार किये बिना तत्काल उस पर प्रहार कर दे अथवा उसका वध कर दे अर्थात् पहले आत्म रक्षा करे, फिर अन्य बातों पर विचार करे॥ ३५० ॥

क्योंकि (**प्रकाशं वा अप्रकाशम्**) सबके सामने अथवा एकान्त में (**आततायिवधे**) अत्याचारी के वध करने पर (**हन्तुः**) वध या घायलकर्त्ता को (**कश्चनः दोषः न भवति**) कोई अपराध नहीं लगता, क्योंकि उस

परिस्थिति में (**तं मन्युं मन्युः ऋच्छति**) अत्याचार करने के लिए प्रकट हुए क्रोध को आत्मरक्षक क्रोध मारता है अर्थात् उस समय किसी के वध की इच्छा से वध नहीं किया जाता अपितु वधार्थ उद्यत क्रोध को रोकना प्रयोजन होता है॥ ३५१॥

ऋषि अर्थ—''चाहे गुरु हो, चाहे पुत्र आदिक बालक हों, चाहे पिता आदि वृद्ध, चाहे ब्राह्मण और चाहे बहुत शास्त्रों का श्रोता क्यों न हो, जो धर्म को छोड़ अधर्म में वर्तमान है, दूसरे को बिना अपराध मारने वाले, उनको बिना विचारे मार डालना अर्थात् मारके पश्चात् विचार करना चाहिए॥

दुष्ट-पुरुषों के मारने में हन्ता को पाप नहीं होता, चाहे प्रसिद्ध मारे चाहे अप्रसिद्ध, क्योंकि क्रोधी को क्रोध से मारना जानो क्रोध से क्रोध की लड़ाई है॥''

(स०प्र०, समु० ६)

[१५] स्त्री-संग्रहणसम्बन्धी विवाद तथा उसका निर्णय [३५२-३८७]—

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान् नॄन् महीपतिः।
उद्वेजनकरैर्दण्डश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत्॥ ३५२॥

(२१४)

(**परदारा+अभिमर्शेषु प्रवृत्तान् नॄन्**) परस्त्रियों से बलात्कार और व्यभिचार करने में संलग्न पुरुषों को (**महीपतिः**) राजा (**उद्वेजनकरैः दण्डैः छिन्नयित्वा**) व्याकुलता पैदा करने वाले दण्डों से दण्डित करके (**प्रवासयेत्**) देश से निकाल दे॥ ३५२॥

परस्य पत्न्या पुरुषः सम्भाषां योजयन् रहः।
पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात् पूर्वसाहसम्॥ ३५४॥

(२१५)

(**पूर्वं दोषैः आक्षारितः पुरुषः**) जो व्यक्ति पहले परस्त्री-गमन-सम्बन्धी दोषों से अपराधी सिद्ध हो चुका है (**रहः परस्य पत्न्या संभाषां योजयन्**) यदि वह एकान्त स्थान में पराई स्त्री के साथ कामुक बातचीत

की योजना में लगा मिले तो (**पूर्वसाहसं प्राप्नुयात्**) उसको 'पूर्वसाहस' [८.१३८] का दण्ड देना चाहिए॥ ३५४॥

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात्।
न दोषं प्राप्नुयात् किंचिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः॥ ३५५॥(२१६)

(**यः तु पूर्वम्+अनाक्षारितः**) किन्तु जो पहले ऐसे किसी अपराध में अपराधी सिद्ध नहीं हुआ है, यदि वह (**कारणात् अभिभाषेत**) किसी परस्त्री से उचित कारणवश बातचीत करे तो (**किंचित् दोषं न प्राप्नुयात्**) किसी दोष का भागी नहीं होता (**हि**) क्योंकि (**तस्य न व्यतिक्रमः**) उसका कोई मर्यादा-भंग का दोष नहीं बनता॥ ३५५॥

स्त्रीसंग्रहण की परिभाषा—

उपचारक्रियाः केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम्।
सहखट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥ ३५७॥ (२१७)

विषयगमन के लिए (**उपचारक्रिया**) एक-दूसरे को आकर्षित करने के लिए माला, सुगन्ध आदि शृंगारिक वस्तुओं का आदान-प्रदान करना (**केलिः**) विलासक्रीड़ाएं=कामुक स्पर्श, छेड़खानी आदि (**भूषणवाससां स्पर्शः**) आभूषण और कपड़ों आदि का अनुचित स्पर्श (**च**) और (**सह खट्वा+आसनम्**) साथ मिलकर अर्थात् सटकर एकान्त में खाट आदि पर बैठना, साथ सोना, सहवास करना आदि (**सर्वं संग्रहणं स्मृतम्**) ये सब बातें 'संग्रहण'= विषयगमन में मानी गयी हैं॥ ३५७॥

स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तया।
परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥ ३५८॥ (२१८)

(**यः स्त्रियम् अदेशे स्पृशेत्**) यदि कोई पुरुष किसी परस्त्री को न छूने योग्य स्थानों स्तन, जघनस्थल, गाल आदि को स्पर्श करे (**वा**) अथवा (**तया स्पृष्टः**

मर्षयेत्) स्त्री के द्वारा अस्पृश्य स्थानों को स्पर्श करने पर उसे सहन करे (**परस्परस्य+अनुमते**) परस्पर की सहमति से होने पर भी (**सर्वं संग्रहणं स्मृतम्**) यह सब 'संग्रहण'=काम सम्बन्ध कहा गया है ॥ ३५८ ॥

पांच महा-अपराधियों को वश में करने वाला राजा इन्द्र के समान प्रभावी—

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥
३८६॥(२१९)

(**यस्य**) जिस राजा के राज्य में (**स्तेनः न अस्ति**) चोर नहीं है, (**न+अन्यस्त्रीगः**) न परस्त्री-गामी है, (**न दुष्टवाक्**) न दुष्ट वाणी बोलने वाला है, (**न साहसिक-दण्डघ्नौ**) न अत्याचारी और दण्ड प्रहार करके घायल करने वाला है, (**सः राजा शक्रलोकभाक्**) वह राजा स्वर्ग के राजा इन्द्र के समान सुखी और सर्वश्रेष्ठ राजा है ॥ ३८६ ॥

ऋषि अर्थ—''जिस राजा के राज्य में न चोर, न परस्त्रीगामी, न दुष्ट वचन का बोलने हारा, न साहसिक डाकू और न दण्डघ्न अर्थात् राजा की आज्ञा को भंग करने वाला है, वह राजा अतीव श्रेष्ठ है।'' (स०प्र०, समु० ६)

अनुशीलन—'शक्रलोकभाक्' का अर्थ—यहां 'शक्रलोकभाक्' पद का अभिप्रायार्थ ग्रहण किया जाना अभीष्ट है। जिन टीकाकारों ने 'शक्रलोकभाक्' का 'इन्द्रलोक में जाने वाला' या 'स्वर्ग में जाने वाला' अर्थ किया है वह उचित नहीं है। इस पद का अर्थ है कि वह राजा 'इन्द्र पद का अधिकारी' अर्थात् इन्द्र के समान श्रेष्ठ और प्रभावशाली राजा माना जाता है। ८.३४४ में 'ऐन्द्रपद' कहकर इसी भाव की ओर संकेत है। अगले श्लोक के 'साम्राज्यकृत् सजात्येषु' पद से भी इस अर्थ की पुष्टि हो जाती है।

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके।
साम्राज्यकृत् सजात्येषु लोके चैव यशस्करः॥
३८७॥(२२०)

(**स्वके विषये**) अपने राज्य में (**एतेषां पञ्चानां निग्रहः**) उक्त पांचों प्रकार के अपराधियों पर नियन्त्रण रखने वाला (**राज्ञः**) राजा (**सजात्येषु साम्राज्यकृत्**) सजातीय अन्य राजाओं पर साम्राज्य करने वाला अर्थात् राजाओं में शिरोमणि बन जाता है (**च**) और (**लोके यशस्करः एव**) लोक में यश अवश्य प्राप्त करता है ॥ ३८७ ॥

ऋत्विज् और यजमान द्वारा एक-दूसरे को त्यागने पर दण्ड—

ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक् त्यजेद्यदि।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम्॥ ३८८ ॥
(२२१)

(**यः याज्यः**) जो यजमान (**कर्मणि शक्तं च अदुष्टम्**) काम करने में समर्थ और श्रेष्ठ (**ऋत्विजम्**) पुरोहित को (**त्येजत्**) बिना उचित कारण के त्याग दे तो (**तयोः**) उन दोनों को (**शतं-शतं दण्डः**) सौ-सौ पण [८.१३६] दण्ड करना चाहिए॥ ३८८ ॥

माता-पिता-स्त्री-पुत्र को छोड़ने पर दण्ड—

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति।
त्यजन्यतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट्॥
३८९ ॥(२२२)

धर्म मर्यादा में स्थित (**न माता न पिता न स्त्री न पुत्रः त्यागम्+अर्हति**) न माता, न पिता, न स्त्री और न पुत्र त्यागने योग्य होते हैं, (**अपतितान् एतान् त्यजन्**) अपतित अर्थात् निर्दोष होते हुए जो इनको कोई छोड़े तो (**राज्ञा षट् शतानि दण्ड्यः**) राजा के द्वारा उस पर छः सौ पण दंड किया जाना चाहिए और उनको सम्मानपूर्वक पूर्ववत् घर में रखवाये॥ ३८९ ॥

अनुशीलन—३८८ और ३८९ श्लोक विषयविरोध के अन्तर्गत आते हुए भी प्रक्षिप्त प्रतीत नहीं होते। इन्हें स्थान भ्रष्ट समझना चाहिए, क्योंकि (क) इनका मनु की किसी मान्यता से विरोध नहीं है और न ये किसी अन्य आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं, (ख) इस अध्याय में इनसे सम्बन्धित प्रसंग भी है। प्रतीत होता है कि ये श्लोक चौथे

विवाद 'मिलकर उन्नति या व्यापार करना' (८.२०६-२११) विषय से खण्डित होकर हस्तलेखों में स्थानभ्रष्ट हुए हैं।

व्यापार में शुल्क एवं वस्तुओं के भावों का निर्धारण—

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत्॥ ३९८॥
(२२३)

(**शुल्कस्थानेषु कुशलाः**) शुल्क लेने के स्थानों अर्थात् जल और स्थल के व्यापारों के शुल्कव्यवहार के विशेषज्ञ (**सर्वपण्यविचक्षणाः**) सब बेचने योग्य वस्तुओं के मूल्य-निर्धारित करने के विशेषज्ञ व्यक्ति (**यथापण्यं अर्घं कुर्युः**) बाजार के अनुसार जो मूल्य निश्चित करें (**ततः**) उसके लाभ में से (**नृपः विंशं हरेत्**) राजा बीसवां भाग कररूप में प्राप्त करे॥ ३९८॥

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च।
तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः॥ ३९९॥
(२२४)

(**राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि**) राजा के उपयोगी प्रसिद्ध साधन (**च**) और (**यानि प्रतिषिद्धानि**) जिन वस्तुओं का देशान्तर में ले जाना निषिद्ध घोषित कर दिया है (**लोभात् तानि निर्हरतः**) लोभवश उन्हें देशान्तर में ले जाने वाले का (**नृपः**) राजा (**सर्वहारं हरेत्**) सर्वस्व हरण कर ले॥ ३९९॥

शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम्॥४००॥
(२२५)

(**शुल्कस्थानं परिहरन्**) चुंगी के स्थान को छोड़कर दूसरे रास्ते से सामान ले जाने वाला (**अकाले**) असमय में अर्थात् रात आदि में गुप्तरूप से (**क्रयविक्रयी**) सामान खरीदने और बेचने वाला (**च**) और (**संख्याने मिथ्यावादी**) शुल्क बचाने हेतु माप-तौल में झूठ बतलाने वाला, इनको (**अष्टगुणम्+ अत्ययं दाप्यः**) वास्तविक शुल्क से आठ गुने अधिक

दण्ड से दण्डित करे ॥ ४०० ॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत् क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥
(२२६)

(**आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयौ+उभौ**) वस्तुओं के आयात-निर्यात, रखने का स्थान, लाभवृद्धि तथा हानि (**सर्वपण्यानां विचार्य**) खरीद-बेचने की वस्तुओं से सम्बन्धित सभी बातों पर विचार करके (**क्रय-विक्रयौ कारयेत्**) राजा मूल्य निश्चित करके वस्तुओं का क्रयविक्रय कराये ॥ ४०१ ॥

पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥
(२२७)

(**पञ्चरात्रे-पञ्चरात्रे**) पांच-पांच के दिन के बाद (**अथवा**) या (**पक्षे पक्षे गते**) पन्द्रह-पन्द्रह दिन के पश्चात् (**नृपः**) राजा (**एषां प्रत्यक्षम्**) व्यापारियों के सामने (**अर्घसंस्थापनं कुर्वीत**) मूल्य का निर्धारण करता रहे ॥ ४०२ ॥

तुला एवं मापकों की छह महीने में परीक्षा—

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात् सुलक्षितम्।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥
(२२८)

(**सर्वं तुलामानम्**) सब तराजू (**च**) और (**प्रतीमानम्**) तोलने के बाट (**सुलक्षितं स्यात्**) अच्छी प्रकार परीक्षा करके परखे हुए हों (**च**) और (**षटसु षट्सु मासेषु पुनः+एव परीक्षयेत्**) राजा प्रत्येक छह मास की अवधि में उनकी पुनः परीक्षा अवश्य कराया करे ॥ ४०३ ॥

ऋषि अर्थ—''मनुस्मृति में तो प्रतिमा शब्द करके, रत्ती, छटांक, पाव, सेर और पसेरी आदि तोल के साधनों का ग्रहण किया है, क्योंकि तुलामान अर्थात् तराजू और प्रतीमान वा प्रतिमा अर्थात् बाट इनकी परीक्षा राजा लोग छठे-छठे मास अर्थात् छः छः महीने में एक बार किया करें कि जिससे उनमें कोई व्यवहारी

किसी प्रकार की छल से घट-बढ़ न कर सकें और कदाचित् कोई करे तो उसको दण्ड देवें।'' (ऋ० भा० भू०, ग्रन्थप्रामाण्य०) (अन्यत्र व्याख्यात द०ल० सं० २०; द०शा०सं० ५०; ऋ०प०वि० ११)

नौका-व्यवहार में किराया आदि की व्यवस्थाएं—

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान्॥ ४०४॥ (२२९)

(**यानं तरे पणम्**) नाव से पार उतारने में खाली गाड़ी का एक पण [८.१३६] किराया ले (**पौरुषः तरे**) एक पुरुष द्वारा ढोये जाने वाले भार को पार उतारने में (**अर्ध-पणं दाप्यः**) आधा पण किराया ले (**च**) और (**पशुः पादम्**) पशु आदि को पार करने में चौथाई पण (**च**) तथा (**योषित् विरक्तः पुमान् पाद+अर्धम्**) स्त्री और खाली मनुष्य से एक पण का आठवाँ भाग [८.१३६] किराया लेवें॥ ४०४॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः।
रिक्तभाण्डानि यत्किंचित्पुमांसश्चापरिच्छदाः॥ ४०५॥ (२३०)

(**भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं सारतः दाप्यानि**) वस्तुओं से भरी हुई गाड़ियों को पार उतारने का किराया उनके भारी और हल्केपन के अनुसार देवे (**रिक्त-भाण्डानि**) खाली बर्तनों का (**च अपरिच्छदाः पुमांसः**) और निर्धन व्यक्ति (**यत् किंचित्**) इनसे नाममात्र का ही किराया लेवे॥ ४०५॥

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्।
नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम्॥ ४०६॥ (२३१)

(**दीर्घः+अध्वनि**) नदी का लम्बा रास्ता पार करने के लिए (**यथा देशम्**) स्थान के अनुसार [तेज बहाव, मन्द प्रवाह, दुर्गम स्थल आदि] (**यथाकालम्**) समय के अुनसार [सर्दी, गर्मी, रात्रि आदि] (**तरः भवेत्**) किराया निश्चित होना चाहिए (**तत् नदीतीरेषु विद्यात्**)

यह नियम नदी-तट के लिए समझना चाहिए (**समुद्रे नास्ति लक्षणम्**) समुद्र में यह नियम नहीं है अर्थात् समुद्र में वहाँ की स्थिति के अनुसार अन्य किराया निश्चित करना चाहिए॥ ४०६ ॥ (ऋषि व्याख्यात स०प्र० १७५)

यन्नावि किंचिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः।
तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः॥ ४०८ ॥
(२३२)

(**दाशानाम् अपराधतः**) नाविकों=मल्लाहों की गलती से (**नावि यत् किंचित् विशीर्येत**) नाव में जो कुछ यात्रियों को हानि हो जाये (**तत्+दाशैः+एव**) वह मल्लाहों को ही (**समागम्य स्वतोंशतः दातव्यम्**) मिलकर अपने-अपने हिस्से में से पूरा करना चाहिए॥ ४०८ ॥

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः॥ ४०९ ॥
(२३३)

इति महर्षिमनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृ
समीक्षाभ्यां विभूषितायाञ्च विशुद्ध

(**एषः**) यह [८.४०४-४०८] (**नौयायिनां व्यवहारस्य दाशापराधतः निर्णयः उक्तः**) नाविकों के व्यवहार का और जल में मल्लाहों के अपराध से नष्ट हुए सामान का निर्णय कहा (**दैविके निग्रहः नास्ति**) दैवी विपत्ति के कारण [आंधी, तूफान आदि से] हुई हानि के मल्लाह देनदार नहीं हैं॥ ४०९ ॥

अनुशीलन—श्लोक ३८९, ३९८-४०६ तक और ४०८, ४०९ में कोई प्रक्षेप की प्रवृत्ति नहीं है और ये सर्वसामान्य विधान हैं। इनका मनु की किसी मान्यता से विरोध नहीं है, शैली भी मनुसम्मत है। अतः प्रसंगानुकूल न होने पर भी हमने इन्हें प्रक्षिप्त घोषित नहीं किया। प्रतीत होता है कि ये स्थानभ्रष्ट हो गये हैं। इन सभी श्लोकों में जो विषय है वह 'मिलकर उन्नति या व्यापार करना' [८.२०६-२११] विषय से सम्बन्धित है, अतः ये उसी प्रसंग से खण्डित हुए ज्ञात होते हैं।

कृतहिन्दीभाष्यसमन्वितायाम् अनुशीलन-
मनुस्मृतौ राजधर्मात्मकोऽष्टमोऽध्यायः॥

अथ नवम

(हिन्दीभाष्य-' अनुशी

(राजधर्मान्तर्गत

(९.१ से ९.

(१६) स्त्री-पुरुष-धर्मसम्बन्धी विवाद और उसका निर्णय

(९.१ से १०२ तक)

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः।
संयोगे विप्रयोगे च धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥ १॥
(१)

[अब मैं] (**धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः**) दाम्पत्य धर्म के मार्ग पर चलने वाले (**स्त्रियाः च पुरुषस्य एव**) स्त्री-पुरुष के (**संयोग च विप्रयोगे**) संयोगकालीन= साथ रहने तथा वियोगकालीन=अलग रहने के (**शाश्वतान् धर्मान् वक्ष्यामि**) सदैव पालन करने योग्य धर्मों=कर्त्तव्यों को कहूंगा— ॥ १ ॥

स्त्री के प्रति कर्त्तव्यपालन न करने वाले पिता, पति, पुत्र निन्दा के पात्र—

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन् पतिः।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता॥ ४॥ (२)

(**काले**) विवाह की अवस्था होने पर (**अदाता**) कन्या को न देने वाला अर्थात् विवाह न करने वाला (**पिता वाच्यः**) पिता निन्दनीय और दोषी होता है (**च**) और (**अनुपयन् पतिः**) [विवाह-पश्चात् ऋतुदिनों के अनन्तर] संगम न करने वाला पति निन्दनीय और दोषी होता है (**भर्तरि मृते**) पति की मृत्यु होने के बाद (**मातुः+अरक्षिता पुत्रः वाच्यः**) माता की [भरण-पोषण, सेवा आदि से] रक्षा न करने वाला पुत्र

मोऽध्याय:

लन'-समीक्षा सहित)

व्यवहारनिर्णय)

२५० तक)

निन्दनीय और दोषी होता है ॥ ४ ॥

छोटे से कुसंग से भी स्त्रियों की रक्षा अवश्य करें—

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥ (३)

(**सूक्ष्मेभ्यः प्रसंगेभ्यः अपि**) छोटे-छोटे कुसंग के अवसरों से भी (**स्त्रियः विशेषतः रक्ष्याः**) स्त्रियों की विशेषरूप से रक्षा करनी चाहिए (**हि**) क्योंकि (**अरक्षिताः**) अरक्षित स्त्रियां [उनके साथ घटित किसी भी अप्रिय घटना के कारण] (**द्वयोः कुलयोः शोकम्+आवहेयुः**) दोनों कुलों=पति तथा पिता दोनों के कुलों के शोकसंतप्त होने का कारण बन जाती हैं ॥ ५ ॥

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम्।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥ (४)

(**सर्ववर्णानाम् इमम् उत्तमं धर्मं पश्यन्तः**) सब वर्णों के इस पूर्वोक्त धर्म को श्रेष्ठ समझते हुए (**दुर्बलाः भर्तारः अपि**) शरीर, धन या सामर्थ्य से दुर्बल पति भी (**भार्यां रक्षितुं यतन्ते**) अपनी पत्नी के सम्मान की और कुसंगों से उसकी रक्षा करने के लिए यत्नशील रहते हैं ॥ ६ ॥

स्त्री पर ही परिवार की प्रतिष्ठा निर्भर—

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥ ७ ॥ (५)

(**प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि**) प्रयत्नपूर्वक अपनी

स्त्री के सम्मान की और उसकी कुसंगति से रक्षा करता हुआ अर्थात् संरक्षण में रखता हुआ व्यक्ति ही (**स्वां प्रसूतिम्**) अपनी सन्तान (**चरित्रम्**) दम्पती का आचरण (**कुलं च आत्मानम्+एव**) कुल और अपनी (**च**) तथा (**स्वं धर्मम्**) अपने धर्म की (**रक्षति**) रक्षा करता है अर्थात् स्त्री के कुसंग में पड़ जाने से सब ही कुछ बिगड़ जाता है, क्योंकि स्त्री ही सुख और धर्म का आधार है [९.२८] ॥ ७ ॥

जाया का लक्षण—

पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ८ ॥
(६)

(**पतिः भार्यां संप्रविश्य**) पति वीर्य=बीज रूप में स्त्री के गर्भाशय में प्रवेश करके (**गर्भः भूत्वा+इह जायते**) गर्भ बनकर फिर सन्तानरूप में संसार में उत्पन्न होता है (**जायायाः तत्+हि जायात्वम्**) स्त्री का यही जायापन=स्त्रीपन है (**यत्**) जो (**अस्यां पुनः जायते**) इस स्त्री में सन्तानरूप में पति पुनः उत्पन्न होता है अर्थात् सन्तान को उत्पन्न करने वाली होने के कारण ही स्त्री 'जाया' कहाती है।

अनुशीलन—जाया शब्द की सिद्धि और इसमें ब्राह्मण आदि के प्रमाण—'जाया' शब्द **जनी प्रादुर्भावे** (दिवा०) धातु से '**जनेर्यक्**' (उणादि ४.१११) सूत्र से '**यक्**' प्रत्यय, स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होने से सिद्ध होता है। '**जायते यस्यां सा जाया**' अथवा '**जायन्ते यस्याम् अपत्यानि सा जाया=पत्नी**'—जिसमें सन्तान उत्पन्न होती हैं वह 'जाया' कहलाती है। इस श्लोक में जाया की परिभाषा दी हुई है। यह परिभाषा पर्याप्त प्रचलित रही है। यथावत् भाव ऐतरेय ब्राह्मण ७.१३ की परिभाषा में द्रष्टव्य है—

(क) "**पतिर्जायां प्रविशति, गर्भो भूत्वा स मातरं तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते, तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।**"

(ख) "**आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं**

किञ्चेति तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते।'' (गो० ब्रा० पू० १.२)

(ग) निरुक्त में भी पुत्र को पति का अंगरूप और आत्मारूप बताया है—

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥

(निरु० ३.१.४)

जैसा पति वैसी सन्तान—

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्।
तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः॥ ९॥

(७)

(**स्त्री यादृशं हि भजते**) स्त्री जैसे पारिवारिक वातावरण या परिवेश में रहती है, और जैसा पति का व्यवहार होता है (**तथाविधं सुतं सूते**) उसी प्रकार के संस्कारों वाली सन्तान को उत्पन्न करती है। (**तस्मात्**) इसलिए (**प्रजाविशुद्ध्यर्थम्**) सन्तान की श्रेष्ठता की लिए (**प्रयत्नतः स्त्रियं रक्षेत्**) प्रयत्नपूर्वक स्त्री को कुसंग और अप्रिय वातावरण से बचाकर रखें॥ ९॥

स्त्रियों की रक्षा बलपूर्वक नहीं हो सकती—

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम्॥ १०॥

(८)

(**कश्चित्**) कोई भी व्यक्ति (**प्रसह्य**) बलात् या दबाव के साथ (**योषितः परिरक्षितुं न शक्तः**) स्त्रियों की कुसंगों से रक्षा नहीं कर सकता (**तु**) किन्तु (**एतैः+उपाययोगैः**) इन आगे कहे उपायों में लगाने से (**ताः परिरक्षितुं शक्याः**) उनकी रक्षा की जा सकती है॥ १०॥

स्त्रियों को गृह एवं धर्मकार्मों में व्यस्त रखें—

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च परिणाह्यस्य वेक्षणे॥ ११॥

(९)

(**एनाम्**) अपनी स्त्री को (**अर्थात् संग्रहे च व्यये**) धन की संभाल और उसके व्यय की जिम्मेदारी

में, (**शौचे**) घर एवं घर के पदार्थों की स्वच्छता-शुद्धि में, (**धर्मे**) धर्मसम्बन्धी [६.९३] अनुष्ठान=अग्निहोत्र, संध्या, स्वाध्याय आदि में, (**अन्नपक्त्याम्**) भोजन पकाने की व्यवस्था में, (**च**) और (**परिणाह्यस्य वेक्षणे**) घर की सभी वस्तुओं की देखभाल में (**नियोजयेत्**) नियुक्त करें अर्थात् उक्त कार्य पत्नी के अधिकार में रखें ॥ ११ ॥

स्त्रियां आत्मनियन्त्रण से ही बुराइयों से बच सकती हैं—

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ १२ ॥
(१०)

क्योंकि (**आप्तकारिभिः पुरुषैः**) घनिष्ठ आज्ञा-कर्ता पिता, माता, पति आदि द्वारा (**गृहे रुद्धाः**) घर में बलात् रोककर रखी हुई अर्थात् निगरानी में रखी जाती हुई स्त्रियां भी (**असुरक्षिताः**) असुरक्षित हैं= बुराइयों से बच नहीं पाती किन्तु (**याः तु**) जो तो (**आत्मानम् आत्मना रक्षेयुः**) अपनी रक्षा स्वयं अपने विवेक से करती हैं (**ताः सुरक्षिताः**) वस्तुतः वे ही गलत कार्यों में न पड़कर सुरक्षित रहती हैं ॥ १२ ॥

स्त्रियों के दूषण में छह कारण—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ १३ ॥
(११)

(**पानम्**) मदिरा, भांग आदि मादक पदार्थों का सेवन करना, (**दुर्जनसंसर्गः**) बुरे लोगों का संग करना, (**पत्या विरहः**) पति से लम्बे समय तक वियोग रहना (**च**) और (**अटनम्**) इधर-उधर व्यर्थ घूमते रहना, (**अन्य गेहवासः च स्वप्नः**) दूसरों के घर में अधिक निवास और रात्रि में शयन करना (**नारी संदूषणानि षट्**) नारी को पथभ्रष्ट करने वाले ये छह प्रमुख कारण या दुर्गुण हैं ॥ १३ ॥

ऋषि अर्थ—''मद्य, भांग आदि मादक द्रव्यों का पीना, दुष्टपुरुषों का संग, पति-वियोग, अकेली जहां-

तहां व्यर्थ पाखण्डी आदि के दर्शन-मिस से फिरती रहना, और पराये घर में जाके शयन करना वा वास, ये छः स्त्री को दूषित करने वाले दुर्गुण हैं।''

(स०प्र०, समु० ६)

सन्तानोत्पत्ति-सम्बन्धी धर्म—

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा।
प्रेत्येह च सुखोदर्कान् प्रजाधर्मान् निबोधत्॥ २५॥
(१२)

(**एषा**) यह [९.१-१३] (**स्त्रीपुसयोः नित्यं शुभा**) स्त्री-पुरुषों के लिये सदा शुभ=कल्याणकारी (**लोकयात्रा उदिता**) परस्पर का लोकव्यवहार कहा, अब (**प्रेत्य च इह सुखोदर्कान्**) परजन्म और इस जन्म में परिणाम में सुखदायक (**प्रजाधर्मान् निबोधत**) सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी धर्मों को सुनो॥ २५॥

स्त्रियाँ घर की लक्ष्मी हैं—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥ २६॥
(१३)

स्त्रियां (**प्रजनार्थम्**) सन्तान को उत्पन्न करके वंश को आगे बढ़ाने वाली हैं, (**महाभागाः**) स्वयं सौभाग्यशाली हैं और परिवार का भाग्योदय करने वाली हैं, (**पूजार्हाः**) वे पूजा अर्थात् सम्मान की अधिकारिणी हैं, (**गृहदीप्तयः**) प्रसन्नता और सुख से घर को प्रकाशित=प्रसन्न करने वाली हैं, यों समझिये कि (**गेहेषु**) घरों में (**स्त्रियः च श्रियः कश्चन विशेषः न अस्ति**) स्त्रियों और लक्ष्मी तथा शोभा में कोई विशेष अन्तर नहीं है अर्थात् स्त्रियां घर की लक्ष्मी और शोभा हैं॥ २६॥

ऋषि अर्थ—''हे पुरुषो! सन्तानोत्पत्ति के लिए महाभाग्योदय करने हारी, पूजा के योग्य, गृहाश्रम को प्रकाशित करती, सन्तानोत्पत्ति करने-कराने हारी, घरों में स्त्रियाँ हैं, वे श्री अर्थात् लक्ष्मीस्वरूप होती हैं, क्योंकि लक्ष्मी, शोभा, धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं

है।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

अनुशीलन—स्त्रियाँ लक्ष्मी रूप हैं—मनु ने जो स्थान तथा महत्त्व स्त्रियों को दिया है, वही समस्त प्राचीन साहित्य में है। इन भावों की तुलना की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों के निम्न लिखित प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(क) **''श्रियै वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः''**

(शत० १३.२.६.७)

(ख) **''गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा''** (शत० ३.३.१.१०)

स्त्रियां लोकयात्रा का आधार है—

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम्॥ २७॥
(१४)

(**अपत्यस्य उत्पादनम्**) सन्तान को उत्पन्न करना, (**जातस्य परिपालनम्**) उत्पन्न सन्तान का पालन-पोषण करना और (**प्रत्यहं लोकयात्रायाः**) प्रतिदिन के लोकव्यवहार (जैसे गृहप्रबन्ध, अतिथि सेवा आदि) को सम्पन्न करना आदि कार्यों की (**स्त्री प्रत्यक्षं निबन्धनम्**) पत्नी ही मूल आधार है अर्थात् गृहस्थ आश्रम के सफल संचालन में पत्नी ही मुख्य कारण और संयोजिका है॥ २७॥

ऋषि अर्थ—''हे पुरुषो! अपत्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न का पालन करना आदि लोकव्यवहार को, नित्यप्रति जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है, उसका निबन्ध करने वाली प्रत्यक्ष स्त्री है।'' (सं०वि०, गृहाश्रम०)

घर का सुख स्त्री पर निर्भर है—

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह॥ २८॥
(१५)

(**अपत्यम्**) सन्तानोत्पत्ति करके वंश को चलाना (**धर्मकार्याणि**) पंच महायज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठानों को करना-कराना, (**शुश्रूषा**) परिजनों की सेवा-संभाल, (**उत्तमा रतिः**) रोग आदि रहित रति-सुख (**आत्मनः च पितॄणां स्वर्गः**) पति और उसके माता-

पिता आदि पितृजनों का सुखमय जीवन (**दारा+ अधीनः ह**) निश्चय से पत्नी के ही अधीन है, घर में पत्नी न हो तो उक्त सुख प्राप्त नहीं होते॥ २८॥

ऋषि अर्थ—''सन्तानोत्तपतित, धर्मकार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है, वह सब स्त्री के ही आधीन होता है।'' (सं०वि०, गृहाश्रम०)

अनुशीलन—'पितृणाम्' का यहां 'पिता-पितामह-प्रपितामह आदि वयोवृद्ध आदि व्यक्ति' यह अर्थ है। इस विषय पर विस्तृत समीक्षा २.१५१ [२.१७६] और ३.८२ पर देखिए।

पुत्र पर अधिकार के सम्बन्ध में आख्यान—

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत॥ ३१॥
(१६)

(**सद्भिः च पूर्वजैः महर्षिभिः**) श्रेष्ठ तथा प्राचीन महर्षियों ने (**पुत्रं प्रति**) पुत्र के विषय में जो (**विश्व-जन्यं पुण्यम् उदितम्**) सर्वजनहितकारी और पुण्य-दायक विचार कहा है (**इमम् उपन्यासं निबोधत**) उस 'शिक्षाप्रद विचार' को सुनो— ॥ ३१॥

पुत्र पर अधिकार-सम्बन्धी मतान्तर—

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि।
आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः॥ ३२॥
(१७)

विधान में (**'भर्तुः पुत्रम्' विजानन्ति**) 'स्त्री के पति का ही पुत्र होता है' ऐसा माना जाता है (**भर्तरि तु श्रुतिद्वैधम्**) किन्तु पति के विषय में ऋषियों के दो विचार हैं—(**केचित् उत्पादकम् आहुः**) कुछ लोग पुत्र उत्पन्न करने वाले का ही पुत्र पर कानूनी अधिकार है, यह कहते हैं (**अपरे क्षेत्रिणं विदुः**) दूसरे कुछ लोग क्षेत्र अर्थात् स्त्री के स्वामी को पुत्र का अधिकारी मानते हैं [चाहे उत्पादक कोई भी हो, जैसे दत्तक पुत्र, नियोगपुत्र आदि]॥ ३२॥

स्त्री-पुरुष की क्षेत्र और बीज रूप में तुलना—

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।
क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम्॥ ३३॥

(१८)

(**नारी क्षेत्रभूता स्मृता**) स्त्री को भूमि या खेत के तुल्य माना है और (**पुमान् बीजभूतः स्मृतः**) पुरुष को बीज के तुल्य माना है (**क्षेत्र-बीज-समायोगात्**) भूमि और बीज अर्थात् स्त्री और पुरुष के बीज मिलने से (**सर्वदेहिनां सम्भवः**) सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है॥ ३३॥

परस्त्री में पुत्रोत्पत्ति करने पर पुत्र पर स्त्री का या स्त्री-स्वामी का अधिकार—

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः।
ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित्॥ ४९॥

(१९)

[९.३३ की व्यवस्था के क्रम में सामान्यतः] (**ये+अक्षेत्रिणः बीजवन्तः**) जो क्षेत्ररहित हैं, किन्तु बीज वाले हैं (**परक्षेत्रप्रवापिणः**) तथा दूसरे के क्षेत्र में अर्थात् परस्त्री में बीज को बोते हैं=सन्तान उत्पन्न करते हैं (**ते**) वे निश्चय से (**क्वचित्**) कहीं भी (**जातस्य सस्यस्य फलं न लभन्ते**) दूसरे के क्षेत्र में उत्पन्न हुए अन्न की तरह सन्तान आदि के फल को नहीं प्राप्त करते अर्थात् उस सन्तान पर उस स्त्री के पति का अधिकार होता है, बीज बोने वाले का नहीं॥ ४९॥

पुत्र पर स्त्री या स्त्री-स्वामी के अधिकार के कारण—

फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा।
प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी॥ ५२॥

(२०)

क्योंकि (**क्षेत्रिणां तथा बीजिनाम्**) खेतवालों अर्थात् पर पुरुष से सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्रियों में और बीजवालों अर्थात् परक्षेत्र=परस्त्री में संतान उत्पन्न करने वाले पुरुषों में (**फलं तु अनभिसंधाय**) उससे होने वाली फल प्राप्ति के विषय में बिना कोई

पूर्व निश्चय हुए 'कि इस क्षेत्र में उत्पन्न होने वाला अन्न, सन्तान आदि फल किसका होगा' बीज-वपन करने पर यह व्यवस्था है कि (**प्रत्यक्षं क्षेत्रिणाम्+अर्थः**) वह फल स्पष्टरूप से क्षेत्रस्वामी का होता है; अर्थात् वह सन्तान स्त्री की ही होती है, क्योंकि (**बीजात् योनिः गरीयसी**) ऐसी स्थिति में बीज से योनि अर्थात् जन्मदात्री स्त्री बलवती होती है॥५२॥

समझौतापूर्वक पुत्रोत्पत्ति में पुत्र पर स्त्री-पुरुष दोनों का समानाधिकार—

क्रियाऽभ्युपगमात्त्वेतद् बीजार्थं यत्प्रदीयते।
तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च॥५३॥

(२१)

(**यत्**) परन्तु यदि (**क्रिया+अभ्युपगमात्**) परस्पर मिलकर यह समझौता करके कि इससे प्राप्त फल रूपी पुत्र 'अमुक का' या दोनों का होगा [जैसे कि नियोग में किया जाता है], इस समझौते के साथ (**एतत् बीजार्थं प्रदीयते**) जैसे खेत बीज बोने के लिये दिया जाता है ऐसे ही स्त्री यदि समझौते के साथ किसी के लिए सन्तान उत्पन्न करती है तो उस अवस्था में (**इह तस्य**) इस लोक में समझौते के अनुसार उसके (**बीजी च क्षेत्रिकः+एव भागिनौ दृष्टौ**) बीजवाला और खेतवाला दोनों ही पुत्ररूप फल के अधिकारी होते हैं॥५३॥

एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम्।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि॥५६॥

(२२)

(**एतत्**) [यह ९.३१-५३] (**बीजयोन्योः सार-फल्गुत्वम्**) बीज और योनि की प्रधानता और अप्रधानता (**वः प्रकीर्तितम्**) तुमसे मैंने कही। (**अतः परम्**) इसके बाद अब मैं (**आपदि योषितां धर्मम्**) आपत्काल में अर्थात् सन्तानाभाव में स्त्रियों के धर्म कर्त्तव्य को (**प्रवक्ष्यामि**) कहूँगा—॥५६॥

बड़ी भाभी को गुरु-पत्नी के समान, छोटी को पुत्रवधू के समान माने—

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या वा गुरुपत्न्यनुजस्य सा।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता॥५७॥

(२३)

(**ज्येष्ठस्य भ्रातुः या भार्या**) बड़े भाई की जो पत्नी होती है (**सा अनुजस्य गुरुपत्नी**) वह छोटे भाई के लिए गुरुपत्नी के समान होती है (**तु**) किन्तु) (**या यवीयसः भार्या**) जो छोटे भाई की पत्नी है (**सा ज्येष्ठस्य स्नुषा**) वह बड़े भाई के लिए पुत्रवधू के समान (**स्मृता**) कही गयी है, अर्थात् भाई को भाई की पत्नी में उक्त प्रकार की पवित्र भावना से पारस्परिक व्यवहार करना चाहिए॥५७॥

उनके साथ गमन में पाप—

ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान् वाग्रजस्त्रियम्।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि॥ ५८॥

(२४)

(**ज्येष्ठः यवीयसः भार्याम्**) बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री के साथ और (**यवीयान्+अग्रज-स्त्रियम्**) छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री के साथ (**अनापदि**) आपत्तिकाल [=सन्तानाभाव] के बिना (**नियुक्तौ+अपि गत्वा**) नियोग-विधिपूर्वक भी यदि संभोग करें तो वे (**पतितौ भवतः**) पतित=अपराधी माने गये हैं॥५८॥

सन्तानाभाव में नियोग से सन्तानप्राप्ति—

देवराद् वा सपिण्डाद् वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥ ५९॥

(२५)

(**सन्तानस्य परिक्षये**) पति से सन्तान न होने पर, सन्तानरहित अवस्था में पति की मृत्यु होने पर अथवा किसी भी कारण से सन्तान का अभाव होने पर (**सम्यक् नियुक्तया स्त्रिया**) परिजनों के द्वारा शास्त्रोक्त विधि से [परिवार और समाज में विवाहवत्

प्रसिद्धिपूर्वक] नियोग के लिए नियुक्त स्त्री को (**देवरात् वा सपिंडात् वा**) देवर=वर्णस्थ या अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष से अथवा पति की छः पीढ़ियों में पति के छोटे या बड़े भाई से (**ईप्सिता प्रजा अधि-गन्तव्या**) इच्छित सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिए अर्थात् जितनी सन्तान अभीष्ट हो उतनी प्राप्त कर ले॥ ५९॥

ऋषि अर्थ—''सपिंड अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई, अथवा स्वजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए; परन्तु जो वह मृतस्त्री-पुरुष और विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो तो नियोग होना उचित है और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो तब नियोग होवे।'' (स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—(१) नियोग की विधि—नियोग के लिए 'नियुक्त करना' या 'नियोग की विधि' से अभिप्राय यह है कि जैसे समाज और परिवार में प्रसिद्धिपूर्वक विवाह होता है, उसी प्रकार नियोग का निश्चय भी परिजनों द्वारा किया जाता है। उन्हीं के समक्ष पुत्र आदि प्राप्त करने के सम्बन्ध में निश्चय होते हैं। उस निश्चय के अनुसार चलना 'विधि' है और अन्यथा चलना 'विधि का त्याग' है।

(२) देवर शब्द का अर्थ—मनुस्मृति या वैदिक साहित्य में देवर शब्द का प्रचलित—'पति का छोटा भाई' अर्थ न होकर विस्तृत अर्थ है। निरुक्त में 'देवर' शब्द की निरुक्ति निम्न दी है—

''**देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते॥**'' (३.१५)

अर्थात्—''देवर उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है, चाहे छोटा भाई वा बड़ा भाई अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो। जिससे नियोग करे, उसी का नाम देवर है।''

आजकल यह केवल पति के छोटे भाई के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस रूढ़ि का कारण कदाचित् यह है कि स्त्री के विधवा हो जाने पर अधिकतर मृत-पति के छोटे भाई से ही उसका सम्बन्ध कर दिया जाता है। यह

नियोगविधि का ही एक परिवर्तित रूप है। वर्तमान की इस परम्परा से प्राचीन काल में नियोगप्रथा के अस्तित्व के संकेत मिलते हैं।

(३) वेदों में नियोग का विधान—

(क) **उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥**

ऋ० १०.१८.८॥

अर्थ—"(**नारि**) विधवे तू (**एतं गतासुम्**) इस मरे हुए पति की आशा छोड़ के बाकी पुरुषों में से (**अभि जीवलोकम्**) जीते हुए दूसरे पति को (**उपैहि**) प्राप्त हो, और (**उदीर्ष्व**) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (**हस्ताग्राभस्य दिधिषोः**) तुझ विधवा के पुनः पाणिग्रहण करने वाले नियुक्त पति के सम्बन्ध के लिए नियोग होगा तो (**इदम्**) यह (**जनित्वम्**) जना हुआ बालक उसी नियुक्त (**पत्युः**) पति का होगा और जो तू अपने लिये नियोग करेगी तो यह सन्तान (**तव**) तेरा होगा। ऐसे निश्चययुक्त (**अभि सम्बभूथ**) हो और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे।" (स०प्र० चतुर्थ समु०)

(ख) (प्रश्न) नियोग मरे पीछे ही होता है वा जीते पति के भी?

(उत्तर) जीते भी होता है—

"**अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्।**"

(ऋ० १०.१०.१०)

जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे सुभगे! सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री तू (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर क्योंकि अब मुझ से सन्तानोत्पत्ति की आशा मत कर। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे परन्तु उस विवाहित महाशय पति की सेवा में तत्पर रहे। वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपने पति को आज्ञा देवे की हे स्वामी! आप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा मुझसे छोड़ के किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिए।

जैसे कि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री ने किया और जैसा व्यास जी ने चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य

के मरजाने के पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की। इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण हैं।'' (स०प्र०, समु० ४)

नियोग से पुत्र-प्राप्ति के बाद शरीर-सम्बन्ध अपराध है—

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम्॥ ६२॥
(२६)

(**यथाविधि**) विधि अनुसार (**विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु**) विधवा में नियोग का उद्देश्य पूर्ण हो जाने के बाद (**गुरुवत् च स्नुषावत् च परस्परं वर्तेयाताम्**) बड़े भाई तथा छोटे भाई की स्त्री से क्रमशः गुरुपत्नी तथा पुत्रवधू के समान [९.५७] परस्पर बर्ताव करें॥ ६२॥

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषाग-गुरुतल्पगौ॥ ६३॥
(२७)

(**नियुक्तौ यौ**) नियोग के लिए नियुक्त बड़ा या छोटा भाई यदि (**विधिं हित्वा**) नियोग की विधि=व्यवस्था [समाज या परिवार में किये गये पूर्व निश्चयों] को छोड़कर (**कामतः वर्तेयाताम्**) काम के वशीभूत होकर संभोगादि करें (**तु**) तो (**तौ+उभौ**) वे दोनों (**स्नुषाग-गुरुतल्पगौ पतितौ स्याताम्**) पुत्रवधूगमन और गुरुपत्नीगमन दोष के अपराधी माने जायेंगे [९.५८]॥ ६३॥

सगाई के बाद पति की मृत्यु होने पर अन्य विवाह का विधान—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥ ६९॥ (२८)

(**वाचा सत्ये कृते**) वाग्दान=सगाई निश्चित करने के बाद [और विवाह से पूर्व] (**यस्याः कन्यायाः पतिः म्रियेत**) जिस कन्या का पति मर जाये (**ताम्**) उस कन्या को (**निजः देवरः**) पति का छोटा

भाई अथवा दूसरा पति (**अनेन विधानेन विन्देत**) पूर्ववर्णित विवाह के विधान के अनुसार [३.२७-३०] प्राप्त कर ले॥ ६९॥

अनुशीलन—श्लोक की मौलिकता का आधार—यह श्लोक संकेतित [९.५६, १०३] विषय से सम्बद्ध है। विषयानुसार इसमें स्त्री का आपत्कालीन कर्त्तव्य विहित किया है। इस विधान की पुष्टि ९.१७६ श्लोक से भी होती है, उसमें पुनर्विवाह का स्पष्ट विधान है (देवर शब्द का अर्थ ९.५९ की समीक्षा में द्रष्टव्य है)।

स्त्री को जीविका देकर पुरुष प्रवास में जाये—

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत् कार्यवान्नरः।
अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत् स्थितिमत्यपि॥ ७४॥
(२९)

(**कार्यवान् नरः**) किसी आवश्यक कार्य के लिए परदेश में जाने वाला मनुष्य (**भार्यायाः वृत्तिं विधाय प्रवसेत्**) अपनी पत्नी के भरण-पोषण की जीविका का प्रबन्ध करके परदेश में जाये (**हि**) क्योंकि (**अवृत्तिकर्षिता स्थितिमती+अपि स्त्री**) जीविका के अभाव से पीड़ित होकर शुद्ध आचरण वाली स्त्री भी (**प्रदुष्येत्**) दूषित= पथभ्रष्ट हो सकती है॥ ७४॥

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः॥ ७५॥
(३०)

(**वृत्तिं विधाय प्रोषिते**) जीविका का प्रबन्ध करके पति के परदेश जाने पर (**नियमम्+आस्थिता जीवेत्**) पत्नी अपने पातिव्रत्य नियमों का पालन करती हुई जीवनयात्रा चलाये (**अविधाय+एव तु प्रोषिते**) यदि किसी आपात् स्थिति में पति बिना जीविका का प्रबन्ध किये परदेश चला जाये तो (**अगर्हितैः शिल्पैः जीवेत्**) अनिन्दित शिल्पकार्यों [सिलाई करना, बुनना, कातना आदि] को करके अपनी जीवनयात्रा चलाये॥ ७५॥

पति की प्रतीक्षा की अवधि और उसके पश्चात् नियोग अथवा पुनर्विवाह—

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान्॥
७६॥(३१)

पत्नी (**धर्मकार्यार्थं प्रोषितः नरः**) किसी धर्मसम्बन्धी कार्य के लिए परदेश गये हुए पति की (**अष्टौ समाः प्रतीक्ष्यः**) आठ वर्ष तक आने की प्रतीक्षा करे, (**विद्यार्थं षट्**) विद्या प्राप्ति के लिए गये हुए की छह वर्ष तक आने की प्रतीक्षा करे, (**वा यशः+अर्थम्**) और यश प्राप्ति के लिये गये हुए की भी छह वर्ष तक आने की प्रतीक्षा करे, (**कामार्थं तु त्रीन् वत्सरान्**) धनप्राप्ति आदि कामनाओं की प्राप्ति के लिए परदेश गये हुए पति की तीन वर्ष तक आने की प्रतीक्षा करे, [इसके पश्चात् पुनर्विवाह कर ले। अर्थान्तर में, २. इसके पश्चात नियोग से सन्तानोत्पत्ति कर ले, अथवा ३. इसके पश्चात् पत्नी पति के पास चली जाये]॥७६॥

ऋषि अर्थ—''विवाहित स्त्री जो विवाहित पति धर्म के लिए परदेश गया हो तो आठ वर्ष तक विद्या और कीर्ति के लिए गया हो तो छह वर्ष (कामार्थं त्रीन् तु वत्सरान्) धनादि कामना के लिए गया हो तो तीन वर्ष तक बाट देखके पश्चात् नियोग करके सन्तोत्पत्ति कर ले। जब विवाहित पति आवे तब नियुक्त पति छूटजावे।'' (स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—अर्थान्तरों का विश्लेषण—उक्त श्लोक में प्रतीक्षा करने की अवधि पूरी होने के बाद पत्नी क्या करे, इसका उत्तर नहीं दिया है, अतः टीकाकारों ने अपने-अपने विवेक से उत्तर दिया है—१. मेधातिथि, कुल्लूक भट्ट आदि टीकाकारों ने अर्थ की कल्पना की है कि 'वर्णित अवधि के पश्चात् स्त्री स्वयं पति के पास चली जाये।' यह अर्थकल्पना नितांत अव्यावहारिक है। यदि साथ जाने की परिस्थिति होती तो पति पहले ही उसे अपने साथ ले जाता। साथ ले जाने की परिस्थिति नहीं थी, इसी कारण तो वह घर पर छोड़कर जा रहा है। विद्या

प्राप्ति के समय विद्यालय में वह पत्नी को कहां रखेगा? व्यापार आदि के लिए वह कहां गया है, यह ज्ञान होना भी संभव नहीं है। धर्म प्रचार के लिए उसे कहां-कहां लेकर घूमेगा? कहां पति मिलेगा और पत्नी को उस परदेस में कौन छोड़कर आयेगा? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर नहीं बनता, अतः यह अर्थ कल्पना व्यावहारिक और ग्राह्य नहीं है।

२. नियोग की अर्थकल्पना मनुसम्मत होने से स्वीकार्य हो सकती है किन्तु उसके लिए पति की भी अनुमति आवश्यक होती है। परदेस गये पति का जब अता-पता ही नहीं है तो वह अनुमति प्राप्त नहीं हो सकेगी।

३. इस भाष्य में किया अर्थ ही अधिक व्यावहारिक है, और यहां पूर्वापर प्रसंग भी विशेष अवस्थाओं में पति-पत्नी के त्याग का है।

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः।
ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत्॥ ७७॥
(३२)

(**पतिः द्विषन्तीं योषितं**) पति अपने से द्वेष करने वाली पत्नी की (**संवत्सरं प्रतीक्षेत**) एक वर्ष तक [सुधरने की] प्रतीक्षा करे (**संवत्सरात् ऊर्ध्वं तु+एनाम्**) एक वर्ष तक न सुधरे तो उसके पश्चात् इसको (**दायं हृत्वा**) अपने दिये धन, आभूषण आदि वापस लेकर (**न संवसेत्**) उसे अपने पास न रखे अर्थात् त्याग दे॥ ७७॥

अतिक्रामेत् प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा।
सा त्रीन्मासान् परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा॥ ७८॥
(३३)

(**या**) जो पत्नी (**प्रमत्तं मत्तं वा रोगार्तम्+एव अतिक्रामेत्**) प्रमाद से कोई हानि होने पर, विक्षिप्त अथवा रोगपीड़ित होने पर अपने पति की अवहेलना करे (**सा**) उसे (**विभूषणपरिच्छदा**) अपने दिये आभूषण, वस्त्र आदि लेकर (**त्रीन् मासान् परित्याज्या**) तीन मास तक छोड़ देवे॥ ७८॥

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम्।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम्॥
७९॥(३४)

(**उन्मत्तं पतितं क्लीबम्+अबीजं पापरोगिणं द्विषन्त्याः**) स्थायी पागल, अपराध के कारण पतित, नपुंसक, निर्बीज वीर्य वाले, पापरोगी=घृणित असाध्य रोग से पीड़ित पति की उपेक्षा करने वाली पत्नी को (**त्यागः न अस्ति**) नहीं छोड़ा जा सकता (**च**) और (**न दाय+अपवर्तनम्**) न उससे दिया हुआ धन आदि छीना जा सकता है॥ ७९॥

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्।
व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या हिंस्रार्थघ्नी च सर्वथा॥
८०॥(३५)

(**या**) जो पत्नी (**मद्यपा**) शराब पीने वाली, (**असाधुवृत्ता**) दुराचरण वाली, (**प्रतिकूला**) पति के प्रतिकूल आचरण करने वाली, (**व्याधिता**) संक्रामक स्थायी व्याधिग्रस्त, (**हिंस्रा**) पति आदि को मारने वाली, (**च**) और (**सर्वदा अर्थघ्नी**) सदा धन को नष्ट करने वाली (**भवेत्**) हो तो (**अधिवेत्तव्या**) उसे छोड़कर दूसरा विवाह कर लेना चाहिए॥ ८०॥

पुरुष दूसरी स्त्री से सन्तानप्राप्ति करे—

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥ ८१॥
(३६)

(**वन्ध्या+अष्टमे अब्दे**) यदि पत्नी वन्ध्या हो तो आठवें वर्ष में, (**मृतप्रजाः तु दशमे**) यदि मृत सन्तान उत्पन्न होती है अथवा हो कर मर जाती हो तो दसवें वर्ष में, (**स्त्रीजननी एकादशे**) केवल कन्याएं ही उत्पन्न होती हों तो ग्यारहवें वर्ष में, (**अप्रियवादिनी तु सद्यः**) यदि अप्रिय बोलने वाली हो तो यथाशीघ्र उसे त्यागकर (**अधिवेद्या**) पति दूसरा विवाह कर ले। [पहली पत्नी का साथ रहना-न रहना दोनों की सहमति पर निर्भर है]॥ ८१॥

ऋषि अर्थ—''वंध्या हो तो आठवें, सन्तान होकर मर जायें तो दशवें, जब-जब हो तब-तब कन्या ही होवें, पुत्र न हो तो ग्यारहवें वर्ष तक, और जो अप्रिय बोलने वाली हो तो सद्यः उस स्त्री को छोड़कर दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवे।''

(स०प्र०, चतुर्थ समु०)

या रोगिणी स्यात्तु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः।
सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित्॥८२॥
(३७)

(**या रोगिणी स्यात्**) जो स्त्री स्थायी रोगिणी हो (**तु**) किन्तु (**हिता च शीलतः सम्पन्नाः**) पति की हितैषिणी और सुशील आचरण वाली हो (**सा+ अनुज्ञाप्य+अधिवेत्तव्या**) पति उससे अनुमति लेकर दूसरा विवाह कर ले (च) और (**कर्हिचित् न+ अवमान्या**) उसकी कभी अवमानना न करे॥८२॥

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात्।
सा सद्यः संनिरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ॥
८३॥(३८)

(**अधिविन्ना तु या नारी**) [पूर्ववर्णित ९.८०-८१ अवस्था में] दूसरा विवाह करने पर जो स्त्री (**रुषिता गृहात् निर्गच्छेत्**) क्रोध में आकर घर से निकल जाये (**सा सद्यः संनिरोद्धव्या**) उसको तुरन्त रोककर रखे (**वा**) अथवा (**कुलसन्निधौ त्याज्या**) उसके परिवार वालों के पास छोड़ आये॥८३॥

प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि।
प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट्॥
८४॥(३९)

(**या तु**) जो स्त्री (**प्रतिषिद्धा+अपि**) पति के द्वारा निषेध करने पर भी (**अभ्युदयेषु मद्यम् अपि**) प्रसन्नता के आयोजनों, उत्सवों में मद्यपान करे (**वा**) अथवा (**प्रेक्षासमाजं गच्छेत्**) सार्वजनिक नाचने-गाने आदि की जगह जाये (**सा षट् कृष्णलानि दण्ड्या**) उसे छह कृष्णल [८.१३४] सुवर्ण से राजा दण्डित

करे ॥ ८४ ॥

उत्तम वर मिलने पर कन्या का विवाह शीघ्र कर दें—

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ ८८ ॥

(४०)

(**उत्कृष्टाय-अभिरूपाय च सदृशाय वराय**) यदि कुल-आचार आदि की दृष्टि से उत्तम, सुन्दर और कन्या के योग्य गुण वाला वर मिल गया हो तो (**तस्मै**) उसको (**अप्राप्ताम्+अपि तां कन्याम्**) विवाह योग्य सोलह वर्ष की अवस्था पूर्ण होने में यदि कुछ कमी भी हो तो उस कन्या को (**यथाविधि दद्यात्**) विवाह विधि के अनुसार विवाहित कर दे। [यह केवल अपवाद विधि है ९.८९ के संदर्भ में] ॥ ८८ ॥

ऋषि अर्थ—''यदि माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो अति उत्कृष्ट, शुभगुण, कर्म, स्वभाव वाले कन्या के सदृश रूप-लावण्य आदि गुणयुक्त वर ही को चाहे वह कन्या माता की छह पीढ़ी के भीतर भी हो तथापि उसी को कन्या देना, अन्य को न देना कि जिससे दोनों अति प्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों की उत्पत्ति करें।''

(सं०वि०, विवाहप्रकरण)

अनुशीलन—**स्त्रियों के विवाह की आयु**—वेदों, आयुर्वेद शास्त्र और मनुस्मृति के उल्लेखों से हमें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कन्या के विवाह की न्यूनतम आयु सोलहवां वर्ष है। शरीर विज्ञान भी यह मानता है कि उससे पूर्व कन्या के अंगों और शरीर का विवाहयोग्य समुचित विकास नहीं होता। ९.९० में ऋतुमती होने के बाद तीन वर्ष पश्चात् विवाह का निर्देश है। गृहस्थ में ऋतुमती से ही सम्बन्ध का विधान है, अत: विवाह की आयु सोलह वर्ष निर्धारित है। आयुर्वेद के ग्रन्थ 'सुश्रुत' में ''**पंचविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे**'' (सूत्रस्थान ३५.१०) श्लोक में कन्या के विवाह की आयु सोलहवां वर्ष बताई है। अथर्ववेद में ''**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**'' (११.५.५) मन्त्र में युवावस्था में विवाह का

आदेश है। इससे कम आयु में विवाह का उल्लेख शास्त्रविरुद्ध, अवैज्ञानिक, मनुविरुद्ध और विकृत परम्पराजन्य है। अतः सोलह वर्ष से कम और ऋतुमती होने से पूर्व कन्या के विवाह की आयु लिखने वाले टीकाकारों का अर्थ मनुस्मृति की व्यवस्था के विरुद्ध और अशुद्ध है। (विस्तृत विवरण भूमिका के तृतीय अध्याय में 'स्त्रियों के विवाह की आयु' शीर्षक में द्रष्टव्य है)।

गुणहीन पुरुष से विवाह न करें—

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ ८९॥

(४१)

(**कामम्**) भले ही (**कन्या**) कन्या (**आमरणात्**) मरणपर्यन्त (**गृहे**) पिता के घर में (**तिष्ठेत्**) बिना विवाह के बैठी भी रहे (**तु**) परन्तु (**गुणहीनाय**) गुणहीन पुरुष के साथ (**एनां कर्हिचित् न प्रयच्छेत्**) अपनी कन्या का विवाह कभी न करे॥ ८९॥

ऋषि अर्थ—"चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुमार रहें परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध-गुण-कर्म स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिए।"

(स० प्र०, समु० ४)

कन्या स्वयंवर विवाह करे—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम्॥ ९०॥

(४२)

(**कुमारी**) कन्या (**ऋतुमती सती**) रजस्वला हो जाने पर (**एतस्मात् कालात्+ऊर्ध्वम्**) इस समय के बाद (**त्रीणि वर्षाणि+उदीक्षेत**) तीन वर्षों तक विवाह की प्रतीक्षा करे, तदनन्तर (**सदृशं पतिं विन्देत**) अपने योग्य पति का वरण करे॥ ९०॥[1]

---

१. **प्रचलित अर्थ**—कुल तथा आचार में श्रेष्ठ, सुन्दर और योग्य वर मिल जाये तो कन्या की आयु विवाह योग्य आठ वर्ष न होने पर भी उस कन्या को ब्राह्म विधि से विवाहित कर दें। (मेधातिथि, कुल्लूक भट्ट आदि ने यही अशुद्ध अर्थ किया है)॥ ९०॥

ऋषि अर्थ—''जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे तब रजस्वला होने के दिन से तीन वर्ष छोड़ के चौथे वर्ष में विवाह करें।'' (सं०वि० विवाहप्रकरण) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ४; पूना प्रवचन पृ० २१)

अनुशीलन—कन्या के विवाह की आयु—इस श्लोक में कन्या के विवाह की आयु का स्पष्ट निर्धारण है जो न्यूनतम सोलह वर्ष है। कन्या का ऋतुमती होना और तीन वर्ष प्रतीक्षा करना, विवाह की आयु का मानदण्ड है। कन्या सामान्यतः १२-१४ वर्ष की आयु में ऋतुमती होती है, तीन वर्ष प्रतीक्षा करने पर उसकी आयु १६-१७ वर्ष की हो जाती है। यही विवाह की न्यूनतम आयु है। मनुस्मृति में विवाह की आयु के निर्धारक तत्व अन्य भी हैं।

मनुस्मृति में, विवाह प्रसंग में स्पष्ट आदेश है कि केवल ऋतुकाल के पश्चात् ही पति शरीर-सम्बन्ध स्थापित करे [३.४५-५०; ४.१२८]। इस विधान से स्पष्ट संकेत मिलता है कि कन्या के ऋतुमती होने से पूर्व उसका विवाह नहीं होना चाहिए। (इस विषयक अन्य जानकारी भूमिका के अध्याय तीन में 'स्त्रियों के विवाह की आयु' शीर्षक में द्रष्टव्य है)।

स्वयंवर विवाह में दोष नहीं—

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम्।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति॥ ९१॥
(४३)

(**अदीयमाना**) पिता आदि अभिभावक के द्वारा विवाह न करने पर (**यदि स्वयं भर्तारम्+अधिगच्छेत्**) जो कन्या यदि स्वयं पति का वरण कर ले तो (**किंचित् एनः न अवाप्नोति**) वह कन्या किसी पाप-अपराध की भागी नहीं होती (**च**) और (**न सा यम् अधिगच्छति**) न उसे कोई पाप=दोष या अपराध होता है जिस पति को यह वरण करती है॥ ९१॥

स्त्री पुरुष की अर्द्धांगिनी—

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः।
तस्मात् साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः॥ ९६॥
(४४)

(**प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः**) गर्भधारण करके सन्तानों की उत्पत्ति करने के लिए स्त्रियों की रचना हुई है (**च**) और (**सन्तानार्थं मानवाः**) गर्भाधान करने के लिए पुरुषों की रचना हुई है [दोनों एक दूसरे के पूरक होने के कारण] (**तस्मात्**) इसलिए (**श्रुतौ**) वेदों में (**साधारणः धर्मः**) साथ मिलकर विहित साधारण अनुष्ठान और पंचयज्ञ आदि धर्मकार्य के अनुष्ठान के (**पत्न्या सह+उदितः**) पत्नी के साथ करने का विधान किया है ॥ ९६ ॥

अनुशीलन—प्रत्येक धर्मकार्य पत्नी को सहभागिनी बनाकर करें—मनु ने इस श्लोक में पत्नी को पुरुष की पूरक और अर्धांगिनी का रूप माना है, और प्रत्येक धर्म कार्य उसके साथ हुए बिना पूर्ण नहीं माना गया है। समस्त प्राचीन साहित्य में पत्नी की यही मान्य स्थिति रही है। जब पत्नी को पुरुष का अर्धभाग रूप ही मान लिया तो दोनों की स्थिति समान है, उसमें कोई पक्षपात की भावना नहीं है। मनु ने उक्त श्लोक में जो प्रत्येक धर्मानुष्ठान पति-पत्नी द्वारा साथ मिलकर करने का निर्देश दिया है वही परम्परा संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मिलती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्पष्ट शब्दों में पत्नी के बिना किये यज्ञ की अपूर्णता मानी है—

(क) ''**अयज्ञियो वैष योऽपत्नीकः**'' (३.३.३.१)= पत्नी के बिना पति द्वारा आयोजित यज्ञ पूर्ण नहीं होता अतः पत्नी के साथ यज्ञ करना चाहिए।

(ख) ''**यद्वै पत्नी यज्ञे करोति तत् मिथुनम्**'' (तैत्तिरीय संहिता ६.२.१.१)='पत्नी जो यज्ञानुष्ठान आदि करती है वह पति-पत्नी दोनों का कार्य है।

(ग) ''**अर्धात्मा वा एष यजमानस्य यत् पत्नी**'' (जैमिनीय ब्राह्मण १.८६)=यज्ञानुष्ठान करने वाले यजमान की पत्नी उसका आधाभाग और उसकी आत्मा है, अर्थात् उसके बिना यज्ञ की पूर्णता नहीं होती।

(घ) ''**जघनार्धो वा एष यज्ञस्य यत्पत्नी**'' (शतपथ ब्राह्मण १.३.१.१२)=यज्ञरूपी शरीर का आधाभाग पति है और आधाभाग पत्नी है।

(ङ) ''**अर्धो वा ह वा एष आत्मनो यज्जाया, तस्माद् यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति, अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते, तर्हि हि सर्वो भवति।**''

(शत० ५.२.१.१०)

(च) ''**अथो अर्धो वा एष आत्मनः यत्पत्नी**''

(तैत्ति० ३.३.५)

पति-पत्नी पारस्परिक मर्यादा का अतिक्रमण न करें—

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥ १०१॥
(४५)

(**आमरणान्तिकः**) मरणपर्यन्त (**अन्योन्यस्य +अव्यभिचारः भवेत्**) पति-पत्नी में परस्पर किसी भी प्रकार की मर्यादा का उल्लंघन न होने पाये (**स्त्री-पुंसयोः**) पति-पत्नी का (**समासेन**) संक्षेप में (**एषः परः धर्मः ज्ञेयः**) यही साररूप मुख्य धर्म है॥ १०१॥

पति-पत्नी बिछुड़ने के अवसर न आने दें—

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम्॥ १०२॥
(४६)

(**कृतक्रियौ स्त्रीपुंसौ**) विवाहित स्त्री-पुरुष (**यथा**) जिस प्रकार से कि (**तौ**) वे (**इतरेतरम्**) एक-दूसरे से (**वियुक्तौ न+अभिचरेताम्**) मतभेद न हो और अगल न हों=वैवाहिक सम्बन्धविच्छेद न हो पाये (**तथा नित्यं यतेयाताम्**) वैसा उपाय करने का सदा प्रयत्न रखें॥ १०२॥

(१७) दायभाग विवाद-वर्णन

[९.१०३-२१९]

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत॥ १०३॥
(४७)

(**एषः**) यह [९.१ से १०२ पर्यन्त] (**स्त्री-पुंसयोः**) स्त्री-पुरुष के (**रति-संहितः धर्मः**) रति=

स्नेह या संयोग सहित [वियोगकाल के भी] धर्म (**च**) और (**आपदि+अपत्यप्राप्तिः**) आपत्काल में नियोग-विधि से सन्तान-प्राप्ति [९.५६-६३] की बात (**वः उक्तः**) तुमसे कही। (**दायभागं निबोधत**) अब दायभाग का विधान सुनो— ॥ १०३ ॥

अलग होते समय दायभाग का बराबर विभाजन—

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्।
भजेरन् पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥
(४८)

(**पितुः च मातुः ऊर्ध्वम्**) पिता और माता के मरने के पश्चात् (**भ्रातरः समेत्य**) सब भाई एकत्रित होकर (**पैतृकं रिक्थं समं भजेरन्**) पैतृक सम्पत्ति को बराबर-बराबर बांट लें (**जीवतोः ते हि अनीशाः**) माता-पिता के जीवित रहते हुए वे उनके धन के स्वामी नहीं हो सकते हैं ॥ १०४ ॥

सम्मिलित रहने पर विभाजन का दूसरा विकल्प—

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ १०५ ॥ (४९)

[अथवा सम्मिलित रूप में रहना हो तो] (**पित्र्यं धनम्+अशेषतः ज्येष्ठः एव तु गृह्णीयात्**) पिता के सारे धन को बड़ा पुत्र ही ग्रहण कर ले (**शेषाः**) और बाकी सब भाई (**यथा+एव पितरम्**) जैसे पिता के साथ रहते थे (**तथा तम्+उपजीवेयुः**) उसी प्रकार बड़े भाई के साथ रहकर जीवन चलावें ॥ १०५ ॥

अनुशीलन—यहां पहले पिता के धन का विभाजन वर्णित किया है। मातृधन का विधान १९२ में है।

बड़े भाई का छोटों के प्रति कर्त्तव्य—

पितेव पालयेत् पुत्रान्-ज्येष्ठो भ्रातॄन् यवीयसः।
पुत्रवच्चापि वर्तेरन्-ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ १०८ ॥
(५०)

[ज्येष्ठ पुत्र के साथ ९.१०५ के अनुसार सम्मिलित रहते हुए] (**ज्येष्ठः**) बड़ा भाई (**यवीयसः भ्रातॄन्**) अपने छोटे भाइयों को (**पिता+इव पुत्रान्**)

जैसे पिता अपने पुत्रों का पालन-पोषण करता है ऐसे (**पालयेत्**) पाले (**च**) और (**ज्येष्ठे भ्रातरि**) छोटे भाई बड़े भाई में (**धर्मतः**) धर्म से=कर्त्तव्य के अनुसार (**पुत्रवत्+अपि वर्तेरन्**) पुत्र के अनुसार बर्ताव करें अर्थात् उसे पिता के समान मानें॥ १०८॥

छोटों का बड़े भाई के प्रति कर्त्तव्य—

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः।
अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात् सः सम्पूज्यस्तु बन्धुवत्॥ ११०॥(५१)

किन्तु (**यः ज्येष्ठः**) जो बड़ा भाई (**ज्येष्ठवृत्तिः स्यात्**) बड़ों अर्थात् पिता आदि के समान छोटे भाइयों का पालन-पोषण करने वाला हो तो (**सः पिता+इव, सः माता+इव संपूज्यः**) वह पिता और माता के समान माननीय है (**यः तु**) और जो (**अज्येष्ठवृत्तिः स्यात्**) बड़ों अर्थात् पिता आदि के समान पालन-पोषण करने वाला न हो तो (**सः तु बन्धुवत्**) वह केवल भाई या मित्र की तरह ही मानने योग्य होता है॥ ११०॥

एवं सह वसेयुर्वा पृथग् वा धर्मकाम्यया।
पृथग् विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रिया॥ १११॥(५२)

(**एवम्**) इस प्रकार (**सह वसेयुः**) सब भाई साथ मिलकर [८.१०५, १०८, ११०] रहें (**वा**) अथवा (**धर्म-काम्यया**) गृहस्थ धर्म के पालन की कामना से (**पृथक्**) अलग-अलग [९.१०४] रहें। (**पृथक् धर्मः विवर्धते**) क्योंकि पृथक-पृथक् रहने से धर्म का [सबके द्वारा अलग-अलग पञ्चमहायज्ञ आदि करने के कारण] विस्तार होता है (**तस्मात्**) इस कारण (**पृथक् क्रिया धर्म्या**) पृथक् रहना भी धर्मानुकूल है॥ १११॥

इकट्ठे रहकर अलग होने पर 'उद्धार' अंश का विभाजन—

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्।
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः॥ ११२॥(५३)

[सम्मिलित रहते हुए अगर बड़े भाई छोटों का पालन-पोषण करें तो उसके बाद अलग होते हुए] (**ज्येष्ठस्य विंशः उद्धारः**) पिता के धन में से बड़े भाई का बीसवां भाग 'उद्धार' [=अतिरिक्त भागविशेष होता है] (**च**) और (**सर्वद्रव्यात् यत् वरम्**) सब पदार्थों में से जो सबसे श्रेष्ठ पदार्थ हो वह भी (**ततः+अर्धम्**) बड़े के 'उद्धार' से आधा उद्धार (**मध्यमस्य**) मझले भाई का अर्थात् चालीसवां भाग (**तुरीयं तु यवीयसः स्यात्**) चौथाई भाग अर्थात् अस्सीवां भाग सबसे छोटे भाई का 'उद्धार' होना चाहिए॥ ११२॥

अनुशीलन—(१) **उद्धार-भाग का विभाजन**—'उद्धार' पैतृक सम्पत्ति में से पृथक् किये गये उस भाग को कहते हैं जिसका लाभ बड़े भाइयों को मिलता है, १०५-१११ श्लोकों की अनुवृत्ति के अनुसार यह 'उद्धार' तभी मिल सकता है जब बड़े भाई छोटे भाइयों का पितृवत् पालन-पोषण करके बड़ा करें।

समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—मान लिया कि पैतृक सम्पत्ति ९६० रुपये है। उसमें बड़े भाई का बीसवां भाग (९६०÷२०=४८) ४८ रु० 'उद्धार' निकलेगा, मझले भाई का चालीसवां भाग (९६०÷४०= २४) २४ रु० होगा, छोटे भाई का अस्सी वां भाग (९६०÷८० =१२) १२ रु० 'उद्धार' होगा। 'उद्धार' का 'धन' बंटने के बाद शेष धन को सभी भाई बराबर बांट लेंगे, यथा—४८+२४+१२=८४, ९६०—८४=८७६, ८७६÷३=२९२, इस प्रकार २९२, २९२ रु० प्रत्येक भाई के हिस्से में आये। इस विधि से बड़े भाई को २९२+४८=३४० रु०, उसमें मझले भाई को २९२+२४=३१६ रु० छोटे भाई को २९२+१२=३०४ रु० प्राप्त हुए।

(२) **उद्धार-भाग का विधान क्यों?**—९.१०४ में पैतृक सम्पत्ति का समान विभाजन बतलाया है। इस श्लोक में उद्धार अंश के विभाजन के बाद समान-भाग का विभाजन है। यह विरोध प्रतीत होता है, किन्तु विरोध है नहीं। यह वर्णन विभाजन के तृतीय विकल्प [१०५] के प्रसंगान्तर्गत है। यह तभी प्राप्त होता है जब बड़े भाई

अपने से छोटों का पालन-पोषण करें। सम्मिलित रहते हुए पिता के समान छोटों के निर्माण में श्रम करें। इसी श्रम के परिणामस्वरूप बड़े को अलग होते समय यह अधिक भाग मिलता है क्योंकि उसने छोटों की अपेक्षा अधिक कष्ट उठाये होते हैं।

एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान् प्रकल्पयेत्।
उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना॥ ११६॥
(५४)

(**एवम् समुद्धृत+उद्धारे**) इस प्रकार [९.११२ के अनुसार] 'उद्धार' [=अतिरिक्त धनविशेष] के निकालने के बाद (**समान्-अंशान् प्रकल्पयेत्**) शेष धन को समान भागों में बांट लें (**तु उद्धारे+अनुद्धृते**) यदि 'उद्धार' पृथक् से नहीं निकालें तो (**एषाम् अंशकल्पना इयं स्यात्**) उन भाइयों के भाग का बंटवारा इस प्रकार करे॥ ११६॥

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः॥ ११७॥
(५५)

(**ज्येष्ठः पुत्रः एक-अधिकं हरेत्**) बड़ा पुत्र अथवा बड़ा भाई 'एक अधिक' अर्थात् दो भाग धन ग्रहण करे (**तत्+अनुजः पुत्रः अध्यर्धम्**) उससे छोटा भाई अर्थात् डेढ़ भाग ले (**यवीयांसः अंशम्+अशंम्**) छोटे भाई एक-एक भाग सम्पत्ति का ग्रहण करें (**इति धर्मः व्यवस्थितः**) यही दायभाग विभाजन के धर्म की व्यवस्था है॥ ११७॥

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः॥ ११८॥
(५६)

(**भ्रातरः**) सब भाई (**कन्याभ्यः**) अविवाहित बहनों के लिए पृथक् (**चतुर्भागम्**) पृथक्-पृथक् चतुर्थांश भाग (**स्वेभ्यः प्रदद्युः**) अपने भागों से देवें (**स्वात् स्वात्+अंशात् अदित्सवः**) अपने-अपने भाग से चतुर्थांश भाग न देने वाले भाई (**पतिताः स्युः**)

पतित=दोषी और निन्दनीय माने जायेंगे॥ ११८॥

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत्।
अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते॥ ११९॥

(५७)

(**अजा+अविकं स+एकशफं विषमम्**) बकरी, भेड़, एक खुरवाली घोड़ी आदि पशुओं के विषम होने पर (**न जातु भजेत्**) उन्हें [बेचकर धनराशि के रूप में] विभाजित न करें (**विषमम् अजाविकं तु**) विषम रूप में बचे बकरी-भेड़ आदि पशु (**ज्येष्ठस्य+एव विधीयते**) बड़े भाई को ही प्राप्त होते हैं॥ ११९॥

नियोग से उत्पन्न सन्तानों की पत्नियों के अनुसार दाय-व्यवस्था—

यवीयान्-ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि।
समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥ १२०॥

(५८)

(**यदि यवीयान्**) यदि छोटा भाई (**ज्येष्ठ-भार्यायां पुत्रम्+उत्पादयेत्**) बड़े भाई की स्त्री में 'नियोग' [९.५८-६२] से पुत्र उत्पन्न करे तो (**तत्र**) उस स्थिति में (**समः विभागः स्यात्**) उस पुत्र को अपने चाचा आदि के समान पिता का भाग प्राप्त होगा अर्थात् वह अपने असली पिता के सम्पूर्ण भाग का अधिकारी होगा किन्तु उद्धार भाग [९.११२-११४] का नहीं (**इति धर्मः व्यवस्थितः**) ऐसी धर्म की व्यवस्था है॥ १२०॥

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते।
पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत्॥ १२१॥

(५९)

(**उपसर्जनम्**) गौणपुत्र अर्थात् जो नियोगविधि से छोटे भाई के द्वारा बड़े भाई की स्त्री में उत्पन्न हुआ है, वह (**धर्मतः**) धर्मानुसार (**प्रधानस्य न+उपपद्यते**) प्रधान-पुत्र अर्थात् छोटों का पालन-पोषण करने वाले अपने ही पिता से उत्पन्न पुत्र के पूर्ण उद्धारादि भाग [९.११२-११४] का अधिकारी नहीं होता, (**प्रजने प्रधानं पिता**) सन्तानोत्पत्ति में पिता की ही अर्थात् बीज

की ही प्रधानता होती है (**तस्मात्**) इस कारण (**धर्मेण तं भजेत्**) धर्मानुसार वह पुत्र पितृव्यों के समान समभाग को ही ले ले॥ १२१ ॥

पुत्रिका करने का उद्देश्य—

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम्॥ १२७॥
(६०)

(**अपुत्रः**) पुत्रहीन पिता (**अस्यां यत्+अपत्यं भवेत् तत् मम स्वधाकरं स्यात्**) मेरी इस कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह मुझे वृद्धावस्था में पुत्रवत् अन्न-भोजन आदि से पालन-पोषण करने वाला होगा और सेवा द्वारा सुख देने वाला होगा' (**अनेन विधिना सुतां पुत्रिकां कुर्वीत**) ऐसा दामाद से कहकर अपनी कन्या को 'पुत्रिका' करे [ऐसी स्थिति में पुत्रहीन पिता के धन की उत्तराधिकारिणी पुत्री होगी या नाती होगा [९.१३१] ॥ १२७ ॥[१]

अनुशीलन—(१) **'स्वधा' का मनुसम्मत अर्थ**— इस श्लोक में टीकाकार 'स्वधा' शब्द का श्राद्ध प्रसंग में पिण्डदान आदि अर्थ करते हैं, यह अर्थ मनु-सम्मत नहीं है। इस भाष्य में दिया गया अर्थ मनुसम्मत एवं प्रामाणिक है। उसमें निम्न प्रमाण एवं युक्तियां हैं—(क) मनु मृतकश्राद्ध नहीं मानते, अतः उस प्रसंग का अर्थ करना ही मनुविरुद्ध है [इसके लिए देखिए विस्तृत व्याख्यान ३.८१, ८२ और २८४ पर]। (ख) निरुक्तकार ने स्वधा शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—''**स्वधा अन्ननाम**'' [२.७] ''**स्वधा उदकनाम**'' [१.१२], इनसे सिद्ध होता है कि 'स्वधाकार' का अर्थ हुआ 'अन्न-जलादि से पालन-पोषण करने वाला, इस अर्थ की पुष्टि ३.८२ से भी हो जाती है। (ग) 'स्व' स्वजनों को भी कहते हैं, **स्वान्= पितॄन् दधाति यया क्रियया सा स्वधा**' इस व्युत्पत्ति के

---

१. **प्रचलित अर्थ**—'पुत्रहीन' पिता विवाह के समय, दामाद से यह निश्चय कर के 'पुत्रिका' विधि करे कि 'इससे जो पुत्र होगा वह मेरी श्राद्ध, पिण्डदान आदि क्रिया का करने वाला होगा'॥ १२७॥

आधार पर वृद्धावस्था में अन्न, जल, सेवा-सुश्रूषा आदि से सुख देना ही 'स्वधा' क्रिया कहलायेगी। (घ) पुत्रोत्पत्ति का भी व्यक्ति का यही उद्देश्य होता है कि वह कष्टों से बचाये, सुख दे, वृद्धावस्था में संभाले [द्रष्टव्य ९.१३८ श्लोक एवं उस पर समीक्षा]। (ङ) व्यक्ति को सबसे पहले यही इच्छा होती है कि उसकी सन्तान उसके लिए सुखदायी बने। इसीलिए पुत्रहीन व्यक्ति 'पुत्रिका' की विधि अपनाता है। इस प्रकार 'स्वधाकर' का उपर्युक्त अर्थ ही उपयुक्त है।

(२) **पुत्रिका धर्म**—पुत्रिका करने का अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति का कोई पुत्र न हो किन्तु पुत्री हो, तो वह पुत्री का विवाह करते समय दामाद पक्ष वालों से यह निश्चय कर लेता है कि इससे जो पुत्र होगा उसे मैं गोद लूंगा। अर्थात् वह नाना की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होगा। ऐसे निश्चय को 'पुत्रिकाधर्म' कहते हैं।

३. **धनाधिकार की पुष्टि**—पुत्रहीन पिता के धन का उत्तराधिकारी दौहित्र=नाती होता है, इसकी पुष्टि के लिए ९.१३१ श्लोक द्रष्टव्य है।

पुत्र के अभाव में सारे धन की पुत्री अधिकारिणी—

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥ १३०॥
(६१)

(**यथा+एव आत्मा तथा पुत्रः**) जैसी अपनी आत्मा है वैसा ही पुत्र होता है अर्थात् पुत्र माता-पिता का अंग रूप होता है और (**पुत्रेण दुहिता समा**) पुत्र जैसी ही आत्मारूप पुत्री होती है (**तस्याम्+आत्मनि तिष्ठन्त्याम्**) उस आत्मारूप पुत्री के रहते हुये (**अन्यः धनं कथं हरेत्**) कोई दूसरा दाय धन को कैसे ले सकता है? अर्थात् नहीं ले सकता। भाव यह है कि पुत्र के अभाव में पुत्री ही पिता-माता के धन की अधिकारिणी होती है॥ १३०॥

अनुशीलन—**पुत्र-पुत्री आत्मारूप**—निरुक्तकार ने दायभाग का विश्लेषण करते हुए मनु की मान्यता के अनुरूप पुत्र और पुत्री दोनों को दायभाग का अधिकारी माना है। किसी प्राचीन ग्रन्थ के श्लोकों को उद्धृत करके

यास्क ने मनु की इस मान्यता को निम्न श्लोकों द्वारा स्पष्ट किया है—

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥
अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

(निरुक्त ३.१.४)

अर्थात्—हे पुत्र! तू मेरे अंग-अंग से उत्पन्न हुआ है और मेरी आत्मा से प्रकट हुआ है, अतः तू पुत्र मेरी आत्मा का ही रूप है, वह तू सैंकड़ों वर्षों तक जीये॥ धर्मानुसार पुत्र और पुत्री दोनों का किसी भेदभाव के बिना दायभाग में समान अधिकार होता है—यह विधान सृष्टि के आदि में स्वायम्भुव मनु ने किया है।

माता का धन पुत्रियों का ही होता है—

मातुस्तु यौतकं यत् स्यात् कुमारीभाग एव सः।
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम्॥ १३१॥
(६२)

(**मातुः तु यत् यौतकं स्यात्**) माता का जो किसी भी अवसर पर प्राप्त निजी धन होता है (**सः कुमारी-भागः एव**) वह अविवाहित कन्या का ही भाग होता है (**च**) तथा (**अपुत्रस्य अखिलं धनं दौहित्रः एव हरेत्**) पुत्रहीन नाना के सम्पूर्ण धन को धेवता ही प्राप्त कर लेवे॥ १३१॥

पुत्रिका करने पर भी पुत्र होने की अवस्था में दाय व्यवस्था—

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः॥
१३४॥ (६३)

(**पुत्रिकायां कृतायां तु**) पूर्वोक्त विधि से [९.१२७] 'पुत्रिका' कर लेने के बाद (**यदि पुत्रः+अनुजायते**) यदि किसी को पुत्र उत्पन्न हो जाये तो (**तत्र समः विभागः स्यात्**) उस स्थिति में उन दोनों को [धेवता और निजपुत्र को] धन का समान भाग मिलेगा (**हि**) क्योंकि (**स्त्रियाः ज्येष्ठता न+अस्ति**)

स्त्री को उद्धार भाग में ज्येष्ठत्व नहीं है अर्थात् बड़े पुत्र की भांति 'उद्धार' भाग [९.११२] नहीं प्राप्त होता। अतः धेवते को भी वह 'उद्धार' भाग नहीं प्राप्त होगा॥ १३५॥

पुत्र का लक्षण—

पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा॥ १३८॥
(६४)

(**यः**) जो (**सुतः**) पुत्र (**पितरम्**) माता-पिता की (**पुम्नाम्नः नरकात्**) 'पुम्=सन्तान के अभाव रूप कष्ट और वृद्धावस्था, रोग आदि से उत्पन्न होने वाले दुःख रूप नरक से (**त्रायते**) रक्षा करता है' (**तस्मात्**) इस कारण से (**स्वयंभुवा स्वयमेव 'पुत्रः' इति प्रोक्तः**) स्वयंभू ईश्वर ने वेदों में बेटे को 'पुत्र' संज्ञा से अभिहित किया है [द्रष्टव्य है—'सर्वेषां तु स नामानि.......... वेदशब्देभ्य एवादौ......निर्ममे'' १.२३]॥ १३८॥[1]

अनुशीलन—(क) **पुत्र का अर्थ और उद्देश्य**—इस श्लोक में मनु ने पुत्र शब्द की परिभाषा दी है। उस पर यहां विस्तार से विचार किया जाता है। इस परिभाषा से यह सिद्ध हो जाता है कि सांसारिक व्यक्तियों का पुत्र प्राप्ति का उद्देश्य यह होता है कि पुत्र-पुत्री जीवन में, वृद्धावस्था, रोग आदि में कष्ट से रक्षा करें और धन-अन्न-जल आदि से पालन-पोषण और करें। इस परिभाषा से इस अध्याय में वर्णित उन सभी मान्यताओं का खण्डन हो जाता है जिनमें पिण्डदान श्राद्ध आदि के लिए पुत्रप्राप्ति मानी है। यहां प्रमाणों के साथ पुत्र शब्द का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है—

'**पूञ् पवने**' (क्र्यादि) धातु से '**पुवो ह्रस्वश्च**' (उणादि ४.१६५) सूत्र से क्त्र प्रत्यय के योग से पुत्र शब्द सिद्ध होता है। इसकी निरुक्ति करते हुए ऋषि यास्क लिखते हैं—''**पुरु त्रायते' पिपरणाद्वा, पुम्=नरकं**

---

१. **प्रचलित अर्थ**—जिस कारण पुत्र 'पुम्' नामक नरक से पितरों की रक्षा करता है। उस कारण से स्वयं ब्रह्मा ने उसे पुत्र कहा है॥ १३८॥

ततस्त्रायत इति वा'' (२.११) अर्थात् जो सभी प्रकार से सुरक्षा करता है, पालन-पोषण करता है अथवा पुम् नरक=कष्ट को कहते हैं, उस रोग, वृद्धावस्था आदि के कष्ट से रक्षा करता है, इसलिए बेटे-बेटी का 'पुत्र' नाम है।

यद्यपि 'पुत्री' का भी यही अर्थ है किन्तु गृहस्थ में पुत्री का अर्थ इस कारण अभीष्ट नहीं होता, क्योंकि वह माता-पिता के घर को त्याग कर पति के घर चली जाती है और उन सबका सुख 'दाराधीनः' होता है। यदि पुत्री भी माता-पिता की कष्टों से रक्षा करती है तो वह भी नरक= कष्ट से पुत्रवत् रक्षा करने वाली कही जायेगी।

नरक किसे कहते हैं, इसका भी निरुक्तकार ने स्पष्टीकरण किया है, कहीं किसी को नरक नामक लोकविशेष की भ्रान्ति न हो जाये—''**नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम्, नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा**'' (१.१०) अर्थात् नरक कष्टपूर्ण स्थिति या अधः-पतन अर्थात् हानि को कहते हैं, इस कष्ट में थोड़ा-सा भी सुख-आराम का स्थान नहीं है। इस प्रकार कष्टपूर्ण स्थिति को नरक कहते हैं। पुत्र अपने पिता-माता आदि को उससे बचाता है। ४.८८-९० श्लोकों में इक्कीस नरकों की गणना है। वहां '**पुम्' नामक** कोई नरक परिगणित नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि 'पुम्' का नरक-विशेष अर्थ न होकर 'कष्टपूर्ण स्थिति' अर्थ ही मनुसम्मत है। तुलनार्थ गोपथब्राह्मण की परिभाषा भी उल्लेखनीय है उसमें जीवन में आने वाले अनेक कष्टों को नरक कहा है—

''**पुत्रः पुन्नाम नरकमनेकशतधारं तस्मात् त्राति पुत्रः, तत्पुत्रस्य पुत्रत्वम्**'' (पू० १.२)

नरक कोई पृथक् लोक नहीं होता (इस विषयक विस्तृत अनुशीलन ४.९१ पर द्रष्टव्य है)।

(ख) **ब्रह्मा अर्थ संगत नहीं**—श्लोक में 'स्वयम्भू' का ब्रह्मा अर्थ इस कारण ग्राह्य नहीं है, क्योंकि 'पुत्र' शब्द का प्रयोग ब्रह्मा से पूर्व वेदों में मिलता है। मनु की भी यही मान्यता है कि सभी नाम वेदों से ग्रहण किये गये हैं। [१.२३]।

दत्तकपुत्र के दायभाग का विधान—

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः।
स हरेतैव तद्रिक्थं सम्प्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः॥ १४१॥
(६५)

(**यस्य तु दत्त्रिमः पुत्रः**) जिसका 'दत्तक'=गोद लिया हुआ पुत्र (**सर्वैः गुणैः उपपन्नः**) सभी श्रेष्ठ या वर्णोचित पुत्रगुणों से [९.१३८] सम्पन्न हो, (**अन्यगोत्रतः सम्प्राप्तः+अपि**) चाहे वह दूसरे वंश का ही क्यों न हो (**सः तत् रिक्थं हरेत+एव**) वह उस गोद लेने वाले पिता के धन को उत्तराधिकार में निश्चित रूप से प्राप्त करता है॥ १४१॥

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः।
क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः॥ १४५॥
(६६)

(**तत्र नियुक्तायाम्**) नियोग के लिए नियुक्त स्त्री में (**यथा+औरसः जातः पुत्रः**) औरस=सगे पुत्र के समान हुआ क्षेत्रज पुत्र (हरेत्) पितृधन का भागी होता है; क्योंकि (**यत् क्षेत्रिकस्य बीजम्**) वह क्षेत्रिक=क्षेत्र स्वामी का ही बीज माना जाता है, यतोहि (**सः धर्मतः प्रसवः**) वह धर्मानुसार नियोग से [९.५९] उत्पन्न होता है॥ १४५॥

धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च।
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम्॥ १४६॥
(६७)

(**मृतस्य भ्रातुः**) मरे हुए भाई के (**धनं च स्त्रियम्+एव यः बिभृयात्**) धन और स्त्री की जो भाई रक्षा करे (**सः+अपत्यम्+उत्पाद्य**) वह भाई की स्त्री में सन्तान उत्पन्न करके (**भ्रातुः तत् धनं तस्यैव दद्यात्**) भाई का वह प्राप्त सब धन उस पुत्र को ही दे देवे॥ १४६॥

नियोगविधि के बिना उत्पन्न पुत्र दायभाग का अनधिकारी—

याऽनियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद्वाऽप्यवाप्नुयात्।
तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते॥ १४७॥
(६८)

(**या अनियुक्ता**) जो स्त्री नियोगविधि [९.५९] के बिना (**अन्यतः वा देवरात् अपि**) अन्य कुलबाह्य पुरुष से या देवर से भी (**पुत्रम् अवाप्नुयात्**) पुत्र प्राप्त करे (**तम्**) उस पुत्र को (**कामजं वृथोत्पन्नम् अरिक्थीयम्**) 'कामज'=कामवासना के वशीभूत होकर [९.५८, ६३] व्यभिचार से उत्पन्न किया गया और 'वृथोत्पन्न'=व्यर्थ में उत्पन्न कहा गया है, और वह पितृधन का अनधिकारी (**प्रचक्षते**) माना गया है॥ १४७॥

अनुशीलन—१४७ श्लोक की प्रसंगसम्बद्धता पर विचार—१४७वें श्लोक में नियोगविधि को त्यागकर प्राप्त किये गये पुत्र को 'वृथा-उत्पन्न' पुत्र की संज्ञा दी है। यह विधान विवाहित वा विधवा स्त्री के लिए है, अक्षतयोनि के लिए नहीं। अक्षतयोनि स्त्री के लिए इसमें अपवाद है। वह पुनर्विवाह कर सकती है और उससे उत्पन्न होने वाला पुत्र 'वैध' तथा पैतृक धन का अधिकारी माना जायेगा। इस भाव के अनुसार इस श्लोक का प्रसंग ९.१७६ से जुड़ता है।

अक्षतयोनि के पुनर्विवाह का विधान—

सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागताऽपि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥ १७६॥
(६९)

(**सा चेत्+अक्षतयोनिः स्यात्**) वह स्त्री यदि 'अक्षतयोनि'=जिनका संभोगसम्बन्ध न हुआ हो, ऐसी हो (**वा**) चाहे वह (**गत-प्रत्यागता+अपि**) पति के घर गई-आई हुई भी हो, (**सा**) वह (**पौनर्भवेन भर्त्रा**) दूसरे पति के साथ (**पुनः संस्कारम्+अर्हति**) पुनः विवाह कर सकती है॥ १७६॥

ऋषि अर्थ—''जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहण मात्र संस्कार हुआ हो और संयोग [न हुआ हो] अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए।''

(स०प्र०, समु० ४)

अनुशीलन—१७६ श्लोक की मौलिकता एवं प्रसंगसम्बद्धता में युक्तियां—(क) १७६ श्लोक मौलिक है और इसका प्रसंग ९.१४७ से जुड़ता है। १४७ में अनियोगज पुत्र को 'वृथोत्पन्न' कहकर उसे दायभाग का अनधिकारी घोषित किया है किन्तु अक्षतयोनि स्त्री के लिए वह नियम नहीं है, यह दर्शाने के लिए १७६ वां श्लोक अपवादरूप में विहित है। अक्षतयोनि स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है और उससे जो सन्तान उत्पन्न होगी वह 'वैध' एवं दायभाग की अधिकारिणी होगी। यही इस श्लोक का अभिप्राय है। (ख) यह श्लोक मौलिक है, प्रक्षिप्त इसलिए नहीं कहला सकता क्योंकि इसका पूर्वापर प्रक्षिप्त प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह पूर्वापर प्रसंग से भिन्न अपवादात्मक विधान है जिसका १४७ से सम्बन्ध है (ग) पूर्वापर प्रसंग विविध प्रकार के पुत्रों की परिभाषा का है। १७५वें में 'पौनर्भव' पुत्र की परिभाषा और १७७ में 'स्वयंदत्त' की है। इस श्लोक में पुत्र-परिभाषा-प्रसंग न होकर अपवादात्मक विधान है (घ) इसका १७५ के 'पौनर्भव' शब्द के साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उसमें 'पौनर्भव' पुत्र के लिए कहा गया है और इसमें द्वितीय पति के लिए। इस प्रकार यह मौलिक विधान है।

[मातृधन का विभाग]

मातृधन को भाई-बहन बराबर बांट लें—

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः॥ १९२॥

(७०)

(**जनन्यां संस्थितायां तु**) माता के मर जाने पर (**सर्वे सहोदराः च सनाभयः भगिन्यः**) सब सगे भाई और सब सगी बहनें (**मातृकं रिक्थं समं भजेरन्**)

माता के पारिवारिक धन को बराबर-बराबर बांट लें॥ १९२॥

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः।
मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम्॥ १९३॥
(७१)

(**तासां याः दुहितरः स्युः**) उन सभी बहनों की जो पुत्रियां हों (**तासां+अपि यथार्हतः**) उनको भी यथायोग्य (**प्रीतिपूर्वकं मातामह्याः धनात् किंचित् प्रदेयम्**) प्रेमपूर्वक नानी के धन में से कुछ देना चाहिए॥ १९३॥

स्त्रीधन छह प्रकार का—

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ १९४॥
(७२)

(**स्त्रीधनं षड्विधं स्मृतम्**) स्त्रीधन छः प्रकार का माना गया है—१. (**अधि+अग्नि**) विवाहसंस्कार के समय प्राप्त धन, २. (**अधि+आवाहनिकम्**) पति के घर जाती हुई कन्या को पिता के घर से प्राप्त हुआ धन, ३. (**प्रीति कर्मणि च दत्तम्**) प्रसन्नता के किसी अवसर पर पति आदि के द्वारा दिया गया धन, ४. (**भ्रातृ-मातृ-पितृ-प्राप्तम्**) भाई से प्राप्त धन, ५. माता से प्राप्त धन, ६. पिता से प्राप्त धन॥ १९४॥

अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत्।
पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत्॥ १९५॥ (७३)

(**यत् अन्वाधेयम्**) जो अन्वाधेय अर्थात् विवाह के पश्चात् पिता या पति द्वारा दिया गया है, वह धन (**च**) और (**यत् प्रीतेन पत्या दत्तम्**) जो प्रीतिपूर्वक पति के द्वारा दिया गया धन है (**पत्यौ जीवति**) पति के जीवित रहते भी (**वृत्तायाः**) पत्नी के मरने पर (**तत्धनं प्रजायाः भवेत्**) वह धन पुत्र-पुत्रियों का ही होता है॥ १९५॥

ब्राह्मादि विवाहों में स्त्रीधन का अधिकारी पति—

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते॥ १९६॥

(७४)

(**ब्राह्म-दैव-आर्ष-गान्धर्व-प्राजापत्येषु यत् वसु**) ब्राह्म, आर्ष, गान्धर्व, प्राजापत्य विवाहों में जो स्त्री को धन प्राप्त हुआ है (**अप्रजायाम्+अतीतायाम्**) स्त्री के सन्तानहीन मर जाने पर (**तत् भर्तुः+एव इष्यते**) उस धन पर पति का ही अधिकार माना गया है॥ १९६॥

आसुरादि विवाहों में स्त्रीधन के उत्तराधिकारी—

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु।
अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते॥ १९७॥

(७५)

(**यत् तु अस्याः**) और जो इसे (**आसुरादिषु विवाहेषु दत्तं धनं स्यात्**) 'आसुर' गन्धर्व, राक्षस, पैशाच [३.२१] विवाहों में दिया गया धन हो (**अप्रजायाम्+अतीतायाम्**) पत्नी के निःसन्तान मर जाने पर (**तत् माता पित्रोः इष्यते**) वह धन स्त्री के माता-पिता का हो जाता है॥ १९७॥

स्त्रियाँ कुटुम्ब से छिपाकर धन न जोड़ें—

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद् बहुमध्यगात्।
स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया॥ १९९॥

(७६)

(**स्त्रियः**) स्त्रियाँ (**बहुमध्यगात् कुटुम्बात्**) बहुत सदस्यों वाले कुटुम्ब से चुपके से धन ले-लेकर (**निर्हारं न कुर्युः**) अपने लिए धनसंग्रह और व्यय न करें (**च**) और (**स्वकात् वित्तात् अपि हि**) अपने धन में से भी (**स्वस्य भर्तुः+अनाज्ञया**) अपने पति की सहमति के बिना व्यय न करें॥ १९९॥

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत्।
न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते॥ २००॥

(७७)

(**पत्यौ जीवति**) पति के जीते हुए (**स्त्रीभिः यः अलंकारः धृतः भवेत्**) स्त्रियों ने जो आभूषण धारण किये हैं, [पति के मर जाने पर] (**दायादाः तं न भजेरन्**) माता-पिता के दायभाग के अधिकारी पति के भाई या पुत्र आदि [माता के जीवित रहते] उसको न बांटें (**भजमानाः ते पतन्ति**) यदि वे उन्हें लेते हैं तो 'पतित'=दोषी कहलाते हैं ॥ २०० ॥

धन के अनधिकारी विकलांग—

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः॥ २०१॥
(७८)

(**क्लीब-पतितौ**) नपुंसक, दुष्ट कर्मों में संलग्न अपराधी (**जाति+अन्ध-बधिरौ**) जन्म से अन्धे और बहरे (**उन्मत्त-जड़-मूकाः च**) पागल, वज्रमूर्ख और गूंगे (**च**) और (**ये केचित् निरिन्द्रियाः**) जो कोई किसी इन्द्रिय से पूर्ण विकलांग हैं और असमर्थ हैं (**अनंशौ**) ये विकलांग आदि पूरे दाय-धन के भागीदार नहीं होते, क्योंकि ये धन की सुरक्षा और उपयोग में सक्षम नहीं अयोग्य होते हैं ॥ २०१ ॥

इन्हें भोजन-छादन देते रहें—

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा।
ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत्॥ २०२॥
(७९)

किन्तु (**मनीषिणा**) इनके धनगृहीता सहृदय मनुष्य को चाहिए कि (**सर्वेषाम्+अपि शक्त्या**) इन सबको यथाशक्ति (**ग्रास+आच्छादनम्**) भोजन, वस्त्र आदि (**अत्यन्तम्**) अनिवार्य रूप से (**दातुम्**) देना (**न्याय्यम्**) न्यायोचित है, यह समझकर उक्त पदार्थ दे, (**अददत् हि पतितः भवेत्**) उक्त सुविधाएं न देने वाला धनगृहीता 'पतित'=दोषी माना जायेगा ॥ २०२ ॥

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति॥ २०३॥(८०)

(**यदि क्लीबादीनां कथंचन दारैः अर्थिता**

स्यात्) यदि नपुंसक आदि इन पूर्वोक्तों [९.२०१] को भी विवाह करने की इच्छा हो तो (**तेषाम्+उत्पन्नतन्तूनाम्**) इनके उत्पन्न 'क्षेत्रज'=नियोगज पुत्र आदि (**अपत्यम्**) सन्तान (**दायम्+अर्हति**) इनके धन की भागी होती है ॥ २०३ ॥

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत्।
मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च॥ २०६ ॥
(८१)

(**विद्याधनम् मैत्र्यम् च औद्वाहिकं च माधुर्किकम्+एव**) विद्या के कारण प्राप्त, मित्र से प्राप्त, विवाह में प्राप्त और पूज्यता के कारण आदर-सत्कार में प्राप्त (**यत् यस्य धनम्**) जो जिसका धन है (**तत् तस्य+एव भवेत्**) वह उसी का ही होता है ॥ २०६ ॥

भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा।
स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किंचिद्दत्त्वोपजीवनम्॥
२०७॥(८२)

(**भ्रातॄणां यः तु स्वकर्मणा शक्तः**) भाइयों में जो भाई अपने उद्योग से समृद्ध हो और (**धनं न ईहेत**) पितृधन का भाग न लेना चाहे तो (**सः**) उसको भी (**स्वकात्+अंशात् किंचित् उपजीवनं दत्त्वा**) अपने-अपने पितृधन के हिस्सों से कुछ धन देकर (**निर्भाज्यः**) अलग करना चाहिए, बिल्कुल बिना दिये नहीं॥ २०७॥

अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम्।
स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति॥ २०८ ॥
(८३)

(**पितृधनम् अनुपघ्नन्**) पितृ-धन को बिल्कुल भी उपयोग में न लाता हुआ यदि कोई पुत्र (**श्रमेण यत्+उपार्जितम्**) केवल अपने परिश्रम से संचित धन में से (**दातुम् अकामः**) किसी भाई को कुछ न देना चाहे तो (**न अर्हति**) न देवे अर्थात् देने के लिए वह बाध्य नहीं है॥ २०८॥

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात्।
न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम्॥ २०९॥
(८४)

(**पिता तु**) यदि कोई पिता (**अन्+अवाप्तं पैतृकं द्रव्यम्**) दायरूप में अप्राप्त पैतृक धन अर्थात् ऐसा धन जो है तो परम्परा से पैतृक, किन्तु किसी कारण से वह उसके पिता के अधिकार में नहीं रहा, इस कारण उसे पैतृक दायभाग के रूप में भी नहीं मिला, उसको (**तत्+आप्नुयात्**) यदि वह स्वयं अपने परिश्रम या उपाय से प्राप्त कर ले तो (**तत् स्वयम्+अर्जितम् धनम्**) उस स्वयं के परिश्रम से प्राप्त किये धन को [जैसे गिरवी रखा हुआ धन] (**अकामः**) यदि वह न चाहे तो (**पुत्रैः सार्धम् न भजेत्**) अपने पुत्रों में न बांटे अर्थात् ऐसा धन पिता के द्वारा स्वयं कमाये हुए धन जैसा है। उसका देना-न देना या विभाजन करना पिता की इच्छा पर निर्भर है। वह जैसा चाहे कर सकता है॥ २०९॥

पुनः एकत्र होकर पृथक् होने पर उद्धार भाग नहीं—

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन् पुनर्यदि।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते॥ २१०॥
(८५)

सब भाई (**विभक्ताः**) एक बार विभाग का बंटवारा करके (**सहजीवन्तः**) फिर सम्मिलित होकर (**यदि पुनः विभजेरन्**) यदि फिर अलग होना चाहें तो (**तत्र समः विभागः स्यात्**) उस स्थिति में सबको समान भाग प्राप्त होगा (**तत्र ज्यैष्ठ्यं न विद्यते**) तब उसमें ज्येष्ठ भाई का 'उद्धार भाग' [९.११२-११५] नहीं होता॥ २१०॥

भाई के मरने पर उसके धन का विभाग—

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः।
म्रियेतान्यतरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते॥ २११॥
(८६)

(**येषां ज्येष्ठः वा कनिष्ठः**) जिन भाइयों में से बड़ा या छोटा भाई (**अंशप्रदानतः हीयेत**) किसी कारण से

अपने भाग से वंचित रह जाये, (**म्रियेत वा अन्यतरः अपि**) मर जाये अथवा अन्य किसी गृहत्याग आदि कारण से अपना भाग न ले पावे तो (**तस्य भागः न लुप्यते**) उसका भाग नष्ट नहीं होता अर्थात् उसके पुत्र पत्नी आदि को प्राप्त होता है ॥ २११ ॥

सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम्।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ २१२ ॥
(८७)

[यदि पुत्र, स्त्री आदि न हों तो] (**सहिताः सोदर्याः**) सभी सगे भाई (**च**) और (**ये संसृष्टाः भ्रातरः**) जो सम्मिलित भाई (**च**) तथा (**सनाभयः भगिन्यः**) सब सगी बहनें हैं, वे (**समेत्य**) एकत्रित होकर (**तं समं विभजेरन्**) उस धन को समान-समान बांट लेवें ॥ २१२ ॥

कर्त्तव्यपालन न करने पर बड़े भाई को उद्धार भाग नहीं—

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद् भ्रातॄन् यवीयसः।
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥
२१३ ॥ (८८)

(**यः ज्येष्ठः**) जो बड़ा भाई (**लोभात् यवीयसः भ्रातॄन् विनिकुर्वीत**) लोभ में आकर छोटे भाइयों को ठगे, पूरा भाग न दे तो (**सः+अज्येष्ठः**) उसको बड़े के रूप में नहीं मानना चाहिए (**च**) और (**अभागः स्यात्**) उसे बड़े भाई के नाम का 'उद्धार भाग' [९.११२-११५] भी नहीं देना चाहिए (**च**) और (**राजभिः नियन्तव्यः**) वह राजा के द्वारा दण्डनीय होता है अर्थात् राजा उसको कानून के द्वारा वश में करे और छोटों का भाग दिलवाये ॥ २१३ ॥

दायधन से वंचित लोग—

सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम्।
न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥
२१४ ॥ (८९)

(**विकर्मस्थाः सर्वे+एव भ्रातरः**) [जुआ खेलना,

चोरी करना, डाका डालना आदि] बुरे कामों में सलंग्न रहने वाले सभी भाई (**धनं न+अर्हन्ति**) धनभाग को प्राप्त करने के अधिकारी नहीं होते (**च**) और (**कनिष्ठेभ्यः अदत्त्वा**) छोटे भाइयों को बिना दिये=बिना बांटे (**ज्येष्ठः यौतकं न कुर्वीत**) बड़ा भाई अपने लिए पितृधन में से अलग से धन न ले अर्थात् किसी भी धन को अकेला अपने लिए न रखे॥ २१४॥

पितृ-धन का विषम विभाजन न करे—

भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथञ्चन॥ २१५॥
(९०)

(**अविभक्तानां भ्रातॄणां यदि सह उत्थानं भवेत्**) सम्मिलित रूप में रहते हुए सब भाइयों ने यदि साथ मिलकर धन इकट्ठा किया हो तो (**पिता**) पिता (**कथञ्चन पुत्रभागं विषमं न दद्यात्**) किसी भी प्रकार पुत्रों के भाग को विषम अर्थात् किसी को अधिक किसी को कम रूप में न बांटे, सभी को बराबर दे॥ २१५॥

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम्।
संसृष्टास्तेन वा स्युर्विभजेत स तैः सह॥ २१६॥
(९१)

(**विभागात् ऊर्ध्वं जातः तु**) धन का बंटवारा करके [पिता की जीवित अवस्था में ही] पुत्रों के अलग हो जाने पर यदि कोई पुत्र उत्पन्न हो जाये तो (**पित्र्यम्+एव धनं हरेत्**) वह पिता के अंश के धन को ले ले (**वा**) अथवा (**ये तेन संसृष्टाः स्युः**) जो कोई पुत्र पिता के साथ सम्मिलित रूप में रह रहे हों तो (**सः तैः सह विभजेत**) वह उन सबके समान भाग प्राप्त करे॥ २१६॥

इकलौते सन्तानहीन पुत्र के धन का उत्तराधिकार—

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्॥ २१७॥
(९२)

(**अनपत्यस्य पुत्रस्य दायम्**) सन्तानहीन और पत्नीहीन पुत्र के धन को (**माता+अवाप्नुयात्**) माता प्राप्त करे (**च**) और (**मातरि+अपि वृत्तायाम्**) माता मर गई हो तो (**पितुः माता धनं हरेत्**) पिता की माता अर्थात् दादी उसके धन को ले ले॥ २१७॥

ऋणे धने च सर्वस्मिन् प्रविभक्ते यथाविधि।
पश्चाद् दृश्येत यत्किंचित्तत्सर्वं समतां नयेत्॥ २१८॥
(९३)

(**सर्वस्मिन् ऋणे च धने**) पिता के सारे ऋण और धन का (**यथा-विधि प्रविभक्ते**) विधिपूर्वक बंटवारा हो जाने पर (**यत् किंचित् पश्चात् दृश्यते**) यदि बाद में कुछ ऋण और धन के शेष रहने का पता लगे तो (**तत् सर्वं समतां नयेत्**) उस सबको भी समान रूप में बांट लें॥ २१८॥

(१८) द्यूत-सम्बन्धी विवाद का निर्णय
[२२०-२५०]

अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः।
क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत॥ २२०॥
(९४)

(**अयम्**) यह [९.१०३-२१९] (**वः**) तुमको (**विभागः**) दायभाग का विधान (**च**) और (**क्षेत्रज+आदीनां पुत्राणां क्रियाविधिः**) 'क्षेत्रज' आदि पुत्रों को [९.१४५-१४७] धन का भाग देने की विधि (क्रमशः उक्तः) क्रमशः कही। अब (**द्यूतधर्मं निबोधत**) जुआ-सम्बन्धी विधान सुनो— ॥ २२०॥

राष्ट्रघातक जुआ आदि का पूर्ण निवारण—

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत्।
राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम्॥ २२१॥
(९५)

(**राजा**) राजा (**द्यूतम्**) जड़ वस्तुओं से बाजी लगाकर खेले जाने वाले 'जुआ' को (**च**) और (**समाह्वयम्+एव**) चेतन प्राणियों को दाव पर लगाकर

खेल जाने वाले 'समाह्वय' नामक 'जुआ' को [२२३] (**राष्ट्रात् निवारयेत्**) अपने देश से समाप्त कर दे, क्योंकि (**एतौ द्वौ दोषौ**) ये दोनों बुराइयाँ (**पृथिवी-क्षितां राजान्तकरणौ**) राजाओं के राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर देने वाली हैं॥ २२१॥

अनुशीलन—(१) **द्यूत से हानि**—इस श्लोक के भाव को समझने के लिए परवर्ती उदाहरण महाभारत के समय का दिया जा सकता है। द्यूत और समाह्वय के व्यसन के कारण पाण्डवों को अपना सम्मान और राज्य सब कुछ लुटाना पड़ा था। परिणाम-स्वरूप कौरवों-पाण्डवों में भयंकर महाभारत-युद्ध हुआ, जिसमें कौरवों का विनाश हुआ और पाण्डवों को विभिन्न प्रकार के कष्ट उठाने पड़े।

(२) **वेदों में जुए का निषेध**—वेदों में जुए की तीव्र शब्दों में निन्दा की है और निषेध किया है। ऋक् १०.३४ सूक्त में जुआरी की दुर्दशा का दयनीय वर्णन है। इस सूक्त के १३वें मन्त्र में आदेश है—

अक्षैर्मा दीव्यः=जुआ मत खेलो।

जुआ एक तस्करी है—

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद् देवनसमाह्वयौ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान् भवेत्॥ २२२॥
(९६)

(**यत् देवन-समाह्वयौ**) ये जो 'जुआ' और 'समाह्वय' है (**एतत् प्रकाशं तास्कर्यम्**) ये प्रत्यक्ष में होने वाली तस्करी=चोरी-ठगी हैं (**नृपतिः**) राजा (**तयोः प्रतीघाते**) इनको समाप्त करने के लिये (**नित्यं यत्नवान् भवेत्**) सदा प्रयत्नशील रहे॥ २२२॥

द्यूत और समाह्वय में भेद—

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः॥ २२३॥
(९७)

(**अप्राणिभिः यत् क्रियते**) बिना प्राणियों अर्थात् जड़ [ताश, पासा, कौड़ी, गोटी आदि] वस्तुओं के द्वारा बाजी लगाकर जो खेल खेला जाता है (**लोके तत्**

'द्यूतम्' उच्यते) लोक में उसे 'द्यूत'=जुआ कहा जाता है और (**यः तु**) जो (**प्राणिभिः क्रियते**) चेतन प्राणियों [मनुष्य, मुर्गा, तीतर, बटेर, घोड़ा आदि] के द्वारा बाजी लगाकर जो खेल खेला जाता है (**सः 'समाह्वयः' विज्ञेयः**) उसे 'समाह्वय' कहा जाता है ॥ २२३ ॥

द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा।
तान्सर्वान् घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥
२२४ ॥ (९८)

(**राजा**) राजा (**यः**) जो मनुष्य (**द्यूतं च समाह्वयम्+एव**) 'जुआ' और 'समाह्वय' (**कुर्यात् वा कारयेत**) स्वयं खेले या दूसरों से खिलाये (**तान् सर्वान्**) उन सबको (**च**) और (**द्विजलिङ्गिनः शूद्रान्**) कपटपूर्वक द्विजों के वेश में रहने वाले या उनका वेश धारण उनकी जीविका करने वाले शूद्रों को (**घातयेत्**) शारीरिक दण्ड [ताड़ना, कारावास, अंगच्छेदन] आदि दे ॥ २२४ ॥

कितवान्कुशीलवान्क्रूरान् पाखण्डस्थांश्च मानवान्।
विकर्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥
२२५ ॥ (९९)

(**च**) और (**कितवान्**) जुआरियों, (**कुशील-वान्**) अश्लील-असभ्य नाच-गानों से जीविका करनेवाले, (**क्रूरान्**) क्रूर=अत्याचार करने वाले, (**पाखण्डस्थान्**) पाखण्ड करके जीविका कमाने वाले, (**विकर्मस्थान्**) शास्त्रविरुद्ध बलात्कार चोरी आदि बुरे कर्म करने वाले, (**शौण्डिकान्**) शराब बनाने-बेचने, और पीने वाले (**मानवान्**) मनुष्यों को (**पुरात् क्षिप्रं निर्वासयेत्**) राजा अपने राज्य से यथा शीघ्र बाहर निकाल दे ॥ २२५ ॥

अनुशीलन—'**कुशीलव' का अर्थ**—'कुशीलव' का विग्रह है '**कुत्सितं शीलम् 'कुशीलम्', कुशीलम् अस्य अस्ति सः कुशीलवः**'' [मत्वर्थीय 'व' प्रत्यय] अर्थात् जिनका निन्दनीय स्वभाव और चेष्टाएं हैं, अश्लील असभ्य या भौंडे ढंग के नाच-गानों से जीविका करने वाले

या राज्य में इस बहाने से कोई अहितकर बात फैलाने वाले व्यक्तियों को 'कुशीलव' कहा जाता है।

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः॥ २२६॥
(१००)

(**एते प्रच्छन्न-तस्कराः**) ये [९.२२५] छुपे हुए तस्कर=चोर-ठग (**राष्ट्रे वर्तमानाः**) राज्य में रहकर (**विकर्मक्रियया**) गलत और बुरे कामों को कर-करके (**नित्यम्**) सदा (**राज्ञः**) राजाओं और (**भद्रिकाः प्रजाः**) सज्जन प्रजाओं को (**बाधन्ते**) हानि और दुःख पहुंचाते रहते हैं॥ २२६॥

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत्।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्॥ २२७॥
(१०१)

(**एतत् द्यूतम्**) यह 'जुआ' (**पुराकल्पे महत् वैरकरं दृष्टम्**) अब से पहले समय में भी महान् कष्ट एवं शत्रुता पैदा करने वाला देखा गया है (**तस्मात्**) इसलिए (**बुद्धिमान्**) बुद्धिमान् मनुष्य (**हास्यार्थम्+ अपि द्यूतं न सेवेत**) मनोरंजन और हंसी-मजाक में भी 'जुआ' न खेले॥ २२७॥

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा॥ २२८॥
(१०२)

(**प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा**) छुपकर वा सबके सामने (**यः नरः तत् निषेवेत**) जो मनुष्य 'जुआ' खेले (**तस्य दण्डविकल्पः**) उसका दण्ड-विधान निर्धारित नहीं है (**नृपतेः यथेष्टं स्यात्**) वह राजा की इच्छानुसार होता है, अर्थात् जुआ असह्य दुष्कर्म है [२२१, २२४] उससे होने वाली हानि को देखकर राजा जो भी चाहे अधिक दण्ड दे दे॥ २२८॥

मुकद्दमों के अन्त में उपसंहार

रिश्वत लेकर अन्याय करने वालों को दण्ड—

ये नियुक्तास्तु कार्येण हन्युः कार्याणि कार्यिणाम्।
धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः ॥ २३१ ॥
(१०३)

(**कार्येषु नियुक्ताः तु ये**) राजकार्यों और मुकद्दमों के निर्णयों में राजा द्वारा लगाये गये जो अधिकारी-कर्मचारी (**धन+उष्मणा पच्यमानाः**) धन की गर्मी अर्थात् रिश्वत आदि के लालच में (**कार्यिणां कार्याणि हन्युः**) वादी-प्रतिवादियों के मुकद्दमों और कामों को बिगाड़ें (**नृपः**) राजा (**तान् निःस्वान् कारयेत्**) उनकी सारी संपत्ति छीन ले॥ २३१ ॥

अनुशीलन—मुहावरे का प्रयोग और उसका अर्थ—'**धनोष्मणा पच्यमानाः**' यह एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है 'धन के लालच में पड़ने वाले लोग' या 'रिश्वत हड़पने वाले'। ऐसे रिश्वतखोर व्यक्तियों की राजा सम्पत्ति छीन ले।

निर्णयों में कपट करने वालों को दण्ड—

कूटशासनकर्तॄंश्च प्रकृतीनां च दूषकान्।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद् द्विट्सेविनस्तथा ॥
२३२ ॥ (१०४)

(**च**) और (**कूटशासनकर्तॄन्**) राजा के निर्णयों में कपट करने वाले या उनको कपटपूर्वक लिखने वाले, (**प्रकृतीनां दूषकान्**) प्रकृति=प्रजा, मन्त्री, सेनापति आदि को [९.२९४] रिश्वत आदि बुरे कार्यों में फंसाकर बिगाड़ने वाले, (**स्त्री-बाल-ब्राह्मणघ्नान् च**) स्त्रियों, बच्चों और विद्वान् ब्राह्मणों की हत्या करने वाले, (**तथा**) तथा (**द्विट्-सेविनः**) शत्रु से मिले हुए जन, इनको (**हन्यात्**) वध से दण्डित करे अर्थात् इनको कठोर से कठोर और कष्टप्रद शारीरिक दण्ड दे॥ २३२ ॥

ठीक निर्णय को किसी दबाव या लालच में आकर न बदले—

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत्।
कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत्॥ २३३॥
(१०५)

(**यत्र क्वचन**) जहां किसी मुकद्दमे में (**तीरितम्**) ठीक निर्णय किया जा चुका हो (**च**) और (**अनुशिष्टं भवेत्**) किसी दण्ड का आदेश भी दिया जा चुका हो (**धर्मतः तत् कृतं विद्यात्**) धर्मपूर्वक किये उस निर्णय को पूरा हुआ जानना चाहिये (**तत् भूयः न निवर्तयेत्**) उस मुकद्दमे का पुनः निर्णय बार-बार न बदले [यह लोभ या ममत्व आदि के कारण अथवा अकारण निर्णय न बदलने का कथन है, कारण विशेष होने पर तो पुनः निर्णय का कथन किया गया है (८.११७; ९.२३४)]॥ २३३॥

अमात्यों और न्यायाधीशों को अन्याय करने पर दण्ड—

अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा।
तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत्॥ २३४॥
(१०६)

(**अमात्याः वा प्राड्विवाकः**) मंत्री अथवा न्यायाधीश (**यत् कार्यम्+अन्यथा कुर्युः**) जिस काम या मुकद्दमे के निर्णय को गलत या अन्यायपूर्वक कर दें तो (**तत्**) उस मुकद्दमे के निर्णय को (**नृपतिः**) राजा (**स्वयं कुर्यात्**) स्वयं देखकर ठीक करे (**च**) और (**तान्**) अन्याय करने वाले उन अधिकारियों को (**सहस्रं दण्डयेत्**) एक हजार पण [८.१३६] दण्ड से दण्डित करे॥ २३४॥

यावानवध्यस्य वधे तावान् वध्यस्य मोक्षणे।
अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः॥ २४९॥
(१०७)

(**नृपतेः**) राजा को (**अवध्यस्य वधे**) अदण्डनीय को दण्ड देने पर (**यावान्+अधर्मः दृष्टः**) जितना अधर्म=अन्याय होना शास्त्र में माना गया है

(**तावान् वध्यस्य मोक्षणे**) उतना ही दण्डनीय को छोड़ने में अधर्म=अन्याय होता है (**विनियच्छतः तु धर्मः**) न्यायानुसार दण्ड देना ही धर्म है ॥ २४९ ॥

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥
(१०८)

(**अयम्**) यह [८.१ से ९.२४९ तक] (**मिथः विवदमानयोः**) परस्पर विवाद=मुकद्दमा करने वाले वादी-प्रतिवादियों के (**अष्टादशसु मार्गेषु**) अठारह प्रकार के (**व्यवहारस्य निर्णयः**) मुकद्दमों का निर्णय (**विस्तरशः उदितः**) विस्तारपूर्वक कहा ॥ २५० ॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन् महीपतिः ।
देशानलब्धांल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥ २५१ ॥
(१०९)

(**एवम्**) इस पूर्वोक्त कही विधि के अनुसार (**धर्म्याणि कार्याणि कुर्वन्**) धर्मयुक्त कार्यों को करता हुआ न्यायानुसार शासन करता हुआ (**महीपतिः**) राजा (**अलब्धान् देशान् लिप्सेत**) अप्राप्त देशों को प्राप्त करने की इच्छा करे (**च**) और (**लब्धान् परिपालयेत्**) प्राप्त किये देशों का भलीभांति पालन करे ॥ २५१ ॥

राजा द्वारा लोककण्टकों का निवारण—
(९.२५२ से ३२५ तक)

सम्यङ् निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥
(११०)

राजा (**सम्यक् निविष्टदेशः**) अच्छे सस्यादि-सम्पन्न देश का आश्रय करके (**च**) और वहां (**शास्त्रतः कृतदुर्गः**) शास्त्रानुसार विधि [७.६९] से किला बनाकर (**कण्टकोद्धरणे**) अपने राज्य से कंटकों='प्रजा या शासन को पीड़ित करने वाले लोगों' को [२५६-२६०] दूर करने में (**नित्यम् उत्तमं यत्नम्+ आतिष्ठेत्**) सदा अधिकाधिक यत्न करे ॥ २५२ ॥

अनुशीलन—लोककण्टक से अभिप्राय—समाज

की व्यवस्था, सुख, शान्ति में अपराध और नियमविरुद्ध कार्य करके पीड़ा-बाधा पहुंचाने वाले लोग 'लोककण्टक' कहलाते हैं। लोककण्टक शब्द का अर्थ भी यही है—'लोगों को कांटे की तरह चुभकर पीड़ा देने वाले'। इनकी गणना ९.२५६-२६० में की है।

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात्।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः॥ २५३॥
(१११)

(**आर्यवृत्तानां रक्षणात्**) श्रेष्ठ आचरण वाले व्यक्तियों की रक्षा करने से (**च**) और (**कण्टकानां शोधनात्**) कण्टकों=कष्टदायक दुष्ट व्यक्तियों को दण्डित करने से (**प्रजापालनतत्पराः नरेन्द्राः**) प्रजाओं के पालन करने में तत्पर रहने वाले राजा (**त्रिदिवं यान्ति**) विस्तृत राज्य के उत्तम सुख को भोगते हैं॥ २५३॥

अनुशीलन—'त्रिदिवं यान्ति' मुहावरा—'त्रिदिवं यान्ति' यह भी एक मुहावरा है जिसका अर्थ है 'त्रिदिवं प्राप्नुवन्ति'=तीनों लोकों के राज्य को प्राप्त करते हैं अर्थात् उनका राज्य दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है। यह मुहावरा आजकल भी हिन्दी में 'तीन लोक पाना' के रूप में इसी अर्थ में प्रचलित है।

अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते॥ २५४॥
(११२)

(**यः तु पार्थिवः**) जो राजा (**तस्करान् अशासन्**) ठग-चोर [९.२५७] आदि को नियंत्रित-दण्डित न करता हुआ (**बलिं गृह्णाति**) प्रजाओं से कर आदि ग्रहण करता है (**तस्य राष्ट्रं प्रक्षुभ्यते**) उसके राष्ट्र में निवास करने वाली प्रजाएं क्षुब्ध होकर विद्रोह कर देती हैं (**च**) और वह (**स्वर्गात् परिहीयते**) राज्यसुख से विहीन हो जाता है॥ २५४॥

अनुशीलन—तस्कर का अर्थ और व्युत्पत्ति—'तस्कर' विशेष रूप से उस चोर को कहते हैं जो प्रकट और गुप्त प्रत्येक प्रकार की चोरी, प्रत्यक्ष ठगी, जालसाजी

अथवा लूट के रूप में करता है। जो धन को लूटने के लिए हर गलत उपाय को प्रयोग में लाने में विश्वास रखता है। निघण्टु ३.२४ में कहा है—''**तस्करः तत्करो भवति। करोति यत् पापकमिति नैरुक्ताः। तनोतेर्वा स्यात् सन्ततकर्माभवति अहोरात्रकर्मा वा**'' [निरु० ३.१४] अर्थात् जो पापकर्मों में लगा रहता है, वह तस्कर कहलाता है। चोरी के कार्य का विस्तार करता है अथवा दिन में भी रात में भी समय और परिस्थिति के अनुरूप हर समय किसी न किसी चोरी करने के काम में लगा रहता है।

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम्।
तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः॥ २५५॥
(११३)

(**यस्य बाहुबलाश्रितम्**) जिस राजा के बाहुबल=सुरक्षा के सहारे (**राष्ट्रं निर्भयं तु भवेत्**) राष्ट्र अर्थात् प्रजाएं [चोर आदि से] निर्भय रहती है (**तस्य तत्**) उसका वह राज्य (**सिच्यमानः द्रुमः इव**) सींचे गये वृक्ष की भाँति (**नित्यं वर्धते**) सदा बढ़ता रहता है॥ २५५॥

दो प्रकार के तस्कर लोककण्टक हैं—

द्विविधांस्तस्करान् विद्यात् परद्रव्यापहारकान्।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः॥ २५६॥
(११४)

(**चारचक्षुः महीपतिः**) गुप्तचर ही हैं नेत्र जिसके अर्थात् गुप्तचरों के द्वारा सब प्रजा का काम देखने वाला राजा (**प्रकाशान् च+अप्रकाशान् परद्रव्य+ अपहार-कान्**) प्रकट और गुप्त रूप से दूसरों के द्रव्यों को चुराने वाले (**द्विविधान् तस्कारन् विद्यात्**) दोनों प्रकार के चोरों की जानकारी रखे॥ २५६॥

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः।
प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः॥ २५७॥
(११५)

(**तेषाम्**) उन दोनों प्रकार के चोरों में (**नानापण्य-उपजीविनः प्रकाशवञ्चकाः**) नाना प्रकार के व्यापारी

जो देखते-देखते माप, तोल या मूल्य में हेराफेरी करके ठगते हैं वे 'प्रकट-चोर' हैं (**ये**) और जो (**स्तेनआटविकादयः**) जंगल आदि में छिपे रहकर चोरी, राहगीरी आदि करने वाले हैं (**ते**) वे (**प्रच्छन्नवञ्चकाः**) 'गुप्तचोर' हैं॥ २५७॥

लोककण्टकों की गणना—

उत्कोचकाश्चौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह॥ २५८॥
असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः।
शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः॥ २५९॥
एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांल्लोककण्टकान्।
निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः॥ २६०॥
(११६-११८)

(**उत्कोचकाः**) रिश्वतखोर, (**औपधिकाः**) भय दिखाकर धन ऐंठने वाले (**वञ्चकाः**) ठग, (**कितवाः**) जुआरी (**मंगलादेशवृत्ताः**) 'तुम्हें पत्र या धन प्राप्ति होगी' इत्यादि मांगलिक बातों को कहकर धन लूटने वाले, (**भद्राः**) साधु-संन्यासी आदि भद्ररूप धारण करके धन ठगने वाले, (**ईक्षणिकैः सह**) हाथ आदि देखकर भविष्य बताकर धन ठगने वाले, (**असम्यक्-कारिणः महामात्राः**) धन, वस्तु आदि लेकर गलत काम करने वाले उच्च कर्मचारी [मन्त्री आदि], (**चिकित्सकाः**) अनुचित मात्रा में धन लेने वाले या अयोग्य चिकित्सक (**शिल्पोपचारयुक्ताः**) अनुचित मात्रा में धन लेने वाले शिल्पी [चित्रकार आदि], (**निपुणाः पण्ययोषितः**) धन ठगने में चतुर वेश्याएं (**एवम्+आदीन्**) इत्यादियों को (**च**) और (**अन्यान्**) दूसरे जो (**आर्यलिङ्गिनः निगूढचारिणः अनार्यान्**) श्रेष्ठों का वेश या चिह्न धारण करके गुप्तरूप से विचरण करने वाले दुष्ट या बुरे व्यक्ति हैं, उनको (**प्रकाशान् लोककण्टकान् विजानीयात्**) प्रकट लोककण्टक=प्रजाओं को पीड़ित करने वाले व्यक्ति समझे और उनकी जानकारी रखे॥ २५८-२६०॥

अनुशीलन—औपधिक का अर्थ—'औपधिक' का अर्थ 'किसी प्रयोजन से कोई जालसाजी रचकर भय दिखाकर धन लूटने वाला व्यक्ति' होता है। आजकल की भाषा में इन्हें भयादोहन (ब्लैकमेल) करने वाले कहते हैं।

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः।
चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत्॥ २६१॥
(११९)

(**तत् कर्मकारिभिः**) जिस विषय में जानकारी प्राप्त करनी है वैसा ही कर्म करने में चतुर, (**गूढैः**) गुप्त रहने वाले (**सुचरितैः**) अच्छे आचरण वाले (**अनेक-संस्थानैः**) अनेक स्थानों में नियुक्त (**चारैः**) गुप्तचरों के द्वारा (**तान् विदित्वा**) उन ठगों या लोककण्टकों को मालूम करके (**च**) और फिर (**प्रोत्साद्य**) उन्हें पकड़कर (**वशम्+आनयेत्**) अपने वश में करे, कारागृह में रखे अर्थात् उन पर ऐसा नियंत्रण रखे कि वे पुनः ऐसे काम न कर पायें॥ २६१॥

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः।
कुर्वीत शासनं राजा सम्यक् सारापराधतः॥ २६२॥
(१२०)

(**राजा**) राजा (**स्वे स्वे कर्मणि तेषां दोषान् तत्त्वतः+अभिख्याप्य**) जो-जो उन्होंने बुरा काम किया है भलीभांति उनके दोषों की सही-सही घोषणा करके (**सार अपराधतः**) उनके बल और अपराध के अनुसार (**सम्यक् शासनं कुर्वीत**) न्यायोचित दण्ड से दण्डित करे॥ २६२॥

नहि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः।
स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ॥ २६३॥
(१२१)

(**स्नेतानाम्**) प्रकट चोरों, (**क्षितौ निभृतं चरताम्**) पृथ्वी पर गुप्तरूप से विचरण करने वाले चोरों या अन्य अपराधियों तथा (**पापबुद्धीनाम्**) पाप कर्म में बुद्धि रखने वालों के (**पापविनिग्रहः**) पापों पर

नियंत्रण (**दण्डात्+ऋते नहि कर्तुं शक्यः**) दण्ड के बिना नहीं हो सकता, अतः दण्ड देने में कभी प्रमाद या शिथिलता न करें॥ २६३॥

गुप्तचरों द्वारा किन स्थानों से अपराधों का पता लगाये—

सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥२६४॥
जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।
शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६४॥
एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत्॥ २६६॥
(१२२-१२४)

(**सभा-प्रपा+अपूपशाला**) सभाओं के आयोजन स्थल, प्याऊ, मालपूआ आदि बेचने का स्थान [भोजनालय, हलवाइयों की दुकान आदि], (**वेश-मद्य-अन्न-विक्रयाः**) बहुरूपी वेशभूषा, मद्य तथा अनाज बेचने का स्थान [मण्डी आदि], (**चतुष्पथाः**) चौराहे, (**चैत्यवृक्षाः**) प्रसिद्धवृक्ष जहां लोग इकट्ठे होकर बैठते हैं, (**समाजाः**) सार्वजनिक स्थान, (**प्रेक्षणानि**) मनोरंजन के स्थान, (**जीर्ण+ उद्यान+ अरण्यानि**) पुराने बगीचे और जंगल, (**कारुक+ आवेशनानि**) शिल्पगृह=शिल्प विक्रय स्थान आदि (**शून्यानि अगाराणि**) सूने पड़े हुए घर, (**वनानि च उपवनानि**) वन और उपवन, (**राजा**) राजा (**एवं-विधान् देशान्**) ऐसे स्थानों में (**तस्कर-प्रतिषेधार्थम्**) चोरों-ठगों के निवारण के लिए (**स्थावर-जङ्गमैः गुल्मैः**) एक स्थान पर (पुलिस चौकी बनाकर) रहने वाले और गश्त लगाने वाले सिपाहियों के दलों को (**च**) और (**चारैः**) गुप्तचरों को (**अनुचारयेत्**) विचरण कराये या नियुक्त करके उनको नियंत्रित करे॥ २६४-२६६॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः ।
विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७॥
(१२५)

(**तत् सहायैः+अनुगतैः**) उन चोर आदि के सहायकों और अनुगामियों से (**नानाकर्मप्रवेदिभिः निपुणैः पूर्वतस्करैः**) अनेक प्रकार के कर्मों को जानने वाले चतुर भूतपूर्व चोरों से भी (**विद्यात्**) चोरों का पता लगावे (**च**) और पता लगने पर उन्हें (**उत्सादयेत्**) दण्डित करें॥ २६७॥

भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः।
शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम्॥ २६८॥
(१२६)

वे सहयोगी या गुप्तचर लोग (**भक्ष्य-भोज्य-अपदेशैः**) खाने के पदार्थों का लालच देकर (**च**) और (**ब्राह्मणानां दर्शनैः**) ब्रह्मवेत्ता विद्वानों के दर्शनों के बहाने (**च**) तथा (**शौर्यकर्म-अपदेशैः**) कोई शौर्यकर्म दिखाने के बहाने से (**तेषां समागमं कुर्युः**) उन चोर आदि को सिपाहियों से मिला दें, गिरफ्तार करा दें॥ २६८॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये।
तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान्॥ २६९॥
(१२७)

(**ये**) जो चोर और उसके सहयोगी (**तत्र न+उपसर्पेयुः**) उपर्युक्त स्थानों [२६८] पर न आवें (**च**) और (**ये**) जो चोर (**मूलप्रणिहिताः**) पकड़े जाने की शंका से सावधान होकर बचते रहें अर्थात् पकड़ में न आवें तो (**नृपः**) राजा (**समित्र-ज्ञाति-बान्धवान् तान्**) मित्र, रिश्तेदार और बान्धवों सहित उन चोरों को (**प्रसह्य**) बलपूर्वक पकड़कर (**हन्यात्**) दण्डित करे॥ २६९॥

प्रमाण मिलने पर ही दण्ड दे—

न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन्॥ २७०॥
(१२८)

(**धार्मिकः नृपः**) धार्मिक राजा (**होढेन विना**) चोरी का माल आदि प्रमाणों के बिना (**चौरं न**

घातयेत्) चोर को न मारे, किन्तु (**सहोढं स+उपकरणम्**) चोरी का माल, और सेंध मारने आदि के औजार आदि प्रमाण उपलब्ध होने पर (**अविचारयन् घातयेत्**) अवश्य दण्डित करे॥ २७०॥

चोरों के सहयोगियों को भी दण्ड दे—

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः।
भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत्॥ २७१॥
(१२९)

(**च**) और (**ग्रामेषु+अपि ये केचित्**) गांवों में भी जो कोई (**चौराणां भक्तदायकाः भाण्डावकाशदाः**) चोरों को भोजन देनेवाले, बर्तन, शरण और स्थान देने वाले हों (**तान् सर्वान् अपि घातयेत्**) राजा उन सबको भी दण्डित करे॥ २७१॥

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान्।
अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्छिष्याच्चौरानिव द्रुतम्॥ २७२॥
(१३०)

राजा (**राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्**) राज्य में प्रजा की सेवा-सुरक्षा के लिए नियुक्त (**च**) और (**चोदितान् सामन्तान्**) सीमाओं पर नियुक्त राजपुरुषों को (**अभ्याघातेषु मध्यस्थान्**) यदि आक्रमण, चोरी-तस्करी आदि अपराधों में संलिप्त पायें तो उनको भी (**चौरान्+इव द्रुतं शिष्यात्**) चोर के समान ही शीघ्रतापूर्वक दण्ड दे। शीघ्रतापूर्वक इसलिए कहा है कि जिससे प्रजाओं के मन में राजपुरुष होने के कारण छूट जाने का संदेह न पनपे और चोरी, तस्करी पर शीघ्र नियन्त्रण हो सके।

सामूहिक हानि होने पर सहयोग न करने वाले को दण्ड—

ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने।
शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः॥
२७४॥ (१३१)

(**ग्रामघाते**) चोरों, लुटेरों आदि के द्वारा गांव को लूटने के मौके पर (**हिताभङ्गे**) नदियों या बांधों के तोड़ने पर (**पथि मोष-अभिदर्शने**) रास्ते में चोर आदि

से मुकाबला होने पर (**शक्तितः न+अभिधावन्तः**) यथाशक्ति दौड़कर, रक्षा या बचाव न करने वालों को (**सपरिच्छदाः निर्वास्याः**) गृहसामग्री सहित देश से निकाल देवे॥ २७४॥

अनुशीलन—हिता का अर्थ और व्युत्पत्ति— 'हिता' का अर्थ नदी है।'हि गतौ वृद्धौ च' धातु से क्त प्रत्यय, स्त्रीलिङ्ग में टाप् से 'हिता' शब्द की सिद्धि होती है।'**हिन्वन्ति गच्छन्ति याः ताः नद्यः**' इस विग्रह से बहने वाली-गति करने वाली हिता अर्थात् नदी होती है। नदियां सामूहिक उपकार करने के लिए होती हैं। इसलिए उनके तटबन्धों या बांधों को तोड़ने वालों का सामूहिक रूप से ही विरोध करना चाहिए।

राज्ञः कोषापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान्।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान्॥ २७५॥
(१३२)

(**राज्ञः कोषहर्तॄन्**) राजा के खजाने का धन को चुराने वाले (**च**) और (**प्रतिकूलेषु स्थितान्**) राज्य के विरोधी कार्यों में सलंग्न रहने वाले (**च**) तथा (**अरीणाम् उपजापकान्**) शत्रुओं को भेद देने वाले, इन्हें राजा (**विविधैः दण्डैः घातयेत्**) विविध प्रकार के दण्डों से दण्डित करे॥ २७५॥

विभिन्न अपराधियों को दण्ड—

सन्धिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्॥
२७६॥(१३३)

(**ये तस्कराः**) जो चोर-लुटेरे (**रात्रौ सन्धिं छित्त्वा**) रात को सेंध लगाकर (**चौर्यं कुर्वन्ति**) चोरी करते हैं (**नृपः**) राजा (**तेषां हस्तौ छित्त्वा**) उनके दोनों हाथ काटकर (**तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्**) तेज शूली पर चढ़ा दे॥ २७६॥

अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति॥ २७७॥
(१३४)

राजा (**ग्रन्थिभेदस्य**) जेबकतरे आदि चोरों की (**प्रथमे ग्रहे**) पहली बार पकड़े जाने पर (**अङ्गुलीः छेदयेत्**) अंगुलियाँ कटवादे (**द्वितीये हस्तचरणौ**) दूसरी बार पकड़े जाने पर हाथ-पैर कटवादे (**तृतीये वधम्+अर्हति**) तीसरी बार पकड़े जाने पर वध करने योग्य है ॥ २७७ ॥

अग्निदान्भक्तदाँश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान्।
संनिधातॄंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥
(१३५)

(**ईश्वरः**) राजा (**मोषस्य अग्निदान् भक्तदान् शस्त्र-अवकाशदान् च संनिधातॄन्**) चोरों को भोजन पकाने के लिए अग्नि, भोजन, शस्त्र, स्थान देने वाले और चोरी के माल को रखने वाले लोगों को भी (**चौरम्+इव हन्यात्**) चोर की तरह ही [९.२७७ जैसे] दण्डित करे॥ २७८ ॥

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा।
यद्वाऽपि प्रतिसंस्कुर्याद् दाप्यस्तूत्तमसाहसम्॥ २७९ ॥
(१३६)

राजा (**तडागभेदकं हन्यात्**) प्रजा के लिए बने तालाब आदि को तोड़ने वालों का वध करे (**वा**) अथवा (**अप्सु शुद्धवधेन**) जल में डुबोकर या साधारण उपायों से मारे (**यद् वा+अपि**) यदि दोषी (**प्रतिसंस्कुर्यात्**) तोड़े हुए को पुनः यथावत् ठीक करवा दे तो (**उत्तमसाहसं दाप्यः**) उसको 'उत्तम-साहस' अर्थात् एक हजार पण का दण्ड [८.२३८] करे॥ २७९ ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत्।
आगमं वाऽप्यपां भिद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम्॥
२८१ ॥ (१३७)

(**यः तु**) जो व्यक्ति (**पूर्वनिविष्टस्य तडागस्य**) किसी के द्वारा पहले बनाये गये तालाब का (**उदकं हरेत्**) पानी चुराले (**वा**) अथवा (**अपाम्+आगमं भिद्यात्**) जल आने का रास्ता तोड़दे (**सः पूर्वसाहसं**

दाप्यः) उसे 'पूर्वसाहस' अर्थात् २५० पण [८.१३८] का दण्ड दे॥ २८१॥

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत्॥ २८२॥
(१३८)

(**यः तु**) जो व्यक्ति (**अनापदि**) आपत्काल के बिना अर्थात् स्वस्थ अवस्था में (**राजमार्गे**) सड़क पर, मुख्य मार्ग या गली में (**अमेध्यं समुत्सजेत्**) मल, मूत्र आदि करे तो (**सः द्वौ कार्षापणौ दद्यात्**) उस पर दो 'कार्षापण' [८.१३६] दण्ड करे (च) और (**आशु अमेध्यं शोधयेत्**) तुरन्त उस गन्दगी को साफ करवाये॥ २८२॥

आपद्गतोऽथवा वृद्धो गर्भिणी बाल एव वा।
परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः॥ २८३॥
(१३९)

(**आपद्गतः**) कोई रोगी या आपत्तिग्रस्त व्यक्ति (**वृद्धो गर्भिणी वा बालः**) वृद्ध, गर्भवती या बालक राजमार्ग को गन्दा करें तो (**परिभाषणम्+अर्हन्ति**) उनको उसके न करने के लिए कहे या फटकार दे (**च**) और उनसे (**तत् शोध्यम्**) उसकी सफाई कराले (**इति स्थितिः**) ऐसी शास्त्रमर्यादा है॥ २८३॥

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः॥ २८४॥
(१४०)

(**सर्वेषां चिकित्सकानाम्**) सभी चिकित्सकों में (**अमानुषेषु मिथ्या प्रचरताम्**) पशुओं की गलत चिकित्सा करने वालों को (**प्रथमः दमः**) 'प्रथम-साहस' अर्थात् २५० पण [८.१३८] का दण्ड करे और (**मानुषेषु मध्यमः**) मनुष्यों की गलत चिकित्सा करने पर 'मध्यम साहस' अर्थात् ५०० पण का दण्ड करे॥ २८४॥

संक्रमध्यवजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च॥ २८५॥
(१४१)

(**संक्रम-ध्वजयष्टीनाम्**) संक्रम अर्थात् रथ, उस रथ के ध्वजा की यष्टि जिसके ऊपर ध्वजा बांधी जाती है (**च**) और (**प्रतिमानां भेदकः**) प्रतिमा= छटांक आदिक बटखरे, जो इन तीनों को तोड़ डाले वा अधिक न्यून कर देवे (**तत् सर्वं प्रतिकुर्यात्**) उनको उससे राजा बनवा लेवे (**च**) और (**पञ्चशतानि दद्यात्**) जिसका जैसा ऐश्वर्य है, उसके योग्य दण्ड करे—जो दरिद्र होवे तो उससे पांच सौ पैसा राजा दण्ड लेवे; और जो कुछ धनाढ्य होवे तो पांच सौ रुपया उससे दण्ड लेवे; और जो बहुत धनाढ्य होवे उससे पांच सौ अशर्फी दण्ड लेवे॥ २८५॥ (द० शा० ५१, प० वि० १२)[१]

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः॥ २८६॥
(१४२)

(**अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे**) अच्छी वस्तुओं में खराब वस्तुओं की मिलावट करके उन्हें दूषित करने पर (**तथा**) तथा (**भेदने**) वस्तुओं को बिगाड़ने तोड़ने पर (**च**) और (**मणीनाम्+अपवेधे**) मणि आदि रत्नों को अनुचित बेधने के अपराध में (**प्रथमसाहसः दण्डः**) 'प्रथमसाहस' अर्थात् २५० पण [८.१३८] का दण्ड दे॥ २८६॥

समैर्हि च विषमं यस्तु चरेद्वा मूल्यतोऽपि वा।
समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा॥ २८७॥
(१४३)

(**यः तु**) जो (**नरः**) मनुष्य (**समैः**) समानमूल्य

---

१. **प्रचलित अर्थ**—'संक्रम=नाले या छोटी नहर को पार करने के लिए बनाये छोटे पुल, ध्वज, यष्टि=तालाब, बावली आदि के बीच बनाया खम्बा, प्रतिमा=मूर्तियां, इनको तोड़ने वाले से, राजा पांच सौ पण दण्ड ले और उसे ठीक कराये'॥ २८५॥

वाली वस्तुओं के बदले (**अपि वा मूल्यतः**) अथवा सही मूल्य से (**विषमं चरेत्**) कम वस्तु देने का अथवा अधिक मूल्य लेने का अनुचित व्यवहार करे, (**पूर्वं वा मध्यमम्+एव दमं समाप्नुयात्**) वह अपराधानुसार 'पूर्वसाहस' अर्थात् २५० पण या 'मध्यमसाहस' अर्थात् ५०० पण [८.१३८] दण्ड का भागी होता है॥ २८७॥

बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत्।
दुःखिता यत्र दृश्येरन् विकृताः पापकारिणः॥ २८८॥
(१४४)

(**राजा**) राजा (**सर्वाणि बन्धनानि**) कारागार आदि (**मार्गे निवेशयेत्**) प्रधान मार्गों पर बनवावे (**यत्र**) जहां (**दुःखिताः विकृताः पापकारिणः दृश्येरन्**) हथकड़ी, बेड़ी आदि से दुःखी हुए, बिगड़ी दशा वाले अपराधी लोग दिखाई देते रहें [जिससे कि उनको देखकर जनता के मन में अपराधों के प्रति भय उत्पन्न होता रहे]॥ २८८॥

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम्।
द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत्॥ २८९॥
(१४५)

राजा (**प्राकारस्य भेत्तारम्**) नगर के परकोटे को तोड़ने वाले (**च**) और (**परिखाणां पूरकम्**) नगर के चारों ओर की खाई को नष्ट करने वाले (**च**) तथा (**द्वाराणां भक्तारम्**) नगर-द्वारों को तोड़ने वाले व्यक्ति को (**क्षिप्रम्+एव प्रवासयेत्**) तुरन्त देशनिकाला दे दे॥ २८९॥

सात राजप्रकृतियाँ और उनका महत्त्व—

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥ २९४॥
(१४६)

(**स्वामी-अमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्**) १. स्वामी, २. मन्त्री, ३. किला, ४. राष्ट्र, ५. कोश, ६. दण्ड व्यवस्था और, ७. मित्र (**एताः सप्त प्रकृतयः**) ये सात

राजप्रकृतियां राज्य के मूल अंग हैं (**सप्ताङ्गं राज्यम्+उच्यते**) इनसे मिलकर ही राज्य 'सप्ताङ्ग'= सात अङ्गों वाला कहलाता है ॥ २९४ ॥

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम्।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद् व्यसनं महत्॥ २९५॥
(१४७)

(**राज्यस्य+आसां सप्तानां प्रकृतीनां तु**) राज्य की इन सात प्रकृतियों में (**यथाक्रमं पूर्वं पूर्वं व्यसनं महत् गुरुतरं जानीयात्**) क्रमशः पहली-पहली प्रकृति-सम्बन्धी आपत्ति को बड़ी समझे [जैसे—राजा पर आई आपत्ति सबसे बड़ी होती है, उससे कम मन्त्री पर आपत्ति, उससे कम किले पर आदि] ॥ २९५ ॥

सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत्।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किंचिदतिरिच्यते॥ २९६॥
(१४८)

(**इह**) इस (**त्रिदण्डवत्**) तीन पायों वाली तिपाई के समान (**सप्ताङ्गस्य विष्टब्धस्य राज्यस्य**) पूर्वोक्त सात प्रकृतिरूपी मूल अंगों पर स्थित इस राज्य में (**अन्योन्यगुणवैशेष्यात्**) सभी अंगों के अपने-अपने गुणों की विशेषताओं से युक्त और परस्पर आश्रित होने के कारण (**किंचित् न अतिरिच्यते**) कोई अंग किसी से गुण में विशिष्ट या कम नहीं है अर्थात् अपने-अपने प्रसंग में सभी का विशेष महत्त्व है ॥ २९६ ॥

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते।
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते॥ २९७॥
(१४९)

यतो हि (**तेषु तेषु तु कृत्येषु**) उन राज्य प्रकृतियों [९.२९४] के अपने-अपने कार्यों में (**तत्-तत्+अङ्गं विशिष्यते**) वही-वही प्रकृति-अंग विशेष है, और (**यत् कार्यं येन साध्यते**) जो कार्य जिस प्रकृति से सिद्ध होता है (**तस्मिन् तत् श्रेष्ठम्+उच्यते**) उसमें वही प्रकृति श्रेष्ठ मानी गई है, अर्थात् समयानुसार सभी प्रकृतियों की महत्ता और श्रेष्ठता है, अतः किसी को

कम महत्त्वपूर्ण समझकर उपेक्षणीय न समझें॥ २९७॥

चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम्।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः॥
२९८॥(१५०)

(**महीपतिः**) राजा (**चारेण**) गुप्तचरों से (**उत्साहयोगेन**) सेना के उत्साह सम्बन्ध से (**च**) और (**कर्मणां क्रियया**) राज्यशक्ति-वर्धक नये-नये कार्यों के करने से अर्जित (**स्वशक्तिं च परशक्तिं नित्यं विद्यात्**) अपनी शक्ति और शत्रु की शक्ति की सदा जानकारी रखे और उसके अनुसार सन्धि, युद्ध आदि कार्य करे॥ २९८॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च।
आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम्॥ २९९॥
(१५१)

(**सर्वाणि पीडनानि**) अपने तथा शत्रु के राज्य में आई सभी व्याधि, आपत्ति आदि पीड़ाओं को (**तथैव व्यसनानि**) तथा व्यसनों [७.४५-५३] के प्रसार को (**च**) और (**गुरु-लाघवं संचिन्त्य**) बड़े-छोटे अर्थात् अपने और शत्रु राजा में कौन कम-अधिक शक्तिशाली है (**संचिन्त्य**) इन बातों पर विचार करके (**ततः कार्यम्+आरभेत**) उसके पश्चात् राजा सन्धि-विग्रह आदि [७.१६०-२१०] कार्य को प्रारम्भ करे॥ २९९॥

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते॥ ३००॥
(१५२)

(**श्रान्तः श्रान्तः**) बार-बार हारा-थका हुआ भी राजा (**कर्माणि पुनः-पुनः आरभेत एव**) राज्य के विकास कार्यों को [७.१६०-२००] फिर-फिर अवश्य आरम्भ करे (**हि**) क्योंकि (**कर्माणि+आरभमाणं हि पुरुषम्**) कर्मों को पुनः-पुनः आरम्भ करने वाले पुरुष को ही (**श्रीः निषेवते**) विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है॥ ३००॥

राजा के शासन में ही चार युग—

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥ ३०१॥
(१५३)

(**कृतं त्रेतायुगं द्वापरं च कलिः**) कृतयुग, त्रेतायुग द्वापरयुग और कलियुग (**सर्वाणि राज्ञः वृत्तानि**) ये सब राजा के ही आचार-व्यवहार विशेष हैं अर्थात् राजा जैसा राज्य को बनाता है उस राज्य में वैसा ही युग बन जाता है [९.३०२] (**राजा हि युगम्+उच्यते**) वस्तुतः राजा ही 'युग' कहलाता है अर्थात् राजा ही युगनिर्माता है॥ ३०१॥

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम्॥ ३०२॥
(१५४)

(**प्रसुप्तः कलिः भवति**) जब राजा सोता है अर्थात् राज्य के पालन-संवर्धन कार्यों की उपेक्षा करता है तो वह 'कलियुग' होता है, (**सः जाग्रत् द्वापरं युगम्**) जब वह जागता है अर्थात् राज्य कार्य को साधारणतः करता रहता है तो वह 'द्वापरयुग' है, और (**कर्मसु+अभ्युद्यतः त्रेता**) राज्य संवर्धन और प्रजा-हितकारी कार्यों में जब राजा सदा उचित उद्यत रहता है किन्तु यदि राज्यकार्य उस तत्परता से सम्पन्न नहीं होते तो वह 'त्रेतायुग' है, (**विचरन् तु कृतं युगम्**) जब राजा सभी कर्त्तव्यों को उत्साह और तत्परतापूर्वक करे और अपनी प्रजा के दुःखों को जानने के लिए राज्य में तत्पर होते हुए उन्हें जानकर न्यायानुसार सुख प्रदान करने के लिए उद्यत रहे, राजा का यह सत्यगुण है॥ ३०२॥

राजा के आठ रूप—

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत्॥
३०३॥(१५५)

(**नृपः**) राजा (**इन्द्रस्य+अर्कस्य वायोः यमस्य**

वरुणस्य चन्द्रस्य+अग्नेः पृथिव्याः तेजः वृत्तम् चरेत्) इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि, पृथिवी इनके तेजस्वी स्वभाव के अनुसार ही आचरण-व्यवहार करे [द्रष्टव्य ७.४-७] ॥ ३०३ ॥

अनुशीलन—अन्यत्र वर्णित भावों की पुष्टि—मनु ने सप्तमाध्याय में 'राजा में कौन-कौन से विशिष्ट गुण होने चाहिएँ' इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए भी इन गुणों का वर्णन किया है। मनु ने यह भाव वेदमन्त्रों से ग्रहण किया है। द्रष्टव्य हैं ७.४-७ श्लोक और उनकी समीक्षा में वेदमन्त्र। वहां पृथिवी के स्थान पर 'वित्तेश' और 'कुबेर' तथा यम के स्थान पर 'धर्मराज' का प्रयोग है।

राजा का इन्द्ररूप आचरण—

वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाऽभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन्॥ ३०४॥
(१५६)

(**यथा+इन्द्रः वार्षिकान् चतुरः मासान्**) जैसे इन्द्र [=वृष्टिकारक शक्ति] प्रत्येक वर्ष के श्रावण आदि चार मासों में (**अभिप्रवर्षति**) जल बरसाता है (**तथा इन्द्रव्रतं चरन्**) उसी प्रकार इन्द्र के व्रत को आचरण में लाता हुआ राजा (**स्वं राष्ट्रं कामैः अभिवर्षेत्**) अपने राष्ट्र की प्रजाओं की कामनाओं को पूर्ण करे, यही राजा का इन्द्रव्रत नामक आचरण है ॥ ३०४ ॥

राजा का सूर्यरूप आचरण—

अष्टौ मासान् यथाऽऽदित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत्॥ ३०५॥
(१५७)

(**यथा+आदित्यः**) जैसे सूर्य (**रश्मिभिः**) अपनी किरणों से (**अष्टौ मासान् तोयं हरति**) आठ मास तक जलग्रहण करता है (**तथा**) उसी प्रकार राजा (**राष्ट्रात् नित्यं करं हरेत्**) राष्ट्र से अपने अधिकारियों के माध्यम से थोड़ा-थोड़ा कर ग्रहण करे [७.१२७-१२९] (**अर्कव्रतं हि तत्**) यही राजा का 'अर्कव्रत' है ॥ ३०५ ॥

राजा का वायुरूप आचरण—

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम्॥ ३०६॥
(१५८)

(**यथा मारुतः**) जैसे वायु (**सर्वभूतानि प्रविश्य**) सब प्राणियों में प्रविष्ट होकर (**चरति**) विचरण करता है (**तथा**) उसी प्रकार (**चारैः प्रवेष्टव्यम्**) राजा को अपनी तथा शत्रु की प्रजाओं में गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रवेश रख कर राज्य सम्बन्धी सभी गतिविधियों का ज्ञान करना चाहिए (**एतत् हि मारुतं व्रतम्**) यही राजा का 'मारुतव्रत' है॥ ३०६॥

राजा का यमरूप आचरण—

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम्॥ ३०७॥
(१५९)

(**यथा यमः**) जिस प्रकार यम=ईश्वर की नियामक शक्ति=(**काले प्राप्ते**) कर्मफल का समय आने पर (**प्रियद्वेष्यौ नियच्छति**) प्रिय और शत्रु सबको अपने वश में करके यथायोग्य दण्डित करता है (**राज्ञा तथा प्रजाः नियन्तव्याः**) राजा को उसी प्रकार अपराध करने पर प्रिय-शत्रु सभी प्रजाओं को न्यायपूर्वक पक्षपातरहित दण्ड देना चाहिए (**तत् हि यमव्रतम्**) यही राजा का 'यमव्रत' है॥ ३०७॥

राजा का वरुणरूप आचरण—

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम्॥ ३०८॥
(१६०)

(**यथा**) जिस प्रकार अपराधी मनुष्य (**वरुणेन पाशैः बद्धः एव+अभिदृश्यते**) वरुण के द्वारा पाशों से अर्थात् जलीय या समुद्र की तरंगों, भंवरोंरूपी बंधनों में फंसकर जैसे मनुष्य बंधा-जकड़ा हुआ दीखता है अर्थात् अवश्य जकड़ा जाता है (**तथा**) उसी प्रकार राजा भी (**पापान् निगृह्णीयात्**) पापियों=अपराधियों

को सुधारने तक साम-दाम भेद-दण्ड आदि से वश में करके रखे या बन्धन में=कारागार में डाले रखे (**एतत् हि वारुणं व्रतम्**) यही राजा का 'वरुणव्रत' है ॥ ३०८ ॥

अनुशीलन—वरुणपाश का अर्थ—'वरुणपाश' के यद्यपि प्रसंगानुसार अनेक अर्थ होते हैं। यहां महाभूतादि दिव्यशक्तियों के गुणों से राजा के गुणों की तुलना की है, अतः यहां वरुण का जल अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। और जैसे जल की उत्ताल तरंगें या भंवर किसी वस्तु या व्यक्ति को वश में करके फंसा लेती हैं, उसी प्रकार विविध बन्धनों से राजा दुष्टों को वश में करे। यह वरुणपाश का आलंकारिक अभिप्राय है।

राजा का चन्द्ररूप आचरण—

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥ ३०९ ॥
(१६१)

(**यथा**) जिस प्रकार (**परिपूर्णं चन्द्रं दृष्ट्वा मानवाः हृष्यन्ति**) पूर्ण प्रकाशित चन्द्रमा को देखकर मनुष्य प्रसन्न होते हैं (**तथा**) उसी प्रकार (**यस्मिन् प्रकृतयः**) जिस राजा को पाकर-देखकर, उस द्वारा प्रदत्त सुखों से प्रजाएं स्वयं को हर्षित अनुभव करें (**सः नृपः चान्द्रव्रतिकः**) वह राजा का 'चन्द्रव्रत' है ॥ ३०९ ॥

राजा का अग्निरूप आचरण—

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात् पापकर्मसु।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥
(१६२)

राजा (**पापकर्मसु**) पापियों में=पाप करने वालों के लिए (**नित्यम्**) सदैव (**प्रतापयुक्तः तेजस्वी स्यात्**) संतापित करने वाला और तेज से प्रभावित कर भयभीत करने वाला होवे (**च**) और (**दुष्टसामन्त-हिंस्रः**) दुष्ट मन्त्री, माण्डलिक राजा आदि को दण्डित करने वाला होवे (**तत्+आग्नेयं व्रतं स्मृतम्**) यही राजा

का 'आग्नेयव्रत' कहा है ॥ ३१० ॥

राजा का धरारूप आचरण—

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम्।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम्॥ ३११ ॥
(१६३)

(**यथा**) जिस प्रकार (**धरा**) धरती (**सर्वाणि भूतानि समं धारयते**) सब प्राणियों को बिना किसी भेदभाव अर्थात् समानभाव से धारण करती है (**तथा**) उसी प्रकार (**सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः**) समान भाव से सभी प्राणियों का धारण-पोषण करने वाले राजा का समान व्यवहार होना (**पार्थिव व्रतम्**) समान व्यवहार रखना 'पार्थिव व्रत' होता है ॥ ३११ ॥

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः।
स्तेनान् राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च॥ ३१२ ॥
(१६४)

(**राजा**) राजा (**एतैः+उपायैः च अन्यैः युक्तः**) इन पूर्वोक्त उपायों तथा इनसे भिन्न जो और उत्तम उपाय हों उनसे युक्त होकर (**नित्यम्-अतन्द्रितः**) सदा आलस्यहीन रहता हुआ (**स्वराष्ट्रे च परे+एव**) अपने राष्ट्र में रहने वाले और दूसरे राष्ट्र से आकर चोरी करने वाले (**स्तेनान् निगृह्णीयात्**) चोरों-ठगों और लोक-कण्टकों को वश में करे॥ ३१२ ॥

एवं चरन् सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः।
हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत्॥ ३२४॥
(१६५)

(**पार्थिवः**) राजा (**एवं चरन्**) पूर्वोक्त [७.१ से ९.३१२] प्रकार के आचरण करता हुआ (**सदा राजधर्मेषु युक्तः**) सदा राजधर्मों में स्वयं संलग्न रहे (**सर्वान् भृत्यान् एव**) सभी राजकर्मचारियों को भी (**लोकस्य हितेषु नियोजयेत्**) प्रजाओं के हित-सम्पादन में लगाये रखे॥ ३२४॥

राजधर्म विषय की समाप्ति का संकेत—

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः।
इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः॥ ३२५॥
(१६६)

(**एषः**) यह [७.१ से ९.३१२ तक] (**राज्ञः सनातनः अखिलः कर्मविधिः उक्तः**) राजा का सनातन और सम्पूर्ण कर्त्तव्य-विधान कहा अर्थात् शाश्वत और सम्पूर्ण राजनीति का विधान कहा। अब (**वैश्य-शूद्रयोः**) वैश्यों और शूद्रों की (**कर्मविधिं इमं विद्यात्**) कर्त्तव्यों की विधि को इस आगे कहे अनुसार जानें—[उनका वर्णन अग्रिम दशम अध्याय में है]॥ ३२५॥

अनुशीलन—नवम अध्याय के विभाजन पर विचार—वर्तमान में उपलब्ध मनुस्मृतियों में नवम अध्याय में ३३६ श्लोक उपलब्ध होते हैं। सप्तम, अष्टम और नवम अध्याय के ३२५ श्लोक तक राजनीति का

[नवम अध्याय के ३२६ से ३३६ श्लो

इति महर्षिमनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमार
समीक्षाभ्यां विभूषितायाञ्च विशुद्ध

विषय है। मनुस्मृति का अध्याय-विभाजन भी प्रकरण-अनुसार हुआ है, किन्तु कुछ अध्यायों के विभाजन में विभाजनकर्त्ता द्वारा भूलें हुई हैं, प्रकरण को समझे बिना अध्याय-विभाजन कर दिया है [इस पर सप्रमाण विस्तृत विवेचन 'मनुस्मृति में अध्याय-विभाजन' शीर्षक में 'मनुस्मृति-अनुशीलन' में किया गया है]। इसी प्रकार इस अध्याय में भी भूल हुई है। राजधर्म विषय के साथ ९.३२६ से ९.३३६ श्लोक जिनमें वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन है, मिला दिये हैं। इनके साथ ही चातुर्वर्ण्य धर्म [२.१४४ (२.२५) से ९.३३६ तक] समाप्त हो जाते हैं और फिर दशम अध्याय में चातुर्वर्ण्य धर्म का उपसंहार है। क्योंकि वैश्य-शूद्र धर्मवर्णन के ग्यारह श्लोकों के प्रकरण का कोई एक अध्याय उपयुक्त नहीं जंचता, अतः हमने इन श्लोकों को दशम अध्याय में उपसंहार-वर्णन के साथ सम्मिलित कर दिया है। ९.३२५ श्लोक के कथनानुसार यहीं इस राजधर्मात्मक अध्याय को समाप्त कर दिया है।

क दशम अध्याय के अन्तर्गत देखिए]

कृतहिन्दीभाष्यसमन्वितायाम् अनुशीलन-
मनुस्मृतौ राजधर्मात्मकः नवमोऽध्यायः ॥

अथ दशग

(हिन्दीभाष्य-'अनुशी

(चातुर्वर्ण्य-धर्मान्तर्गत

एवं चातुर्वर्ण्य ध

वैश्यों के कर्त्तव्य—

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम्।
वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे॥
९.३२६॥ (१)

(**कृतसंस्कारः**) यज्ञोपवीत संस्कारपूर्वक शिक्षा-प्राप्ति करके समावर्तन संस्कार होने के पश्चात् (**वैश्यः**) वैश्य (**दारपरिग्रहं कृत्वा**) विवाह करके (**वार्तायां च+एव पशूनां रक्षणे नित्ययुक्तः स्यात्**) व्यापार में और पशुपालन में सदा लगा रहे॥ ३२६॥

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम्॥ ९.३२९॥
९.३२९॥ (२)

वैश्य (**मणि-मुक्ता-प्रवालानाम्**) मणि, मोती, प्रवाल आदि रत्नों के (**लोहानाम्**) लोहे आदि धातुओं के (**च**) और (**तान्तवस्य**) कपड़ों के (**गन्धानां च रसानाम्**) सुगन्धित कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थों के और रस-रसायनों [नमक, पारा आदि] के (**अर्घ-बल-अबलं विद्यात्**) मूल्यों के कम-अधिक भावों को जानें॥ ३२९॥

बीजानामुप्तिविच्च स्यात् क्षेत्रदोषगुणस्य च।
मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः॥ ९.३३०॥
(३)

वैश्य (**बीजानाम्+उप्तिवित् स्यात्**) सब प्रकार के बीजों को बोने की विधि को जानें (**च**) और (**क्षेत्र-दोष-गुणस्य**) खेतों के दोष-गुणों को जानें (**च**) तथा

...मोऽध्याय:

...लन'-समीक्षा सहित)

...-वैश्य-शूद्र के कर्त्तव्य

...र्म का उपसंहार)

(**मानयोगम्**) मापने तोलने के बाटों (**च**) और (**तुला-योगान्**) तराजुओं से सम्बद्ध (**सर्वशः जानीयात्**) सभी बातों की जानकारी रखें। ३३० ॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान्।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम्॥
९.३३१ ॥ (४)

वैश्य (**भाण्डानां सार-असारम्**) पात्रों, वस्तुओं के अच्छे-बुरेपन को (**देशानां गुण-अवगुणान्**) विभिन्न देशों के भौगौलिक एवं सामाजिक गुण-दोषों को (**च**) और (**पण्यानां लाभालाभम्**) बेची जाने वाली वस्तुओं की लाभ-हानि को, तथा (**पशूनां परिवर्धनम्**) पशुओं के संवर्धन के उपायों को जानें॥ ३३१ ॥

भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम्।
द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च॥
९.३३२ ॥ (५)

और (**भृत्यानां भृतिम्**) नौकरों के वेतन, (**नृणां विविधाः भाषाः**) विविध देशों में रहने वाले लोगों की विभिन्न भाषाओं को (**द्रव्याणां स्थान-योगान्**) वस्तुओं के प्राप्तिस्थान तथा प्राप्ति आदि की विधियाँ (**च**) और (**क्रयविक्रय+एव**) खरीद-बिक्री की विधि, इस सबको (**विद्यात्**) जानें॥ ३३२ ॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः॥ ९.३३३ ॥
(६)

वैश्य इस प्रकार [९.३२६-३३३] (**धर्मेण**) धर्मपूर्वक (**द्रव्यवृद्धौ उत्तमं यत्नम्+आतिष्ठेत्**) पदार्थों की वृद्धि के लिए अधिक से अधिक यत्न करे (**च**) और (**सर्वभूतानां प्रयत्नतः अन्नम्+एव दद्यात्**) सब प्राणियों को प्रयत्नपूर्वक अन्न उपजाकर देता रहे ॥ ३३३ ॥

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्श्रेयसः परः ॥ ९.३३४ ॥ (७)

(**वेदविदुषाम्**) वेदों के ज्ञाता और (**यशस्विनां गृहस्थानाम् विप्राणाम्**) यशस्वी गृहस्थ द्विजातियों की (**शुश्रूषा+एव तु**) सेवा करना ही (**शूद्रस्य नैश्श्रेयसः परः धर्मः**) शूद्र का कल्याणकारक उत्तम धर्म है ॥ ३३४ ॥

शूद्र को उत्कृष्ट वर्ण की प्राप्ति—

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ९.३३५ ॥ (८)

(**शुचिः**) शुद्ध-पवित्र [शरीर एवं मन से], (**उत्कृष्टशुश्रूषुः**) अपने से उत्कृष्ट वर्ण वालों की सेवा करने वाला, (**मृदुवाक्**) मधुरभाषी (**अनहंकृतः**) अहंकार से रहित (**नित्यं ब्राह्मण+आदि-आश्रयः**) सदा ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा में संलग्न शूद्र भी (**उत्कृष्टां जातिम्+अश्नुते**) उत्तम ब्रह्मजन्मान्तर्गत द्विजवर्ण को प्राप्त कर लेता है ॥ ३३५ ॥

अनुशीलन—(१) **शूद्र को उत्कृष्ट वर्ण की प्राप्ति**—इन श्लोकों के वर्णन से मनु की शूद्र के प्रति यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि वे शूद्र को हीन नहीं मानते अपितु पवित्र, उत्कृष्ट और उत्तम कर्मों से उच्चवर्ण प्राप्त करने का अधिकारी मानते हैं। यह मान्यता १०.६५ में भी वर्णित है। किसी भी वर्ण में उत्पन्न बालक अशिक्षित रह जाने के कारण ही व्यक्ति शूद्र कहाता है, जन्मना नहीं। यही मनु की मान्यता है।

इस विषय पर विस्तृत विवेचन १.३१, ९१ पर तथा १.१०७ की अन्तर्विरोध समीक्षा में देखिए।

(२) वेदों में शूद्र को यज्ञ आदि का विधान—ऋक् १०.५३.४-५ में ''**पञ्चजनाः ममहोत्रं जुषध्वम्**'' कहकर शूद्र को भी यज्ञ करने का आदेश है। निरुक्त ३.२.७ में '**पञ्चजनाः**' की व्याख्या में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निरामिषभोजी निषाद की गणना की है [विस्तृत विवेचन मनुस्मृति के भूमिका-भाग में शूद्र विषय में द्रष्टव्य है]।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजास्तिु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥ १०.४॥
(९)

[आर्यों के समाज में] (**ब्राह्मणः क्षत्रिय वैश्यः**) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (**त्रयः वर्णाः द्विजातयः**) ये तीन वर्ण विद्याध्ययनरूपी दूसरा जन्म प्राप्त करने वाले [२.१४६-१४८, इस संस्करण में २.१२१-१२३] हैं, अतः द्विज कहलाते हैं (**चतुर्थः एकजातिः शूद्रः**) चौथा विद्याध्ययनरूपी दूसरा द्विजजन्म न होने के कारण एकजाति=एक जन्म वाला अर्थात् विद्याध्ययन रूपी ब्रह्मजन्म से रहित शूद्र वर्ण है, (**नास्ति तु पञ्चमः**) पांचवा कोई वर्ण नहीं है॥ ४॥

अनुशीलन—(क) **वर्ण चार हैं**—(क) मनु ने यहां चार वर्णों की मान्यता अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित की है। मनुस्मृति में अन्यत्र भी चार वर्णों का ही वर्णन है। चार वर्णों की दीक्षा से रहित अन्य सभी व्यक्ति दस्यु हैं [१०.४५], अन्य वर्णसंकर आदि संज्ञक कोई वर्ण या जाति नहीं है। इस श्लोक की पुष्टि के लिए मनुस्मृति के निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—१.३१, ८७-९१; ३.२०; ५.५७; ७.६८; १०.४५, ६५, १३१; १२.९७ आदि। वर्णसंकरों की कल्पना जन्मना जातिवाद की है।

२. चार वर्णों में शास्त्रीय प्रमाण—अन्यत्र वेद और वैदिक ग्रन्थों में भी चार वर्णों का ही उल्लेख आता है। इन चार वर्णों से शेष व्यक्ति आर्येतर हैं जिन्हें निषाद, असुर, राक्षस आदि विभिन्न वर्गकृत नामों से अभिहित

किया जाता है—

(क) **''ऊर्जादः उत यज्ञियासः पञ्चजनाः मम होत्रं जुषध्वम्।''** (ऋक्० १०.५३.४)=**''पञ्चजनाः—चत्वारो वर्णाः, निषादः पञ्चम इति औपमन्यवः।''** (निरु० ३.२.७) चार वर्ण=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और इनसे भिन्न पांचवें निषादजन, ये वेदोक्त पांच प्रकार के मनुष्य हैं।

(ख) **''चत्वारो वर्णाः। ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः''** (श०ब्रा० ५.५.४.९)

''चत्वारो वै पुरुषा ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः॥'' (मैत्रा०सं० ४.४.६)

चारों वर्णों से भिन्न व्यक्तियों की संज्ञा—

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृता॥
१०.४५॥(१०)

(**लोके**) लोक में (**मुख-बाहू+उरु-पत्-जानाम्**) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों से (**बहिः**) वर्णोक्त श्रेष्ठ कर्त्तव्यपालन न करने के कारण इनमें अदीक्षित या बहिष्कृत (**या जातयः**) जो समुदाय या जातियां हैं (**म्लेच्छवाचः च आर्यवाचः**) चाहे वे म्लेच्छभाषाएं अर्थात् विकृत भाषाएँ बोलती हैं या आर्यभाषाएँ (**ते सर्वे**) वे सब (**दस्यवः स्मृताः**) 'दस्यु' कहलाती हैं॥ ४५॥

अनुशीलन—(१) **श्लोक के प्रसंग पर विचार**—१०.४ के पश्चात् वर्णनक्रम में १०.४५ की सम्बद्धता सिद्ध होती है, क्योंकि चौथे श्लोक में मनु द्वारा विहित समाज में चार वर्णों का अस्तित्व भूमिका रूप में बतलाया है और कहा है कि पांचवां कोई वर्णन नहीं है। अब वर्णों में अदीक्षित या बहिष्कृत जो व्यक्ति रह गये हैं, उन्हें किसके अन्तर्गत माना जाये? यह बतलाना प्रासंगिक था। उसे ४५वें श्लोक में बताया है कि शेष व्यक्ति 'दस्यु' हैं।

(२) **दस्यु से अभिप्राय**—वेदों में और प्राचीन संस्कृत-साहित्य में 'दस्यु' शब्द का पर्याप्त प्रयोग आता है। यहाँ मनु ने स्पष्ट किया है कि दस्यु कौन है। वेदों में

मनुष्यों के दो वर्ग उक्त हैं—'आर्य'=श्रेष्ठ और 'दस्यु='अश्रेष्ठ'। मनु ने यहां बताया है कि आर्यों के चार वर्णों से बाह्य अर्थात् वर्णाश्रम धर्मों में अदीक्षित [१०.५७] धर्म का पालन न करके अधर्माचरण करने वाले चारों वर्णों से अवशिष्ट सभी लोग दस्यु हैं। दस्यु शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति भी इनके इसी आचरण पर प्रकाश डालते हैं—'दसु-उपक्षये' धातु से '**यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्**' (उणादि ३.२०) से युच् प्रत्यय के योग से 'दस्यु' शब्द बनता है। निरुक्त ७.२३ में इसकी व्युत्पत्ति है—''**दस्यु दस्यते क्षयार्थात्....उपदासयति कर्माणि**'' =दस्यु वह है जो शुभकर्मों से हीन है, या शुभकर्मों का त्याग करता है। *दस्यु अर्थात् अनार्य की पहचान उसके कार्य देखकर करें—*

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम्।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत्॥
१०.५७॥(११)

(**वर्ण-अपेतम्**) वर्णों की दीक्षा से रहित अथवा वर्णों से बहिष्कृत (**आर्यरूपम्+अनार्यम्**) आर्य अर्थात् श्रेष्ठ-सभ्य रहन-सहन और स्वभाव का दिखावा करने वाले किन्तु वास्तव में श्रेष्ठलक्षणों से रहित अनार्य (**कलुष-योनिजम्**) [कलुषयोनौ=दुष्टयोनौ जायते इति कलुष-योनिजः तम्] दुष्ट संस्कारों वाले व्यक्ति से उत्पन्न दुष्टसंस्कारी या दुष्टप्रवृत्ति वाले को (**स्वैः कर्मभिः विभावयेत्**) उसके कर्मों से पहचान ले अर्थात् जो श्रेष्ठ कर्मों को न करता हो और अश्रेष्ठ कर्मों को करता हो, वह अनार्य है [जैसा कि अगले श्लोक में वर्णित है[१]] ॥५७॥

अनुशीलन—अनार्य और उसके लक्षण—(१) मनु ने प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी वर्ण की दीक्षा ग्रहण कर उत्तम धर्मानुकूल आचरण करने का कथन किया है। कुछ व्यक्ति इतने दुष्टसंस्कारों के होते हैं कि उनकी

---

१. **प्रचलित अर्थ**—वर्णभ्रष्ट (हीन वर्ण वाले), अप्रसिद्ध, नीच जाति से उत्पन्न, देखने में सज्जन (उच्च जाति वाले किन्तु वास्तव में) नीच जाति वाले मनुष्य को उसके कर्मों (बर्तावों) से जानना चाहिए॥५७॥

धर्माचरण में रुचि नहीं बनती। वे किसी भी वर्ण की दीक्षा को स्वीकार नहीं करते [**वर्णापेतम्**], उनमें स्वभावगत अश्रेष्ठता, कठोरता, निर्दयता होती है और धार्मिक क्रियाओं के प्रति उपेक्षा भावना रहती है। ऐसे व्यक्ति ही अनार्य या दस्यु हैं। दुष्टसंस्कारयुक्त व्यक्तियों से उत्पन्न होने वाले दुष्टसंस्कारी व्यक्तियों=कलुषयोनिजों या दस्युओं में ये संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं कि वे किसी-न-किसी रूप में प्रकट होकर उसकी पहचान करा देते हैं। १.४१-४२ में मनु ने दुष्ट कर्मों से दुष्टसंस्कारी सन्तानों की उत्पत्ति की ओर संकेत किया है। वही कलुषयोनिज या दस्यु होते हैं—

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः॥
.....भवति प्रजा निन्दितैर्निन्दिता नृणाम्— ॥

(२) इस श्लोक में उच्च-निम्न जातिपरक अर्थ करना मनुसम्मत नहीं है। यहाँ स्ष्टतः सभी ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख है जो आर्यरूप में अनार्य होते हैं, दुष्टोत्पन्न होने से दुष्ट-गुण-कर्म स्वभाव वाले होते हैं। चाहे वे किसी भी वर्ण में हों 'कलुषयोनिज' ही कहलायेंगे।

अनार्यों-दस्युओं के लक्षण—

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम्॥ १०.५८॥
(१२)

(**अनार्यता**) अश्रेष्ठ-असभ्य व्यवहार (**निष्ठुरता**) स्वभाव की कठोरता (**क्रूरता**) निर्दयता (**निष्क्रियात्मता**) धार्मिक क्रियाओं [यज्ञ आदि] के प्रति उपेक्षाभाव अर्थात् न करने की भावना, ये लक्षण (**लोके**) लोक में (**पुरुषं कलुषयोनिजं व्यञ्जयन्ति**) पुरुष के दुष्टप्रवृत्ति या अनार्य होने को सूचित करते हैं कि यह आर्यवर्णों के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि उक्त कार्य आर्यों के लिए निषिद्ध हैं[१] ॥५८॥

१. **प्रचलित अर्थ**—इस लोक में अनार्यता, निष्ठुरता, क्रूरता, क्रिया (यज्ञसन्ध्यावन्दनादि कार्य—) हीनता, ये सब नीच जाति में उत्पन्न पुरुष को मालूम करा देती हैं अर्थात् इन गुणों से युक्त मनुष्य को नीच जाति वाला जानना चाहिये॥५८॥

अनुशीलन—(क) १०.५६ में यह बतलाने पर कि वर्णों से बहिष्कृत या अदीक्षित व्यक्ति दस्यु हैं, चाहे वे आर्यभाषा बोलने वाले हों अथवा म्लेच्छभाषाभाषी। अब उनकी पहचान का वर्णन करना प्रासंगिक था, वह १०.५७-५८ में किया है। इस प्रकार ४५वें के पश्चात् वर्णनक्रम की सम्बद्धता की दृष्टि से १०.५७-५८ श्लोक उपयुक्त जंचते हैं।

(ख) इन श्लोकों से मनु की यह मान्यता स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं।

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा।
न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति॥
१०.५९॥ (१३)

(**दुर्योनिः**) बुरे संस्कारों वाला या बुरे माता-पिता से उत्पन्न व्यक्ति (**पित्र्यं या मातुः शीलम्**) पिता अथवा माता के स्वभाव को (**वा उभयम्+एव**) अथवा दोनों के ही स्वभाव को (**भजते**) अवश्य धारण किये होता है, और वह (**स्वां प्रकृतिं कथंचन न नियच्छति**) अपने स्वभाव को किसी प्रकार नियन्त्रित नहीं कर सकता अर्थात् उसका वह बुरा स्वभाव किसी न किसी रूप में प्रकट हो जाता है। [अतः उसके आचरण से बुरे व्यक्ति की पहचान कर लेनी चाहिए] ॥ ५९ ॥

कर्मानुसार वर्ण-परिवर्तन—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ १०.६५॥
(१४)

(**शूद्रः ब्राह्मणताम्+एति**) शूद्र या शूद्र कुल में उत्पन्न व्यक्ति जीवन में कभी भी ब्राह्मण वर्ण की शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करके ब्राह्मण वर्ण को ग्रहण कर सकता है, (**च**) और (**ब्राह्मणः शूद्रताम्+एति**) ब्राह्मण या ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति यदि अपने निर्धारित कर्तव्यों का पालन नहीं करे तो वह शूद्र वर्ण में पतित हो जाता है, (**एवं तु**) इसी प्रकार निश्चय-पूर्वक (**क्षत्रियात् जातम्**) जन्म से क्षत्रिय माता-पिता

से उत्पन्न बालक या व्यक्ति का भी अच्छे-बुरे कर्मों के आधार पर उच्च और निम्न वर्णपरिवर्तन हो जाता है (**च**) और (**तथैव**) उसी उपर्युक्त प्रकार से (**वैश्यात् विद्यात्**) जन्म से वैश्य के कुल में उत्पन्न व्यक्ति का भी वर्ण परिवर्तन हो जाता है, यह वर्णव्यवस्था का सिद्धान्त है, ऐसा जानें॥ ६५ ॥

ऋषि-अर्थ—''जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण, कर्म, स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाय, वैसे ही जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यकुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण कर्म स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र हो जाय, वैसे क्षत्रिय, वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे।'' (स०प्र०, समु० ४) (अन्यत्र व्याख्यात ऋ०भा०भू०, अधिकार०; सं०वि०, विवाह; पूना प्र० पृ० २०)

अनुशीलन—(क) १०.५७-५८ में कर्मानुसार म्लेच्छ व्यक्तियों की पहचान बतलाकर १०.६५ में कर्मानुसार वर्ण का परिवर्तन हो जाना कहा है अर्थात् कर्मानुसार अनार्य व्यक्ति की पहचान तो होती ही है, कर्म के आधार पर उच्च-निम्न वाले के वर्ण का परिवर्तन भी हो सकता है। इस प्रकार १०.५७-५८ के पश्चात् सम्बद्धता की दृष्टि से १०.६५वाँ श्लोक प्रासंगिक है।

(ख) **'जातम्' प्रयोग अतिमहत्त्वपूर्ण**—जो लोग यह मानते हैं कि वैदिक या मनु की वर्णव्यवस्था में कुल-जन्म के आधार पर वर्ण-निर्धारण होता है और मृत्युपर्यन्त उसमें परिवर्तन नहीं होता, उन्हें श्लोकोक्त **'जातम्'** पद पर विशेष ध्यान देना चाहिये। इसमें स्पष्ट किया है कि किसी भी कुल में उत्पन्न बालक या व्यक्ति का अच्छे-बुरे कर्मों और व्यवसायों की शिक्षा-दीक्षा से तदनुसार जीवन में कभी भी वर्ण-परिवर्तन हो जाता है अर्थात् वर्णग्रहण में माता-पिता से जन्म का कोई महत्त्व नहीं है

अपितु कर्म का ही महत्त्व है। वह वर्णपरिवर्तन वर्ण की शिक्षा-दीक्षा के उपरान्त आचार्य अथवा राजसभा से प्रमाणित किया जाता है।

(ग) **कर्मणा वर्णव्यवस्था का अतिस्पष्ट विधान**—मनु ने इस श्लोक में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वर्णव्यवस्था को कर्मों पर आधारित माना है। इस मान्यता के सम्बन्ध में अन्य विवेचन २.३१, ८७-९१, १०७; ११.११४ श्लोकों में और उनकी समीक्षा में दखिये।

(घ) **श्लोक की पुष्टि में प्रमाण**—प्राचीन काल में कर्मानुसार वर्णव्यवस्था प्रचलित थी। इसके अनेक प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.५.१०-११ में इसी मान्यता को स्पष्ट किया है—

''धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥ १॥

अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥ २॥

धर्माचरण से निष्कृष्ट वर्णस्थ व्यक्ति अपने से उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस के योग्य उसको आचार्य या शासन द्वारा स्वीकार किया जाये॥ १॥ अधर्माचरण करने से उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे, जिसके योग्य वह होवे, उसको शासन द्वारा स्वीकार किया जावे॥ २॥

(ङ) **वर्ण-परिवर्तन का उदाहरण**—ऐतरेय ब्राह्मण २.१९ में कवष-ऐलूष नामक व्यक्ति की एक घटना वर्णित है, जो वर्ण-परिवर्तन का ज्वलन्त प्रमाण है। जन्मना निम्न वर्ण का व्यक्ति ऋषित्व के कारण ऋषियों में परिगणित होकर उच्च-वर्णस्थ कहलाया—

''ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ते कवषमैलूषं सोमादनयन्, दास्याः पुत्रः कितपोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति।.....स बहिर्धन्वोदूढह पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत्—'प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु' इति॥''

अर्थात्—'ऋषि लोगों ने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ में भाग लेने के लिए आये हुए कवष ऐलूष को ऋषियों ने सोम से वञ्चित कर दिया।

यह सोचकर कि यह दासी का पुत्र, कपट-आचरण वाला, अब्राह्मण किस प्रकार हमारे मध्य दीक्षित हो गया है! (यज्ञ से बाहर निकाल देने पर) वह कवष-ऐलूष पिपासा से संतप्त हुआ बाहर जंगल में चला गया। वहाँ उसने 'अपोनप्त्र' देवता वाले सूक्त का 'अर्थदर्शन किया' फिर ऋषियों ने वेदार्थद्रष्टा होने के कारण उसे पुन: अपने मध्य बुलाकर ऋषि वर्ग और यज्ञ में दीक्षित कर लिया।

यह सूक्त ऋक् १०.३०वाँ है और वेद में इस सूक्त पर इसी ऋषि का नाम उल्लिखित है। इस ऋषि-द्वारा दृष्ट अन्य १०.३१-३४ सूक्त भी हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि दासी के कुल में उत्पन्न बालक भी ब्राह्मण और ऋषि

इति महर्षिमनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतहि
विभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ चातुर्वर्ण्य

बन सकता है। (विस्तृत विवरण भूमिका में द्रष्टव्य है)

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम्॥
१०.१३१॥(१५)

(**एषः**) [१.१ से १०.१३० तक] (**चातुर्वर्ण्यस्य**) चारों वर्णों के व्यक्तियों का (**कृत्स्नः**) सम्पूर्ण (**धर्मविधिः कीर्तितः**) धर्म-विधान कहा है। (**अतः परम्**) इसके बाद अब (**शुभं प्रायश्चित्तविधिं प्रवक्ष्यामि**) शुभ प्रायश्चित्त की विधि को कहूँगा— ॥१३१॥

न्दीभाष्यसमन्वितायाम्-अनुशीलन-समीक्षाभ्यां
धर्मान्तर्गतवैश्य-शूद्रधर्मात्मको दशमोऽध्यायः॥

अथ एकाद

(हिन्दीभाष्य-'अनुशी

(प्रायश्चित्त-विषय १

[प्रायश्चित्त-सम्बन्धी-विधान]

प्रायश्चित्त कब किया जाता है—

अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥ ४४॥ (१)

(**विहितं कर्म अकुर्वन्**) शास्त्र में विहित कर्मों [यज्ञोपवीत संस्कार वेदाभ्यास (११.१९१-१९२), संध्योपासन, यज्ञ आदि] को न करने पर, (**च**) तथा (**निन्दितं समाचरन्**) शास्त्र में निन्दित माने गये कार्यों [बुरे कर्मों से धनसंग्रह (११.१९३) मद्यपान, हिंसा आदि] को करने पर (**च**) और (**इन्द्रिय+अर्थेषु प्रसक्तः**) इन्द्रिय-विषयों में अत्यन्त आसक्त होने [काम, क्रोध, मोह में आसक्त होने] पर (**नरः प्रायश्चित्तीयते**) मनुष्य प्रायश्चित्त [४७] के योग्य होता है॥ ४४॥

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात्॥ ४५॥ (२)

(**बुधाः**) कुछ विद्वान् (**अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुः**) अज्ञानवश किये गये पाप में प्रायश्चित्त करने को कहते हैं (**एके**) और कुछ विद्वान् (**श्रुतिनिदर्शनात्**) वेदों में उल्लेख होने के कारण (**कामकारकृते+अपि आहुः**) जानकर किये गये पाप में भी प्रायश्चित्त करने को कहते हैं॥ ४५॥

अनुशीलन—यजु० ३९.१२ में प्रायश्चित का

शोऽध्यायः

लन'-समीक्षा सहित)

१.४४ से २६५ तक)

उल्लेख हुआ है—

''निष्कृत्यै स्वाहा प्रायश्चित्त्यै स्वाहा भेषजाय स्वाहा।''

अर्थात्—''(**निष्कृत्त्यै**) निवारण के लिए (**स्वाहा**) सत्यक्रिया, (**प्रायश्चित्त्यै**) पापनिवारण के लिए (**स्वाहा**) सत्यक्रिया और (**भेषजाय**) सुख के लिए (**स्वाहा**) सत्यक्रिया को सदा प्रयोग करें।''

(महर्षि दयानन्द भाष्य)

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति।
कामतस्तुकृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः॥ ४६॥

(३)

(**अकामतः कृतं पापम्**) अनिच्छापूर्वक किया गया पाप (**वेदाभ्यासेन शुध्यति**) वेदाभ्यास, तदनुसार बार-बार चिन्तन-मनन, आचरण से शुद्ध होता है, पाप की भावना नष्ट होकर आत्मा अवित्र होती है (**मोहात् कामतः तु कृतम्**) आसक्ति से इच्छापूर्वक किया गया पाप भाव [पापफल नहीं] (**पृथक्-विधैः प्रायश्चित्तैः**) अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों के [११.२११-२२६] करने से शुद्ध होता है॥ ४६॥

प्रायश्चित्त का अर्थ—

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥ ४७॥

(४)

(**'प्रायः' नाम तपः प्रोक्तम्**) 'प्रायः' तप को कहते हैं और (**चित्तं निश्चयः उच्यते**) 'चित्त' निश्चय को कहते हैं (**तपः-निश्चयसंयुक्तं 'प्रायश्चित्तम्' इति स्मृतम्**) तप और निश्चय=संकल्प का संयुक्त होना

ही 'प्रायश्चित्त' कहलाता है ॥ ४७ ॥

अनुशीलन—प्रायश्चित्त का अर्थ और उद्देश्य— 'प्रायश्चित्त' शब्द प्राय-चित्ति पदों से समास में '**पारस्कर प्रभृतीनि च संज्ञायाम्**' (अष्टा० ६.१.१५७) से सुट् आगम के योग से सिद्ध हुआ है। '**तपादि साधनपूर्वकं किल्विष-निवारणार्थं चित्तम् निश्चयं प्रायश्चित्तम्**'। 'जब व्यक्ति किसी निन्दनीय या अकर्त्तव्य कार्य को करके मन में उसके करने के प्रति खिन्नता अनुभव करता है, तब वह उसके दण्ड रूप में स्वयं तप=कष्टसहन करता हुआ यह निश्चय करता है कि पुनः मैं यह पाप नहीं करूंगा।' यह प्रायश्चित्त कहलाता है। ऐसा करने से मन में खिन्नता का भार नहीं रहता। जैस कोई व्यक्ति किसी को अचानक गलत बात कह जाये और कहने के बाद उसे दुःख अनुभव हो, तो वह खेद प्रकट करता है। इससे उसके मन में खिन्नता नहीं रहती और आगे वैसा न करने के लिए सावधान हो जाता है। इसी प्रकार प्रायश्चित्त से पाप क्षीण नहीं होता, अपितु पाप-भावना क्षीण होती है [द्रष्टव्य ११.२२७ पर समीक्षा]। पुनः वह उस पाप को न करने के लिए निश्चय करता है और सावधान रहता है [११.२२९-२३०]। प्रायश्चित्त से मनुष्य की पापवृद्धि रुक जाती है और वह धर्म की ओर अभिमुख होता जाता है।

प्रायश्चित्त क्यों करना चाहिए—

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये।
निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥ ५३ ॥
(५)

[४६-४७ में वर्णित लाभ होने से] (**अतः**) इसलिए (**विशुद्धये**) संस्कारों की शुद्धि के लिए (**नित्यं प्रायश्चित्तं चरितव्यम्**) [बुरा काम होने पर] सदा प्रायश्चित्त करना चाहिए, (**हि**) क्योंकि (**अनिष्कृत-एनसः**) पाप-शुद्धि किये बिना मनुष्य (**निन्द्यैः लक्षणैः युक्ताः जायन्ते**) उनके बुरे कर्मफल के कारण, निन्दनीय लक्षणों से युक्त हो जाते हैं या मरकर पुनर्जन्म में होते हैं ॥ ५३ ॥

व्रात्यों का प्रायश्चित्त—

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि।
तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत्॥
१९१॥(६)

(**येषां द्विजानां सावित्री**) जिन द्विजों का यज्ञोपवीत संस्कार (**यथाविधि**) उचित समय पर [इस संस्करण में २.११-१३] (**न+अनूच्येत**) नहीं हुआ हो, (**तान्**) उनको (**त्रीन् कृच्छ्रान् चारयित्वा**) तीन कृच्छ्र व्रत [११.२१२] कराके (**यथाविधि+ उपनाययेत्**) विधिपूर्वक उनका उपनयन संस्कार कर देना चाहिए॥ १९१॥

निन्दित कर्म करने वालों का प्रायश्चित्त—

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः।
ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत्॥ १९२॥
(७)

(**विकर्मस्थाः तु ये द्विजाः**) अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का त्याग कर देने और निन्दित कर्म करने पर जो उपनयनयुक्त द्विज (**प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति**) प्रायश्चित्त करके अपने को शुद्ध करना चाहते हैं (**च**) और (**ब्रह्मणा परित्यक्ताः**) वेदादि के त्यागने पर जो प्रायश्चित्त करके शुद्ध होना चाहते हैं (**तेषाम्+ अपि+एतत्+आदिशेत्**) उन्हें भी पूर्वोक्त व्रत [११.१९१] करने को कहें॥ १९२॥

वेदोक्त कर्मों के त्याग का प्रायश्चित्त—

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम्॥ २०३॥
(८)

(**वेदोक्तानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे**) वेदोक्त नैत्यिक [अग्निहोत्र, संध्योपासन आदि] कर्मों के न करने पर (**च**) और (**स्नातकव्रतलोपे**) ब्रह्मचर्यावस्था में व्रतों [भिक्षाचरण आदि] के न करने पर (**अभोजनं प्रायश्चित्तम्**) एक दिन उपवास रखना ही प्रायश्चित्त है॥ २०३॥

अनुशीलन—तुलनार्थ द्रष्टव्य है २.१९५ [२.२२०] श्लोक।

अविहित कर्मों के लिए प्रायश्चित्त-निर्णय—

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये।
शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्॥
२०९॥(९)

(**अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानाम्**) जिनका प्रायश्चित्त नहीं कहा है ऐसे अपराधों के (**अपनुत्तये**) दोष को दूर करने के लिए (**शक्तिं च पापम् अवेक्ष्य**) प्रायश्चित्तकर्त्ता की शक्ति और अपराध को देखकर (**प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्**) यथायोग्य प्रायश्चित्त का निर्णय कर लेना चाहिए॥ २०९ ॥

प्रायश्चित्तों का परिचय-वर्णन—

यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति।
तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान्॥
२१०॥(१०)

(**मानवः**) मनुष्य (**यैः+अभ्युपायैः**) जिन उपायों से (**एनांसि व्यपकर्षति**) पापों=अपराधों को [न तु पापफलों को] दूर करता है, अब मैं (**देव-ऋषि-पितृ-सेवितान्**) विद्वानों, ऋषियों=तत्त्वज्ञानियों, पूर्वजों और पिता आदि वयोवृद्ध व्यक्तियों द्वारा सेवित (**तान् अभ्युपायान् वः वक्ष्यामि**) उन उपायों को तुमसे कहूँगा— ॥ २१० ॥

अनुशीलन—(१) मनु ने यहां देव=विद्वानों, ऋषियों, पितरों द्वारा सेवित-विहित प्रायश्चित्तों का विधान किया है [२११-२२५]। मनुस्मृति में अनेक स्थानों पर देव-ऋषि-पितरों की मान्यताओं का उल्लेख आता है [२.१२६-१३१ (२.१५१-१५६) आदि]। परम्परागतरूप में ये प्रचलित हैं। देव-ऋषि-पितर शब्दों के अर्थ को समझने के लिए विशेष विवेचन ३.८१-८२ पर देखिए।

(२) 'एनः' के अर्थ पर २.२ [२.२७] के अनुशीलन में प्रकाश डाला गया है। वहां द्रष्टव्य है।

(३) यह व्रतों के प्रसंग को प्रारम्भ करने का कथन करने के लिए प्रसंग-संकेतक श्लोक है।

(४) व्रतों से पाप-फल की निवृत्ति नहीं अपितु पापकर्म अर्थात् पापभावना नष्ट होती है। देखिए सप्रमाण अनुशीलन—११.२२७ पर।

प्राजापत्य व्रत की विधि—

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः॥ २११॥
(११)

(**प्राजापत्यं चरन् द्विजः**) 'प्राजापत्य' नामक व्रत का पालन करने वाला द्विज (**त्रि+अहं प्रातः**) पहले तीन दिन केवल प्रातःकाल ही खाये (**त्रि+अहं सायम्**) फिर अगले तीन दिन केवल सायंकाल ही खाये (**त्रि+अहम् अयाचित्तम् अद्यात्**) उसके पश्चात् तीन दिन बिना मांगे जो मिले उसका ही भोजन करे (**च**) और (**परं त्रि+अहं न अश्नीयत्**) उसके बाद फिर तीन दिन उपवास रखे। [यह प्राजापत्य व्रत है] ॥ २११॥

अनुशीलन—योगदर्शन में 'कृच्छ्र' आदि व्रतों का उद्देश्य—मनुस्मृति में चित्त की अशुद्धि को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है। इसकी पुष्टि योगदर्शन और उसके व्यासभाष्य में की गई है— "**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः**" अर्थात् तप के द्वारा शरीर और इन्द्रियों की अशुद्धि दूर होकर शरीर रोगरहित और चित्त आदि इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं [२.४३]।

योगदर्शन २.३२ सूत्र के भाष्य में तप की व्याख्या में कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों को भी परिगणित किया है—"**व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्र-चान्द्रायणसान्तपनादीनि।**" अर्थात् तप के अन्तर्गत कृच्छ्रव्रत, चान्द्रायण-व्रत, सान्तपनव्रत आदि व्रत भी आते हैं। इनका शरीर की अनुकूलता के अनुसार पालन करना चाहिए।' इस प्रकार व्रतों से मानसिक पाप की अशुद्धि क्षीण होती है।

कृच्छ्र सान्तपन व्रत की विधि—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतम्॥ २१२॥
(१२)

क्रमशः एक-एक दिन (**गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधिः सर्पिः कुश+उदकम्**) गोमूत्र, गोबर का रस, गोदूध, गौ के दूध का दही, गोघृत और कुशा=दर्भ का उबला जल, इनका भोजन करे (च) और (**एकरात्र+उपवासः**) फिर एक दिन-रात का उपवास रखे, यह (**कृच्छ्रं-सांतपनं स्मृतम्**) 'कृच्छ्र सांतपन' नामक व्रत है॥ २१२॥

अतिकृच्छ्र व्रत की विधि—

एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः॥ २१३॥
(१३)

(**अतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः**) 'अतिकृच्छ्र' नामक व्रत को करने वाला द्विज (**पूर्ववत्**) पूर्व विधि [११.२११] के अनुसार (**त्रि+अहाणि त्रीणि**) तीन दिन केवल प्रातःकाल, तीन दिन केवल सांयकाल, तीन दिन बिना मांगे प्राप्त हुआ (**एक-एकं ग्रासम्+अश्नीयत्**) एक-एक ग्रास भोजन करे (**अन्त्यं त्रि+अहं च+उपवेसत्**) और अन्तिम तीन दिन उपवास रखे। [यह 'अतिकृच्छ्र' व्रत है]॥ २१३॥

तप्तकृच्छ्र व्रत की विधि—

तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः॥ २१४॥
(१४)

(**तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रः**) 'तप्तकृच्छ्र' व्रत को करने वाला द्विज (**उष्णान् जल-क्षीर-घृत-अनिलान् प्रतित्र्यहं पिबेत्**) गर्म पानी, गर्मदूध, गर्म घी और वायु प्रत्येक को तीन-तीन दिन पीकर रहे, और (**सकृत्स्नायी**) एक बार स्नान करे, तथा (**समाहितः**) एकाग्रचित्त रहे॥ २१४॥

अनुशीलन—इस श्लोक में 'वायु पीना' एक मुहावरा है जिसको आजकल 'हवा के सहारे जीना' रूप में भी प्रयोग करते हैं इसका अर्थ—'बिना कुछ खाये पीये रहना' है अर्थात् अन्तिम तीन दिन बिना कुछ खाये-पीये रहे।

चान्द्रायण व्रत की विधि—

एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्॥ २१६॥

(१५)

[पूर्णिमा के दिन पूरे दिन में १५ ग्रास भोजन करके फिर] (**कृष्णे एक-एकं पिण्डं ह्रासयेत्**) कृष्णपक्ष में एक-एक ग्रास भोजन प्रतिदिन कम करता जाये, [इस प्रकार करते हुए अमावस्या को पूर्ण उपवास रहेगा, फिर शुक्लपक्ष-प्रतिपदा को प्रतिदिन दिन एक ग्रास भोजन करके] (**शुक्ले वर्धयेत्**) शुक्ल पक्ष में एक-एक ग्रास भोजन पूरे दिन में बढ़ाता जाये, इस प्रकार करते हुए (**त्रिषवणम्+उपस्पृशन्**) तीन समय स्नान करे, (**एतत् चान्द्रायणं स्मृतम्**) यह 'चान्द्रायण' व्रत कहाता है॥ २१६॥

यवमध्यम चान्द्रायणव्रत की विधि—

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम्॥ २१७॥

(१६)

(**यवमध्यमे**) यवमध्यम विधि में अर्थात् जैसे जौ मध्य में मोटा होता है, आगे-पीछे पतला; इस विधि के अनुसार (**चान्द्रायणं चरन्**) 'यवमध्यम चान्द्रायण व्रत' करते हुए, व्यक्ति (**शुक्ल-पक्ष-आदि-नियतः**) शुक्लपक्ष को पहले करके (**एतम्+एव कृत्स्नं विधिम्**) इसी पूर्वोक्त [११.२१६] सम्पूर्ण विधि को (**आचरेत्**) करे अर्थात् शुक्लपक्ष से प्रारम्भ करके प्रथम दिन से एक-एक ग्रास भोजन बढ़ाता जाये, पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास भोजन करे, फिर कृष्णपक्ष के प्रथम दिन से एक-एक ग्रास घटाता जाये और अमावस्या के दिन निराहार रहे॥ २१७॥

व्रत-पालन के समय यज्ञ करें—

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्त्तव्यः स्वयमन्वहम्।
अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत्॥ २२२॥

(१७)

प्रायश्चित्त काल में (**अन्वहम्**) प्रतिदिन (**स्वयम्**) प्रायश्चित्तकर्त्ता को स्वयं (**महाव्याहृतिभिः होमः कर्त्तव्यः**) महाव्याहृतियों [भूः, भुवः, स्वः आदियुक्त मन्त्रों से] हवन करना चाहिए (**च**) और (**अहिंसा-सत्यम्-अक्रोधं-आर्जवं समाचरेत्**) अहिंसा, सत्य, क्रोधरहित रहना, कुटिलता न करना, इन बातों का पालन करे॥ २२२॥

अनुशीलन—**महाव्याहृतियुक्त होममन्त्र**—महाव्याहृतियों से युक्त कुछ प्रसिद्ध मन्त्र निम्नलिखित हैं, जो यज्ञ में आज भी आहुतिदान के लिए प्रयुक्त होते हैं—
(क) अग्निप्रज्वलित करने का मन्त्र—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा। तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥
यजु० ३.५॥

(ख) घृताहुति मन्त्र—

ओं भूरग्नये स्वाहा। इदमग्नये-इदं न मम॥ १॥ ओं भुवर्वायवे स्वाहा। इदं वायवे-इदं न मम॥ २॥ ओं स्वरादित्याय स्वाहा। इदमादित्याय-इदं न मम॥ ३॥ ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा। इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः इदं न मम॥ ४॥ (सं० वि० सामान्यप्रकरण)।
(ग) अन्य हैं ऋक्० ९.६६.१९-२१; १०.१२१.१०॥ और 'गायत्री मन्त्र' [श्लोक २.५३ (२.७८) की समीक्षा में उद्धृत] आदि।

व्रत-पालन के समय गायत्री आदि का जप करें—

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः॥ २२५॥
(१८)

प्रायश्चित्तकर्त्ता प्रायश्चित्तकाल में (**नित्यम्**) प्रतिदिन (**शक्तितः**) शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक (**सावित्रीं च पवित्राणि जपेत्**) सावित्री= गायत्री मन्त्र और 'पवित्र करने की प्रार्थना' वाले मन्त्रों का जप करे, (**एवम्**) ऐसा करना (**सर्वेषु+एव व्रतेषु**) सभी व्रतों में (**प्रायश्चित्तार्थम्+आदृतः**) प्रायश्चित्त के लिए उत्तम माना गया है॥ २२५॥

अनुशीलन—(१) **पवित्रताकारक मन्त्र**—मन को

दुर्गुणों से हटाकर पवित्र करने की भावना वाले कुछ मन्त्र निम्नलिखित हैं—

(क) **ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रन्तन्न आ सुव॥** यजुः० ३०.३॥

अर्थ—"हे (**सवितः**) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त (**देव**) शुद्ध स्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप कृपा करके (**नः**) हमारे (**विश्वानि**) सम्पूर्ण (**दुरितानि**) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (**परा, सुव**) दूर कर दीजिए (**यत्**) जो (**भद्रम्**) कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं (**तत्**) वह सब हमको (**आ, सुव**) प्राप्त कीजिए।" (सं० वि० ईश्वरस्तुति० प्रकरण)।

(ख) शिवसंकल्पसूक्त के मन्त्र "**ओं यज्जाग्रतो दूरमुदैति०**" आदि। यजु० ३४.१-६॥

(ग) गायत्री मन्त्र अर्थसहित [देखिए २.५३ (२.७८) पर उद्धृत]

इत्यादि 'दुर्गुणों को दूर कर सद्गुणों को धारण करने की भावना वाले' मन्त्रों का जप प्रायश्चित्त में करे।

मानस पापों के प्रायश्चित्त की विधि—

एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः।
अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत्॥ २२६॥

(१९)

(**आविष्कृत-एनसः द्विजातयः**) जिनका पाप क्रियारूप में प्रकट हो गया है, ऐसे द्विजातियों को (**एतैः व्रतैः शोध्याः**) इन पूर्वोक्त [११.२२१-२२५] व्रतों से शुद्ध करें, और (**अनाविष्कृतपापान् तु**) जिनका पाप क्रिया रूप में प्रकट नहीं हुआ है अर्थात् अन्तःकरण में ही पाप-भावना उत्पन्न हुई है, ऐसों को (**मन्त्रैः च होमैः शोधयेत्**) मन्त्र-जपों [११.२२५] और यज्ञों से शुद्ध करें अर्थात् मानसिक पापों की शुद्धि [पाप-फलों की नहीं] जपों एवं यज्ञों=संध्योपासन-अग्निहोत्र आदि से होती है॥ २२६॥

अनुशीलन—तुलनार्थ मनु का निम्न ५.१०७ श्लोक भी द्रष्टव्य है—

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः॥

पांच कर्मों से प्रायश्चित्त में पापभावना से मुक्ति—

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि॥ २२७॥
(२०)

(**ख्यापनेन**) अपनी त्रुटि और उसके लिए दुःख अनुभव करते हुए सर्वसाधारण के सामने किये हुए अपने दोष को प्रकट करने से [११.२२८] (**अनुतापेन**) पश्चात्ताप करने से [११.२२९-२३२] (**तपसा**) व्रतों [११.२११-२२५, २३३] की साधना से, (**अध्ययनेन**) वेदाभ्यास से [११.२४५-२४६] (**पापकृत् पापात् मुच्यते**) पाप करने वाला [पाप-फल से नहीं अपितु] पाप-भावना से मुक्त हो जाता है (**तथा**) और (**आपदि**) आपद्-ग्रस्त व्याधि, जरा आदि से पीड़ित अवस्था में अपराध होने पर (**दानेन**) प्रायश्चित्त-हेतु संकल्प और परोपकारार्थ दान देने के पुण्य से भी पापभावना समाप्त होकर निष्पापता आती है॥ २२७॥[1]

अनुशीलन—(१) **प्रायश्चित्त से पाप-फल से नहीं, पापभावना से मुक्ति**—(क) प्रायश्चित्त के इस प्रसंग में यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि किये हुए पाप का फल प्रायश्चित्त से क्षीण नहीं होता अपितु पाप-भावना नष्ट होती है और आगे पाप नहीं किये जाने का संकल्प लिया जाता है। प्रायश्चित्त करने वाला व्यक्ति किये हुए पापकर्म पर पश्चात्ताप का अनुभव करता है, उसके दण्ड के रूप में तपश्चरण करता है। यही मान्यता प्रायश्चित्त की परिभाषा वाले ११.२३० और ११.२३२ श्लोक से सिद्ध होती है। दूसरा मनु का प्रमाण यह है कि

---

१. **प्रचलित अर्थ**—अपने आपको सर्वसाधारण में कहने, पश्चात्ताप करने से, कठिन तपश्चरण से, अध्ययन (वेदादि पाठ, जप आदि) से, और (इन सब कर्मों की शक्ति नहीं रहने पर) दान करने से पापी मनुष्य पाप से छूट जाता है॥ २२७॥

मनु किये हुए अधर्म के फल को किसी अवस्था में निष्फल नहीं मानते—

''न त्वेव कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः।'' ४.१७३॥

(ख) इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रचलित टीकाओं में जो प्रत्येक श्लोक के 'पाप से छूट जाना' आदि मान्यता वाले अर्थ किये हैं, वे मनुसम्मत नहीं हैं। इस भाष्य में जहाँ-जहाँ भी 'पाप से छूटना' आदि अर्थ किये हैं उनका अभिप्राय 'पापफल से छूटना नहीं' अपितु 'पापभावना से छूटना' है। इस मान्यता की पुष्टि के लिए ११.२३० के अनुशीलन में देखिए महर्षि दयानन्द की मान्यता।

(२) **इस मान्यता की तुलना**—तुलनार्थ द्रष्टव्य है ५.१०७ श्लोक का पद—**''दानेनाकार्यकारिणः (शुद्ध्यन्ति)''**।

(३) **आपत्काल में दान द्वारा पापभावना से मुक्ति होने पर विचार**—श्लोक में आपत्काल में पापभावना से मुक्ति के लिए दान देने का विधान किया है। यह सत्संग, विद्या आदि शुभगुणों का और परोपकारार्थ धन के दान का विधान है। मनु ने स्वयं कहा है—**''सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते''**=संसार में जितने दान हैं, उनमें वेद और ईश्वर-विद्या का दान और श्रेष्ठ गुणों का दान सर्वोत्तम है [४.२३३]। धन को श्रेष्ठ पात्र के लिए परोपकारभावना से देना, धन का दान कहलाता है। अन्य भावना से दिया गया धन 'दान' नहीं होता [४.१८७-१९६]। मनु ने ४.२२७ में दान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि मनुष्य सुपात्र को सात्त्विक भाव से समाज के परोपकार के लिए दान दे। इसके साथ-साथ संध्या-यज्ञ-जप आदि भी करे। अब प्रश्न उठता है कि आपत्काल क्या है? इसका स्पष्ट-सा उत्तर यह है कि इस प्रसंग में विहित व्रतों को जब व्यक्ति करने में वास्तव में असमर्थ हो जाता है, जैसे अतिव्याधि, अतिजरा आदि की अवस्था में, तब वह व्यक्ति दान की विधि को अपनाये। यह भी एक तप का भेद है। इस दानव्रत के साथ अन्य मन्त्रजप, होम आदि की विधि अन्य व्रतों के समान ही करे।

सबके सामने अपना अपराध कहने से पापभावना से मुक्ति—

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते॥ २२८॥
(२१)

(**अधर्मं कृत्वा**) अधर्मयुक्त आचरण करके (**नरः**) मनुष्य (**यथा-यथा स्वयम् अनुभाषते**) जैसे-जैसे अपने पाप को लोगों से कहता है (**तथा तथा अहिः त्वचा+इव**) वैसे-वैसे सांप की केंचुली के समान (**तेन+अधर्मेण मुच्यते**) उस अधर्म से=अपराध-जन्य संस्कार से मुक्त होता जाता है और लोगों में उसके प्रति अपराधी होने की भावना समाप्त होती जाती है॥ २२८॥

अनुताप करने से पाप-भावना से मुक्ति—

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते॥ २२९॥
(२२)

और, (**तस्य मनः यथा यथा**) उसका मन= आत्मा जैसे-जैसे (**दुष्कृतं कर्म गर्हति**) किये हुए पाप-अपराध को धिक्कारता है [कि 'मैंने यह बुरा कार्य किया है', आदि] (**तथा तथा तत् शरीरम्**) वैसे-वैसे उसका शरीर (**तेन अधर्मेण मुच्यते**) उस अधर्म-अपराध से मुक्त-निवृत्त होता जाता है अर्थात् बुरे कर्म को बुरा मानकर उसके प्रति ग्लानि होने से शरीर और मन बुरे कार्य करने से निवृत्त होते जाते हैं॥ २२९॥

तपपूर्वक पुनः पाप न करने के निश्चय से पापभावना से मुक्ति—

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते।
नैवं कुर्यात्पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः॥ २३०॥
(२३)

मनुष्य (**पापं हि कृत्वा**) पाप=अपराध करके (**संतप्य**) और उसके लिए पश्चात्ताप करके (**तस्मात् पापात् प्रमुच्यते**) उस पाप-कर्म से छूट जाता है [पाप-

फल से नहीं] अर्थात् उस पाप को करने में पुनः प्रवृत्ति नहीं करता, और (**पुनः एवं न कुर्यात्**) फिर कभी इस प्रकार का कोई पाप नहीं करूंगा (**इति निवृत्त्या**) इस प्रकार संकल्प करने के बाद पापों से निवृत्ति होने से [११.२३२] (**सः तु पूयते**) वह व्यक्ति पवित्राचरण वाला बन जाता है ॥ २३० ॥[१]

अनुशीलन—इस श्लोक को पूना-प्रवचन में ऋषि-दयानन्द ने उद्‌धृत किया है—"अब कोई ऐसी शंका निकाल ले कि पूर्वकृत पापों का दण्ड जीव को विना भोगे छुटकारा नहीं मिल सकता यह हमारा मत है; तो फिर पश्चात्ताप का कुछ भी उपयोग नहीं है क्या? इसका उत्तर यह है कि पश्चात्ताप से पापक्षय नहीं होता, परन्तु आगे पाप करना बन्द हो जाता है।" (छठा प्रवचन)

कर्मफलों पर चिन्तन करने से पाप-भावना से मुक्ति—

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम्।
मनोवाङ्‌मूर्त्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत्॥ २३१ ॥
(२४)

(**प्रेत्य कर्मफल-उदयम्**) 'इस जन्म में यदि फल नहीं मिला तो मरकर कर्मों का फल अवश्य मिलेगा' (**मनसा एवं संचिन्त्य**) मन में इस विचार को रखते हुए मनुष्य (**मनः-वाक्मूर्त्तिभिः**) मन, वाणी और शरीर से (**नित्यं शुभं कर्म समाचरेत्**) सदा शुभ कार्य करे॥ २३१ ॥

पाप-भावना से मुक्ति चाहने वाला पुनः पाप न करे—

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम्।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्द्वितीयं न समाचरेत्॥ २३२ ॥
(२५)

(**अज्ञानात् यदि वा ज्ञानात्**) अज्ञान से अथवा जानबूझकर (**विगर्हितं कर्म कृत्वा**) निन्दित कर्म करके (**तस्मात् विमुक्तिम्+अन्विच्छन्**) मनुष्य उस पाप-

---

१. **प्रचलित अर्थ**—पापी मनुष्य पापकर्म करके उसके लिए अनुताप (पछतावा) कर पाप से छूट जाता है तथा 'फिर मैं ऐसा निन्दित कर्म नहीं करूंगा' इस प्रकार संकल्प रूप से उसका त्याग कर वह पवित्र हो जाता है॥ २३० ॥

प्रवृत्ति से छुटकारा पाने के लिए (**द्वितीयं न समाचरेत्**) दुबारा पाप न करे [तभी पाप-प्रवृत्ति से छुटकारा मिल सकता है, अन्यथा नहीं।] ॥ २३२ ॥

तप तब तक करें जब तक मन में प्रसन्नता न आ जाये—

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम्।
तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत्॥ २३३ ॥
(२६)

(**यस्मिन् कर्मणि कृते**) जिस कर्म के करने पर (**अस्य मनसः अलाघवं स्यात्**) मनुष्य के मन में जितना दुःख, पश्चात्ताप अर्थात् असन्तोष एवं अप्रसन्नता होवे (**तस्मिन्**) उस कर्म में (**यावत् तुष्टिकरं भवेत्**) जितना तप करने से मन में प्रसन्नता एवं संतुष्टि हो जाये (**तावत् तपः कुर्यात्**) उतना ही तप करे, अर्थात् किसी पाप के करने पर मनुष्य के मन में जब तक ग्लानिरहित पूर्ण संतुष्टि एवं प्रसन्नता न हो जाये तब तक स्वेच्छा से तप करता रहे ॥ २३३ ॥

वेदाभ्यासादि से पाप-भावनाओं का क्षय—

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि॥ २४५ ॥
(२७)

(**अन्वहं शक्त्या वेदाभ्यासः**) प्रतिदिन वेद का अधिक-से-अधिक अध्ययन-मनन (**महायज्ञक्रियाः**) पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान, (**क्षमा**) तप-सहिष्णुता, ये क्रियायें (**महापातकजानि+अपि पापानि**) बड़े पापों से उत्पन्न पापभावनाओं या दुःसंस्कारों को भी (**नाशयन्ति**) नष्ट कर देती हैं ॥ २४५ ॥

वेदज्ञानाग्नि से पाप-भावना विनष्ट होती है—

यथैधस्तेजसां वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात्।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदविद्॥ २४६ ॥
(२८)

(**यथा वह्निः तेजसा**) जैसे अग्नि अपने तेज से (**प्राप्तम् एधः क्षणात् निर्दहति**) समीप आये काष्ठ आदि इंधन को तत्काल जला देती है (**तथा**) वैसे ही

(**वेदवित्**) वेद का ज्ञाता (**ज्ञान-अग्निना सर्वं पापं दहति**) वेदज्ञान रूपी अग्नि से सब आने वाली [पाप-फलों को नहीं] पापभावनाओं को जला देता है, पापसंस्कारों को भस्म कर देता है॥ २४६॥

अनुशीलन—इन्हीं भावों की तुलना के लिए १२.१०१ श्लोक भी द्रष्टव्य है। मनु ने वहाँ भी इसी मान्यता को प्रकट किया है।

ज्ञान से मुक्ति में सांख्यदर्शन का प्रमाण—मनु ने ११.२६३-२६५ श्लोकों में भी इस मान्यता की पुष्टि की है कि 'वेदों का वेत्ता विद्वान् वेदज्ञान से मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।' १२.८३, ८५, १०४ में भी वेदभ्यास और परमात्मज्ञान को मुक्ति का साधन माना है। सांख्यदर्शन में भी इस मान्यता का उल्लेख है—

ज्ञानान् मुक्तिः (३.२३)

अर्थात् वेदज्ञान और परमात्मज्ञान से जीव को मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

वेदज्ञान-रूपी तालाब में पापभावना का डूबना—

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति॥ २६३॥
(२९)

(**यथा**) जैसे (**क्षिप्तं लोष्टम्**) फेंका हुआ ढेला (**महाह्रदं प्राप्य विनश्यति**) बड़े तालाब में गिरकर पिघलकर नष्ट हो जाता है (**तथा**) उसी प्रकार (**त्रिवृति वेदे**) तीन वेदों की [१२.११२] ज्ञान प्राप्ति में (**सर्वं दुश्चरितं मज्जति**) सब बुरे आचरण नष्ट हो जाते हैं॥ २६३॥

वेदवित् का लक्षण—

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित्॥ २६४॥
(३०)

(**ऋचः**) ऋचाएँ=ऋग्वेद के मन्त्र (**यजूंषि**) यजुर्वेद के मन्त्र (**च**) और (**अन्यानि विविधानि सामानि**) इनसे भिन्न सामवेद के अनेक मन्त्र (**एषः त्रिवृत् वेदः ज्ञेयः**) इन तीनों को 'त्रिवृत्वेद' जानना

चाहिए, (**यः एनं वेद सः वेदवित्**) जो उक्त त्रिवृत्वेद=त्रयीविद्या रूप, तीनों वेदों को जानता है, वही वस्तुतः 'वेदवेत्ता' कहाता है ॥ २६४ ॥

अनुशीलन—त्रयीविद्या का अभिप्राय एवं अन्यत्र वर्णन—मनु ने तीन वेदरूप त्रयीविद्या का वर्णन १.२३ और १२.१११-११२ में भी किया है।

मीमांसा दर्शन में अर्थव्यवस्था के साथ-साथ पादव्यवस्था भी है अर्थात् जो मन्त्र अर्थानुसार छन्दोबद्ध हैं, वे ऋक्मन्त्र कहे गए हैं। जो इन विशेषताओं के साथ गाये भी जा सकते हैं, वे साममन्त्र और शेष गद्यरूप यजुष्मन्त्र हैं। इस प्रकार चारों वेद त्रयीविद्यारूप हैं। सूत्र हैं—**तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः** ॥ २.१.३५-३७ ॥ कहीं-कहीं ज्ञान-कर्म-उपासनापरक मन्त्रों के आधार पर भी चारों वेदों को त्रयीविद्यारूप माना गया है।

ईश्वर भी एक ज्ञेय वेद है—

आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥
(३१)

और, (**यत् त्रि+अक्षरम् आद्यं ब्रह्म**) तीन अक्षरों वाले प्रमुख नाम 'ओम्' से उच्चरित होने वाला सबका आदिमूलक परमेश्वर है, (**यस्मिन् त्रयी प्रतिष्ठिता**) जिसमें तीनों वेदविद्याएँ प्रतिष्ठित हैं, (**सः अन्यः गुह्यः त्रिवृत्वेदः**) वह भी एक गुप्त अर्थात् अदृश्य-सूक्ष्म

इति महर्षिमनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृ
समीक्षाभ्यां विभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृ

'त्रिवृत्वेद' है; (**यः तं वेद सः वेदवित्**) जो उसको जानता है, वह 'वेदवेत्ता' कहलाता है॥ २६५॥

अनुशीलन—अन्यत्र वर्णन—मनु ने 'ओम्' का वर्णन २.५१ (२.७६) में किया है। इसके अतिरिक्त १.३; १.२३ और १२.९४, १११-११२ श्लोकों में भी वेद को ईश्वररचित घोषित किया है।

इस श्लोक में 'ओम्' नाम वाच्य परमेश्वर को स्वयं एक वेद का रूप माना है, क्योंकि परमेश्वर सर्वज्ञाता है। वही वेदों का रचयिता है। इसका उल्लेख मनु १.२३ में कर चुके हैं। इस सम्बन्धी वेदों के प्रमाणों के लिए देखिए उस श्लोक पर अनुशीलन। उस सूक्ष्म-निराकार परमात्मा को वेदवेत्ता ही जान सकते हैं और जो उस परमेश्वर का साक्षात् कर लेता है वही वास्तविक 'वेदवेत्ता' है।

प्रायश्चित्त विषय का उपसंहार—

एष वोऽभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य निर्णयः।
निःश्रेयसं धर्मविधिं विप्रस्येमं निबोधत॥ २६६॥
(३२)

(**एषः**) यह [११.४४-२६५ तक] (**वः**) तुम्हें (**प्रायश्चित्तस्य कृत्स्नः निर्णयः अभिहितः**) प्रायश्चित्त का सम्पूर्ण [अपराध, उनका प्रायश्चित्त एवं प्रायश्चित्त-विधि] निर्णय कहा। अब (**विप्रस्य इमं निःश्रेयसं धर्मविधिम्**) द्विजों के इस [१२.१-१२५] मोक्ष प्राप्ति के धर्मविधान अर्थात् कर्मविधान को (**निबोधत**) सुनो—॥ २६६॥

...कृतहिन्दीभाष्यसमन्वितायाम् अनुशीलन-
...तौ प्रायश्चित्तविषयात्मक एकादशोऽध्यायः॥

अथ द्वादश

(हिन्दीभाष्य-'अनुशी

(कर्मफल-विधान एवं नि

(१२.३ से १

त्रिविध कर्मों का और त्रिविध गतियों का कथन—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः॥ ३॥

(१)

(**मनः-वाक्-देहसंभवं कर्म**) मन, वचन और शरीर से किये जाने वाले कर्म (**शुभ-अशुभ-फलम्**) शुभ-अशुभ फल को देने वाले होते हैं, (**कर्मजा नृणाम्**) और उन कर्मों के अनुसार मनुष्यों की (**उत्तम-अधम-मध्यमाः गतयः**) उत्तम, अधम और मध्यम ये तीन गतियाँ=जन्म की स्थितियां होती हैं॥ ३॥

मन कर्मों का प्रवर्तक—

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम्॥ ४॥

(२)

(**इह**) इस विषय में (**देहिनः मनः**) मनुष्य के मन को (**तस्य त्रिविधस्य+अपि त्रि+अधिष्ठानस्य दश-लक्षणयुक्तस्य**) उस उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन प्रकार के; मन, वचन, क्रिया भेद से तीन आश्रय वाले और दशलक्षणों [१२.५-७] से युक्त कर्म को (**प्रवर्तकं विद्यात्**) प्रवृत्त करने वाला जानो॥ ४॥

त्रिविध मानसिक बुरे कर्म—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥ ५॥

(३)

(**मानसं कर्म त्रिविधम्**) मन से चिन्तन किये गये

णोऽध्यायः

लन'-समीक्षा सहित)

ः श्रेयस कर्मों का वर्णन)

२.११६ तक)

अधर्म=अशुभ फलदायक कर्म तीन प्रकार के हैं—(**परद्रव्येषु+अभिध्यानम्**) दूसरे के धन, पदार्थ आदि को अपने अधिकार में लेने का विचार रखना, (**मनसा+अनिष्ट चिन्तनम्**) मन में किसी का बुरा करने का सोचना, (**च वितथ+अभिनिवेशः**) और मिथ्या विचार या संकल्प करना, मिथ्या विचार या सिद्धान्त को सत्य स्वीकार करना॥ ५ ॥ (ऋषि व्याख्यात—पूना प्र०, उप० ३)

चतुर्विध वाचिक बुरे कर्म—

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥ ६ ॥
(४)

(**वाङ्‌मयं चतुर्विधं स्यात्**) वाणी के अधर्म=अशुभ फलदायक कर्म चार प्रकार के ये हैं—(**पारुष्यम्**) कठोर वचन बोलकर किसी को कष्ट देना, (**च**) और (**अनृतम्**) झूठ बोलना, (**पैशुन्यम् अपि सर्वशः**) किसी की किसी भी प्रकार की चुगली करना, (**च**) और (**असम्बद्ध प्रलापः**) किसी पर मिथ्या लांछन या बुराई लगाना अथवा ऊल-जलूल बातें करना, अफवाहें उड़ाना आदि॥ ६ ॥

ऋषि अर्थ—''वाचिक अधर्म चार हैं—पारुष्य अर्थात् कठोरभाषण। सब समय, सब ठौर मृदुभाषण करना, यह मनुष्यों को उचित है। किसी अन्धे मनुष्य को 'ओ अंधे' ऐसा कहकर पुकारना निस्सन्देह सत्य है परन्तु कठोर भाषण होने के कारण अधर्म है। अनृत-

भाषण अर्थात् झूठ बोलना, पैशुन्य अर्थात् चुगली करना, असम्बद्धप्रलाप अर्थात् जानबूझकर बात को उड़ाना ॥ ६ ॥ (पूना० प्र०, उप० ३)

त्रिविध शारीरिक बुरे कर्म—

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥
(५)

(**शारीरं त्रिविधं स्मृतम्**) शरीर से किये जाने वाले अधर्म=अशुभ फलदायक कर्म तीन प्रकार के माने हैं—(**अदत्तानाम् उपादानम्**) किसी के धन या पदार्थों को स्वामी के दिये बिना चोरी, डकैती, रिश्वत आदि अधर्म के रूप में ग्रहण करना, (**च**) और (**अविधानतः हिंसा एव**) शास्त्र द्वारा कर्त्तव्य के रूप में विहित हिंसाओं के अतिरिक्त हिंसा करना, [शास्त्रविहित हिंसाएं हैं—युद्ध में शत्रुहिंसा करना, आततायी की हिंसा ८.३४८-३५१, हिंस्र पशु की हिंसा आदि] (**च**) और (**परदारा+उपसेवा**) दूसरे की स्त्री से शारीरिक सम्बन्ध बनाना ॥ ७ ॥ (ऋषि व्याख्यात—पूना प्र०, उप० ३)

जैसा कर्म उसी प्रकार उसका योग—

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ।
वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥
(६)

(**अयम्**) यह जीव (**मानसं शुभ+अशुभं कर्म मनसा+एव**) मन से जिस शुभ व अशुभ कर्म को करता है उसको मन से (**वाचा कृतं वाचा**) वाणी से किये को वाणी से (**च**) और (**कायिकं कायेन+ एव**) शरीर से किये को शरीर से (**उपभुङ्क्ते**) कर्मफलरूप सुख-दुःख को भोगता है ॥ ८ ॥ (ऋषि व्याख्यात—स०प्र०, समु० ९)

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ।
(७)

(**नरः**) जो नर (**शरीरजैः कर्मदोषैः स्थावरतां याति**) शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है, उसको पर जन्म में वृक्ष आदि स्थावर का जन्म मिलता है, (**वाचिकैः पक्षिमृगताम्**) वाणी से किये पापकर्मों से पक्षी और मृग आदि का तथा (**मानसैः अन्त्यजातिताम्**) मन से किये दुष्टकर्मों से निम्न कोटि मनुष्य का शरीर मिलता है॥ ९॥ (ऋषि व्याख्यात—स०प्र०, समु० ९)

प्रकृति के आत्मा को प्रभावित करने वाले तीन गुण—

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान्।
यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान् महान् सर्वानशेषतः॥ २४॥ (८)

(**सत्त्वं रजः च तमः एव त्रीन् आत्मनः गुणान् विद्यात्**) सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, इन तीनों को आत्मा को प्रभावित करने वाले प्रकृति के गुण समझें, (**महान्**) महत्तत्त्व=प्रकृत्ति का प्रथम विकार [१.१४] (**इमान् सर्वान् भावान् व्याप्य स्थितः**) इस समस्त प्रकृति के कार्यरूप शरीरों और पदार्थों को व्याप्त करके स्थित रहता है॥ २४॥

अनुशीलन—'आत्मा' शब्द का अर्थ प्रकृति भी होता है। यहाँ उक्त अर्थ ही प्रासंगिक है। इस अर्थ से सम्बन्धित विस्तृत विवेचन १.१५ पर द्रष्टव्य है। अगले श्लोकों से उक्त अर्थ की पुष्टि हो जाती है। उनमें प्रकृति के विकार देह में गुणों का आश्रय माना है।

यो यदेषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते।
तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम्॥ २५॥ (९)

(**यः गुणः एषां देहे**) उक्त तीन गुणों से जो गुण इन जीवों के देह में (**साकल्येन+अतिरिच्यते**) अधिकता से विद्यमान होता है (**सः तदा तं शरीरिणम्**) वह गुण उस शरीरस्थ जीव को (**तद्गुणप्रायं करोति**) अपने गुण से प्रभावित कर लेता है॥ २५॥ (ऋषि व्याख्यात—स०प्र०, समु० ९)

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः॥ २६॥
(१०)

(**ज्ञानम् सत्त्वं**) जब आत्मा में यथार्थ ज्ञान का आधिक्य हो तब सत्त्व गुण (**अज्ञानं तमः**) जब अज्ञान का आधिक्य रहे तब तम, (**रागद्वेषौ रजः स्मृतम्**) और जब राग-द्वेष आत्मा में अधिक हों, तब रजोगुण अधिक जानना चाहिए (**एतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः एतत् व्याप्तिमत्**) सभी प्राणियों के पंचभूतों से निर्मित शरीर सदा इन तीन गुणों से व्याप्त होते हैं॥ २६॥ (ऋषि व्याख्यात—स०प्र०, समु० ९)

आत्मा में सत्त्वगुण प्रधानता की पहचान—

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत्।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत्॥ २७॥
(११)

(**तत्र आत्मनि**) उस आत्मा में (**यत् किंचित्**) जो कुछ (**प्रीतिसंयुक्तम्**) प्रसन्नता, सुख से युक्त, (**प्रशान्तम्+इव**) शान्ति से युक्त (**शुद्धाभम्**) निर्मलता से युक्त (**लक्षयेत्**) अनुभव हो, (**तत् सत्त्वम् उपधारयेत्**) तब सत्त्वगुण की प्रधानता अपने शरीर और आत्मा में जाननी चाहिये॥ २७॥

ऋषि अर्थ—''उसका विवेक इस प्रकार करना चाहिए कि जब आत्मा में प्रसन्नता, मन प्रसन्न प्रशान्त के सदृश शुद्धभानयुक्त वर्ते, तब समझना कि सत्त्वगुण प्रधान और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं।'' (स०प्र०, समु० ९)

आत्मा में रजोगुण प्रधानता की पहचान—

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम्॥ २८॥
(१२)

(**आत्मनः यत् तु**) आत्मा के लिए जो कुछ भी (**दुःख-समायुक्तम्**) दुःख से युक्त, (**अप्रीति-करम्**) प्रसन्नता रहित, (**देहिनां सततं हारि**) शरीरधारियों को

सदैव विषयों से आकृष्ट करने वाला हो (**प्रतिपम्**) जो सत्त्वगुण से विपरीत लक्षणों वाला है, (**तत् रजः विद्यात्**) उसको रजोगुण समझना चाहिये। अर्थात् ऐसी स्थिति में रजोगुण की प्रधानता होती है॥ २८॥

ऋषि अर्थ—''जब आत्मा और मन दुःखसंयुक्त प्रसन्नतारहित विषय में इधर-उधर गमन-आगमन में लगे तब समझना कि रजोगुण प्रधान, सत्त्व-गुण और तमोगुण अप्रधान है।'' (स०प्र०, समु० ९)

आत्मा में तमोगुण की प्रधानता की पहचान—

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत्॥ २९॥ (१३)

(**यत् तु**) आत्मा जब (**मोहसंयुक्तं स्यात्**) मोहयुक्त हो, भले-बुरे के ज्ञान से रहित हो, (**अव्यक्तम्**) किसी विचार में स्पष्टता न हो, (**विषयात्मकम्**) इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो, (**अप्रतर्क्यम्**) तर्क-वितर्क से शून्य हो, (**अविज्ञेयम्**) किसी विषय को स्पष्ट जानने में अक्षम हो (**तत् तमः उपधारयेत्**) तब तमोगुण की प्रधानता समझनी चाहिये॥ २९॥

ऋषि अर्थ—''जब मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फसा हुआ आत्मा और मन हो, जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहे, विषयों में आसक्त, तर्क-वितर्क रहित, जानने के योग्य न हो, तब निश्चय समझना चाहिए कि उस समय मुझ में तमोगुण प्रधान, और सत्त्व गुण तथा रजोगुण अप्रधान है।'' (स०प्र०, समु० ९)

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ ३०॥
(१४)

अब (**यः**) जो (**च+एतेषां त्रयाणाम्+अपि अग्र्यः मध्यः च जघन्यः फलोदयः**) इन तीनों गुणों का आत्मा और शरीर में उत्तम, मध्यम और निकृष्ट फलोदय=प्रभाव होता है (**तम् अशेषतः प्रवक्ष्यामि**)

उसको पूर्ण रूप में कहूंगा ॥ ३० ॥ (ऋषि व्याख्यात—स०प्र०, समु० ९)

सत्त्वगुण को प्रत्यक्ष कराने वाले लक्षण—

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ ३१ ॥
(१५)

(**वेदाभ्यासः तपः ज्ञानम्**) जब वेदों का अभ्यास, धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि (**शौचम्+ इन्द्रियनिग्रहः**) पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह (**धर्मक्रिया च आत्मचिन्ता**) धर्मक्रिया और आत्मा के चिन्तन की प्रवृत्ति होती है (**सात्त्विकं गुण-लक्षणम्**) ये सत्त्वगुण के लक्षण हैं, अर्थात् ये आचरण मनुष्य में सत्त्वगुण की प्रधानता को लक्षित कराते हैं ॥ ३१ ॥

रजोगुण के लक्षण—

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥
(१६)

(**आरम्भरुचिता**) किसी कार्य को आरम्भ करने में पहले तो रुचि होना किन्तु बाद में उसको त्याग देना, (**अधैर्यम्**) धैर्य का अभाव होना, (**असत् कार्य परिग्रहः**) बुरे कार्यों में सलंग्न होना (**च**) और (**अजस्रं विषयोपसेवा**) इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होना (**राजसं गुणलक्षणम्**) ये रजोगुण के लक्षण हैं अर्थात् ये आचरण मनुष्य में रजोगुण की प्रधानता को लक्षित कराते हैं ॥ ३२ ॥

ऋषि अर्थ—''जब रजोगुण का उदय, सत्त्वगुण और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है तब आरम्भ में रुचिता, धैर्यत्याग, असत् कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है, तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझ में वर्त रहा है।'' (स०प्र०, समु० ९)

तमोगुण के लक्षण—

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तित्ता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम्॥ ३३॥
(१७)

(**लोभः**) लालच की अधिकता, (**स्वप्नः**) अत्यधिक आलस्य और निद्रा आना, (**अधृतिः**) धैर्य का अभाव, (**क्रौर्यम्**) क्रूरता का आचरण, (**नास्तिक्यम्**) परमात्मा, पुनर्जन्म आदि के अस्तित्व में अविश्वास, (**भिन्नवृत्तिता**) बुरे आचरण में प्रवृत्ति होना, (**याचिष्णुता**) दूसरों से धन, पदार्थ मांगने की प्रवृत्ति होना, (**च**) और (**प्रमादः**) किसी कार्य में असावधानी, (**तामसं गुणलक्षणम्**) ये तमोगुण के लक्षण हैं अर्थात् मनुष्य में तमोगुण की प्रधानता को लक्षित कराते हैं॥ ३३॥

ऋषि अर्थ—''जब तमोगुण का उदय और [शेष] दोनों का अन्तर्भाव होता है, तब (लोभः) अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता, (स्वप्नः) अत्यन्त आलस्य और निद्रा, (अधृतिः) धैर्य का नाश, (क्रौर्यम्) क्रूरता का होना (नास्तिक्यम्) नास्तिक्य अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, (भिन्नवृत्तिता) भिन्न-भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति (च) और एकाग्रता का अभाव, (याचिष्णुता) जिस किसी से 'याचना' अर्थात् मांगना, प्रमाद अर्थात् मद्यपानादि दुष्ट व्यसनों में फंसना होवे, (तामसं गुणलक्षणम्) तब समझना कि तमोगुण मुझ में बढ कर वर्तता है।'' (स०प्र०, समु० ९)

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम्।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम्॥ ३४॥
(१८)

(**त्रिषु तिष्ठताम्**) तीनों कालों अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान में विद्यमान रहने वाले (**एतेषां त्रयाणाम्+अपि गुणानाम्**) उक्त तीनों गुणों के (**गुणलक्षणं क्रमशः**) 'गुणलक्षण' को क्रमशः

(**सामासिकम् इदं ज्ञेयम्**) संक्षेप में इस प्रकार [१२.३५-३८] समझें॥ ३४॥ (ऋषि व्याख्यात—स०प्र०, समु० ९)

तमोगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाषा—

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम्॥ ३५॥
(१९)

(**यत्कर्म कृत्वा**) मनुष्य का आत्मा जिस कर्म को करके (**च**) और (**कुर्वन्**) करता हुआ (**च**) और (**करिष्यन्-एव**) कभी भी करने की इच्छा करते हुए (**लज्जति**) लज्जा का अनुभव करता है (**तत् सर्वं तामसं गुणलक्षणं ज्ञेयम्**) उन सब कामों को तमोगुण का लक्षण समझें॥ ३५॥

ऋषि अर्थ—''जब अपना आत्मा जिस कर्म को करके, करता हुआ और करने की इच्छा से लज्जा, शंका और भय को प्राप्त होवे तब जानो कि मुझ में प्रवृद्ध तमोगुण है।'' (स०प्र०, समु० ९)

रजोगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाषा—

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्।
न च शोचत्यसम्पत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम्॥ ३६॥
(२०)

(**अस्मिन् लोके**) इस लोके में मनुष्य जब (**येन कर्मणा**) जिस काम से (**पुष्कलां ख्यातिम्+ इच्छति**) अत्यधिक प्रसिद्धि चाहता है (**च**) और (**असंपत्तौ न शोचति**) दरिद्रता होने पर भी अपने कार्य पर खेद अनुभव नहीं करता अर्थात् प्रसिद्धि पाने के लिए व्यय करने में सलंग्न रहता है (**तत् तु राजसं विज्ञेयम्**) उस कार्य को रजोगुण का लक्षण समझें॥ ३६॥

ऋषि अर्थ—''जिस कर्म से इस लोक में जीवात्मा पुष्कल प्रसिद्धि चाहता, दरिद्रता होने में भी चारण, भाट आदि को [अपनी प्रसिद्धि के लिए] दान देना नहीं छोड़ता, तब समझना कि मुझ में रजोगुण प्रबल है।'' (स० प्र०, समु० ९)

सत्त्वगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाषा—

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन्।
येन तुष्यति चात्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम्॥ ३७॥
(२१)

(**यत् सर्वेण ज्ञातुम्-इच्छति**) मनुष्य का आत्मा जब पूर्ण मन से किसी ज्ञान को जानना चाहता है (**च**) और (**यत् आचरन् न लज्जति**) किसी काम को करता हुआ जब लज्जा का अनुभव नहीं करता, (**च**) तथा (**येन अस्य आत्मा तुष्यति**) जिस काम को करने से मनुष्य का आत्मा संतुष्टि-प्रसन्नता का अनुभव करता है (**तत् सत्त्वगुण-लक्षणम्**) वह सत्त्वगुण का लक्षण समझना चाहिये ३७॥

ऋषि अर्थ—''जब मनुष्य का आत्मा सब से जानने को चाहे, गुण ग्रहण करता जाये, अच्छे कर्मों में लज्जा न करे और जिस कर्म से आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्माचरण ही में रुचि रहे तब समझना कि मुझ में सत्त्वगुण प्रबल है।'' (स०प्र०, समु० ९)

तीनों गुणों के प्रधान लक्षण व पारस्परिक श्रेष्ठता—

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम्॥ ३८॥
(२२)

(**कामः तमसः लक्षणम्**) कामभावना की प्रधानता तमोगुण का प्रधान लक्षण है, (**रजसः तु अर्थः उच्यते**) रजोगुण का प्रधान लक्षण अर्थ संग्रह की इच्छा की प्रधानता होना है, (**सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः**) सत्त्वगुण की प्रधानता होने का लक्षण धर्म का आचरण करना है, (**एषां यथोत्तरं श्रैष्ठ्यम्**) इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है अर्थात् तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है॥ ३८॥ (ऋषि व्याख्यात—स०प्र०, समु० ९)

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यते।
तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम्॥ ३९॥
(२३)

(**एषाम्**) इन तीन गुणों में (**येन गुणेन**) जिस

गुण से (**यः तु**) जो मनुष्य (**संसारान् प्रतिपद्यते**) जिस सांसारिक गति को प्राप्त करता है (**अस्य सर्वस्य तान् समासेन यथाक्रमं वक्ष्यामि**) समस्त संसार की उन गतियों को संक्षेप में और क्रम से कहूंगा॥ ३९॥ (ऋषि व्याख्यात—स०प्र०, समु० ९)

तीन गुणों के आधार पर तीन गतियाँ—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥४०॥
(२४)

(**सात्त्विकाः देवत्वं यान्ति**) सत्त्वगुण का आचरण करने वाले परजन्म देवत्व अर्थात् दिव्यगुणों से युक्त विशेष मनुष्य का जन्म प्राप्त करते हैं, (**च**) और (**राजसाः मनुष्यत्वम्**) रजोगुणी आचरण करने वाले साधारण मनुष्य का जन्म पाते हैं, (**तामसाः तिर्यक्त्वम्**) तमोगुणी आचरण करने वाले पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-वनस्पति आदि तिर्यक् जन्मों को प्राप्त करते हैं, (**नित्यम्-इत्येषा त्रिविधाः गतिः**) सदा प्राप्त होने वाली ये तीन प्रकार की गतियां हैं॥ ४०॥

ऋषि अर्थ—''जो मनुष्य सात्त्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान्, जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य, और जो तमोगुणयुक्त होते हैं वे नीचगति को प्राप्त होते हैं।'' (स० प्र०, समु० ९)

अनुशीलन—देव शब्द के अर्थज्ञान एवं देवकोटि के व्यक्तियों के विषय में विस्तृत जानकारी के लिए २.१५१ पर 'देव' विषयक अनुशीलन द्रष्टव्य है।

तीन गतियों के कर्म, विद्या के आधार पर तीन गौण गतियाँ—

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः।
अधमा मध्यमाऽग्र्या च कर्मविद्या विशेषतः॥४१॥
(२५)

(**एषा त्रिविधाः**) ये तीन प्रकार की सत्त्व, रज, तम युक्त गतियाँ हैं, (**कर्म विद्या विशेषतः**) कर्म और विद्या=ज्ञान की विशेषताओं के आधार पर (**अधमा,**

अध्यमा च अग्र्या) अधम, मध्यम और उत्तम भेद से प्रत्येक की पुनः (**त्रिविधा गौणिकी गतिः विज्ञेया**) तीन-तीन प्रकार की अर्थात् कुल नौ प्रकार की गौण गतियाँ निम्न प्रकार होती हैं [१.४२-५०] ॥ ४१ ॥

तामस गतियों के तीन भेद—

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः॥ ४२॥

(२६)

(**स्थावराः**) स्थावर अर्थात् वृक्ष, वनस्पति आदि [१.४६-४९], (**च**) और (**कृमि-कीटाः मत्स्याः**) सूक्ष्म कीड़े, बड़े कीड़े, सभी प्रकार के मत्स्यवर्ग (**च**) और (**सर्पाः सकच्छपाः**) जलचर कछुए आदि सहित सभी जलचर और सभी सर्प जातियां, (**पशवः च मृगाः**) पशु और मृग (**जघन्या तामसी गतिः**) ये सबसे निम्न तमोगुणी गतियां हैं अर्थात् अत्यन्त तमो गुणी लोगों को अगले जन्म में ये गतियां प्राप्त होती है ॥ ४२ ॥

ऋषि अर्थ—''जो अत्यन्त तमोगुणी हैं वे स्थावर-वृक्षादि, कृमि, कीड़े, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं।'' (स०प्र०, समु० ९)

हस्तिनश्च तुरंगांश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः॥ ४३॥

(२७)

(**हस्तिनः च तुरंगाः**) पशुओं में हाथी और घोड़े, (**सिंहाः व्याघ्राः च वराहाः**) सिंह, बाघ, सुअर (**च**) और (**गर्हिताः शूद्राः च म्लेच्छाः**) निन्दनीय कार्य करने वाले शूद्र और म्लेच्छ (**मध्यमा तामसी गतिः**) ये मध्यम तामसी गतियां हैं अर्थात् मध्यम तमोगुणी लोगों को परलोक में उक्त प्रकार के जन्म प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

ऋषि अर्थ—''जो मध्यम तमोगुणी हैं वे हाथी, घोड़ा, शूद्र, म्लेच्छ, निन्दित काम करने वाले, सिंह, व्याघ्र, वराह अर्थात् सूकर के जन्म को प्राप्त होते हैं।'' (स०प्र०, समु० ९)

चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः॥ ४४॥
(२८)

(**चारणाः**) स्वार्थ हेतु दूसरों की प्रशंसा में संलग्न जन, (**सुपर्णाः**) पक्षीगण, (**च**) और (**दाम्भिकाः पुरुषाः**) अहंकारी स्वभाव के मनुष्य, (**च**) तथा (**राक्षसाः**) दूसरों को हानि पहुंचाने की प्रवृत्ति वाले जन, (**पिशाचाः**) मांस आदि का सेवन करने वाले, (**तामसीषु उत्तमा गतिः**) ये उत्तम तमोगुणी गतियां हैं अर्थात् उत्तम तमोगुणी जन परलोक में उक्त प्रकार के जन्म को पाते हैं॥ ४४॥

ऋषि अर्थ—''जो उत्तम तमोगुणी हैं वे चारण=जो कवित्त, दोहा आदि बनाकर मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं, सुन्दर पक्षी और दाम्भिक पुरुष अर्थात् अपने अपनी प्रशंसा करने हारे, राक्षस जो हिंसक, पिशाच जो अनाचारी अर्थात् मद्य आदि के आहारकर्त्ता और मलिन रहते हैं वह उत्तम तमोगुण के कर्म का फल है।'' (स०प्र०, समु० ९)

अनुशीलन—राक्षस और पिशाच शब्दों पर विस्तृत विवेचन ३.३३-३४ की समीक्षा में देखिये।

राजस गतियों के तीन भेद—

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः॥ ४५॥
(२९)

(**जघन्या राजसी गतिः**) जो अधम रजोगुणी हैं वे (**झल्लाः**) झल्ला अर्थात् कुद्दाले आदि से तालाब आदि के खोदने हारे, (**मल्लाः**) मल्ला अर्थात् नौका आदि के चलाने वाले, (**नटाः**) नट, जो बांस आदि पर कला, कूदना, चढ़ना-उतरना आदि करते हैं, (**शस्त्रवृत्तयः पुरुषाः**) शस्त्र जीविकाधारी भृत्य (**च**) और (**द्यूतमद्यपानप्रसक्ताः**) जुआ आदि और मद्य पान में आसक्त हों, ऐसे जन्म नीच रजोगुण का फल है॥ ४५॥ (द्रष्टव्य, स०प्र० समु० ९)

राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः॥ ४६॥
(३०)

(**मध्यमा राजसी गतिः**) जो मध्यम रजोगुणी होते हैं वे (**राजानः क्षत्रियाः**) राजा, क्षत्रियवर्णस्थ, (**राज्ञां पुरोहिताः**) राजाओं के पुरोहित, (**वादयुद्ध-प्रधानाः**) वाद-विवाद करने वाले-दूत, प्राड्विवाक= वकील, बैरिस्टर, युद्धविभाग के अध्यक्ष के जन्म पाते हैं॥ ४६॥ (द्रष्टव्य, स०प्र० नवम समु०)

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः॥ ४७॥
(३१)

(**राजसीषु उत्तमा गतिः**) जो उत्तम रजोगुणी हैं वे (**गन्धर्वाः**) गंधर्व=गाने वाले, (**गुह्यकाः**) गुह्यक= वादित्र बजाने वाले, (**यक्षाः**) यक्ष=धनाढ्य, (**विबुधा अनुचराः**) विद्वानों के सेवक, (**तथा+एव सर्वाः अप्सरसः**) और अप्सरा अर्थात् उत्तम रूप वाली स्त्री का जन्म पाते हैं॥ ४७॥ (द्रष्टव्य, स०प्र० नवम समु०)

अनुशीलन—गन्धर्व शब्द पर विस्तृत प्रामाणिक विवेचन ३.३२ की समीक्षा में द्रष्टव्य है।

सात्त्विक गतियों के तीन भेद—

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः॥ ४८॥ (३२)

(**तापसाः**) जो तपस्वी, (**यतयः**) यति, संन्यासी, (**विप्राः**) वेदपाठी, (**वैमानिका गणाः**) विमान के विशेषज्ञ, (**नक्षत्राणि**) ज्योतिषी, (**च**) और (**दैत्याः**) दैत्य अर्थात् देहपोषक मनुष्य होते हैं उनको (**प्रथमा सात्त्विकी गतिः**) प्रथम सत्त्वगुण के कर्म का फल जानो॥ ४८॥ (स०प्र० नवम समु०)[१]

---

१. **प्रचलित अर्थ**—तपस्वी (वानप्रस्थ), यति (संन्यासी-भिक्षु), ब्राह्मण, वैमानिक गण, नक्षत्र और दैत्य, जघन्य सात्त्विकी गतियाँ हैं॥ ४८॥

अनुशीलन—४८वें श्लोक के प्रचलित अर्थ में अशुद्धि—टीकाकारों ने इस श्लोक में आये 'नक्षत्र' शब्द का जड़ नक्षत्र-विशेष अर्थ किया है, जो मनु की मान्यता के विरुद्ध है। १२.२३, २५, ३५, ३७, ४०, ५१ श्लोकों के अनुसार इन श्लोकों में जीव की गतियों का निरूपण किया गया है, जड़ वस्तुओं का नहीं। नक्षत्र कोई योनि विशेष नहीं है। वे तो जड़ पदार्थ हैं, अतः यह अर्थ सही नहीं है। इस भाष्य में किया गया लाक्षणिक अर्थ 'ज्योतिषी' अर्थात् 'नक्षत्र-विज्ञान का वेत्ता' अर्थ मनुसम्मत है। यहाँ लक्षणा शब्दशक्ति से ही अर्थ की निष्पत्ति होगी।

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः॥
४९॥(३३)

(**द्वितीया सात्त्विकी गतिः**) जो मध्यम सत्त्वगुणयुक्त होकर कर्म करते हैं वे जीव (**यज्वानः**) यज्ञकर्त्ता, (**ऋषयः देवाः**) वेदार्थवित् विद्वान्, (**वेदाः ज्योतींषि वत्सराः**) वेद, विद्युत् आदि और काल-विद्या के ज्ञाता, (**पितरः**) रक्षक, ज्ञानी (**च**) और (**साध्याः**) साध्य=कार्यसिद्धि के लिए सेवन करने योग्य अध्यापक का जन्म पाते हैं॥ ४९॥ (द्रष्टव्य, स०प्र० नवम समु०)[१]

अनुशीलन—४९वें श्लोक के प्रचलित अर्थ में अशुद्धि—

(१) टीकाकारों ने 'ज्योतींषि' का 'ध्रुव तारे' आदि अर्थ किया है, यह १२.२३, २५, ३५, ३७, ४०, ५१ श्लोकों के संकेत के विरुद्ध है। जड़ वस्तु की कोई योनिविशेष नहीं होती। यह प्रसंग जीवों की गतियों का है। इसका लाक्षणिक अर्थ 'विद्युत् आदि के ज्ञाता' ही संगत है।

---

१. **प्रचलित अर्थ**—यज्वा (विधिपूर्वक अनुष्ठान किये हुए), ऋषि, देव, वेद (इतिहास-प्रसिद्ध शरीरधारी वेदाभिमानी वेदविशेष), ज्योति (ध्रुव आदि), वर्ष (इतिहास प्रसिद्ध शरीरधारी संवत्सर), पितर (सोमप आदि), और साध्य (देव-योनि-विशेष); ये मध्यम सात्त्विकी गतियाँ हैं॥ ४९॥

(२) देव, साध्य और पितरों की पृथक् योनिविशेष की कल्पना कपोलकल्पित है। मनु के मत में देव और पितर मनुष्यों के ही स्तरविशेष हैं [इस विषयक विस्तृत विवेचन २.१५१ (२.१७६) की समीक्षा में द्रष्टव्य है,] साध्यविषयक समीक्षा १.२२ पर द्रष्टव्य है]।

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्त्विकीमेनां गतिमाहुर्मनीषिणः॥५०॥
(३४)

(**उत्तमां सात्त्विकीं गतिम्**) जो उत्तम सत्त्व-गुणयुक्त होके उत्तम कर्म करते हैं वे (**ब्रह्मा**) ब्रह्मा=सब वेदों का वेत्ता, (**विश्वसृजः**) विश्वसृज= सब सृष्टिक्रम विद्या को जानकर विविध आविष्कारों को करने और बनाने हारे, (**धर्मः**) धार्मिक, (**महान् च अव्यक्तम्+एव**) सर्वोत्तम बुद्धियुक्त और अव्यक्त के जन्म और प्रकृतिवशित्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं॥ ५०॥ (द्रष्टव्य, स०प्र० नवमसमु०)[1]

अनुशीलन—(१) **५० वें श्लोक के प्रचलित अर्थ में अशुद्धि**—(१) इस श्लोक में टीकाकारों द्वारा 'ब्रह्मा' और 'विश्वसृजः' से मरीचि आदि केवल ब्रह्मा से कुछ व्यक्तियों का ग्रहण करना मनुसम्मत नहीं है। चतुर्मुख ब्रह्मा की कल्पना निराधार है। इसी प्रकार मरीचि आदि भी 'विश्वसृजः' नहीं हैं। सृष्टि-स्रष्टा तो केवल ईश्वर को बताया है [१.६, १४-१५, १९, २२, ३३॥]। ये तीनों पूर्व श्लोक में ऋषि-कोटि के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। मनुस्मृति में इनसे सम्बद्ध प्रसंग अनेक आधारों पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं [१.११-१३, ३२-४१, ५०, ५१ की समीक्षा]। इनका अर्थ 'ब्रह्मा=सब वेदों का वेत्ता' और विश्वसृजः=सब सृष्टि को जानकर ज्ञान-विज्ञान के द्वारा विविध विमानादि यानों को बनाने हारे' यही संगत है। (२) इसी प्रकार 'धर्म' 'महान्' और 'अव्यक्त' ये अमूर्त

१. **प्रचलित अर्थ**—ब्रह्मा (चतुर्मुख), विश्वस्रष्टा (मरीचि आदि), (शरीरधारी) धर्म, महान्, अव्यक्त (सांख्यप्रसिद्ध दो तत्त्वविशेष); इनको विद्वान् उत्तम सात्त्विक गतियाँ कहते हैं॥५०॥

और जड़ पदार्थ हैं, इनकी कोई योनिविशेष नहीं होती। यहाँ केवल जीवों की योनियों के वर्णन का प्रसंग है, अतः इनके लाक्षणिक अर्थ ही प्रसंग-सम्मत हैं।

(२) **प्रकृतिवशित्व सिद्धि का विवेचन**—अव्यक्त 'मूल प्रकृति' को कहते हैं। अव्यक्त से यहाँ अभिप्राय उन योगी जनों से है जो 'प्रकृतिवशिवत्व' की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे योगी उत्तम सात्त्विक गति को प्राप्त होते हैं।

प्रकृतिवशित्व। सिद्धि का वर्णन योगदर्शन में आया है—

''ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।''

[विभूति० ४८]

अर्थात्—इन्द्रियजय सिद्धि होने पर पुनः इन्द्रियों की विषयग्रहणवृत्ति में संयम करने से, मन के समान इन्द्रियों में गतिशीलता=स्फूर्ति और शक्ति आना, शरीर की अपेक्षा के बिना सूक्ष्म और दूरस्थ विषयों के ज्ञान की प्राप्ति और प्रधानजय=प्रकृति के विकारों को वश में करना; ये तीन सिद्धियाँ योगी को प्राप्त हो जाती हैं।

प्रधानजय ही प्रकृतिवशित्व सिद्धि है। इसकी सिद्धि पर योगी प्राकृतिक विकारों से अबाधित रहकर कार्य कर सकता है। योगदर्शन में इस सिद्धि को 'मधुप्रतीका' कहा है, जिसका अर्थ है 'मोक्षानन्द की प्रतीकरूप' सिद्धि। इसके बाद योगी मोक्षप्राप्ति की स्थिति में पहुंच जाता है।

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः।
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः॥ ५१॥ (३५)

(**त्रिप्रकारस्य कर्मणः**) मन, वचन, शरीर के भेद से तीन प्रकार के कर्मों का [१२.३-९] (**त्रिविधः**) सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण नामक तीन गुण और उनका फल, तथा (**त्रिविधः**) फिर उनकी उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन-तीन गतियों वाले (**सार्वभौतिकः कृत्स्नः संसारः**) सर्वभूतयुक्त सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति का (**एषः सर्वः समुद्दिष्टः**) यह पूर्ण वर्णन किया॥ ५१॥ (द्रष्टव्य, स०प्र०, समु० ९)

विषयों में आसक्ति से और अधर्मसेवन से दुःखरूप जन्मों की प्राप्ति—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्यासेवनेन च।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२ ॥
(३६)

(**इन्द्रियाणां प्रसंगेन**) इन्द्रियों में आसक्त होकर रहने से (**च**) और (**धर्मस्य+असेवनेन**) धर्म को छोड़कर अधर्म करने वाले (**अविद्वांसः**) जो अविद्वान् हैं, वे (**नराधमाः पापान् संसारान् संयान्ति**) अधम मनुष्य हैं और मरने के बाद पुनः संसार में पापमय अर्थात् दुःखमय जन्म को पाते हैं ॥ ५२ ॥ (ऋषि व्याख्यात—स०प्र०, समु० ९)

विषयों के सेवन से पाप-योनियों की प्राप्ति—

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः ।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥ ७३ ॥(३७)

(**विषयात्मकाः**) विषयी स्वभाव के मनुष्य (**यथा-यथा विषयान् निषेवन्ते**) जैसे-जैसे विषयों का सेवन करते हैं (**तथा तथा**) वैसे-वैसे (**तेषु तेषां कुशलता+उपजायते**) उन विषयों में उनकी आसक्ति अधिक बढ़ती जाती है ॥ ७३ ॥

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ।
सम्प्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥
(३८)

फिर (**ते अल्पबुद्धयः**) वे मन्दबुद्धि मनुष्य (**तेषां पापानां कर्मणाम्+अभ्यासात्**) उन विषयों से उत्पन्न पापकर्मों को बारम्बार करते हैं, और उनके कारण पुनः (**तासु-तासु योनिषु**) पापकर्मों से प्राप्त होने वाले उन-उन पूर्वोक्त जन्मों में अर्थात् जिस पाप से जो जन्म होता है [१२.३९-५१] उसे प्राप्त करके (**इह**) इसी संसार में (**दुःखानि प्राप्नुवन्ति**) दुःखों को भोगते हैं ॥ ७४ ॥

आसक्ति-निरासक्ति के अनुसार फलप्राप्ति—

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते॥ ८१ ॥(३९)

मनुष्य (**यादृशेन तु भावेन**) जैसी अच्छी या बुरी भावना से और जैसी दृढ़ आसक्ति या निरासक्ति है उसके अनुसार (**यत्‌यत् कर्म निषेवते**) जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है, (**तादृशेन शरीरेण**) वैसे-वैसे ही शरीर पाकर (**तत्‌तत् फलम्+उपाश्नुते**) उन कर्मों के फलों को भोगता है॥ ८१ ॥

अनुशीलन—श्लोकार्थ पर विचार—इस श्लोक के अर्थ को समझने के लिए ६.८० श्लोक सहायक है—**''यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निस्पृहः। तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्।''**='जब व्यक्ति सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह हो जाता है तो वह लौकिक और मोक्षसुख को प्राप्त करता है। इसी आधार पर यहाँ वर्णन है। जो व्यक्ति जितनी दृढ़ स्पृहा=आसक्ति या निःस्पृहा=अनासक्ति से कर्म-सेवन करेगा, उसे उसी के अनुसार कम-अधिक अच्छा-बुरा फल मिलेगा।

निःश्रेयसकर कर्मों का वर्णन—

एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः।
निःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत॥ ८२ ॥(४०)

(**एषः**) यह [१२.३-८१] (**कर्मणां फलोदयः**) कर्मों के फल का उद्‌भव (**सर्वः**) सम्पूर्ण रूप में (**वः समुद्दिष्टः**) तुमसे कहा। अब (**विप्रस्य**) विद्वानों या ब्राह्मण आदि द्विजों के (**निःश्रेयसकरं कर्म निबोधत**—) मोक्षदायक कर्मों को आगे सुनो॥ ८२ ॥

छह निःश्रेयसकर कर्म—

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः।
धर्मक्रियाऽऽत्मचिन्ता च निःश्रेयसकरं परम्॥ ८३ ॥
(४१)

(**वेदाभ्यासः, तपः, ज्ञानम्, इन्द्रियाणां संयमः, धर्मक्रिया, च आत्म-चिन्ता**) वेदों का अभ्यास [१२. ९४-१०३], तप=व्रतसाधना [१२.१०४], ज्ञान=

सत्यविद्याओं की प्राप्ति [१२.१०४], इन्द्रियसंयम [१२.९२], धर्मक्रिया=धर्मपालन एवं यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाओं का अनुष्ठान और आत्मचिन्ता= परमात्मा का ज्ञान एवं ध्यान, ये छः (**निःश्रेयसकरं परम्**) मोक्ष प्रदान करने वाले सर्वोत्तम कर्म हैं॥ ८३ ॥[1]

अनुशीलन—श्लोक में पाठभेद प्रक्षिप्त—उपलब्ध संस्करणों में इस श्लोक के तृतीय पाद में ''**अहिंसा गुरुसेवा च**'' पाठ मिलता है। यह पाठभेद मनु से परवर्ती काल में कभी किया गया है जो मनुस्मृति के अनुरूप नहीं है। यहां ''**धर्मक्रियाऽत्मचिन्ता च**'' पाठ ही उपयुक्त है। इसकी पुष्टि में निम्न प्रमाण हैं—

(१) ८३ वें श्लोक में निःश्रेयस कर्मों की परिगणना है, परिगणना के बाद आगे छह कर्मों से सम्बन्धित व्याख्यान ८५-११५ श्लोकों में है। अग्रिम व्याख्यान में 'अहिंसा' और 'गुरुसेवा' का कहीं उल्लेख नहीं है, अपितु 'आत्मज्ञान' और 'धर्मक्रिया' का ही है जो इस संस्करण के पाठ की पुष्टि करता है। श्लोकार्थ में तत्तत् वर्णन वाले श्लोकों की संख्या दे दी है। उससे पाठक उस व्याख्या को जान सकते हैं। (२) मनु ने सात्त्विक कर्मों को ही निःश्रेयस कर्म माना है। इस श्लोक में अन्य सभी कर्म तो वही हैं, केवल दो में पाठभेद कर दिया है। सात्त्विक कर्मों का वर्णन १२.३१ में है। वही पाठ यहाँ ग्रहण करना मनुसम्मत है, क्योंकि वही कर्म मनु-मत से सर्वश्रेष्ठ हैं और वही मुक्तिदायक हो सकते हैं। अतः प्रस्तुत पाठ सही है।

आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ धर्म है—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥ ८५॥
(४२)

---

१. **प्रचलित अर्थ**—इस श्लोक के तृतीय पाद में '**धर्मक्रिया आत्मचिन्ता च**' के स्थान पर प्रचलित संस्करणों में ''**अहिंसा गुरुसेवा च**'' पाठ मिलता है। तदनुसार प्रचलित अर्थ इस प्रकार है—(उपनिषद् के सहित) वेद का अभ्यास, (प्राजापत्य आदि) तप, (ब्रह्मविषयक) ज्ञान, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा और गुरुजनों की सेवा; ये ब्राह्मणों के लिए श्रेष्ठ मोक्षसाधक छः कर्म हैं॥ ८३॥

(**एषां सर्वेषाम्+अपि**) इन सब [१२.८३] कर्मों से (**आत्मज्ञानं परं स्मृतम्**) 'परमात्मज्ञान' सर्वश्रेष्ठ कर्म माना है, (**तत्+हि सर्वविद्यानाम् अग्र्यम्**) यह सब विद्याओं अर्थात् ज्ञानों में सर्वप्रमुख कर्म है (**ततः अमृतं प्राप्यते**) क्योंकि इससे मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ८५ ॥

अनुशीलन—इसी मान्यता को मनु ने ६.८१, ८२, ८४ में वर्णित किया है। तुलनार्थ वे श्लोक द्रष्टव्य हैं। 'अमृत' शब्द के अर्थज्ञान के लिए १२.१०४ श्लोक पर अनुशीलन देखिए।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥ ९१ ॥
(४३)

(**सर्वभूतेषु आत्मानम्**) सब चराचर पदार्थों एवं प्राणियों में परमात्मा की व्यापकता को (**च**) और (**आत्मनि**) परमात्मा में (**सर्वभूतानि**) सब पदार्थों एवं प्राणियों के आश्रय को (**समं पश्यन्**) समानभाव से देखता हुआ अर्थात् यथार्थ ज्ञानपूर्वक सर्वत्र परमात्मा की स्थिति का अनुभव कर सर्वदा उसी का ध्यान करता हुआ (**आत्मयाजी**) परमात्मा में अपने आत्मा को ध्यानावस्थित करने वाला उपासक मनुष्य (**स्वाराज्यम्+अधिगच्छति**) परमात्मसुख अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥ ९१ ॥

अनुशीलन—(१) **'स्वाराज्यम्' का अर्थ**—'**स्वप्रकाशेन शक्त्या वा चराचरं जगत् राजयति प्रकाशयति सः स्वराट्**=ब्रह्म=जो अपने प्रकाश या बल से समस्त चराचर जगत् को प्रकाशित=उत्पन्न करता है, वह परमात्मा। अथवा '**स्वप्रकाशेन राजते प्रकाशते इति स्वराट्=ब्रह्म, तस्य भावः स्वाराज्यम्=ब्रह्मत्वम्**'=जो स्वप्रकाश से प्रकाशित होता है वह ब्रह्म=परमात्मा है। स्वराट् का भाव 'स्वाराज्य=ब्रह्मत्व प्राप्ति' है अर्थात् मुक्ति को प्राप्त हो जाना।

(२) **श्लोक की वेदमन्त्र से तुलना**—श्लोकोक्त मान्यता का आधार वेद है। इस पर निम्न मन्त्र से प्रकाश पड़ता है, तुलनार्थ द्रष्टव्य है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः, एकत्वमनुपश्यतः॥

यजुः० ४०.७॥

अर्थ—"(**यस्मिन्**) जिस परमात्मा, ज्ञान-विज्ञान अथवा धर्म के विषय में (**विजानतः**) सम्यक् ज्ञाता जन के लिए (**सर्वाणि**) सब (**भूतानि**) प्राणी (**आत्मा**) अपने आत्मा के समान (**एव**) ही (**अभूत्**) होते हैं; (**तत्र**) उस परमात्मा में विराजमान (**एकत्वम्**) परमात्मा के एकत्व को (**अनुपश्यतः**) ठीक-ठीक योगाभ्यास के द्वारा साक्षात् देखने वाले योगी जन को (**कः**) क्या (**मोहः**) मोह और (**कः**) क्या (**शोकः**) क्लेश (**अभूत्**) होता है॥" [यजु० भाष्य ऋ० दया०]

इस भाव की तुलना के लिए १२.११९, १२५ श्लोक एवं उन पर अनुशीलन भी द्रष्टव्य है।

(३) **आत्मयाजी की व्युत्पत्ति एवं अर्थ**—'**आत्मनि परमात्मनि यष्टुं शीलमस्य इति** अर्थात् जो परमात्मा में यजनशील है, उसकी संगति एवं उसका ध्यान करता है। परमात्मा के उस उपासक को 'आत्मयाजी' कहते हैं।

आत्मज्ञान, इन्द्रियसंयम का कथन और इनसे जन्मसाफल्य—

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥ ९२॥

(४४)

(**द्विजोत्तमः**) श्रेष्ठ द्विज (**यथोक्तानि+अपि कर्माणि परिहाय**) उसके लिए विहित यज्ञ आदि कर्मों को [किसी विशेष अवस्था अथवा संन्यास की अवस्था में] छोड़ते हुए भी [३.३४, ४३] भी (**आत्मज्ञाने शमे च वेदाभ्यासे यत्नवान् स्यात्**) परमात्मज्ञान, इन्द्रियसंयम [२.६८-७५] और वेदाभ्यास=वेद के चिन्तन-मनन में प्रयत्नशील अवश्य रहे अर्थात् इनको किसी भी अवस्था में न छोड़े॥ ९२॥

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा॥ ९३॥

(४५)

(**एतत् हि**) ये [१२.९२] तीनों कर्म द्विजों के, (**विशेषतः ब्राह्मणस्य जन्मसाफल्यम्**) विशेष रूप से ब्राह्मण के जन्म को सफल बनाने वाले हैं। (**द्विजः**) द्विज व्यक्ति (**एतत् प्राप्य हि कृतकृत्यः भवति**) इनका पालन करके ही कर्त्तव्यों की पूर्णता प्राप्त करता है, (**अन्यथा न**) इसके बिना नहीं॥ ९३॥

अनुशीलन—ब्राह्मण को विशेष रूप से इसलिए कहा गया है क्योंकि ब्राह्मण के जीवन का प्रमुख उद्देश्य ही वेदाध्ययन-अध्यापन और परमात्मा-प्राप्ति होता है।

वेद सबका चक्षु है—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥ ९४॥
(४६)

(**पितृ-देव-मनुष्याणाम्**) पितृ-संज्ञक रक्षक और पालक पिता आदि, दिव्यगुणी एवं विद्वान् और अन्य साधारण मनुष्यों का (**वेदः सनातनं चक्षुः**) वेद सनातन नेत्र=मार्ग प्रदर्शक है, (**च**) और वह (**अशक्यम्**) अशक्य अर्थात् जिसे कोई पुरुष नहीं बना सकता, इसलिए अपौरुषेय है, (**च**) तथा (**अप्रमेयम्**) अनन्त सत्य ज्ञान से युक्त है, (**इति स्थितिः**) ऐसी निश्चित मान्यता है॥ ८४॥

अनुशीलन—१.३,२३ श्लोकों में भी वेद को अपौरुषेय, और अप्रमेय कहा गया है।

वेदविरुद्ध-शास्त्र अप्रामाणिक—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फला प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृता॥
९५॥ (४७)

(**याः वेदबाह्यः स्मृतयः**) संसार में जो वेदोक्त धर्म के अनुकूल स्मृतियां अर्थात् धर्म नियम नहीं हैं और भविष्य में नहीं होंगे [१२.१०६-११५] (**च**) और (**याः काश्च कुदृष्टयः**) जो कोई वेद विरोधी विचार हैं अथवा होंगे (**ताः सर्वाः निष्फलाः**) वे सब निष्फल हैं, उत्तम कर्मफल देने वाले नहीं हैं (**ताः प्रेत्य**

तमोनिष्ठाः हि स्मृताः) वे परलोक में निश्चित रूप से तमोगुणी दु:खमय जन्म को प्राप्त कराने वाले माने हैं॥ ९५॥

ऋषि अर्थ—''जो ग्रन्थ वेदबाह्य, कुत्सित पुरुषों के बनाये, संसार को दु:खसागर में डुबोने वाले हैं, वे सब निष्फल, असत्य, अन्धकाररूप इस लोक और परलोक में दु:खदायक हैं।'' (स०प्र०, समु० ११)

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥ ९६॥
(४८)

(**अतः-अन्यानि कानिचित्**) अतः वेदों की मान्यता से भिन्न अथवा प्रतिकूल जो कोई स्मृतियां अर्थात् धर्मनियम हैं अथवा होंगे वे (**उत्पद्यन्ते च च्यवन्ते**) उत्पन्न होते रहेंगे और नष्ट होते रहेंगे (**तानि अर्वाक्-कालिकतया निष्फलानि**) वे सब वेदों के पश्चात् कथित होने से श्रेष्ठ फलों से रहित हैं (**च**) और (**अनृतानि**) असत्य रहैं॥ ९६॥

ऋषि अर्थ—''जो इन वेदों से विरुद्ध ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं, वे आधुनिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, उनका मानना निष्फल और झूठा है।'' (स०प्र०, समु० ११)

अनुशीलन—अर्वाक् काल से अभिप्राय—यहाँ वेदविरुद्ध ग्रन्थों के आधुनिक होने से प्रभिप्राय यह है कि वेदों की मान्यताएँ प्राचीनतम एवं सनातन हैं, किन्तु वेदविरुद्ध ग्रन्थों की मान्यताएँ परवर्ती हैं, और वे सत्य न होने से, बनती हैं, फिर नष्ट हो जाती हैं। वेदों की मान्यताओं की तरह सनातन नहीं। ईश्वरीय ज्ञान होने से वेदों की मान्यताएँ सनातन हैं।

वेद से वर्ण, आश्रम, लोक, काल आदि का ज्ञान—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥ ९७॥
(४९)

(**चातुर्वर्ण्यम्**) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चार वर्ण और इनकी व्यवस्था, (**त्रयः लोकाः**) पृथ्वी,

आकाश एवं द्युलोक अर्थात् समस्त भूमण्डल के लोक, ग्रह आदि, (**चत्वारः आश्रमाः पृथक्**) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास, इन चारों के पृथक्-पृथक् विधान, (**च भूतं भव्यं भविष्यम्**) और भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी कालों की विद्या, (**सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति**) ये सब वेदों से ही प्रसिद्ध, प्रकट और ज्ञात होती हैं अर्थात् इन सब व्यवस्थाओं और विद्याओं का ज्ञान मूलरूप से वेदों के द्वारा ही होता है ॥ ९७ ॥

(**ऋषि व्याख्यात**—ऋ०भा०भू०, वेदविषय)

अनुशीलन—मनु ने यही मान्यता १.२१ में वर्णित की है। तुलनार्थ प्रस्तुत है—''**सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥**''

पञ्चभूत आदि सूक्ष्म शक्तियों का ज्ञान वेदों से—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ९८ ॥ (५०)

(**शब्दः स्पर्शः रूपं रसः पञ्चमः गन्धः**) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पञ्चम गन्ध, ये (**प्रसूति-गुण-कर्मतः**) उत्पत्ति, गुण और कार्य के ज्ञानरूप से (**वेदात्+एव प्रसूयन्ते**) वेदों से ही प्रसिद्ध=विज्ञात होते हैं अर्थात् इन तत्त्वशक्तियों का उत्पत्तिज्ञान, इनके गुणों का ज्ञान, इनकी उपयोगिता का ज्ञान और उत्पन्न समस्त जड़-चेतन संसार का ज्ञान-विज्ञान, वेदों से ही मूलरूप से प्राप्त होता है ॥ ९८ ॥

वेद सुखों का साधन है—

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ९९ ॥
(५१)

(**सनातनं वेदशास्त्रम्**) नित्य वेदशास्त्र (**सर्व-भूतानि बिभर्ति**) सब प्राणियों का ज्ञान, विद्या दान द्वारा धारण-पोषण करता है। (**यत् अस्य जन्तोः साधनम्**) और यह मनुष्यमात्र के लिए सुख, उन्नति, पुरुषार्थ प्राप्ति आदि का साधन है (**तस्मात् एतत् परं मन्ये**) इसलिए

मैं वेदशास्त्र को सर्वोत्तम मानता हूं॥ ९९॥

ऋषि अर्थ—''यह जो सनातन वेदशास्त्र है सो सब विद्याओं के दान से सम्पूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त कराता है, इस कारण से हम लोग उसको सर्वथा उत्तम मानते हैं, और इसी प्रकार मानना भी चाहिए, क्योंकि सब जीवों के सब सुखों का साधन यही है।'' (ऋ०भा० भू०, वेदविषय-विचार)

वेदवेत्ता ही सफल राजा, सेनापति व न्यायाधीश हो सकता है—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ १००॥
(५२)

(**सेनापत्यम्**) सेना के प्रबन्ध का कार्य (**च**) और (**राज्यम्**) राज्य का प्रशासन-कार्य (**च**) और (**दण्ड-नेतृत्वम् एव**) दण्डव्यवस्था अर्थात् न्याय-व्यवस्था का कार्य (**च**) और (**सर्वलोकाधिपत्यम्**) सब प्रजा का अधिपति अर्थात् राजा होने का कार्य, इनको (**वेदशास्त्र-वित्+अर्हति**) वेदशास्त्रों का ज्ञाता ही उत्तम प्रकार से करने में समर्थ है, योग्य है॥ १००॥

ऋषि अर्थ—''सब सेना और सेनापतियों के ऊपर राज्याधिकार, दण्ड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का आधिपत्य, सब के ऊपर वर्तमान सर्वाधीश, राज्याधिकार, इन चारों अधिकारों में सम्पूर्ण वेदशास्त्रों में प्रवीण, पूर्ण विद्या वाले, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशील जनों को स्थापित करना चाहिए अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, और प्रधान राजा, ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहिएँ।'' (स०प्र० पष्ठ समु०) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, गृहाश्रम०

अनुशीलन—यहां '**वेदशास्त्रवित् अर्हति**' का अर्थ 'वेदशास्त्र का ज्ञाता ही उसके योग्य हो सकता है' यह है। राज्य-संचालन वाली मान्यता की तुलना के लिए ७.२ द्रष्टव्य है तथा 'दण्डनेतृत्व' की तुलनार्थ—७.३१। वहाँ वेद शास्त्रवेत्ता को ही इसके योग्य माना है।

वेदज्ञानाग्नि से कर्म दोषों का नाश—

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः॥ १०१॥
(५३)

(**यथा**) जैसे (**जातबलः बह्निः**) धधकती हुई आग (**आर्द्रान् द्रुमान् अपि दहति**) गीले वृक्षों को भी जला देती है (**तथा**) उसी प्रकार (**वेदज्ञः**) वेदों का ज्ञाता विद्वान् (**आत्मनः कर्मजं दोषं दहति**) अपने कर्मों से उत्पन्न होने वाले संस्कार-दोषों को जला देता है अर्थात् वेदज्ञान रूपी अग्नि से दुष्ट संस्कारों को मिटाकर आत्मा को पवित्र रखता है॥ १०१॥

अनुशीलन—तुलनार्थ द्रष्टव्य हैं ११.२४५, २४६, २६३। वहाँ भी यही मान्यता है। अनुशीलन द्रष्टव्य—११.२२७॥

वेदज्ञान से ब्रह्मप्राप्ति की ओर प्रगति—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ १०२॥
(५४)

(**वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः**) वेदशास्त्र के अर्थतत्त्व का यथार्थ ज्ञाता विद्वान् (**यत्र-तत्र+आश्रमे वसन्**) किसी भी आश्रम में रहता हुआ, (**इह+एव लोके तिष्ठन्**) इसी वर्तमान जन्म में ही (**ब्रह्मभूयाय कल्पते**) ब्रह्मप्राप्ति के लिए अधिकाधिक समर्थ हो जाता है॥ १०२॥

अनुशीलन—इसी मान्यता की पुष्टि के लिए तुलनार्थ द्रष्टव्य है ४.१४९ श्लोक।

तप से पापभावना का नाश और विद्या से अमृतप्राप्ति—

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ १०४॥
(५५)

(**विप्रस्य**) विप्र के लिए (**तपः च विद्या**) तप=श्रेष्ठव्रतों का धारण और साधना, और विद्या=सत्यविद्याओं का ज्ञान, ये दोनों (**परं निःश्रेयसकरम्**) उत्तम मोक्षसाधन हैं, वह विप्र (**तपसा किल्बिषं हन्ति**)

तप से पापभावना को नष्ट करता है, और (**विद्यया+अमृतम्+अश्नुते**) सत्यविद्या के यथार्थ ज्ञान से अमरता=मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ १०४ ॥

अनुशीलन—(१) **पापभावना का विनाश**—श्रेष्ठव्रतों के धारण से और प्राणायाम आदि तपों के पालन से आत्मा की पापभावना या अशुद्धि का क्षय होता है। इसकी पुष्टि में अन्यत्र वर्णित मान्यताएँ निम्न श्लोकों में द्रष्टव्य हैं। ६.७०-७२ ॥ ११.२२७।

(२) **अमृत का अर्थ**—'मृङ् प्राणत्यागे' तुदादि धातु से '**क्तः**' प्रत्यय के योग से और नञ् समास में 'अमृतम्' शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ जन्म-मृत्यु से रहित अर्थात् मोक्षसुख है। मनुष्य वेद आदि सत्यविद्या के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मोक्षसुख को इसलिए अमृत कहा जाता है कि जब तक मुक्तिसुख का समय रहता है, तब तक यह सुख नष्ट नहीं होता, बीच में दुःख आकर इसे नष्ट नहीं करता। यजु० ४०.१४ में यह वाक्य यथावत् आता है—''**विद्ययाऽमुतमश्नुते।**''।

धर्मज्ञान के लिए त्रिविध प्रमाणों का ज्ञान—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥ १०५॥
(५६)

(**धर्मशुद्धिम्+अभीप्सता**) धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानने के अभिलाषी मनुष्य को (**प्रत्यक्षम् अनुमानं च विविधागमं शास्त्रम्**) प्रत्यक्ष-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण और वेद एवं विविध वेदमूलक शास्त्र-प्रमाण, (**त्रयं सुविदितं कार्यम्**) इन तीनों का अच्छी प्रकार ज्ञान प्राप्त करना चाहिए॥ १०५ ॥

अनुशीलन—**तीन प्रमाण और उनके लक्षण**—प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र या शब्द-प्रमाणों को समझने के लिए यहाँ उन पर विस्तार से प्रकाश डाला जा रहा है। स०प्र० प्रथम समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने न्यायदर्शन के सूत्रों को उद्धृत करके इनकी विस्तृत और गम्भीर व्याख्या की है। यहाँ वही उद्धृत की जाती है—

(१) प्रत्यक्ष प्रमाण—

''**इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यम-**

व्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥''

न्याय० ॥ अध्याय १. आह्निक १. सूत्र ४॥

''जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह-वह ज्ञान न हो। जैसा किसी ने किसी से कहा कि 'तू जल ले आ' वह लाके उसके पास धरके बोला कि 'यह जल है' परन्तु वहाँ 'जल' इस दो अक्षरों की संज्ञा लाने वा मंगवाने वाला नहीं देख सकता है। किन्तु जिस पदार्थ का नाम 'जल' है वही प्रत्यक्ष होता है, और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह शब्द-प्रमाण का विषय है। 'अव्यभिचारी' जैसे किसी ने रात्रि में खम्भे को देख के पुरुष का निश्चय कर लिया, जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुषज्ञान नष्ट होकर स्तम्भज्ञान रहा, ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम व्यभिचारी है। 'व्यवसायात्मक' किसी ने दूर से नदी का बालू को देख के कहा कि 'वहाँ वस्त्र सूख रहे हैं, जल है वा और कुछ है' 'वह देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त'। जब तक एक निश्चय न हो तब तक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है किन्तु जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और निश्चयात्मक ज्ञान है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं।''

(२) अनुमान प्रमाण—

''**अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टञ्च॥**'' न्याय० ॥ अ० १. आ० १. सू० ५॥

''जो प्रत्यक्षपूर्वक अर्थात् जिसका कोई एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो उसका दूर देश से सहचारी एक देश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं। जैसे पुत्र को देख के पिता, पर्वतादि में धूम को देखके अग्नि, जगत् में सुख-दु:ख देखके पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। वह अनुमान तीन प्रकार का है। एक 'पूर्ववत्' जैसे बादलों को देख के वर्षा, विवाह को देख के सन्तानोत्पत्ति, पढ़ते हुए विद्यार्थियों को देखके विद्या होने का निश्चय होता है, इत्यादि। जहां-जहां कारण को देखके कार्य का ज्ञान

हो वह 'पूर्ववत्'। दूसरा 'शेषवत्' अर्थात् जहां कार्य को देखके कारण का ज्ञान हो। जैसे नदी के प्रवाह की बढ़ती देखके ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देखके पिता का, सृष्टि को देखके अनादि कारण का सृष्टि में रचना विशेष देखके कर्त्ता ईश्वर का और दुःख-सुख देख के पाप-पुण्य के आचरण का ज्ञान होता है, इसी को 'शेषवत्' कहते हैं। तीसरा 'सामान्यतोदृष्ट', जो कोई किसी का कार्य कारण न हो परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक-दूसरे के साथ हो जैसे कोई भी विना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना विना गमन के कभी नहीं हो सकता। अनुमान शब्द का अर्थ यही है कि अनु अर्थात् **'प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्'** जो प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न हो जैसे धूम के प्रत्यक्ष देखे विना अदृष्ट अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।''

(३) शास्त्र अर्थात् शब्द-प्रमाण—

''**आप्तोपदेशः शब्दः।**'' (न्याय १.१.७)

''जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकार-प्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो अर्थात् जितने पृथ्वी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है। जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उन्हीं को शब्द-प्रमाण जानो।''

शब्द-प्रमाण अर्थात् वेद और वेदमूलक शास्त्रों का वर्णन मनु ने धर्ममूल तत्त्वों में भी किया है। इस विषयक विवेचन १.१२५ [२.६] की समीक्षा में 'वेद' और 'स्मृति' शीर्षकों के अन्तर्गत देखिये।

इन प्रमाणों और वेदादि शास्त्रों से धर्म के वास्तविक रूप का निश्चय होता है, अन्यथा नहीं। अगले श्लोक में इसी मान्यता का कथन है।

वेदानुकूल तर्क से धर्मज्ञान—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते सः धर्मं वेद नेतरः॥ १०६॥

(**यः**) जो मनुष्य (**आर्षं च धर्मोपदेशम्**) वेद और ऋषिविहित धर्मोपदेश [१.१२५ (२.३] अर्थात् धर्मशास्त्र का (**वेदशास्त्र-अविरोधिना तर्केण अनुसंधत्ते**) वेदशास्त्र के अनुकूल तर्क के द्वारा अनुसंधान और चिन्तन करता है (**सः धर्मं वेद न+इतरः**) वही धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझ पाता है, अन्य नहीं॥ १०६ ॥

अनुशीलन—तर्क से अभिप्राय—यहाँ तर्क से अभिप्राय है प्रमाणों और वेदों के अनुकूल सत्यनिश्चय करना। इनसे विरुद्ध बातें तर्क नहीं हैं। विरुद्ध बातें कुतर्क हैं। मनु-मतानुसार तर्क के आधार पर वेद निर्भ्रान्त हैं, अतः वेदोक्त-धर्म भी निर्भ्रान्त हैं। फलस्वरूप उन पर तर्क की आवश्यकता नहीं रहती। जो कोई तर्क का नाम लेकर वेदों का खण्डन करता है वह तर्क नहीं, अपितु कुतर्क करता है, और ऐसा व्यक्ति नास्तिक है। [द्रष्टव्य १.१३० (२.११) की समीक्षा भी]।

अविहित धर्मों का विधान शिष्टविद्वान् करें—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः॥
१०८॥(५८)

(**अनाम्नातेषु धर्मेषु**) इस शास्त्र में जिन धर्मों का उल्लेख नहीं हुआ है उनमें (**कथं स्यात्-इति चेत् भवेत्**) किस आचरण को धर्म माना जाये, यदि ऐसी जिज्ञासा उपस्थित हो तो (**शिष्टाः ब्राह्मणाः यं ब्रूयुः**) वेदशास्त्रों के धार्मिक आप्त विद्वान् [१२.१०९] जिस आचरण को धर्म कहें (**सः अशंकितः धर्मः स्यात्**) वही संदेहरहित धर्म मानना चाहिए॥ १०८॥

ऋषि अर्थ—''जो धर्मयुक्त व्यवहार, मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष न कहे हो, यदि उनमें शंका होवे तो तुम जिसको शिष्ट, आप्त विद्वान्, कहें उसी को शंकारहित कर्त्तव्य-धर्म मानो।'' (सं० वि०, गृहाश्रम)

शिष्ट विद्वानों की परिभाषा—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥ १०९॥
(५९)

(**यैः तु धर्मेण सपरिबृंहणः वेदः अधिगतः**) जिन्होंने निर्धारित ब्रह्मचर्याश्रम की विधिपूर्वक वेद का वेदांगों सहित अध्ययन किया है [२.६९-२४६] (**ते श्रुति-प्रत्यक्षहेतवः ब्राह्मणाः**) उन वेदों के यथार्थ का प्रत्यक्ष करने वाले विद्वानों को (**शिष्टाः ज्ञेयाः**) 'शिष्ट' संज्ञक विद्वान् जानना चाहिये॥ १०९॥

ऋषि अर्थ—''शिष्ट सब मनुष्यमात्र नहीं होते किन्तु जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हों, और जो श्रुतिप्रमाण और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों ही से विधि वा निषेध करने में समर्थ, धार्मिक, परोपकारी हों वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं।'' (सं०वि०, गृहाश्रमप्रकरण)

तीन या दश विद्वानों की धर्मनिर्णायक परिषद्—

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत्॥ ११०॥
(६०)

(**दशावरा वृत्तस्था वा परिषद्**) धर्मनिर्णय करने वाली परिषद् दश सदाचारी शिष्ट विद्वानों की होनी चाहिये [१२.१११] (**वा-अपि त्र्यवरा**) अथवा कम से कम हो तो तीन सदाचारी शिष्ट विद्वानों की हो, (**यं धर्मं परिकल्पयेत्**) वह परिषद् जिस धर्म का निश्चय करे (**तं धर्मं न विचालयेत्**) उस धर्म का उल्लंघन नहीं करना चाहिये॥ ११०॥

ऋषि अर्थ—''गृहस्थ लोग छोटों, बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम से कम दश अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (नैयायिक), तर्क-कर्त्ता, नैरुक्त=निरुक्तशास्त्रज्ञ, धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों अथवा अतिन्यूनता करे तो तीन वेदवित् (ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ

और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो, वैसा ही आचरण किया करें।'' (सं० वि० गृहाश्रम) (अन्यत्र व्याख्यात स०प्र०, समु० ६)

धर्मपरिषद् के दश सदस्य—

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा॥ १११॥
(६१)

(**त्रैविद्यः**) ऋक्, यजु, साम इन तीन वेदों के तीन विद्वान् [१२.११२], (**हेतुकः**) कारण-अकारण का ज्ञाता, (**तर्की**) न्यायविद्या का ज्ञाता, (**नैरुक्तः**) भाषा शास्त्र का ज्ञाता, (**धर्मपाठकः**) धर्मशास्त्र का ज्ञाता, (**पूर्वे त्रयः-च आश्रमिणः**) ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ ये प्रथम तीन आश्रम वाले (**दशावरा परिषत् स्यात्**) इन दश विद्वानों से मिलकर धर्म का निर्णय करने वाली परिषद् बनती है॥ १११॥

ऋषि अर्थ—''उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें—तीन वेदों के विद्वान्, चौथा हेतुक अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, पांचवां—तर्की=न्यायशास्त्रवित्, छठा—निरुक्त का जानने हारा, सातवां—धर्मशास्त्र-वित्, आठवाँ—ब्रह्मचारी, नववां-गृहस्थ, और दशवां—वानप्रस्थ, इन महात्माओं की सभा होवे।'' (सं०वि० गृहाश्रम)

धर्मपरिषद् के तीन सदस्य—

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥ ११२॥ (६२)

यदि न्यून से न्यून तीन विद्वानों की सभा बनानी पड़े तो (**ऋग्वेदविद् च यजुर्वेदविद् च सामवेदविद् एव**) ऋग्वेद का ज्ञाता, यजुर्वेद का ज्ञाता और सामवेद का वेत्ता (**त्र्यवरा परिषद् धर्म-संशय निर्णये ज्ञेया**) इन तीन 'शिष्ट' विद्वानों की सभा धर्म विषयक संदेह का निर्णय करने वाली होनी चाहिये॥ ११२॥

ऋषि अर्थ—''तथा ऋग्वेदवित्, यजुर्वेदवित्

और सामवेदवित् इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिए होनी चाहिए।'' (सं०वि०, गृहाश्रम) (अन्यत्र व्याख्यात, स०प्र०, समु० ६)

असंख्य मूर्खों की अपेक्षा वेद का एक विद्वान् भी धर्मनिर्णय में प्रमाण है—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥ ११३॥
(६३)

तीन वेदवित् विद्वानों के न मिलने पर (**एकः-अपि वेदवित् द्विजोतमः**) वेदों का ज्ञाता एक भी सर्वोत्तम 'शिष्ट' विद्वान् [१२.१०९] (**यं धर्मं व्यवस्येत्**) जिस धर्म का निश्चय करे (**सः परः धर्मः विज्ञेयः**) उसको ही उत्तम धर्म समझना चाहिये, (**अज्ञानाम् अयुतैः उदितः न**) सहस्रों अज्ञानियों के द्वारा भी कहा गया धर्म नहीं होता॥ ११३॥

ऋषि अर्थ—''यदि एक अकेला सब वेदों का जानने हारा द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे वही श्रेष्ठ धर्म है, अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों, करोड़ों मिलके जो कुछ व्यवस्था करें, उनको कभी न मानना चाहिए।'' (स०प्र०, समु० ६) (अन्यत्र व्याख्यात सं०वि०, गृहाश्रम०)

धर्मपरिषद् का सदस्य कौन नहीं हो सकता—

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥ ११४॥
(६४)

(**अव्रतानाम्**) ब्रह्मचर्य, धर्माचरण के व्रत से रहित, (**अमन्त्राणाम्**) मन्त्र अर्थात् वेदों के ज्ञान से रहित, (**जातिमात्र+उपजीविनाम्**) केवल अपने वर्ण के नाम से जीवन चलाने वाले (**सहस्रशः समेतानाम्**) हजारों लोगों के मिलने से भी (**परिषत्त्वं न विद्यते**) वह धर्मनिर्णायक परिषद् नहीं बनती॥ ११४॥

ऋषि अर्थ—''जो ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण आदि

व्रत, वेद विद्या वा विचार से रहित, जन्ममात्र से शूद्रव्रत् वर्तमान हैं, उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहाती।'' (स०प्र०, षष्ठ समु०)

अनुशीलन—जाति का अर्थ जन्म—मनुस्मृति में जाति शब्द 'जन्म' अर्थ में भी प्रयुक्त है, अतः यहाँ जाति का अर्थ जन्म भी हो सकता है। यहाँ ऐसे व्यक्तियों का धर्म-परिषद् में निषेध किया है जो जन्म के आधार पर अपने को श्रेष्ठ समझते हों, उत्तम वर्ण होने का अभिमान करते हों किन्तु गम्भीरता और विधिपूर्वक जिन्होंने विद्याग्रहण न की हो। इसकी पुष्टि के लिए १.१२३ [२.१४८] का अनुशीलन द्रष्टव्य है।

मूर्खों द्वारा निर्णीत धर्म से पापवृद्धि का भय—

यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति॥ ११५॥
(६५)

(**तमोभूताः मूर्खाः**) तमोगुण और अविद्या से युक्त जन (**अतद्विदः**) वेदोक्त धर्मज्ञान से शून्य जन (**यं धर्मं वदन्ति**) जिस धर्म का उपदेश करते हैं, (**तत् पापम्**) वह धर्मरूप में अधर्मरूप पाप (**शतधा भूत्वा**) सौ गुणा होकर अथवा सैंकड़ों रूपों में फैलकर (**तत्+वक्तॄन्+अनुगच्छति**) उन धर्म-वक्ताओं को लगता है अर्थात् उससे सैंकड़ों पाप जनता में फैलते हैं और उनका दोष वक्ताओं को मिलता है॥ ११५॥

ऋषि अर्थ—''जो अविद्यायुक्त, मूर्ख, वेदों के न जानने वाले मनुष्य जिस धर्म को कहें, उसको कभी न मानना चाहिए, क्योंकि सैंकड़ों प्रकार के पाप लग जाते हैं।'' (स०प्र० षष्ठ समु०)

अनुशीलन—मूर्खों द्वारा विहित धर्म से हानि—वेदादि शास्त्र और प्रमाणादि में अपारंगत और तमोगुणी व्यक्तियों द्वारा कथित धर्म वस्तुतः धर्म नहीं होता, क्योंकि वे धर्म के स्वरूप के ज्ञाता नहीं होते। अधर्म को धर्म के रूप में विहित करने से जनता में सैंकड़ों प्रकार की अविद्याएँ, भ्रान्तियाँ, पनपती हैं, फिर उनसे पाप की वृद्धि होती हैं। इस प्रकार समाज रसातल को चला जाता है।

उस समाज की स्थिति संस्कृतप्रसिद्ध उक्ति वाली होती है—'**अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः**' अन्धे के सहारे उसके पीछे चलने वाले जैसे उसके साथ ही गर्त्त में गिरते हैं, वैसे मूर्खों के पीछे चलने वाले मूर्खता, अज्ञानान्धकार आदि से ग्रस्त होकर अवनति को प्राप्त होते हैं। तमोगुणी व्यक्ति के लक्षण १२.२९, ३३, ३५ में द्रष्टव्य हैं।

निःश्रेयस कर्मों का उपसंहार—

एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम्।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम्॥ ११६॥
(६६)

(**एतत्**) यह [१२.८३-११५] (**परं निःश्रेयसं-कर सर्वं वः अभिहितम्**) मोक्ष देने वाले सर्वोत्तम कर्मों का पूर्ण विधान तुम से कहा, (**विप्रः**) विद्वान् द्विज (**अस्मात्+अप्रच्युतः**) इसको बिना छोड़े अर्थात् पालन करता हुआ (**परमां गतिं प्राप्नोति**) उत्तम गति अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ ११६॥

ईश्वरद्रष्टा अधर्म में मन नहीं लगाता—

सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥ ११८॥
(६७)

(**समाहितः**) द्विज व्यक्ति सावधान चित्त होकर (**सत्-च-असत्-च सर्वम् आत्मनि सम्पश्येद्**) सत्=प्रकट कार्य रूप और असत्=सूक्ष्म कारणरूप समस्त जगत् को आत्मा अर्थात् परमात्मा में व्याप्त अनुभव करे, (**हि**) क्योंकि (**सर्वम् आत्मनि संपश्यन्**) समस्त जगत् को परमात्मा में आश्रित देखने वाला व्यक्ति (**अधर्मे मनः न कुरुते**) कभी अपने मन को अधर्माचरण में नहीं लगाता अर्थात् वह परमात्मा को सर्वत्र व्यापक और द्रष्टा जानकर अधर्म नहीं करता॥ ११८॥

ऋषि अर्थ—''जो सावधान पुरुष असत्कारण और सत्कार्यरूप जगत् को आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर में देखे, वह कभी अपने मन को अधर्मयुक्त

नहीं कर सकता, वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है।''
(द० ल० भ्रा० नि० १६९)

अनुशीलन—सर्वत्र परमात्मा के अनुभव-ज्ञान से अधर्मनिवृत्ति—यह सम्पूर्ण संसार प्रकट और अप्रकटरूप है। कार्यरूप में यह प्रकट है और कारणरूप में अप्रकट है। परमात्मा सम्पूर्ण संसार में व्याप्त रहता है। जो व्यक्ति सदा इस बात का अनुभव करता है, वह किसी भी स्थान पर और किसी भी समय में अधर्म नहीं करता; क्योंकि वह जानता है कि मुझे प्रत्येक स्थान और समय में सर्वव्यापक परमात्मा देख रहा है। इस प्रकार की अनुभूति एवं ज्ञान से मनुष्य अधर्म से दूर रहता है।

परमेश्वर ही सबका निर्माता, फलदाता और उपास्य है—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥ ११९॥
(६८)

(**सर्वाः देवताः आत्मा-एव**) विभिन्न देवताओं के नाम से वाच्य सभी दिव्यगुणयुक्त पदार्थ परमात्मा के ही अंगरूप हैं, (**आत्मनि सर्वम् अवस्थितम्**) परमात्मा में ही सब जगत् स्थित है, (**आत्मा ही एषां शरीरिणां कर्मयोगं जनयति**) परमात्मा ही सब प्राणियों को पुण्य-पाप के कर्मों के अनुसार जन्म प्रदान करता है॥ ११९॥

ऋषि अर्थ—''आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं को रखनेवाला, और जिसमें सब जगत् स्थित है, वही सब मनुष्यों का उपास्यदेव तथा सब जीवों को पाप-पुण्य के फलों का देने हारा है।'' (द०ल० भ्रा० नि० १९६) (अन्यत्र व्याख्यात द० ल० भ्रा० नि० १७२; द० ल० वे० ख० २४; द० शा० ५३; ऋ० प० वि० १३; ल० वे० अंक १२५।

अनुशीलन—(१) **परमात्मा ही सब देवताओं का देवता**—ईश्वर सबसे प्रमुख देव है। अन्य सभी देवताओं का वही रचयिता है। उन देवताओं के वर्णन से भी परमात्मा का ग्रहण होता है। इस विषय पर निरुक्त में प्रकाश डाला गया है—

''महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।

एकस्यात्मनो अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।.....आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य।'' [७.४]

अर्थात्—महान् ऐश्वर्यवाली होने के कारण उसी परमात्मा की ही विभिन्न रूपों में स्तुति की जाती है। शेष सभी देव उस परमात्मा के ही द्वारा प्रकाशित या दिव्यगुणयुक्त हैं। वही सबका रचयिता है। वही परमात्मा ही सब देवों का देवता है।

(२) **परमात्मा के आश्रय में ही समस्त जगत् स्थित है**—इस विषय में अनेक वेदमन्त्रों में प्रकाश डाला गया है। द्रष्टव्य है १.६; १२.१२४, १२५ श्लोक पर अनुशीलन

(३) **अन्यत्र वर्णन**—परमात्मा ही जीवों को कर्मों से संयुक्त करके उन्हें फल प्रदान करता है। इस विषय में मनु ने १.२६-३० श्लोकों में भी प्रकाश डाला है।

परम सूक्ष्म परमात्मा को जानें—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥ १२२॥
(६९)

(**सर्वेषां प्रशासितारम्**) जो सब ब्रह्माण्ड का संचालक अर्थात् कर्ता-धर्ता-हर्ता है [१२.१२४] (**अणोः+अपि अणीयांसम्**) जो सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म है, (**रुक्माभम्**) जो स्वप्रकाशस्वरूप है, (**स्वप्नधी-गम्यम्**) जो समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है, (**तं परं पुरुषं विद्यात्**) उसी को परम पुरुष और परमात्मा मानना चाहिये और उसको जानना चाहिये॥ १२२॥

ऋषि अर्थ—''जो सबको शिक्षा देने हारा, सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है, उसको परम पुरुष जानना चाहिए।'' (स०प्र०, प्रथम समु०) (अन्यत्र व्याख्यात द० शा० ५३; उपदेश-मञ्जरी पंचम उपदेश; द० ल० वेदांक १२६; ऋ० प० वि० १३; द० ल० भ्रा० नि० १९६; ऋ० भा० भू० ११२।

अनुशीलन—(१) **परमात्मा के स्वरूप एवं गुणों का वर्णन**—मनु ने इस श्लोक में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म, स्वप्रकाश-ज्ञानस्वरूप कहा है। वही परमात्मा सबका ज्ञानदाता या शिक्षक है।

इसी भाव को मनु ने १.२१ में दूसरे प्रकार से वर्णित किया है कि यह सूक्ष्म परमात्मा ही जानने या मानने योग्य है, अन्य नहीं। यह समाधि के द्वारा अर्थात् योगाभ्यास से जाना जा सकता है।

(२) **श्लोक की वेदमन्त्रों से तुलना**—इस श्लोक में वर्णित ईश्वर के स्वरूप, गुण एवं प्राप्तव्य विधि तथा प्रेरणा का आधार वेद के मन्त्र ही हैं। निम्न मन्त्रों को देखकर प्रतीत होता है कि यह श्लोक उनका साररूप है—

(क) **स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥**

(यजु० ४०.८)

अर्थ—''हे मनुष्यो! जो ब्रह्म (**शुक्रम्**) शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, (**अकायम्**) स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित है, (**अव्रणम्**) छिद्ररहित एवं जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकते (**अस्नाविरम्**) नाड़ी आदि के बन्धन से रहित है (**शुद्धम्**) अविद्या आदि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र है, (**अपापविद्धम्**) जो कभी भी पाप से युक्त, पाप करने वाला और पाप से प्रेम करने वाला नहीं है, वह (**परि+अगात्**) सर्वत्र व्यापक है, जो (**कविः**) सर्वज्ञ, (**मनीषी**) सब जीवों की मनोवृत्तियों को जानने वाला, (**परिभूः**) दुष्ट-पापियों का तिरस्कार करने वाला, (**स्वयम्भूः**) अनादिस्वरूप वाला, जिसकी संयोग से उत्पत्ति और वियोग से विनाश नहीं होता, जिसके माता-पिता कोई नहीं और जिसका गर्भवास, जन्म, बुद्धि और क्षय नहीं होते हैं; वह परमात्मा (**शाश्वतीभ्यः**) सनातन, अनादिस्वरूप वाली, अपने स्वरूप की दृष्टि से उत्पत्ति और विनाश से रहित (**समाभ्यः**) प्रजा के लिए (**याथातथ्यतः**) यथार्थता से (अर्थान्) वेद के द्वारा सब पदार्थों का (**व्यदधात्**) अच्छी तरह से उपदेश करता है। (**सः**) वह परमात्मा ही तुम्हारे लिए उपासना करने योग्य है।'' [ऋ० दयानन्दयजुःभाष्य]।

(ख) **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥** (यजु० ३१.१८)

अर्थ—"हे जिज्ञासु! मैं जिस (**एतम्**) इस पूर्वोक्त (**महान्तम्**) महान् गुणों से युक्त (**आदित्यवर्णम्**) सूर्य के प्रकाश के तुल्य जिसका स्वरूप है, उस स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मा को (**तमसः**) अज्ञान वा अन्धकार से (**परस्तात्**) परे वर्तमान स्वस्वरूप से पूर्ण (**वेद**) जानता हूं। (**तमेव**) उसी को (**विदित्वा**) जानकर आप (**मृत्युम्**) दुःखदायक मृत्यु को (**अति+एति**) लांघते हो; (**अन्यः**) इससे भिन्न (**पन्थाः**) मार्ग (**अयनाय**) अभीष्ट स्थान मोक्ष के लिए (**न विद्यते**) नहीं है।" [यजु० भाष्य ऋ० दयानन्द]

परमात्मा के अनेक नाम—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ १२३॥
(७०)

(**एतम् एके**) इस पूर्वोक्त परमात्मा [१२.१२२] को (**एके**) कोई (**अग्निम्**) 'अग्नि' नाम से (**अन्ये प्रजापतिं मनुम्**) कोई प्रजापति और कोई मनु नाम से (**एके इन्द्रम्**) कोई 'इन्द्र', (**परे प्राणम्**) कोई 'प्राण', (**अपरे शाश्वतं ब्रह्म**) दूसरे कोई 'शाश्वत ब्रह्म', (**वदन्ति**) कहते हैं॥ १२३॥

ऋषि अर्थ—"स्वप्रकाश होने से 'अग्नि', विज्ञान-स्वरूप होने से 'मनु', सबका पालन करने से प्रजापति, परमैश्वर्यवान् होने से 'इन्द्र', सबका जीवनमूल होने से 'प्राण', और निरन्तर व्यापक होने से परमेश्वर का नाम 'ब्रह्म' है।" (स०प्र०, प्रथम समु०) (अन्यत्र व्याख्यात प० वि० १३; द०ल०भ्रा०नि० १९६; उपदेशमञ्जरी पंचम उपदेश; द०शा० ५३; द०ल० वेदांक १२६।

अनुशीलन—(१) **परमात्मा के गौण नाम और उनके अर्थ**—मनु ने परमेश्वर का सबसे मुख्य नाम 'ओ३म्' माना है [२.४९-५३]। यहाँ उसी 'ओ३म्' पदवाच्य परमात्मा के कुछ अन्य गौण नामों का उल्लेख किया है। इन नामों से भी उसी सूक्ष्म, सर्वान्तर्यामी, सर्वप्रकाशक परमात्मा [१२.१२२] का बोध होता है। नीचे इनकी व्युत्पत्ति प्रदर्शित की जा रही है, जिससे इन

शब्दों के परमात्मपरक अर्थ का ज्ञान होता है। इसके साथ-साथ इनसे परमात्मा के स्वरूप एवं गुणों पर भी प्रकाश पड़ता है—

१. अग्नि—'अञ्चु गतिपूजनयोः' या 'अग-अगि गतौ' धातुओं से अग्नि शब्द सिद्ध होता है। गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। पूजन का अर्थ सत्कार है। **'योऽञ्चति, अगत्यङ्गतेति सोऽयमग्निः'** अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने योग्य, प्राप्त करने योग्य और पूजा के योग्य है, उसको 'अग्नि' कहते हैं। वह परमात्मा का नाम है। ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है—''**आत्मा एव अग्निः**'' [शत० ६.७.१.२०], ''**अग्निरेव ब्रह्म**'' [शत० १०.४.१.५]।

२. मनु—'मन् ज्ञाने' अथवा 'मनु अवबोधने' धातुओं से मनु शब्द सिद्ध होता है। **'यो मन्यते, ज्ञायते, अवबुध्यते स मनुः**,=जो विज्ञानरूप और ज्ञान करने योग्य है, इस कारण ईश्वर का नाम 'मनु' है।

३. प्रजापति—प्रजा और पति दो पदों में समास होकर 'प्रजापति' शब्द बनता है। **'प्रजायाः पतिः= पालकः, रक्षकः प्रजापतिः'**—प्रजाओं का पालक और रक्षक होने से परमात्मा का नाम 'प्रजापति' है। निरुक्त में भी यही व्युत्पत्ति है—'**प्रजापतिः पाता वा पालयिता वा**'=प्रजापति रक्षक और पालक होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा है—''**ब्रह्म वै प्रजापतिः**'' [शत० १३.६.२.८], ''**प्रजापतिर्हि आत्मा**'' [शत० ६.२.२.१२]।

४. इन्द्र—'इदि परमैश्वर्ये' धातु से **ऋज्रेन्द्रा०**··· (उणादि० २.२८) सूत्र से रन् प्रत्यय के योग से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। '**इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः**'—जो अखिल ऐश्वर्ययुक्त है, इस कारण परमात्मा का नाम इन्द्र है। '**इन्द्रतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः**'' [निरु० १०.८]। ''**यो ह खलु वाव प्रजापतिः स उ वावेन्द्रः**'' [तै० १.२.२५]।

५. प्राण—प्र पूर्वक 'अन् प्राणने' धातु से 'प्राण' शब्द सिद्ध होता है। **प्राणनात् प्राणः**—सबका जीवनमूल होने से जीवनरक्षक होने से ईश्वर का नाम प्राण है। ''**प्राणापानौ देवः=ब्रह्मः**'' [गौ० १.२.११]।

६. **ब्रह्म**—'बृहि वृद्धौ' धातु से '**बृंहेर्नोऽच्च**' (उणादि० ४.१४६) सूत्र से मनिन् प्रत्यय होकर ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है। '**योऽखिलं जगत् निर्माणेन बर्हयति वर्द्धयति स ब्रह्म**—जो सम्पूर्ण जगत् को रचकर बढ़ाता है, इस कारण ईश्वर का नाम ब्रह्म है। निरुक्त के अनुसार—''**ब्रह्म परिवृढं सर्वतः**'' [निरु० १.८]—सर्वोच्च, सबसे बड़ा, सर्वव्यापक, सबसे शक्तिशाली होने से ईश्वर का नाम 'ब्रह्म' है।

(२) **वेद मन्त्रों में ईश्वर के गौण नामों का वर्णन**—वेदमन्त्रों में ईश्वर के अनेक गौण नामों का उल्लेख आता है। श्लोक का भाव इन मन्त्रों पर आधारित प्रतीत होता है—

(क) **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥** (ऋक् १.१६४.४६)

अर्थात्—परमात्मा एक है। एक होते हुए भी विद्वान् लोग भिन्न-भिन्न गुणों के कारण उसे भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित करते हैं, जैसे—इन्द्र=ऐश्वर्यशाली, मित्र=सबके द्वारा प्रीति करने योग्य, वरुण=वरणीय, अग्नि=ज्ञानस्वरूप एवं पूजा के योग्य, दिव्य,=तेजः-स्वरूप एवं अद्भुत-गुणयुक्त, सुपर्ण=उत्तम पालन और पूर्णकर्मयुक्त, गरुत्मान्=महान् स्वरूप एवं बलवाला, यम=न्यायकारी, मातरिश्वा=वायु के समान अनन्त बल वाला। ये सभी परमात्मा के नाम हैं।

(ख) **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः॥**

(यजुः० ३२.१)

अर्थात्—वह सूक्ष्म, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमात्मा ज्ञानस्वरूप और पूज्य होने से 'अग्नि' कहलाता है, प्रलयकाल में सबको ग्रहण करने वाला होने से वही 'आदित्य' है, अनन्त बलवान् होने से 'वायु', आनन्द-स्वरूप एवं आह्लादक होने से 'चन्द्रमा', शुद्धस्वभाव होने से 'शुक्र', सबसे महान् होने से 'ब्रह्म', सर्वत्र व्यापक होने से 'आपः' और सब प्रजाओं का स्वामी एवं पालक होने से वही परमात्मा 'प्रजापति' कहलाता है।

सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही संसार को चक्रवत् चलाता है—

एषः सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥ १२४॥
(७१)

(**एषः**) पूर्वोक्तस्वरूप परमात्मा (**पञ्चभिः मूर्तिभिः सर्वाणि भूतानि व्याप्य**) पञ्च महाभूतों से सब प्राणियों को युक्त करके अर्थात् उनकी उत्पत्ति कर के और उनमें व्याप्त रहकर (**जन्मवृद्धि-क्षयैः नित्यं चक्रवत् संसारयति**) उत्पत्ति, वृद्धि और विनाश करते हुए सदा चक्र की तरह संसार को चलाता रहता है॥ १२४॥

अनुशीलन—**अन्यत्र वर्णन**—निराकार, सूक्ष्म परमात्मा इस संसार का उत्पत्ति-वृद्धि और विनाशकर्त्ता है। यह मान्यता १.५७, ८० श्लोकों में वर्णित है। तुलनार्थ द्रष्टव्य है।

(२) **उपर्युक्त स्वरूप वाला परमात्मा जगत् का उत्पत्ति-प्रलयकर्त्ता और उसमें वेदों, उपनिषदों के प्रमाण**—वेदों और उपनिषदों में वर्णित मान्यता को ग्रहण करके मनु ने यहाँ प्रस्तुत किया है। इस जगत् के उत्पत्ति-वृद्धि-प्रलयकर्त्ता परमात्मा का स्वरूप १२.१२२-१२३ श्लोकों में प्रदर्शित किया है। वही इस संसार का निर्माण-संहार करने वाला है, कोई अन्य नहीं। इस विषय में वेदों और उपनिषद् के प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

(क) **इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥** (ऋ० १०.१२९.७)

"हे (अङ्ग) मनुष्य! जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो धारण और प्रलयकर्त्ता है, जो इस जगत् का स्वामी, जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय को प्राप्त होता है, सो परमात्मा है। उसको तू जान और दूसरे को सृष्टिकर्त्ता मत मान॥

(ख) **हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥** (ऋ० १०.१२१.१)

हे मनुष्यो! जो सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का आधार और जो यह जगत् हुआ था, और होगा, उसका एक अद्वितीय पति परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था, और जिसने पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है, उस परमात्मा देव की प्रेम से हम भक्ति करें॥

(ग) **पुरुषऽएवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥** (यजु० ३१.२)

हे मनुष्यो! जो सब में पूर्ण पुरुष और जो नाशरहित कारण और जीव का स्वामी जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है; वही पुरुष इस सब भूत, भविष्यत् और वर्तमानस्थ जगत् को बनाने वाला है॥

(घ) **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म॥**

तैत्तिरीयोपनि० ३.१॥

जिस परमात्मा की रचना से ये सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे जीवते और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं; वह ब्रह्म है। उसके जानने की इच्छा करो॥

(ङ) **जन्माद्यस्य यतः।** (वेदान्त १.२)

जिससे इस जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है; वही ब्रह्म जानने योग्य है।'' (स०प्र० अष्टम समु०) अन्य मन्त्र १.६ के अनुशीलन में भी द्रष्टव्य हैं।

समाधि से ईश्वर एवं मोक्ष-प्राप्ति—

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥ १२५॥
(७२)

(**एवम्**) इस प्रकार समाधिस्थ बुद्धि से [१२.१२२] (**यः**) जो मनुष्य (**आत्मना**) अपनी आत्मा के द्वारा (**सर्वभूतेषु आत्मानं पश्यति**) सब प्राणियों में परमात्मा को व्याप्त देखता है (**सः सर्वसमताम् एत्य**) वह अपनी आत्मा के समान सर्वसमानता का आचरण रखके (**परं पदं ब्रह्म-अभ्येति**) परम पद ब्रह्म अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥ १२५॥

ऋषि अर्थ—''इसी प्रकार समाधियोग से जो

मनुष्य सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है। वह सबको अपने आत्मा के समान प्रेमभाव से देखता है वही परमपद जो ब्रह्म-परमात्मा है उसको यथावत् प्राप्त होके सदा आनन्द को प्राप्त होता है।'' (द०ल०भ्रा०नि० १९६)

अनुशीलन—सब प्राणियों में आत्मवत् भाव एवं परमात्मदर्शन में मुक्ति—मनु ने यह मान्यता एवं भाव वेदों से यथावत् रूप में ग्रहण किया है। तुलनार्थ एवं अर्थस्पष्टीकरण के लिए निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥

(यजु:० ४०.६)

इति हरियाणाप्रान्तीयगुरुकुलझज्जरेऽधीतविद्येन, हरिय
लब्धजन्मना, श्रीगहरसिंहशान्तिदेवीतनयेन, सुरे
विविधविषयविमर्शसम्पन्ना 'अनुशील
॥ समाप्तश्च

अर्थ—(**यः**) जो मनुष्य (**आत्मन्नेव**) आत्मा अर्थात् परमात्मा में तथा अपने आत्मा के सदृश (**सर्वाणि भूतानि**) समस्त जीव और जगत् के जड़ पदार्थों को (**अनुपश्यति**) अनुकूलता से, अथवा धर्माचरण और योगाभ्यास आदि से देखता है (**च**) और (**सर्वभूतेषु**) समस्त प्राणियों और प्रकृतिस्थ पदार्थों में (**आत्मानम्**) सर्वत्र व्याप्त परमात्मा को देखता है (**ततः**) ऐसे सम्यक् दर्शन के बाद (**न विचिकित्सति**) वह संशय को प्राप्त नहीं होता अर्थात् संशयरहित होकर निर्भ्रम ज्ञान से परमात्मा-पद=मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। उसे संसार और परमात्म-ज्ञान के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता।

…णाप्रान्तान्तर्गतरोहतकमण्डले 'मकड़ौली' नाम्नि ग्रामे
…न्द्रकुमारेण कृतं विशुद्धमनुस्मृतेः हिन्दी-भाष्यम्,
…लन' नामिका समीक्षा च पूर्तिमगात्॥
…ायं ग्रन्थः॥